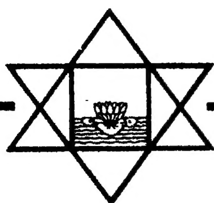
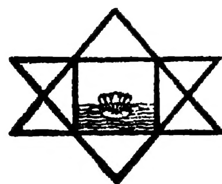


श्री अरविन्द

भारतीय संस्कृतिके आधार

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी



श्रीअरविंद

भारतीय संस्कृतिके आधार

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

अनुवादक :

जगन्नाथ वेदालंकार

चन्द्रदीप त्रिपाठी

ISBN 81-7058-095-1

प्रकाशक : प्रकाशन विभाग पांडिचेरी–२

मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी–२

विषय-सूची

प्रश्न : क्या भारत सभ्य है ?

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

धर्म और आध्यात्मिकता :

भारतीय कला :

भारतीय साहित्य

भारतीय शासनप्रणाली :

परिशिष्ट

भारतीय संस्कृतिके आधार



श्रीअरविंद

१

प्रश्न :

क्या भारत सभ्य है ?

क्या भारत सभ्य है ?

पहला अध्याय

कुछ वर्ष हुए विख्यात विद्वान् तथा तंत्र-दर्शनके व्याख्याता सर जान उड्रफ़ (Sir John Woodroffe) ने 'क्या भारत सभ्य है?' इस चौंकानेवाले शीर्षकसे एक पुस्तक प्रकाशित की थी जो मिस्टर विलियम आर्चर (Mr. William Archer) के अतिशयोक्तिपूर्ण कटाक्षके उत्तरमें लिखी गयी थी। उस प्रसिद्ध नाटय-समालोचक आर्चरने अपने सुरक्षित एवं स्वाभाविक क्षेत्रको छोड़कर ऐसे क्षेत्रोंमें टांग अड़ायी जिनके संबंधमें कुछ कहनेका उसका मुख्य अधिकार है केवल एक प्रकारका अभिमानपूर्ण महान् अज्ञान। उसने भारतके संपूर्ण जीवन एवं संस्कृतिपर आक्रमण किया, और यहांतक कि उसकी महान्से महान् प्राप्तियों, दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि सबको एक साथ एक ही कोटिमें रखकर, सबके बारेमें कह डाला कि ये अवर्णनीय बर्बरताका एक घृणास्पद स्तूप हैं। उस समय बहुतोंने यह तर्क उपस्थित किया था कि ऐसे समालोचककी बातका उत्तर देना व्यर्थमें शक्ति गंवाना है, अथवा इस प्रसंगमें तो वह एक निरर्थक बातको अनुचित महत्त्व देना भी हो सकता है। परंतु सर जान उड्रफने इस बातपर बल दिया कि इस प्रकारके अज्ञान-पूर्ण आक्रमणकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; उन्होंने इसे ऐसे आक्रमणों-की व्यापक श्रेणीके एक विशेष उपयोगी नमूनेके रूपमें लिया; इसका पहला कारण तो यह था कि इसमें उक्त प्रश्न तार्किक दृष्टिकोणसे उठाया गया था, ईसाई एवं प्रचारकीय दृष्टिकोणसे नहीं, और फिर एक कारण यह भी था कि यह इस प्रकारके सभी आक्रमणोंके आधारभूत स्थूलतर उद्देश्योंको प्रकट करता था। परंतु उड्रफकी पुस्तक महत्त्वपूर्ण थी, और इसका कारण यही नहीं था कि वह एक विशिष्ट समालोचकका उत्तर थी बल्कि इससे भी बढ़कर यह कि उसमें भारतीय सभ्यताके बचे रहने तथा संस्कृतियोंके युद्धकी अवश्यं-भाविताका संपूर्ण प्रश्न खूब सुसंगत और ओजस्वी रूपमें उठाया गया था।

भारतमें कोई सभ्यता थी या नहीं अथवा है या नहीं यह प्रश्न अब

विवादास्पद नहीं है; क्योंकि जिन लोगोंके मतका कुछ मूल्य है वे सभी यह स्वीकार करते हैं कि यहां एक विशिष्ट एवं महान् सभ्यता विद्यमान थी जो अपने स्वरूपमें अद्वितीय थी। सर जान उड्रफका उद्देश्य था यूरोप और एशियाकी संस्कृतियोंके संघर्षको और, मुख्य रूपसे, भारतीय सभ्यताके विशिष्ट मर्म एवं महत्त्वको प्रकट करना; साथ ही, वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि यह आज किस संकटमेंसे गुजर रही है और इसका विनाश जगत्के लिये कैसा विपज्जनक होगा। ग्रंथकारका मत था कि इसकी रक्षा करना मानवजातिके लिये परमावश्यक है और उनकी धारणा थी कि यह एक महान् संकटमें है। उनके मतानुसार आज मानव-जगत्में उथलपुथलके बवंडरके परिणामस्वरूप परिवर्तनकी जो अति प्रचंड आंधी आ रही है उसमें संभवतः प्राचीन भारतकी संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी; कारण, एक ओर-से तो इसपर यूरोपीय आधुनिकतावादके आक्रमण हो रहे हैं तथा भौतिक क्षेत्रमें यह अभिभूत हो रही है और दूसरी ओर भारतकी संतति भी इस विषयमें उदासीन रहकर इसके साथ विश्वासघात कर रही है; ऐसी दशामें यह आशंका है कि शायद यह सदाके लिये मटियामेट हो जाय और इसके साथ ही इसे संजोकर रखनेवाली राष्ट्रकी आत्मा भी सदाके लिये नष्ट हो जाय। उनकी पुस्तकमें हमसे बलपूर्वक अनुरोध किया गया था कि हम इस पवित्र धरोहरकी ठीक-ठीक कदर करें और इसपर आते हुए संकटको देखें तथा उस अग्निपरीक्षाकी घड़ीमें दृढ़ और निष्ठावान् बने रहें। इस अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न की भूमिकाके रूपमें उस पुस्तकका सार संक्षेपमें बतला देना उपयोगी होगा।

इस जगत्में सच्चा सुख प्राप्त करना ही मनुष्यका यथार्थ पार्थिव उद्देश्य है, और सच्चा सुख आत्मा, मन और शरीरकी स्वाभाविक समस्वरताको प्राप्त करने और बनाये रखनेमें है। संस्कृतिका मूल्य उसी परिमाणमें आंका जा सकता है जिस परिमाणमें उसने इस समस्वरताकी सच्ची लयको पाया हो तथा इसे प्रकट करनेवाली अपनी प्रेरणाओं एवं गतिविधियोंको संगठित कर लिया हो। और किसी सभ्यताके गुण-दोषकी परीक्षा यह देखकर करनी होगी कि उसके जीवन-संबंधी सभी सिद्धांत, विचार, अनुष्ठान और विधि-विधान इस समस्वरताको मूर्तिमंत करनेके लिये किस प्रकार कार्य करते हैं, इसकी तालबद्ध अभिव्यक्तिकी व्यवस्था तथा इसके स्थायित्वकी या इसके उद्देश्योंके विकासकी सुरक्षा किस ढंगसे करते हैं। इस लक्ष्यके अनुसरणमें कोई सभ्यता आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिकी भांति प्रधानतया जड़वादी हो सकती है, अथवा वह यूनानी-रोमन संस्कृतिकी तरह मुख्यतः मानसिक एवं बौद्धिक या फिर भारतकी अबतक स्थायी संस्कृतिकी न्याईं प्रधानतः आध्या-

त्मिक हो सकती है। भारतका केंद्रीय विचार यह है कि एक सनातन सत्ता है, एक परम आत्मा है जो यहां जड़में आच्छादित एवं निर्वर्तित है तथा इसके अंदर अंतर्यामी रूपसे सदा विद्यमान है। इस भौतिक स्तरपर वह व्यक्तिके पुनर्जन्मके द्वारा सत्ताकी स्तर-परंपरामें ऊपरकी ओर विकसित हो रहा है। इस प्रकार विकसित होते-होते वह मनोमय मनुष्यके अंदर विचारों-के जगत्‌में तथा सचेतन नैतिकता अर्थात् धर्मके क्षेत्रमें प्रविष्ट हो जाता है। यह सफलता, अचेतन प्रकृतिपर यह विजय उसकी दिशाओंको विकसित करती है, उसके क्षेत्रको विस्तृत करती तथा उसके स्तरोंको उन्नत करती है, और यह विकास तबतक चलता रहता है जबतक कि मन-रूपी साधनके सात्त्विक या आध्यात्मिक अंशकी बढ़ती हुई अभिव्यक्ति मनुष्यके अंदरके व्यष्टिभूत मनोमय पुरुषको मनसे परेकी शुद्ध अध्यात्म-चेतनाके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करनेके योग्य नहीं बना देती। भारतवर्षकी सामाजिक व्यवस्था इसी विचारपर आधारित है; उसका दर्शन इसीको सूत्रबद्ध करता है; उस-का धर्म आध्यात्मिक चेतना तथा उसके फलोंकी प्राप्तिके लिये अभीप्सा-स्वरूप है; उसकी कला तथा उसके साहित्यमें यही ऊर्ध्वमुखी दृष्टि पायी जाती है; उसका संपूर्ण धर्म या जीवन-विधान इसीपर प्रतिष्ठित है। प्रगति-को वह अवश्य स्वीकार करता है, किंतु इस आध्यात्मिक प्रगतिको ही, न कि नित-अधिकाधिक समृद्ध एवं कार्यदक्ष बनती जानेवाली जड़वादी सभ्यता-की बाह्य विकासकी प्रक्रियाको। इस उदात्त विचारपर जीवनकी प्रतिष्ठा तथा आध्यात्मिक एवं शाश्वत सत्ताकी ओर उसका प्रवेग ही उसकी सभ्यता-का विशिष्ट मूल्य हैं। और, किसी भी प्रकारकी मानवीय त्रुटियोंके होते हुए भी, इस उच्चतम आदर्शके प्रति उसकी निष्ठाने ही उसके निवासियोंको मानव-जगत्‌में एक विलक्षण जाति बना दिया है।

परंतु कुछ अन्य संस्कृतिया भी हैं जो इससे भिन्न विचार और यहांतक कि इससे उलटे उद्देश्यसे भी परिचालित होती हैं। संघर्षका नियम भौतिक जगत्‌में जीवन धारण करनेका पहला नियम है और इस नियमके कारण विभिन्न संस्कृतियोंका एक दूसरेके साथ संघर्षमें आना अवश्यंभावी है। प्रकृति-की गहराइयोंमें बैठा हुआ एक आवेग उन्हें अपने-आपको प्रसारित करने तथा सभी विषम या विरोधी तत्त्वोंको नष्ट-भ्रष्ट करने या उन्हें हजम करके उनका स्थान लेनेका यत्न करनेके लिये बाधित करता है। निःसंदेह, संघर्ष ही अंतिम एवं आदर्श अवस्था नहीं है; क्योंकि आदर्श अवस्था तो तब आती है जब विविध संस्कृतियां अपने पृथक्-पृथक् विशिष्ट उद्देश्योंका विकास स्वतंत्रतापूर्वक, घृणा एवं गलतफहमीके बिना अथवा एक दूसरेपर

आक्रमण किये बिना और यहांतक कि ऐक्यकी आधारभूत भावनाके साथ करती है। परंतु जबतक संघर्षके तत्त्वका राज्य है, तबतक मनुष्यको हीन-तर नियमका ही सामना करना होगा; युद्धके ठीक बीचमें हथियार डाल देना घातक ही होगा। जो संस्कृति अपनी जीवंत पृथक्ताको त्याग देगी, जो सभ्यता अपनी सक्रिय प्रतिरक्षाकी उपेक्षा करेगी वह दूसरीके द्वारा निगल ली जायगी और जो राष्ट्र इसके सहारे जीता था वह अपनी आत्माको खोकर विनष्ट हो जायगा। प्रत्येक राष्ट्र मानवजातिके अंदर विकसित होते हुए आत्माकी ही एक विशिष्ट शक्ति है और वह जिस शक्ति-तत्त्वका मूर्त रूप है उसीके सहारे वह जीवित रहता है। भारतवर्ष भारत-शक्ति है, एक महान् आध्यात्मिक परिकल्पनाकी जीवंत शक्ति है, और इसके प्रति निष्ठावान् रहना ही उसके जीवनका मूल सिद्धांत है। क्योंकि, इसीके बलपर उसकी अमर राष्ट्रोंमें गणना रही है; यही उसके आश्चर्य-जनक स्थायित्वका तथा उसके दीर्घजीवन एवं पुनरुज्जीवनकी शाश्वत शक्ति-का रहस्य रहा है।

संघर्षके तत्त्वने एशिया और यूरोपके बीच एक युग-युगव्यापी द्वंद्व और प्रबल संग्रामका व्यापक ऐतिहासिक रूप धारण किया है। इस संघर्ष, इस पारस्परिक दबावका एक भौतिक पक्ष तो रहा ही है, साथ ही इसका एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी रहा है। भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियोंसे यूरोपने जीतने, आत्मसात् करने और प्रभुत्व जमानेके लिये एशियापर पुनः-पुनः आक्रमण किया है और इसी प्रकार एशियाने यूरोपपर। शक्तिके इन दोनों समुद्रोंमें लगातार बारी-बारीसे ज्वार-भाटा आता रहा है, ये पीछे हटते और आगे बढ़ते रहे हैं। समस्त एशियाके अंदर कम या अधिक प्रबल रूपमें, कम या अधिक स्पष्ट रूपमें आध्यात्मिक प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रही है; परंतु इस मूलभूत विषयमें भारत एशियाकी जीवन-प्रणाली-का सार रूप है। मध्य युगमें यूरोपके अंदर भी एक ऐसी संस्कृति थी जिसमें ईसाई विचारके प्रभुत्वके कारण आध्यात्मिक उद्देश्य ही प्रमुख था (पर यह ध्यानमें रहे कि ईसाइयत भी एशियासे ही निकली थी); उस युगमें दोनोंमें एक मूलभूत समानता थी पर साथ ही कुछ भिन्नता भी थी। फिर भी मोटे तौरपर सांस्कृतिक स्वभावमें विभेद सदा ही बना रहा है। कुछ शताब्दियोंसे यूरोप जड़वादी, लुटेरा और आक्रामक बना हुआ है, और आंतर तथा बाह्य मानवकी समरसता खो चुका है जो कि सभ्यताका वास्तविक अर्थ तथा सच्ची प्रगतिकी अचूक शर्त है। उसके आराध्य देव हैं भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक उन्नति और भौतिक कार्यकुशलता। आधुनिक यूरोपीय

सभ्यता इस जड़वादी संस्कृतिका ही शक्तिशाली बाह्य रूप है; इसीने एशियापर आक्रमण किया है और भारतीय आदर्शोंपर किये गये सभी तीव्र आक्रमण इसीका प्रतिनिधित्व करते हैं। उधर, एशियाने यूरोपपर जो भौतिक आक्रमण किये हैं उनमें भारतने, अपने आध्यात्मिक उद्देश्यके प्रति सच्चा रहनेके कारण, कभी भाग नहीं लिया; उसका तरीका सदैव संसार-को अपने विचारोंकी धारासे अंदर-ही-अंदर सींचनेका रहा है, आज भी हम वैसे ही तरीकेको पुनः प्रगति करते हुए देखते हैं। परंतु अब यूरोपने भौतिक रूपमें उसे अपने अधिकारमें कर रखा है और इस भौतिक विजयके साथ सांस्कृतिक विजयका प्रयत्न भी अवश्यमेव जुड़ा हुआ है; यह सांस्कृतिक आक्रमण भी कुछ दूरतक प्रगति कर चुका है। दूसरी ओर, अंग्रेजी शासनने फिर भी भारतको उसकी निजी विशेषता एवं सामाजिक आदर्श सुरक्षित रखनेके लिये समर्थ बनाया है; उसने इसे अपने प्रति जागृत किया है और, जबतक इसे अपनी शक्तिका ज्ञान नहीं हो गया तबतक, उस बाढ़से इसकी रक्षा की है जो अन्यथा इसकी सभ्यताको डुबाकर तहसनहस कर देती।* अब यह उसके अपने हाथमें है कि वह अपने उद्धारके लिये तथा मानव-जातिके सामूहिक कल्याणके लिये अपने स्वरूपको पुनः प्राप्त करे, अपने सांस्कृतिक जीवनको विदेशी प्रभावसे बचाये, अपनी विशिष्ट आत्मा, मूल नीति एवं स्वभावगत विधि-विधानोंकी रक्षा करे।

परंतु यहां कितने ही प्रश्न उठ सकते हैं,—और मुख्य रूपसे यह कि आया प्रतिरक्षा और आक्रमणकी ऐसी भावना ही ठीक भावना है, आया आगामी मानव-प्रगतिके हित एकता, समस्वरता और आदान-प्रदान ही हमारे लिये समुचित भाव नहीं हैं। क्या एकीकृत विश्व-संस्कृति ही भविष्यका

---

* इस तर्कको बिना किसी संशोधनके ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार किया जा सकता। सामाजिक और धार्मिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करनेकी अपनी सामान्य नीतिके कारण अंग्रेजी शासनने कोई प्रत्यक्ष और प्रचंड प्रहार नहीं किया है, जान-बूझकर तथा उद्देश्यपूर्वक किसी प्रकारका सामाजिक दबाव नहीं डाला है; परंतु भारतीय सामाजिक जीवनके जो केंद्र एवं संगठन-यंत्र पहलेसे चले आ रहे थे उन सबकी इसने जड़ खोद डाली है तथा उन्हें जीवंत शक्तिसे वंचित कर दिया है और एक प्रकारकी अप्रत्यक्ष मूलोच्छेदक प्रक्रिया-के द्वारा सामाजिक जीवनको एक सड़ता हुआ खोखला ढांचा मात्र बना डाला है जिसमें न तो अपना विस्तार करनेकी शक्ति है और न अपनी रक्षा करनेके लिये तामसिकताकी शक्तिसे बढ़कर कोई अच्छी शक्ति ही है।

व्यापक पथ नहीं है? क्या कोई अत्यंत आध्यात्मिक या फिर कोई अत्यधिक लौकिक सभ्यता ही मानव-प्रगति या मानव-पूर्णताका सुदृढ़ आधार हो सकती है? ऐसा प्रतीत होगा कि एक सुखद या समुचित समन्वय ही आत्मा, मन और शरीरके सामंजस्यका अधिक अच्छा समाधान है। और साथ ही एक प्रश्न यह भी है कि क्या भारतीय संस्कृतिकी आत्माके समान ही उसके बाह्य रूपको भी बनाये रखना होगा। ग्रंथकारका दिया हुआ इन प्रश्नोंका उत्तर हमें उनके इस कथनमें मिलता है कि मानव-जातिकी आध्यात्मिक उन्नति क्रमविकासके नियमके अनुसार होती है तथा इसके लिये तीन क्रमिक अवस्थाओंमेंसे गुजरना उसके लिये आवश्यक है।

पहली अवस्था है संघर्ष और स्पर्द्धाकी अवस्था, जो भूतकालमें सदैव प्रबल रही है और वर्तमान कालमें भी मनुष्यजातिको घेरे हुए है। चाहे भौतिक संघर्षके स्थूलतम रूप कम हो जायं फिर भी स्वयं संघर्ष जीवित रहता है तथा सांस्कृतिक द्वंद्व और भी अधिक प्रबल हो जाता है। दूसरा सोपान समस्वरताकी अवस्थाको लाता है। तीसरे एवं अंतिम सोपानका लक्षण होता है त्याग-भावना, जिसमें प्रत्येक अपनेको दूसरोंकी भलाईके लिये उत्सर्ग कर देता है, क्योंकि उसमें सब कुछ एक ही आत्माके रूपमें अनुभूत होता है। दूसरी अवस्था अधिकतर लोगोंके लिये शायद अभी शुरू ही नहीं हुई है; तीसरी अनिश्चित भविष्यकी वस्तु है। कुछ एक व्यक्ति उच्चतम अवस्थातक पहुंच चुके हैं; सिद्ध संन्यासी, मुक्त पुरुष, परमात्माके साथ एकीभूत जीव भूतमात्रको आत्मवत् अनुभव करता है और उसके निकट किसी भी प्रकारकी प्रतिरक्षा एवं आक्रमणका कुछ भी प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि, उसे जिस विधानका साक्षात्कार हुआ है उसमें संघर्षका कोई स्थान नहीं; त्याग और आत्मदान ही उसके कर्मका संपूर्ण सिद्धांत होते हैं। परंतु कोई भी जाति उस स्तरतक नहीं पहुंची है, और अनिच्छापूर्वक या अज्ञानपूर्वक या अपनी चेतनाके सत्यके विरुद्ध किसी विधान या सिद्धांतका अनुसरण करना मिथ्या एवं विनाशकारी होता है। भेड़ियेके द्वारा आक्रांत मेमनेकी तरह अपनी हत्या होने देनेसे कोई विकास नहीं होता, कोई प्रगति नहीं होती, न इससे कोई आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त होनेकी ही आशा बंधती है। समस्वरता या एकता अपने समयमें आ सकती है, पर वह एक ऐसी मूलगत एकता होनी चाहिये जिसमें विविधतापूर्ण विकासके लिये पूरी स्वाधीनता हो, वह एकका दूसरेके द्वारा भक्षण या फिर एक असंगत एवं बेसुरा मिश्रण नहीं होनी चाहिये। और वह एकता तबतक नहीं आ सकती जबतक संसार इन महत्तर वस्तुओंके लिये तैयार न हो जाय। युद्धकी परि-

स्थितिमें शस्त्रास्त्रका त्याग कर देना विनाशको निमंत्रित करना है और इससे कोई ऐसा आध्यात्मिक उद्देश्य भी सिद्ध नहीं हो सकता जिससे क्षतिकी पूर्ति हो जाय।

निश्चय ही, आध्यात्मिक और लौकिकमें पूर्ण रूपसे मेल साधना होगा, क्योंकि आत्मा मन और शरीरके द्वारा ही कार्य करता है। परंतु यूरोप आज जिस प्रकारकी निरी बौद्धिक या नितांत जड़वादी संस्कृतिका समर्थन करता है उसके अंतस्तलमें मृत्युका बीज निहित है; क्योंकि संस्कृतिका जीता-जागता उद्देश्य है पृथ्वीपर स्वर्गका राज्य स्थापित करना। भारतवर्ष-का प्रबल झुकाव यद्यपि 'शाश्वत'की ओर है, क्योंकि वह सदा ही उच्चतम और पूर्णतः वास्तविक तत्त्व रहा है, फिर भी उसकी संस्कृति तथा दर्शनमें 'सनातन' तथा 'सांसारिक'का एक परम समन्वय पाया जाता है और उसे इस समन्वयको कहीं बाहरसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं। इसी सिद्धांतके अनुसार एक सामंजस्यपूर्ण संस्कृतिके अंदर मन, शरीर और आत्मा-की अन्योन्यनिर्भरताको व्यक्त करनेवाला एक बाह्य रूप विशुद्ध आत्माके समान ही महत्त्वपूर्ण है: क्योंकि बाह्य रूप आत्माका ही गतिच्छंद है। इसका अर्थ यह हुआ कि बाह्य रूपको छिन्न-भिन्न कर डालना आत्माकी अभिव्यक्तिको क्षत-विक्षत करना है या कम-से-कम उसे महान् संकटमें डाल देना है। बाह्य रूपोंमें परिवर्तन हो सकता है और होगा भी, किंतु एक नयी रचना, एक ऐसी नवीन आत्म-अभिव्यक्ति या आत्म-रचना होनी चाहिये जो अंदरसे विकसित हो; वह आत्माकी अपनी विशिष्ट प्रकृतिसे युक्त होनी चाहिये, एक विजातीय प्रकृतिके बाह्य रूपोंसे दासतापूर्वक उधार ली हुई नहीं।

तो फिर भारत, अपने इस संकटकालमें, वस्तुतः किस स्थितिमें है और कहांतक यह कहा जा सकता है कि वह अभी भी अपनी चिरंतन आधार-शिलाओंपर दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित है? यूरोपीय संस्कृतिके द्वारा वह पहलेसे ही अत्यधिक प्रभावित है और यह संकट अभी दूर नहीं हुआ है; बल्कि निकट भविष्यमें ही यह और भी अधिक, और भी प्रबल, प्रचंड एवं दुर्धर्ष हो उठेगा। एशियाका पुनरुत्थान हो रहा है; परंतु ठीक यही तथ्य एशिया-को हड़प जानेके यूरोपीय सभ्यताके प्रयत्नको और भी प्रबल कर देगा तथा यह ऐसा कर भी रहा है; प्रतियोगिताके सिद्धांतके अनुसार यह प्रयत्न स्वाभाविक और समुचित भी है। कारण, यदि वह सांस्कृतिक दृष्टिसे बदल जाय और जीत लिया जाय तो जब जगत्की भौतिक व्यवस्थामें वह फिरसे अपना स्थान बना लेगा तब एशियाई आदर्शके द्वारा यूरोपके जीते जानेका कोई ख़तरा नहीं रहेगा। इस प्रकार यह एक सांस्कृतिक कलह है

जो राजनीतिक प्रश्नके साथ उलझकर जटिल हो गया है। इसका कूट आशय यह है कि सांस्कृतिक दृष्टिसे एशियाको यूरोपका एक प्रदेश बनना होगा और राजनीतिक रूपमें उसे एक यूरोपीय संघ या कम-से-कम यूरोपीय रंगमें रंगे हुए संघका एक अंगमात्र बन जाना होगा; नहीं तो संभव है कि सांस्कृतिक दृष्टिसे यूरोप एशियाका एक प्रांत बन जाय, नयी विश्व-व्यवस्था-में एशियाकी समृद्ध, विपुल और शक्तिशाली जातियोंके प्रबल प्रभावके द्वारा एशियाई रंगमें रंग जाय। मिस्टर आर्चरके आक्रमणका मूल उद्देश्य स्पष्ट रूपमें राजनीतिक है। उसके सारे गीतकी टेक यही है कि विश्वका नव-निर्माण तर्कवादी एवं जड़वादी यूरोपीय सभ्यताकी रीति-नीति एवं विधि-विधानके अनुसार ही होना चाहिये। उसकी युक्ति यह है कि यदि भारत अपनी सभ्यतासे चिपका रहे, यदि वह इस सभ्यताकी आध्यात्मिक प्रेरणाको प्रेमसे पोसता रहे तथा निर्माणके संबंधमें इसके आध्यात्मिक सिद्धांतके प्रति आसक्त रहे, तो वह इस शोभन, उज्ज्वल, युक्तिवादी जगत्का एक जीवंत प्रतिवाद, इसके मस्तकपर एक कुत्सित "कलंक"का टीका बना रहेगा। या तो उसे नखसे शिखतक यूरोपीय रंगमें रंग जाना होगा, तर्कवादी एवं जड़-वादी बनना होगा और इस परिवर्तनके द्वारा स्वाधीनताका अधिकारी बनना होगा या फिर उसके सांस्कृतिक गुरुजनोंको ही उसे अपने अधीन रखकर उसपर शासन करना होगा: उसके श्रेष्ठ एवं प्रबुद्ध क्रिश्चियन-नास्तिक यूरोपीय रक्षकों एवं शिक्षकोंको उसके त्रिंश कोटि धार्मिक बर्बरोंको दृढ़ता-पूर्वक दबाये रखकर शिक्षित तथा सभ्य बनाना होगा। ऊपरसे देखनेपर तो यह एक हास्यास्पद कथन लगता है, परंतु सारतः इसके अंदर सारे विषयकी जड़ छिपी हुई है। (सभी लोग इस प्रकार आक्रमण करते हों ऐसी बात नहीं, क्योंकि आजकल पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक लोग भारतीय संस्कृतिको समझने तथा सराहने लगे हैं।) निःसंदेह, भारत इस आक्रमणका विरोध करनेके लिये जाग रहा है तथा अपनी रक्षा कर रहा है, परंतु पर्याप्त रूपमें नहीं, साथ ही उसके अंदर वह पूर्ण निष्ठा, स्पष्ट दृष्टि एवं दृढ़ संकल्प भी नहीं हैं जो इस संकटसे उसकी रक्षा कर सकें। आज यह संकट सिरपर मंडरा रहा है। अब उसे चुनाव कर लेना चाहिये कि उसे जीना है या मिट जाना है,—क्योंकि चुनावकी अटल घड़ी उसके सामने उपस्थित है।

इस चेतावनीकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; यूरोपके लेखकों, पत्रकारों एवं राजनीतिज्ञोंके हालके उद्गार, भारतके विरुद्ध लिखी गयी नयी पुस्तकें और लेख आदि तथा पाश्चात्य देशोंकी जनताके द्वारा किया गया उनका

सहर्ष और सोत्साह स्वागत — ये सभी संकटकी यथार्थताके सूचक हैं। निश्चय ही, एक महान् एवं निर्णायक परिवर्तनके इस संधिक्षणमें आज जो राजनीतिक स्थिति तथा मानवजातिकी जो सांस्कृतिक प्रवृत्ति हमारे देखनेमें आती है उसीके परिणामस्वरूप, अनिवार्य रूपमें, इस संकटका जन्म हुआ है। लेखकने अपनी पुस्तकमें जो विचार प्रकट किये हैं उन सभीमें उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं। उन्होंने यूरोपकी मध्ययुगीन सभ्यताकी जो स्तुति गायी है उसे स्वयं मैं भी पूर्ण रूपसे स्वीकार नहीं कर सकता। इसकी जिज्ञासा-वृत्ति, इसकी कलात्मक प्रेरणाओंकी सुषमा, इसकी गंभीर और सच्ची आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंको, मेरी दृष्टिमें, इसकी अज्ञानता और अंधकारप्रियता-की लंबी तान, इसकी निष्ठुर असहिष्णुता, इसकी विद्रोही आदिम-टयूनजातीय कर्कशता, पाशविकता, भीषणता एवं स्थूलताने कलुषित कर रखा है। मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने पीछेकी यूरोपीय संस्कृतिपर कुछ अधिक कठोर आघात किया है। यह मुख्यत: आर्थिक ढंगकी सभ्यता अपनी उपयोगितावादी जड़वादकी प्रवृत्तिमें काफी कुत्सित रही है, अत: यदि हमने इसका अनुकरण किया तो हम एक भद्दी भूल करेंगे; तो भी कुछ उत्कृष्टतर आदर्शोंने, जिनसे मानवजातिका बहुत-कुछ हित-साधन हुआ है, इसे अवश्य ऊंचा उठाया है। परंतु ये भी अपने बाह्य रूपमें स्थूल एवं अपूर्ण हैं और इससे पूर्व कि इन्हें भारतीय मन पूर्ण रूपसे अंगीकार कर सके इनके आशयको अध्यात्ममय करना आवश्यक है। मेरा यह भी विचार है कि ग्रंथकारने भारतके पुनरुज्जीवनकी शक्तिका मूल्य कुछ कम ही आंका है। मेरा मतलब उसकी प्राप्त की हुई बाहरी शक्तिसे नहीं है, क्योंकि वह तो बहुत ही कम है, मेरा मतलब है उसकी प्रेरणाकी अमोघतासे, उसकी आध्यात्मिक एवं अंतर्निहित शक्तिसे जिसका उन्होंने पूरा मूल्यांकन नहीं किया है। साथ ही, उन्होंने ऐसे दासप्रकृति भारतीयको बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है जो इस अशुभ चाटु-कल्पनाका उद्घोष करनेमें समर्थ होता है कि "यूरोपकी संस्थाएं वह मानदंड हैं जिसके द्वारा भारतकी अभिकांक्षाएं निर्धारित होती हैं।" ऐसा प्रतिनिधि जिस वर्गसे संबंध रखता है उसका अब तीव्र गतिसे ह्रास हो रहा है और उस वर्गके सिवा यह बात अब केवल एक ही क्षेत्रमें, राजनीतिक क्षेत्रमें सच्ची मानी जा सकती है। मैं स्वीकार करता हूं कि यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अपवाद है और साथ ही यह एक ऐसा अपवाद है जो अत्यंत गुरुतर संकटका द्वार खोल देता है। किंतु यहां भी हमें एक गंभीर भाव-परिवर्तनका आभास मिल रहा है यद्यपि उसने अभी निश्चित रूप नहीं धारण किया है और उसे अब मजदूरवर्ग द्वारा संचालित रूसकी

असंस्कृत युद्धप्रियताके द्वारा अनुप्राणित प्रचंड यूरोपीयवादके नये आक्रमणका सामना करना है। और फिर, भारतकी आध्यात्मिक विचारधारा यूरोप और अमरीकाके अंदर क्रमशः अधिकाधिक प्रवेश कर रही है जो यूरोपके आक्रमणके प्रति भारतका अपना विशिष्ट मुंहतोड़ जवाब है; किंतु ग्रंथकारने इसे पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। इस दृष्टिकोणसे देखनेपर सारा प्रश्न एक और ही रूप धारण कर लेता है।

सर जान उड्रफ एक सबल आत्म-रक्षाके लिये हमें अभिप्रेरित करते हैं। परंतु आधुनिक संघर्षमें निरी रक्षाका परिणाम अंततः पराजय ही हो सकता है, और यदि युद्ध आवश्यक ही हो तो एकमात्र उचित नीति यही हो सकती है कि एक सबल, जीवंत एवं सक्रिय रक्षापर प्रतिष्ठित एक तीव्र आक्रमण किया जाय; क्योंकि उस आक्रमण करनेवाली शक्तिके द्वारा ही स्वयं रक्षा भी प्रभावशाली हो सकती है। एक विशेष वर्गके भारतीय आज भी सभी क्षेत्रोंमें यूरोपीय संस्कृतिके द्वारा सम्मोहित क्यों हैं और अबतक भी हम सभी राजनीतिके क्षेत्रमें इसके द्वारा मंत्रमुग्ध क्यों हैं? क्योंकि वे बराबर देखते आ रहे हैं कि समस्त शक्ति, सृजन और कर्मण्यता यूरोपकी ओर हैं और भारतकी ओर है समस्त निष्क्रियता, या एक अचल एवं अक्षम रक्षाकी समस्त दुर्बलता। परंतु जहां कहीं भारतीय आत्मा ओजस्वी रूपमें प्रतिक्रिया तथा आक्रमण करने और उत्साहके साथ सृजन करनेमें समर्थ हुई है वहां यूरोपीय चमक-दमककी सम्मोहनी शक्ति तुरंत ही लुप्त होने लगी है। हमारे धर्मपर यूरोपका आक्रमण प्रारंभमें अत्यंत प्रबल था, पर आज किसीको भी उसका कोई विशेष बल महसूस नहीं होता, क्योंकि हिंदू नवजागरणकी सर्जनात्मक हलचलोंने भारतीय धर्मको एक प्राणवंत, विकासशील, सुरक्षित, विजयिनी और आत्मव्यापिनी शक्ति बना दिया है। परंतु इस कार्यपर मुहर तो दो घटनाओंने लगायी, वे थीं थियोसोफीका आंदोलन तथा शिकागोमें स्वामी विवेकानंदका प्रकट होना। कारण, भारत जिन आध्यात्मिक विचारोंका प्रतिनिधित्व करता है उन्हें इन दो घटनाओंने इस रूपमें दिखला दिया कि वे अब पहलेकी तरह केवल अपनी रक्षा ही नहीं कर रहे हैं वरन् आक्रमणमें भी तत्पर हैं एवं पश्चिमकी भौतिकताग्रस्त मनोवृत्तिपर प्रहार कर रहे हैं। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा एवं अंग्रेजी प्रभावने समस्त भारतको सौंदर्यसंबंधी धारणाओंमें अंगरेजियतसे भरा हुआ तथा असंस्कृत बना डाला था। यह अवस्था तबतक बनी रही जबतक कि एकाएक बंगीय चित्र-कलाकी स्वर्णिम उषाका उदय नहीं हो गया और उसकी रश्मियां इतनी दूर-दूरतक प्रसारित नहीं हो गयीं कि वे टोकियो, लंदन और पेरिसमें भी

दिखायी देने लगीं। इस महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटनाने देशमें सौंदर्य-विज्ञान-के क्षेत्रमें क्रांति मचा दी है, जो अभीतक पूर्ण तो बिलकुल ही नहीं है पर अदम्य अवश्य है और साथ ही अब उसका भविष्य भी सुनिश्चित है। यही बात अन्य क्षेत्रोंमें भी घटित हो रही है। यहांतक कि राजनीतिके क्षेत्रोंमें भी स्वदेशी-आंदोलनके समय तथाकथित चरमपंथी दलकी नीतिका आंतरिक भाव भी यही था। कारण, इस आंदोलनसे पहले ऐसा दिखायी देता था कि अनुकरणात्मक यूरोपीय पद्धतिको छोड़कर और किसी पद्धतिसे भारतीय भावनाके द्वारा राजनीतिके क्षेत्रमें कुछ भी सृजन नहीं किया जा सकता, किंतु इस स्वदेशी-आंदोलनने उस असंभवताको अतिक्रम करनेका यत्न किया। यदि वह आंदोलन उस समय विफल हुआ तो इसका कारण यह नहीं था कि इसकी प्रेरणामें किसी प्रकारकी असत्यता थी, वरन् यह कि इसपर जो विरोधी दबाव पड़ रहा था वह बहुत प्रबल था और विगत ह्राससे उत्पन्न दुर्बलता भी अभी बनी हुई थी। यदि उसकी आरंभिक रचनाएं भंग हो गयीं अथवा वे निस्तेज पड़कर अपने मूल अर्थसे च्युत हो गयीं तो भी वह आंदोलन रास्ता दिखानेवाले खंभेकी तरह बना रहेगा। इसमें संदेह नहीं कि ज्योंही अधिक अनुकूल अवस्थाओंमें एक विशालतर द्वार खुल जायगा त्योंही यह प्रयत्न फिरसे आरंभ किया जायगा। जबतक वह प्रयत्न शुरू नहीं होता और सफल नहीं होता तबतक भारतकी आत्माके लिये एक भीषण खतरा बना रहेगा; क्योंकि राजनीतिके क्षेत्रमें यूरोपीय-करण हो जानेके बाद सामाजिक क्षेत्रमें भी वैसी ही प्रवृत्तिका दौरा चलेगा जो अपने साथ सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मृत्युको ले आयगा। यदि प्रतिरक्षाको फलदायी होना हो तो आक्रमणको अवश्य ही सफल एवं सर्जन-क्षम होना होगा।

यदि हमें इस महान् प्रश्नको इसकी यथार्थ रूप-रेखामें देखना हो तो इसे हमें एक विशालतर विश्वव्यापी अर्थ देना होगा। द्वंद्व, संघर्ष और प्रतियोगिताका तत्त्व आज भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधोंका नियामक है और अभी कुछ समयतक नियामक रहेगा भी; कारण, यदि मानवजातिके किसी ऐसे सौभाग्यके कारण, जिसकी अभीतक कोई संभावना नहीं है, निकट भविष्यमें युद्ध भूतलपरसे उठ भी जाय, तो भी संघर्ष दूसरे रूप ग्रहण कर लेगा। फिर इसके साथ ही आजकी एक अत्यंत प्रधान बात यह भी है कि मनुष्य-जातिके जीवनमें एक प्रकारकी पारस्परिक घनिष्ठता भी बढ़ती जा रही है। यूरोपीय महायुद्धने इसे तीव्र रूपमें स्पष्ट कर दिया है; किंतु युद्धके बादके युगमें इसके सभी अंतर्निहित अर्थ तथा इसकी अनेकानेक कठिनाइयां हमारे

सामने प्रकट हो जायंगी। पर अभीतक यह कोई वास्तविक मिलाप नहीं है, सच्ची एकताका आरंभ तो दूर रहा, यह तो केवल एक विवश करनेवाली भौतिक एकता है जिसे वैज्ञानिक आविष्कारों एवं आधुनिक परिस्थितियोंने हमपर जबर्दस्ती लाद दिया है। परंतु यह भौतिक एकता अपने मानसिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक परिणाम अवश्य उत्पन्न करेगी। आरंभमें यह संभवतः संघर्षको कम करनेके बजाय अनेक दिशाओंमें और भी प्रबल बना सकती है, अनेक प्रकारके राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्ष बढ़ा सकती है और सांस्कृतिक संघर्षको भी तेजीसे आगे बढ़ा सकती है। इस प्रकार अंतमें शायद एक प्रकारकी आक्रामक यूरोपीय सभ्यता अन्य सबको निगलकर जबर्दस्ती अपने अंदर मिला लेगी तथा उन्हें विनष्ट कर देगी। आया उस सभ्यताका रूप मध्यमवर्गीय आर्थिक होगा या श्रमिकदलीय जड़वादी या तर्कवादीय बौद्धिक यह पहलेसे ही जान लेना सहज नहीं, किंतु इस समय जो संभावना सबसे अधिक सामने है वह किसी-न-किसी रूपमें यही है। दूसरी ओर, यह बाह्य एकता हमें एक ऐसे स्वतंत्र संघकी ओर ले जा सकती है जिसके पीछे कोई मूलगत ऐक्य अवस्थित हो। फिर, एक और आदर्श भी है और वह यह कि सभी जातियां पूर्ण रूपसे पृथक्-पृथक् रहें और प्रत्येक अपनी-अपनी तीव्रतः विभिन्न संस्कृतिका विकास करे तथा अन्य प्रमुख विचारों एवं सांस्कृतिक रूपोंके संबंधमें "विजातीयके बहिष्कार" की नीतिका अनुसरण करे; यद्यपि कुछ समयके लिये इस आदर्शका सर्वत्र बोलबाला रहा है और कभी इसका विकास भी खूब जोर-शोरसे हो रहा था, तथापि अब इसके सफल होनेकी संभावना नहीं दीखती। क्योंकि, ऐसा होनेके लिये तो एकीकरणके संपूर्ण उद्देश्यको, जिसकी तैयारी प्रकृतिके अंदर हो रही है, छिन्न-भिन्न हो जाना होगा। पर इस विपत्तिके आनेकी कोई संभावना नहीं यद्यपि ऐसा होना एकदम अशक्य भी नहीं है। आज जगत्पर यूरोपका आधिपत्य है और यह अनुमान करना स्वाभाविक ही है कि सारा जगत् पाश्चात्य सभ्यतामें दीक्षित हो जायगा और भौतिक जीवनके विकास एवं संगठनके कठोर वैज्ञानिक अनुशीलनमें जी-जानसे लगे हुए यूरोपीय ऐक्यके अंदर जिस प्रकारके छोटे-मोटे भेदोंके लिये छूट मिल सकती है केवल उसी प्रकारके भेद शेष रह जायेंगे। किंतु इस संभावनाके आर-पार भारतकी छाया पड़ चली है।

सर जान उड्रफ प्रोफेसर लोवेस डिकिन्सन (Prof. Lowes Dickinson) के इस अद्भुत कथनको उद्धृत करते है कि विरोध उतना एशिया और यूरोपके बीच नहीं है जितना कि भारत और शेष जगत्के बीच। इस

कथनके पीछे कुछ सत्य है; किंतु यूरोप और एशियाका सांस्कृतिक विरोध भी एक प्रधान बात है जो इससे दूर नहीं हो जाती। आध्यात्मिकतापर भारतका ही एकाधिकार हो ऐसी बात नहीं; चाहे कितनी ही यह बौद्धिकताके तलमें क्यों न छुपी पड़ी हो या किन्हीं अन्य ढकनेवाले पर्दोंकी ओटमें क्यों न छिपी हुई हो, यह मानव-प्रकृतिका एक आवश्यक अंग है। अंतर इतना ही होता है कि कहीं तो आध्यात्मिकताको आंतर तथा बाह्य दोनों प्रकारके जीवनका प्रमुख उद्देश्य एवं निर्धारक शक्ति बना दिया जाता है और कहीं इसे दबा दिया जाता, केवल प्रच्छन्न रूपोंमें ही आगे आने दिया जाता या एक गौण शक्तिके रूपमें स्थान दिया जाता है तथा बौद्धिकता या प्रबल जड़वादी प्राणात्मवादको प्रश्रय देनेके लिये इसके शासनको अस्वीकृत या स्थगित कर दिया जाता है। इनमेंसे पहला पथ तो प्राचीन ज्ञानका आदर्श था जो एक समय सभी सभ्य देशोंमें—सचमुच ही, चीनसे पेरूतक—व्यापक रूपसे प्रचलित था। परंतु अन्य सब राष्ट्र इससे च्युत हो गये हैं तथा उन्होंने इसकी बृहत् व्यापकताको कम कर दिया है या फिर वे इस पथसे सर्वथा भ्रष्ट हो गये हैं जैसा कि यूरोपमें हमें दिखायी देता है। अथवा आज वे इस खतरेमें हैं कि वे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले आर्थिक, व्यावसायिक, औद्योगिक, बौद्धिकतया उपयोगितावादी आधुनिक आदर्शके हित इसे छोड़ बैठेंगे, जैसा कि हम एशियामें देखते हैं। केवल भारत ही, चाहे यहां ज्ञान और शक्तिका कितना भी क्षय या ह्रास क्यो न हो गया हो, आध्यात्मिक आदर्शके मूल स्वरूपके प्रति निष्ठावान् बना हुआ है। केवल भारत ही अभीतक हठपूर्वक डटा हुआ है। भारतके आलोचक कहते हैं कि टर्की, चीन और जापान इस मूर्खतासे ऊपर उठ गये है जिससे उनका मतलब यह होता है कि ये देश युक्तिवादी तथा जड़वादी बन गये हैं। भारतके कुछ एक व्यक्तियोंने या किसी छोटेसे वर्गने जो कुछ भी किया हो, फिर भी केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि-रूपमें अपने उपास्य देवका त्याग करने या युक्तितंत्र, व्यवसायतंत्र एवं अर्थतंत्र-रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं, पश्चिमके सफल लौह-देवताओंके आगे घुटने टेकनेसे अबतक भी इन्कार करता आ रहा है। वह उनसे कुछ प्रभावित अवश्य हुआ है, पर अभीतक हारा नहीं है। उसकी गभीरतर प्रज्ञाने नहीं, वरन् उसके स्थूल मनने ही बाध्य होकर स्वतंत्रता, समानता, प्रजातंत्र आदि अनेक पश्चिमी विचारोंको स्वीकार किया है तथा अपने वैदांतिक सत्यके साथ उनका समन्वय किया है; परंतु उनके पाश्चात्य रूपसे उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ है और अपनी विचारधारामें वह पहलेसे ही उन्हें एक भारतीय रूप

प्रदान करनेके लिये यत्नशील है जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता। अंग्रेजी विचारों एवं संस्कृतिका अनुकरण करनेकी प्रथम बाढ़ समाप्त हो गयी है। किंतु एक और उससे भी भयानक चीज हाल ही में शुरू हुई है, और वह है सामान्यतया यूरोप महाद्वीपकी संस्कृतिका और विशेषकर क्रांतिकारी रूसकी स्थूल एवं उग्र प्रवृत्तिका अनुकरण करनेकी बाढ़। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि प्राचीन हिन्दू धर्मका उत्तरोत्तर पुनरुत्थान हो रहा है तथा आध्यात्मिक जागृति एवं इसके महत्त्वपूर्ण आन्दोलनोंका प्रभाव विपुल रूपसे फैल रहा है। इस अनिश्चित स्थितिका परिणाम दोमेंसे कोई एक हो सकता है। या तो भारत इतनी पूरी तरहसे तर्कवादी एवं व्यवसायवादी बन जायगा कि वह पहचाननेमें ही नहीं आयगा और तब वह भारत ही नहीं रहेगा या फिर वह एक नयी विश्व-व्यवस्थाका नेता बनेगा, अपने दृष्टांत तथा सांस्कृतिक प्रभावधाराके द्वारा पश्चिमकी नयी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहित करता हुआ मानवजातिको अध्यात्ममय बनायेगा। यही एकमात्र, मूल और मार्मिक विचारणीय प्रश्न है। भारत जिस आध्यात्मिक उद्देश्यका प्रतिनिधि है क्या वह यूरोपपर विजय लाभ करेगा और वहां पश्चिमके अनुकूल नवीन रूपोंका सृजन करेगा, अथवा, क्या यूरोपीय युक्तिवाद एवं व्यवसायवाद भारतीय ढंगकी संस्कृतिको सदाके लिये मिटा देंगे?

तो फिर यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि भारत सभ्य है या नहीं, वरन् यह कि उसकी सभ्यताका निर्माण करनेवाले उद्देश्यको मानव-संस्कृतिका नेतृत्व करना है या पुराने यूरोपके बौद्धिक उद्देश्यको अथवा नये यूरोपके जड़वादी उद्देश्यको नेतृत्व करना है? क्या आत्मा, मन और शरीरका सामंजस्य अपने-आपको हमारी भौतिक प्रकृतिके उस स्थूल नियमपर प्रतिष्ठित करेगा जो केवल बुद्धिके द्वारा नियंत्रित होगा या जिसे अधिक-से-अधिक एक क्षीण एवं निष्प्रभाव आध्यात्मिक प्रभाका स्पर्श प्राप्त होगा, या फिर, क्या आत्माकी प्रबल शक्ति नेतृत्व करेगी तथा बुद्धि, मन और देहकी हीनतर शक्तियोंको एक उच्चतम सुसंगति, एक विजयी चिर-विकसनशील संतुलनके हित अधिक उदात्त प्रयत्न करनेके लिये बाध्य करेगी? भारतको अपनी रक्षा करनी होगी और इसके लिये उसे अपने सांस्कृतिक विधि-विधानोंका इस प्रकार नया निर्माण करना होगा कि वे उसके प्राचीन आदर्शको अधिक तेजस्वी, अधिक घनिष्ठ एवं पूर्ण रूपमें प्रकट करें। फिर उसे अपने आक्रमणके द्वारा इस प्रकार उन्मुक्त ज्योतिकी लहरोंके आत्मप्रसारी विजयी चक्करोंके रूपमें उस समस्त जगत्के ऊपर फैला देना चाहिये जिसे एक

बार उसने सुदूर युगोंमें अधिकृत किया था या कम-से-कम प्रकाश प्रदान किया था। संघर्षके आनेकी बातको कुछ कालके लिये स्वीकार करना होगा, तबतकके लिये जबतक कि विरोधी संस्कृतिका आक्रमण जारी है। पर, क्योंकि कार्यतः यह पश्चिमकी उन्नत विचारधारासे उद्भूत होनेवाली सभी श्रेष्ठ वस्तुओंके अभ्युदयमें सहायक होगा, अतएव इसके परिणामस्वरूप एक उच्चतर स्तरके सामंजस्यका सूत्रपात हो जायगा और साथ ही एकताकी तैयारी भी आरंभ हो जायगी।

क्या भारत सभ्य है ?

दूसरा अध्याय

भारतीय सभ्यता-विषयक यह प्रश्न एक बार इस बड़े प्रश्नको उपस्थित करनेके बाद अपने संकीर्ण अर्थसे हटकर एक अधिक व्यापक समस्यामें विलीन हो जाता है। क्या मानवजातिका भविष्य केवल तर्क-बुद्धि और विज्ञान (Science) ही पर आश्रित संस्कृतिमें निहित है? क्या मानवजीवनकी प्रगति उस मनके, उस प्रवहणशील समष्टिगत मनके प्रयत्नपर निर्भर करती है जो नाशवान् व्यष्टियोंकी सदा बदलनेवाली समष्टिसे गठित है, जो इस निश्चेतन जड़ जगत्के अंधकारसे निकला है और इसके अंदर अपनी कठिनाइयों एवं समस्याओंके बीच किसी स्पष्ट प्रकाश एवं किसी निश्चित आश्रयकी खोजमें इधर-उधर ठोकरें खा रहा है? और क्या सभ्यता इसीका नाम है कि उस प्रकाश और आश्रयको मनुष्य युक्तिलब्ध ज्ञान एवं युक्तियुक्त जीवन-प्रणालीमें ढूढ़नेका प्रयास करे? तब तो एकमात्र वास्तविक विज्ञान होगा भौतिक प्रकृतिके बलों, शक्तियों एवं संभावनाओंका क्रमबद्ध ज्ञान तथा मनोमय एवं देहमय प्राणीके रूपमें मनुष्यके मानसशास्त्रका ज्ञान। और जीवनकी एकमात्र सच्ची कला होगी समाजकी बढ़ती हुई क्षमता एवं भलाईके लिये उस ज्ञानका व्यवस्थित उपयोग जिससे कि मनुष्यका क्षणस्थायी जीवन अधिक सक्षम, अधिक सहनयोग्य एवं सुख-सुविधापूर्ण बन जाय, अधिक साधन-संपन्न तथा मन, प्राण और देहके भोगोंसे अधिक प्रचुर रूपमें समृद्ध हो जाय। हमारे समस्त दर्शन, हमारे समस्त धर्म (यदि यह मान लिया जाय कि अभी धर्मसे परे जाकर उसका त्याग नहीं किया गया है), हमारे समस्त विज्ञान, चिंतन, कला, सामाजिक संघटन, विधि-विधान और अनुष्ठानको जीवन-विषयक इसी विचारपर अपनी नींव रखनी होगी और एकमात्र इसी ध्येय और प्रयासकी सेवा करनी होगी। यूरोपीय सभ्यताने यही सूत्र अपनाया है और इसीको वह किसी प्रकारकी सफलतातक पहुंचानेके लिये अब भी प्रयास कर रही है। यह एक ऐसी सभ्यताका सूत्र है जो बड़ी बुद्धिमानीके साथ एक यंत्रकी भांति गठित है तथा जो एक तर्कप्रधान एवं उपयोगितावादी संस्कृतिको सहारा दिये हुए है।

अथवा, क्या हमारी सत्ताका सत्य यह नहीं है कि एक आत्मा है जिसने प्रकृतिके अंदर देह धारण किया है और जो अपने-आपको जानने, प्राप्त करने, अपनी चेतनाको विस्तारित करने, एक महत्तर जीवन-प्रणालीको उपलब्ध करने, अध्यात्म-सत्तामें प्रगति करने और आत्मज्ञानकी पूर्ण ज्योति तथा किसी दिव्य आंतरिक पूर्णताको प्राप्त होनेका यत्न कर रहा है? क्या धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिंतन, शिल्प, समाज, यहांतक कि समस्त जीवन इस विकासके साधनमात्र नहीं हैं, क्या ये आत्माके ऐसे यंत्र नहीं हैं जिनका उपयोग उसीकी सेवाके लिये करना है और इस आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही जिनका प्रधान या कम-से-कम अंतिम धंधा है? जीवन और सत्ताके संबंधमें भारतकी धारणा यही है,—और असलमें जैसा कि वह दावा करता है, यह उसका इस विषयका ज्ञान है। इसीका प्रतिनिधित्व वह कलतक करता आया है और आज भी वह अपनी प्रकृतिके उन सब तत्त्वोंके द्वारा, जो अत्यंत दृढ़ और शक्तिशाली हैं, इसीका प्रतिनिधित्व करनेकी चेष्टा कर रहा है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक ढंगकी सभ्यताका सूत्र है जो पूर्णताके द्वारा पर साथ ही मन, प्राण और शरीरके अतिक्रमणके द्वारा एक उच्च आत्म-संस्कृतितक पहुंचनेका प्रयास कर रहा है।

सुतरां, मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मानवजातिकी भावी आशा एक तर्क-प्रधान एवं बुद्धिमत्तापूर्वक यांत्रीकृत सभ्यता एवं संस्कृतिमें निहित है या एक आध्यात्मिक, बोधिमूलक और धार्मिक सभ्यता एवं संस्कृतिमें? जब कि हमारा युक्तिवादी समालोचक इस बातसे इन्कार करता है कि भारत सभ्य है या वह कभी सभ्य रहा है, जब वह उपनिषदोंको, वेदांत, बौद्धधर्म, हिन्दूधर्म, प्राचीन भारतीय कला एवं काव्यको बर्बरताका एक स्तूप, चिर-बर्बर मनकी एक निरर्थक कृति घोषित करता है तो उसका मतलब तो केवल यही होता है कि सभ्यता और जड़वादी बुद्धिका आचार-विचार दोनों समानार्थक और अभिन्न हैं; और जो कोई वस्तु इस मानदंडसे नीचे रह जाती या ऊपर उठ जाती है वह इस नामके योग्य नहीं। समस्त दर्शन एवं समस्त धर्म न सही, पर जो दर्शन अतीव दार्शनिक है एवं जो धर्म अतीव धार्मिक है वह, जो चिंतन और कला अति आदर्शवादी एवं गुह्य हैं वे, प्रत्येक प्रकारका रहस्यवादी ज्ञान, वह सब कुछ जो भौतिक जगत्के साथ व्यवहार करनेवाली बुद्धिको सूक्ष्म बनाता है तथा उसके सीमित क्षेत्रसे परेकी चीजोंकी थाह लेता है और इसलिये जो इसे अद्भुत, अति सूक्ष्म अमित एवं दुर्बोध्य प्रतीत होता है, वह सब जो अनंतके बोधका प्रत्युत्तर देता है, वह सब जो सनातनकी भावनासे अभिभूत है, और वह समाज जो

केवल बौद्धिक स्पष्टता तथा जड़वादी विकास एवं कौशलके अनुशीलनके द्वारा नियंत्रित न होकर उक्त चीजोंसे उत्पन्न विचारोंके द्वारा ही अत्यधिक नियंत्रित होता है — वे सभी सभ्यताकी उपज नहीं हैं बल्कि एक असंस्कृत और गहन बर्बरताकी संतति हैं। परंतु यह स्थापना स्पष्टतः अत्युक्तिपूण है; मानवताके महान् अतीतका अधिकांश इस दोषारोपणका पात्र सिद्ध होगा। यहांतक कि प्राचीन यूनानी संस्कृति भी इससे नहीं बच पायगी; यदि यह स्थापना सत्य हो तो स्वयं आधुनिक यूरोपीय सभ्यताके अधिकांश विचार एवं कला-कौशलको भी कम-से-कम अर्द्ध-बर्बर कहकर निंदित ठहराना होगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि सभ्यता शब्दके अर्थको संकुचित तथा जातिके अतीत प्रयासोंके महत्त्वको क्षीण करते हुए हम अत्युक्ति और मूढ़ता-के शिकार हुए बिना नहीं रह सकते। यूनानी-रोमन, ईसाई एवं इस्लामी सभ्यता या यूरोपकी परवर्ती, नवजागरण (रेनेसांस)-कालकी सभ्यताके सर्वथा समान ही प्राचीन भारतीय सभ्यताको भी एक महान् संस्कृतिका फल स्वीकार किया गया है और स्वीकार करना ही होगा।

परंतु मूल प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है; हां, विवाद केवल इसके केंद्रीय पहलूतक सीमित रह गया है। एक अधिक संयत एवं सूक्ष्मदर्शी युक्तिवादी समालोचक भारतकी प्राचीन सफलताओंका मूल्य स्वीकार कर सकता है। वह बौद्धधर्म, वेदान्त, समस्त भारतीय कला-कौशल, दर्शन तथा सामाजिक विचारोंको बर्बर बताकर उनकी निंदा नहीं करेगा, किंतु फिर भी वह आक्षेप करेगा कि भविष्यमें इन चीजोंसे मानवजातिका किसी प्रकारका कल्याण नहीं हो सकता। प्रगतिका सच्चा मार्ग यूरोपीय आधुनिकतावाद, विज्ञानके महान् कार्य और मानवजातिके महत् आधुनिक अभियानमेंसे होकर जाता है, इसके लिये मानवजातिको अनुमान और कल्पनापर नहीं बल्कि प्रत्यक्ष एव निर्धारित वैज्ञानिक सत्यके दृढ़ आधारपर प्रतिष्ठित होकर पुरुषार्थ करना होगा तथा सुनिश्चित और जांची हुई वैज्ञानिक व्यवस्थाके विपुल दानोंको श्रमपूर्वक इकट्ठा करना होगा। उधर, अपने आदर्शोंके प्रति निष्ठावान् भारतीय विचारक यह युक्ति देगा कि यद्यपि तर्कबुद्धि तथा विज्ञान एवं इनके अन्यान्य सहायकोंका मानवप्रयासमें अपना स्थान है पर वास्तविक सत्य इनसे परेकी वस्तु है। अपनी अंतिम पूणताका रहस्य हमें अपने अंदर, वस्तुओं तथा प्रकृतिके अंदर अधिक गहरे जाकर ढूंढ़ना होगा; केंद्रीय रूपमें इसे आध्यात्मिक आत्मज्ञान एवं आत्मपरिपूर्णतामें तथा उस आत्मज्ञानपर प्रतिष्ठित जीवनमें खोजना होगा।

जब प्रश्न इस रूपमें रखा जाता है, तब हम तुरंत देख सकते हैं कि

पूर्व और पश्चिम, भारत और यूरोपके बीचकी खाई उसकी अपेक्षा बहुत ही कम गहरी तथा बहुत ही कम चौड़ी रह जाती है जितनी कि वह तीस-चालीस साल पहले थी। किंतु मूल भेद अब भी वैसे-का-वैसा है; पश्चिम-का जीवन आज भी मुख्य रूपसे युक्तिवादी विचारधारा तथा जड़वादी प्रवृत्तिके द्वारा ही नियंत्रित है। हां, चिंतनके शिखरोंपर एक बड़ा भारी परिवर्तन आरंभ हो गया है, और वह प्रगति भी कर रहा है, साथ ही कला, काव्य, संगीत और सामान्य साहित्यके द्वारा वह स्थिरतापूर्वक निम्न स्तरों-पर भी अधिकाधिक संचारित हो रहा है। आज वहां सर्वत्र यह देखा जा सकता है कि लोगोंकी दृष्टि गभीरतर वस्तुओंकी ओर जा रही है, जिन जिज्ञासाओंको निकाल बाहर किया गया था वे फिरसे उत्तरोत्तर वापिस आ रही हैं, जो ऊंची अनुभूति अबतक प्राप्त नहीं हुई है उसकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा जग रही है, जो विचार पश्चिमी मनोवृत्तिके लिये दीर्घ कालमें विजातीय रहे हैं उनका प्रवेश हो रहा है। इस प्रक्रियाके सहायकके रूपमें तथा इससे सहायता पाकर भारतीय एवं पूर्वीय विचार और प्रभाव भी, कुछ अंशमें, छन-छनकर वहां पहुंचा है; इतना ही नहीं, बल्कि हम देखते हैं कि जहां-तहां प्राचीन आध्यात्मिक आदर्शका उत्कृष्ट मूल्य या उच्चतर महत्ता अधिकाधिक स्वीकार की जा रही है। बहुत पहले जब कि सुदूर पूर्व और यूरोपके बीच निकट संपर्क स्थापित हुआ, जिसके लिये भारतके अंग्रेजी राज्यने एक अत्यंत प्रत्यक्ष अवसर प्रदान किया, तभीसे प्राच्य विचार और प्रभावका इस प्रकारका संचार आरंभ हुआ था। परंतु पहले-पहल यह बहुत थोड़ा और केवल बाहरी स्पर्शमात्र था अथवा, अधिक-से-अधिक, यह इने-गिने श्रेष्ठ विचारकोंपर एक बौद्धिक प्रभावमात्र था। वेदांत, सांख्य और बौद्ध मतकी ओर विद्वानों और विचारकोंकी साहित्यिक रुचि या आक-र्षण एवं झुकाव, भारतीय दार्शनिक आदर्शवाद (Idealism) की सूक्ष्मता और विशालताकी सराहना, शोपेनहावर और इमर्सन जैसे महान् मनीषियों तथा कुछ एक छोटे-मोटे विचारकोंपर उपनिषदों और गीताका प्रभाव — यही था इस विचार-प्रवाहके लिये पहला तंग द्वार। यह प्रभाव अपनी अत्युत्तम अवस्थामें भी बहुत दूरतक नहीं फैला और जो छोटा-मोटा परि-णाम यह उत्पन्न कर सकता था उसे भी वैज्ञानिक जड़वादकी प्रबल बाढ़ने कुछ समयके लिये रोक दिया यहांतक कि नष्ट-भ्रष्ट कर डाला; उन्नीसवीं शतीके पिछले भागके यूरोपका संपूर्ण जीवनादर्श इसी बाढ़में निमज्जित हो गया था।

परंतु अब अन्यान्य आंदोलन उठ खड़े हुए हैं और उन्होंने एक विजय-

शाली सफलताके साथ चिंतन तथा जीवनपर अपना अधिकार जमा लिया है। दर्शन और चिंतनने तर्कपंथी जड़वाद तथा इसकी निःसंशय तानाशाहीसे हटकर अपनी दिशा स्पष्ट रूपसे बदल ली है। उन्होंने जगत्‌के संबंधमें एक अधिक व्यापक दृष्टि एवं विचारधाराकी खोज आरंभ कर दी है और इसका प्रथम परिणाम यह हुआ है कि एक ओर भारतीय अद्वैतवादने अनेक मनीषियोंपर अपना सूक्ष्म किंतु शक्तिशाली प्रभुत्व —— यद्यपि बहुधा विचित्र छद्मरूपोंमें ही, स्थापित कर लिया है। फिर दूसरी ओर, नये दर्शनशास्त्रोंका जन्म हो गया है; निःसंदेह वे प्रत्यक्ष रूपसे आध्यात्मिक नहीं वरन् प्राणात्मवादी एवं व्यवहारवादी हैं, किंतु फिर भी अपनी अंतर्मुखताके बढ़ जानेके कारण वे भारतीय चिंतनधाराओंके अधिक निकट पहुंच गये हैं। विज्ञानके प्रति अनुरागकी पुरानी मर्यादाएं टूटनी आरंभ हो गयी हैं; प्रेतविज्ञानसंबंधी खोजके नानाविध रूप और मनोविज्ञानकी अभिनव दिशाएं और यहांतक कि जीवात्मवाद और गुह्यवादके प्रति अनुराग —— ये सभी उत्तरोत्तर प्रचलित हो रहे हैं और कट्टर धर्म एवं कट्टर विज्ञानके अभिशापोंके होते हुए भी अपना अधिकार अधिकाधिक दृढ़ करते जा रहे हैं। थियोसोफीने पुराने और नये विश्वासोंको व्यापक रूपमें एक साथ मिलाकर तथा प्राचीन आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक पद्धतियोंका आश्रय लेकर सर्वत्र अपना प्रभाव विस्तारित किया है जो उसके घोषित श्रद्धालु अनुयायियोंके दायरेको पारकर दूर-दूरतक फैल गया है। बहुत समयतक तिरस्कार और उपहासके साथ विरोध किये जानेपर भी उसने कर्म, पुनर्जन्म, सत्ताके अन्यान्य लोक, देहधारी जीवका बुद्धि और अंतस्तत्वमेंसे गुजरते हुए आत्माकी ओर विकास —— इन सब विचारोंमें विश्वासको व्यापक रूपमे प्रचारित करनेके लिये बहुत कुछ किया है और ये सब ऐसे विचार हैं जो एक बार स्वीकार कर लिये जानेपर जीवनके विषयमें हमारे संपूर्ण मनोभावको ही बदल डालेंगे। यहांतक कि स्वयं विज्ञान भी निरंतर उन्हीं निष्कर्षोंपर पहुंच रहा है जो भौतिक स्तरपर तथा इसकी अपनी भाषामें उन्हीं सत्योंकी पुनरावृत्तिमात्र करते हैं जिनकी स्थापना प्राचीन भारतने अध्यात्म-ज्ञानके दृष्टिबिंदुसे वेद और वेदांतकी भाषामें की थी। इन प्रगतियोंमेंसे प्रत्येक प्रत्यक्ष रूपसे या अपने आभ्यंतरिक अर्थमें पूर्व और पश्चिमके मनको एक दूसरेके साथ अधिक निकट संपर्कमें ले आती है और उस हदतक भारतीय विचारों एवं आदर्शोंको अधिक अच्छी तरह हृदयंगम करनेकी संभावनाका द्वार खोल देती है।

कुछ दिशाओंमें तो मनोभावका यह परिवर्तन आश्चर्यजनक रूपमें आगे बढ़ चुका है और निरंतर ही प्रगति करता दिखायी दे रहा है। सर जान

उड्रफने एक ईसाई धर्मप्रचारकका कथन उद्धृत किया है जो यह देखकर "चकित है कि किस हदतक जर्मनी और अमरीकाकी, यहांतक कि इंगलैंडकी भी धार्मिक मान्यताओंमें हिन्दू सर्वेश्वरवाद प्रविष्ट होना आरंभ हो गया है" और इसके बढ़ते हुए प्रभावको वह आगामी संततिके लिये एक आसन्न "संकट" समझता है। उन्होंने एक और लेखकका उद्धरण दिया है जो यहां-तक कहता है कि यूरोपके समस्त उच्चतम दार्शनिक चिंतनका मूलस्रोत ब्राह्मणोंकी पूर्ववर्ती विचारधारा ही है। इतना ही नहीं, वह तो यह भी कहता है कि बौद्धिक समस्याओंके जो भी समाधान आधुनिक युगमें किये गये हैं वे सभी पौरस्त्य विचारकोंको पहलेसे ही ज्ञात हो चुके थे तथा पूर्व-के ग्रंथोंमें पाये जा सकते हैं। एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिकने हाल ही में एक भारतीय दर्शकको बताया कि यथार्थ मनोविज्ञानकी सभी विशाल धाराओं और प्रधान सत्योंका, उसके व्यापक आदर्शका निरूपण भारतवर्ष पहले ही कर चुका है और अब यूरोप जो कुछ कर सकता है वह बस इतना ही है कि सही ब्योरों तथा वैज्ञानिक प्रमाणोंके द्वारा उनकी खानापूरी कर दे। ये कथन इस बातके चरम इंगित हैं कि परिवर्तन उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है, वह किस दिशामें गति कर रहा है इसमें भ्रमकी कोई गुंजाइश नहीं। और केवल दर्शन और उच्चतर चिंतनमें ही दिशाका यह परिवर्तन दिखायी देता हो ऐसी बात नहीं। यूरोपीय कला कुछ दिशाओंमें अपने पुराने लंगरसे बहुत दूर हट गयी है; इतने दिनोंतक जो प्रेरणाएं केवल पूर्वमें ही आदरकी दृष्टिसे देखी जाती थीं उनके प्रति वह अपने ढंगसे एक नयी दृष्टि विकसित कर रही है तथा उनकी ओर अपने-आपको उन्मुक्त भी कर रही है। पूर्वीय कला और साज-सज्जाकी सर्वत्र सराहना की जाने लगी है और सर्वत्र उनका सूक्ष्म पर प्रबल प्रभाव पड़ा है; काव्यने भी कुछ समयसे अस्पष्ट रूपमें एक नयी भाषामें बोलना आरंभ कर दिया है,— यह ध्यान देने योग्य है कि आजसे तीस वर्ष पहले कवि ठाकुरकी विश्वव्यापी ख्यातिकी कल्पनातक नहीं की जा सकती थी,—और यहांतक कि प्राय: साधारण कवियोंके पद्यको भी हम ऐसे विचारों एवं भावोंसे परिपूर्ण पाते हैं जिनका दृष्टांत पहले भारतीय बौद्ध और सूफी कवियोंके सिवा और कहीं शायद ही मिल पाता। सामान्य साहित्यमें भी ऐसी ही बातोंके कुछ एक प्रारंभिक लक्षण दिखायी दे रहे हैं। नये सत्यके अन्वेषक, अधिकाधिक, भारतको अपना आध्यात्मिक निवासस्थान बना रहे हैं अथवा वे अपनी अधि-कांश प्रेरणाके लिये इसके ऋणी हैं या कम-से-कम इसके प्रकाशको स्वीकार करते हैं तथा इसका प्रभाव ग्रहण करते हैं। यह परिवर्तन यदि अपना

वेग बढ़ाता चला जाय (और पीछे लौटनेकी संभावना तो नहींके बराबर ही है), तो पूर्व और पश्चिमके बीचकी आध्यात्मिक और बौद्धिक खाई पट जायगी और यदि न भी पटी तो कम-से-कम उसपर एक सेतु अवश्य बंध जायगा और भारतीय संस्कृति एवं आदर्शोंका समर्थन और भी सुदृढ़ भित्ति-पर प्रतिष्ठित हो जायगा।

परंतु यहांपर यह कहा जा सकता है कि यदि इस प्रकार निकट भविष्य-में पारस्परिक समझ और सामंजस्यका उत्पन्न होना निश्चित ही है तो फिर भारतीय संस्कृतिके उग्र समर्थन या किसी भी प्रकारके समर्थनकी जरूरत ही क्या है? और फिर सच पूछो तो, भविष्यमें किसी विशिष्ट भारतीय सभ्यताको बनाये रखनेकी ही क्या आवश्यकता है? पूर्व और पश्चिम दो विपरीत छोरोंसे आकर मिल जायेंगे और एक-दूसरेमें घुलमिल जायंगे और एकीकृत मानवताके जीवनमें एक सार्वभौम विश्व-संस्कृतिकी स्थापना करेंगे। सभी अतीत या वर्तमान रीतियां, परिपाटियां तथा भेद-विभेद इस नये सम्मिश्रणमें घुलमिलकर एक हो जायंगे तथा अपनी परिपूर्णताको प्राप्त करेंगे। परंतु समस्या इतनी आसान नहीं है, इतनी सुसमंजस रूपमें सरल नहीं है। कारण, यद्यपि यह मान भी लिया जाय कि एक संयुक्त विश्व-संस्कृतिमें किन्हीं तीव्र एवं विशिष्ट भेदोंकी कोई आध्यात्मिक आवश्यकता एवं प्राणिक उपयोगिता नहीं होगी, तो भी हम ऐसी किसी भी एकतासे अभी कोसों दूर हैं। अधिक उन्नत आधुनिक चिंतनका अंतर्मुखी एवं आध्यात्मिक झुकाव अभी केवल थोड़ेसे विचारकोंतक ही सीमित है और यूरोपकी सामान्य बुद्धि-पर इसका जो रंग चढ़ा है वह अभी बिलकुल ऊपरी ही है। इसके अति-रिक्त, यह अभी केवल एक विचारगत प्रवृत्ति ही है; यूरोपीय सभ्यताकी जीवन-संबंधी महान् प्रेरणाएं तो अभी ज्यों-की-त्यों अपने पुराने स्थानमें ही डटी हैं। मानव-संबंधोंका जो पुनर्घटन प्रस्तावित किया गया है उसमें कुछ आदर्शवादी तत्त्वोंका दबाव अपेक्षाकृत बढ़ तो गया है, किंतु उन्होंने कुछ ही पहलेके जड़वादी अतीतके जुएको नहीं उतार फेंका है और न उसे ढीला ही किया है। ठीक इसी संधिक्षणमें और इन्हीं अवस्थाओंमें संपूर्ण मानव जगत् —भारत समेत—बलात् एक द्रुत रूपांतरके दबाव और दुःखके चक्रमेंसे गुजरनेवाला है। खतरा इस बातका है कि यूरोपके प्रबल विचारों और प्रेरणाओंका दबाव, वर्तमान समयकी राजनीतिक आवश्यकताओंके प्रलोभन, तीव्र और अटल परिवर्तनका वेग गंभीर विचार और आध्यात्मिक चिंतनके विकासके लिये अवकाश ही नहीं देंगे और ये भारतकी पुरानी सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाको इतना दबा सकते हैं कि वह टूट-फूट जाय; और,

भारतको अपनी मानसिक स्थिति एवं दृष्टिको नयी अवस्थाओंके अनुकूल बनाने अथवा जो रीति-नीति उसकी परिस्थितिके अनुसार राष्ट्रीय आवश्यकताओंको अब और पूरा नहीं कर सकती उसे त्यागने, नये सांचेमें ढालने या उसके बदले अन्य रीति-नीतिको स्थापित करने, नयी विशिष्ट शक्तियों एवं प्रतीकोंका निर्माण करने और अपनी ही भावना एवं आदर्शोंके अनुसार तेजीसे विकास करनेके लिये एक दृढ़ आधार प्राप्त करनेके लिये समय मिले —इसके पूर्व ही ये सब चीजें इस प्राचीन सभ्यताको तोड़-फोड़ सकती हैं। ऐसी दशामें उस विप्लवमेंसे एक तर्कवादमें दीक्षित और पश्चिमी रंगमे रंगा भारत, यूरोपकी नकल करनेवाले भूरे बंदरके रूपमें निकल सकता है, वह अपने प्राचीन विचारके कुछ एक तत्त्वोंको सुरक्षित रखेगा, पर केवल अपने जीवनमें थोड़ा-बहुत सुधार लानेके लिये ही; पहलेकी तरह संपूर्ण जीवनको गठित और परिचालित करनेके लिये नहीं। तब अन्य देशोंकी भांति वह भी पश्चिमीय आधुनिकतावादके सांचेमें ढला हुआ होगा और प्राचीन भारतका नाम-निशान भी न बचा होगा।

कुछ विचारकोंको इस संभावनामें कोई विपत्ति नहीं दिखायी देगी, वरन् वे इसे एक अत्यंत वांछनीय परिवर्तन एवं एक सुखद घटना समझेंगे। उनके मतसे इसका अर्थ यह होगा कि भारतने अपने आध्यात्मिक पृथक्त्वको त्याग दिया है तथा उसमें एक अत्यंत आवश्यक बौद्धिक एवं नैतिक परिवर्तन आ गया है जो उसे, कम-से-कम, आधुनिक राष्ट्रोंकी मंडलीमें प्रवेश पानेका अधिकारी बनायेगा। और, चूंकि नये विश्व-संगठनमें आध्यात्मिक एवं आभ्यंतरिक तत्त्व अधिकाधिक प्रवेश करेगा और शायद नयी विश्व-संस्कृति भारतके अधिकांश धार्मिक एवं दार्शनिक विचारको आत्मसात् कर लेगी, अतः उसकी प्राचीन भावना एवं व्यष्टिगत आत्म-अभिव्यंजनाका तिरोधान पूर्ण रूपसे क्षतिजनक ही हो यह आवश्यक नहीं। तब प्राचीन यूनानकी भांति प्राचीन भारत भी समाप्त हो जायगा, हां, वह मानवजातिके अधिक व्यापक रूपसे विकसित होनेवाले नूतन जीवनके लिये अपना दान अवश्य छोड़ जायगा। परंतु पीछेके जमानेमें यूरोपीय जगत्ने यूनानी-रोमन संस्कृतिको जो आत्मसात् किया उससे उस संस्कृतिको गंभीर हानियां हुईं, फिर चाहे उसके अनेक तत्त्व एक व्यापकतर एवं जटिलतर सभ्यतामें अब भी बचे हुए क्यों न हों। उसकी उदात्त और उज्ज्वल बौद्धिक व्यवस्थाकी शोचनीय हानि हुई, सौंदर्योपासनाके प्राचीन मतका तो और भी हृदयविदारक विनाश हुआ, और इतनी शताब्दियोंके बाद आज भी उस खोए हुए भावको पुनः सच्चे रूपमें नहीं प्राप्त किया जा सका है। भारतकी अपनी विशिष्ट

सभ्यता यदि लुप्त हो गयी तो उसके परिणामस्वरूप जगत्‌के ऐश्वर्यकी और भी भारी क्षति होगी, क्योंकि इसके और यूरोपीय आधुनिकतावादके दृष्टि-कोणमें जो भेद है वह और भी अधिक गहरा है; इसकी भावना बिलकुल निराली है और इसकी आंतरिक अनुभूतिकी सहस्रों धाराओंकी विपुल समृद्धि एवं विविधता एक ऐसी विरासत है जिसे आज भी केवल भारत ही उसके जटिल सत्य एवं सक्रिय क्रम-व्यवस्था समेत सुरक्षित रख सकता है।

साधारणतः पश्चिमीय मनमें निम्न स्तरसे उच्च स्तरकी ओर तथा बाहरसे अंदरकी ओर जीवन चलानेकी प्रवृत्ति होती है। वह अपनी दृढ़ नींव तो प्राणिक और भौतिक प्रकृतिपर रखता है और उच्चतर शक्तियोंको केवल प्राकृतिक पार्थिव जीवनको सुधारने तथा अंशतः ऊपर उठानेके लिये ही पुकारता और ग्रहण करता है। वह अंतर्जीवनको बाह्य शक्तियोंके द्वारा गठित और परिचालित करता है। उधर, भारतका सतत लक्ष्य रहा है उच्चतर आध्यात्मिक सत्यमें जीवनके आधारका अन्वेषण करना और अंतरात्माको आधार बनाकर वहांसे बाहरके जीवनको चलाना; मन, प्राण और शरीरकी वर्तमान जीवनप्रणालीको लांघकर बाह्य प्रकृतिपर शासन करना तथा उसे आदेश-निर्देश देना। जैसा कि प्राचीन वैदिक ऋषियोंने कहा है, "जब वे नीचे स्थित थे तब भी उनका दिव्य आधार ऊपर था, उसीकी किरणें हमारे अंदर गहरी प्रतिष्ठित हो जायं", **नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषाम्, अस्मे अंतर्निहिताः केतवः स्युः।** अब, यह भेद कोई बालकी खाल खींचना नहीं है, बल्कि यह एक महान् और गभीर क्रियात्मक महत्त्व रखता है। यूरोपने ईसाई-धर्म तथा इसके आंतर विधानके साथ जो बर्ताव किया उसके आधारपर हम यह देख सकते हैं कि वह किसी आध्यात्मिक प्रभावके साथ कैसा व्यवहार करेगा। ईसाई-धर्मके आंतरिक विधानको उसने वास्तवमें अपने जीवनका विधान कभी नहीं स्वीकार किया। इसे यदि उसने ग्रहण किया भी तो केवल एक आदर्श और भावनागत प्रभावके रूपमें ही, इसका प्रयोग भी उसने टयूटन जातिके प्राणिक बल-वीर्य तथा लैटिन जाति-की बौद्धिक स्पष्टता एवं इंद्रियगत सुरुचिको पवित्र करने तथा उसे कुछ आध्यात्मिक पुट देनेके लिये ही किया। अतएव, जिस भी नये आध्यात्मिक विकासको वह स्वीकार करेगा, उसे वह संभवतः इसी भावसे स्वीकार करेगा और उसका व्यवहार भी इसी प्रकारके स्थूल एवं सीमित उद्देश्यके लिये करेगा, हां, यदि इस हीनतर आदर्शको चुनौती देने और ऊंचे आध्यात्मिक जीवनपर आग्रह करनेके लिये कोई दृढ़निष्ठ प्राणवंत संस्कृति जगत्‌में विद्यमान हो तो दूसरी बात है।

बहुत संभव है कि दोनों प्रवृत्तियां, यूरोपकी मन-प्राण-शरीरपर बल देनेकी प्रबल प्रवृत्ति और भारतका आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक संवेग, मानव-प्रगतिकी पूर्णताके लिये आवश्यक हों। परंतु आध्यात्मिक आदर्श यदि अभिव्यक्त जीवनके सफल सामंजस्यतक ले जानेवाले अंतिम पथकी ओर इशारा करता हो तब तो भारतके लिये यह परमावश्यक है कि वह इस सत्यको न गंवाये, जो उच्चतम आदर्श उसे ज्ञात है उसे न त्यागे और अपनी सच्ची चिरंतन प्रकृतिके विरोधी किसी निम्नतर आदर्शको, किसी अपेक्षाकृत सहज-व्यवहार्य पर निम्नतर आदर्शको न ग्रहण करे। मानवजातिके लिये भी यह आवश्यक है कि इस सर्वोच्च आदर्शको चरितार्थ करनेके लिये जो एक महान् सामूहिक प्रयास चल रहा है वह — चाहे अबतक वह कितना ही अपूर्ण क्यों न रहा हो, चाहे सामयिक रूपसे वह जिस किसी अस्तव्यस्तता और अधोगतिमें क्यों न पतित हो गया हो — बंद नहीं होना चाहिये, बल्कि चलता रहना चाहिये। यह सदा ही अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर सकता है तथा अपनी अभिव्यक्तिको बढ़ा सकता है; क्योंकि आत्मा कालगत रूपोंमे बद्ध नहीं है बल्कि नित-नया, अमर और अनंत है। अतएव, हमारे लिये मानव-प्रगतिकी सेवा करने तथा उसकी प्राप्तियोंको बढ़ानेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि हम भारतके पुरातन स्वधर्मका नये सिरेसे सृजन करें, न कि पश्चिमकी प्रकृतिके किसी धर्ममें रूपांतरित हो जायं।

सुतरां, प्रतिरक्षाकी और एक प्रबल, यहांतक कि आक्रमणशील प्रति-रक्षाकी आवश्यकता उत्पन्न होती है; क्योंकि आधुनिक संघर्षकी अवस्थाओं-में केवल आक्रमणकारी प्रतिरक्षा ही प्रभावशाली हो सकती है। परंतु यहां हम अपने-आपको इसमे एक ठीक उलटी मनोवृति तथा नितांत बाधक मनो-दशाके सामने खड़े हुए पाते हैं। क्योंकि, आज ऐसे भारतीय बड़ी संख्यामें देखनेमें आते हैं जो एक दृढ़तया निष्क्रिय आत्मरक्षाके ही पक्षमें है, और इसमें वे जो कुछ उग्रता लाते है वह वास्तवमें एक भद्दी एवं विचारशून्य सांस्कृतिक शोवैंवाद (Chauvinism)[1] ही है जो यह मानता है कि जो कुछ भी हमारा है वही हमारे लिये अच्छा है क्योंकि वह भारतीय है; अथवा जो कुछ भी भारतमें है वही सबसे उत्तम है, क्योंकि वह ऋषियोंकी रचना है; मानों बादके विकासमें जो कुत्सित एवं विशृंखल चीजें आ गयीं वे सब भी हमारी संस्कृतिके उन संस्थापकोंने ही निश्चित कर दी थीं जिनका हमने

---

[1]अपने धर्म और अपनी जातिके प्रति मतांध प्रेमकी शिक्षा देनेवाला वाद।
—अनुवादक

अत्यंत दुर्व्यवहार एवं दुरुपयोग किया है और प्रायः उनके नामसे बहुत अधिक जाल रचाया है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या निष्क्रिय प्रतिरक्षाका कोई फल हो सकता है। मेरा मत है — उसका कोई मूल्य नहीं है; क्योंकि वस्तुओंके सत्यके साथ उसका कोई मेल नहीं और उसका असफल होना सुनिश्चित है। इसका अर्थ इतना ही है कि जब जगत्की 'शक्ति' और केवल जगत्की ही नहीं बल्कि भारतकी भी शक्ति वेगपूर्वक अपने पथपर अग्रसर हो रही है तब हम हठपूर्वक निश्चल बैठे रहनेकी चेष्टा करें। यह केवल अपनी पुरानी सांस्कृतिक पूंजीपर ही गुजारा करने तथा उसे अंतिम पाईतक खर्च कर डालनेका दृढ़ निश्चय है, जब कि वह हमारे अपव्ययी तथा अयोग्य हाथोंमें पड़कर क्षीण तो कबकी हो चुकी है। परंतु अपनी पूंजीको नये लाभोंके लिये प्रयुक्त किये बिना उसीपर निर्वाह करनेका अर्थ होता है दिवाला निकालना और कंगाल बन जाना। अतीतको भविष्यके किसी बृहत्तर लाभ, उपार्जन और उन्नतिके लिये एक चल और चालू पूंजीके रूपमें प्रयुक्त एवं व्यय करना होगा: परंतु लाभ प्राप्त करनेके लिये हमें कुछ खर्च भी करना होगा, फलने-फूलने और अधिक समृद्ध जीवन यापन करनेके लिये हमें पहले कुछ त्याग भी अवश्य करना होगा, — यही जीवनका विश्वव्यापी विधान है। अन्यथा हमारे आभ्यंतरिक जीवनका स्रोत रुक जायगा और वह अपनी निष्क्रिय जड़ताके कारण विनष्ट हो जायगा। इस प्रकार विस्तार और परिवर्तनसे कतराना भी झूठमूठ अपनी अक्षमताको स्वीकार करना है। यह तो इस बातको मान लेना है कि धर्म और दर्शनमें भारतकी सर्जनशक्ति शंकर, रामानुज, मध्व और चैतन्यके साथ ही समाप्त हो गयी और समाज-संघटनके क्षेत्रमें रघुनंदन और विद्यारण्यके साथ। कला और काव्यके क्षेत्रमें यह या तो एक रिक्त एवं असर्जक शून्यतामें ही विश्राम करना है या फिर सुंदर पर घिसे-घिसाये रूपों और प्रेरणाओंकी व्यर्थ एवं निर्जीव पुनरावृत्तिमें। यह समाज-रचनाके उन रूपोंसे, जो ढह रहे हैं और हमारे प्रयत्नोंके बावजूद भी ढहते ही चले जायंगे, चिपके रहना है और उनके गिरनेपर उनके नीचे अपने कुचले जानेका खतरा मोल लेना है।

जरूरत है एक विशाल और साहसपूर्ण परिवर्तनकी, क्योंकि छोटे-मोटे परिवर्तनोंसे हमारा काम नहीं चलेगा। और, किसी भी विशाल परिवर्तनपर जो आपत्ति उठायी जाती है उसे युक्तियुक्त-सा रूप केवल तभी दिया जा सकता है यदि हम उसे इस तर्कपर प्रतिष्ठित करें कि किसी संस्कृतिके बाह्य रूप उसकी भावनाका यथायथ लयताल होते हैं जिसे भंग करते हुए हम उसकी भावनाको ही निकाल सकते हैं और उसके सामंजस्यको सदाके

लिये छिन्न-भिन्न कर सकते है। हां, पर आत्मा यद्यपि तत्त्वतः नित्य-सनातन है और उसके सामंजस्यके मूलसूत्र अपरिवर्तनीय है, तथापि उसकी रूपात्मक अभिव्यक्तिका वास्तविक गतिच्छद नित्य-परिवर्तनशील है। अपनी मूल सत्तामे तथा अपनी सत्ताकी शक्तियोमे अपरिवर्तनीय होना किंतु जीवनमे समृद्ध रूपसे परिवर्तनशील होना — यही आत्माकी इस व्यक्त सत्ताका वास्तविक स्वरूप है। और हमे यह भी देखना है कि क्या इस क्षणका वास्तविक लय-ताल अभी भी एक सुरसंगितका निर्माण करता है अथवा कही वह निकृष्ट और अज्ञानी वादक-मडलीके हाथोमे पडकर स्वरवैषम्यमे तो परिणत नही हो गया है और वह अब उस प्राचीन भावनाको पहलेकी तरह ठीक-ठीक या पर्याप्त रूपमे नही प्रकट करता। बाह्य रूपकी त्रुटिको स्वीकार करना अदर छिपी हुई भावनासे इन्कार करना नही है; बल्कि यह तो, जिस सत्यका हम पोषण करते है उसके महत्तर भावी वैभव, उसकी पूर्णतर उपलब्धि, एव अधिक सुखद प्रवाहकी ओर अग्रसर होनेकी शर्त है। आया हम भूतकालद्वारा प्रदत्त अभिव्यक्तिसे अधिक महान् अभिव्यक्ति वस्तुत. प्राप्त कर सकेगे या नही यह निर्भर करता है हमारे अपने ऊपर, सनातन शक्ति एव प्रज्ञाको प्रत्युत्तर देनेकी हमारी क्षमता, हमारे अदर विद्यमान शक्तिके प्रकाश, और हमारे कार्यकौशलके ऊपर, उस कौशलके ऊपर जो उस सनातन आत्माके साथ एक हो जानेपर प्राप्त होता है जिसे हम अपने प्रकाशके अनुपातमे व्यक्त करनेका प्रयास कर रहे है, **योगः कर्मसु कौशलम्**।

यह तो हुआ भारतीय सस्कृतिके दृष्टिकोणसे, और हमारा प्रथम विचार एव आभ्यतरिक दृष्टिकोण सदा यही होना चाहिये। परतु हमपर काल-पुरुषका जो दबाव पड रहा है उसकी दृष्टिसे भी हमे विचार करना होगा। क्योंकि, यह भी विश्वशक्तिकी क्रिया है और इसकी उपेक्षा नही की जा सकती, इसे दूर नही रखा जा सकता, इसका प्रवेश निषिद्ध नही हो सकता। यहा भी नवसृजनकी नीति एक सच्चे तथा एकमात्र प्रभावशाली उपायके रूपमे बलपूर्वक हमारे सामने आती है। यदि अपने सुरक्षित कपाटोके भीतर अचल-अटल रहना वाछनीय हो, तो भी अब यह सभव नही। अब हम मानवजातिके अदर अपना अलग स्थान बनाकर, सुनसान समुद्रमे एक एकात द्वीपकी न्याई सबसे अलग होकर नही रह सकते, न स्वय बाहर निकलकर और दूसरोका भीतर आना बद करके सबसे अलग ही रह सकते है — यदि ऐसा हमने कभी सचमुच किया भी हो तो भी अब यह सभव नही है। भलेके लिये हो या बुरेके लिये, ससार हमारे साथ है; आधुनिक विचार

और शक्तियां एक बाढ़के रूपमें उमड़ी चली आ रही हैं और वे कोई बाधा नहीं मानेंगी। उनका सामना करनेके दो ही उपाय हैं, या तो उनका असहाय बनकर निराशामय प्रतिरोध किया जाय या उन्हें पकड़कर अपने वशमें कर लिया जाय। यदि हम केवल जड़ या अडिग निष्क्रिय प्रतिरोध करें तो भी वे हमपर आक्रमण करेंगी ही, जहां हमारी रक्षाकी दीवारें अत्यंत कमजोर हैं वहां वे इन्हें तोड़ गिरायेंगी, जहां ये अपेक्षाकृत दृढ़ हैं वहां वे इनकी नींवको खोखला करेंगी, और जहां वे इनमेंसे कुछ भी नहीं कर सकेंगी, वहां वे बिना पता लगे या बिना ठीक तरह मालूम हुए जमीनके नीचे गढ़ा या सुरंग खोदकर चुपकेसे ही आ टूटेंगी। आत्मसात् हुए बिना घुसनेपर तो वे विध्वंसक शक्तियोंकी तरह काम करेंगी, और तब कुछ अंशमें तो बाह्य आक्रमणके द्वारा पर उससे कहीं अधिक एक भीतरी विस्फोटके द्वारा यह पुरानी भारतीय सभ्यता टुकड़े-टुकड़े हो जायगी। अशुभ चिनगारियां उड़नी शुरू हो चुकी हैं जिन्हें बुझानेका उपाय किसीको मालूम नहीं, और यदि हम उन्हें बुझा भी सकें तो भी हमारी स्थितिमें कोई विशेष सुधार नहीं होगा, क्योंकि जिस अलावसे वे उठ रही हैं उससे हमें तब भी निपटना पड़ेगा। यहांतक कि जो लोग अतीतके नामपर अत्यंत कट्टरताके साथ वर्तमानका समर्थन करते हैं उनके भी एक-एक शब्दसे यह पता चलता है कि वे नयी विचारप्रणालियोंसे कितने प्रबल रूपमें प्रभावित हुए हैं। यदि अधिकतर नहीं तो बहुत-से लोग कुछ एक क्षेत्रोंमें तीव्र उमंगके साथ तथा अनिवार्य रूपमें ऐसे नये परिवर्तनोंकी मांग कर रहे हैं जो अपनी भावना और प्रणालीमें यूरोपीय हैं, और यदि उन परिवर्तनोंको उन्होंने किसी प्रकार समूल आत्मसात् किये बिना तथा भारतीय रंगमें रंगे बिना एक बार स्वीकार कर लिया तो उसके परिणामस्वरूप समाजकी सारी रचना — जिसकी, वे समझते हैं कि हम रक्षा कर रहे हैं — छिन्न-भिन्न हो जायगी। इसका कारण यह है कि हमारा विचार भ्रांतिपूर्ण है और हमारी शक्ति अक्षम। आज हम कुछ क्षेत्रोंमें चिंतन और सृजन करनेमें असमर्थ हैं इसलिये वहां हमें बिना आत्मसात् किये या फिर आत्मसात् करनेका ढोंग करते हुए बाहरसे उधार लेना पड़ रहा है। जो कुछ हम कर रहे हैं उसका संपूर्ण आशय हम एक उच्च आभ्यंतरिक एवं प्रभुत्वशाली दृष्टिबिंदुसे नहीं देख पाते, अतएव हम कोई कल्याणकारी समन्वय किये बिना केवल विषम तत्त्वोंको संयुक्त करनेमें ही लगे हुए हैं। हमारे प्रयत्नोंका परिणाम संभवतः यही होगा कि आग धीमे-धीमे सुलगकर तीव्र रूपमें भड़क उठेगी।

उग्र आत्म-रक्षाका अर्थ है इस आभ्यंतरिक एवं सुदूरगामी दृष्टिसे नव

सृजन करना और इसके लिये जहां इस बातकी जरूरत है कि जो कुछ हमारे पास है उसे एक अधिक व्यंजक एवं शक्तिशाली रूप दिया जाय, वहां यह भी आवश्यक है कि जो कुछ हमारे नये जीवनके लिये उपयोगी है और जिसे हमारी आत्माके साथ समस्वर किया जा सकता है उसे प्रभावशाली रूपमें आत्मसात् करनेकी छूट भी हमें प्राप्त हो। युद्ध, आघात और संघर्ष अपने-आपमें कोई निरर्थक संहार नहीं होते; वे तो कालके महान् लेन-देनके लिये एक उग्रतापूर्ण आवरण होते हैं। यहांतक देखनेमें आता है कि अत्यंत सफल विजेता भी पराजितसे बहुत कुछ ग्रहण करता है और यदि कभी वह उस बहुत कुछको हथिया लेता है तो बहुत बार वह चीज उसे अपना बंदी बना लेती है। पश्चिमी आक्रमण पूर्वीय संस्कृतिकी रीति-नीतियोंको ध्वस्त करनेतक ही सीमित नहीं है; इसके साथ ही, पश्चिम अपनी संस्कृतिको समृद्ध बनानेके लिये पूर्वकी अधिकांश अमूल्य संपदाको चुपचाप तथा व्यापक और सूक्ष्म रूपमें अपनाता भी जा रहा है। अतएव अपने अतीतके गौरव-मय वैभवको सामने लाकर उसे यूरोप और अमरीकामें उनकी ग्रहण-शक्तिके अनुसार यथेष्ट रूपमें फैला देनेसे भी हमारी रक्षा नहीं होगी। वह उदारता हमारी संस्कृतिपर आक्रमण करनेवालोंको समृद्ध और सशक्त बनायेगी, किंतु हमारे अंदर तो वह केवल एक ऐसा आत्म-विश्वास पैदा करनेमें ही सहायक होगी जिसे यदि एक महत्तर सृजन करनेके लिये संकल्प-शक्तिका रूप न दे दिया गया तो वह निरर्थक और यहांतक कि पथभ्रष्ट करनेवाला ही होगा। हमें तो नयी एवं अधिक शक्तिशाली रचनाओंको लेकर इस आक्रमणका सामना करना होगा; वे रचनाएं आक्रमणका केवल निवारण ही नहीं करेंगी बल्कि जहांतक संभव तथा मानवजातिके लिये हितकर होगा वहांतक वे आक्रमणकर्त्ताके देशमें प्रवेश कर युद्ध भी करेंगी। इसके साथ ही, जो कुछ हमारी आवश्यकताओंके अनुकूल तथा भारतीय भावनाके अनु-रूप है उस सबको हमें एक प्रबल सृजनशील सात्म्यकरणके द्वारा ग्रहण कर लेना होगा। कुछ दिशाओंमें, जो अभी बहुत ही कम हैं, हमने ये दोनों प्रयत्न आरंभ कर दिये है। अन्य दिशाओंमें हमने केवल एक विवेकहीन मिश्रणकी ही सृष्टि की है या फिर जल्दबाजीसे भरा, भद्दा और बिना पचाया हुआ अनुकरण भर किया है और अभी भी कर रहे हैं। अनुकरण, आक्रांताके यंत्रों और उपायोंका स्थूल और अस्तव्यस्त अनुकरण कुछ कालके लिये उपयोगी हो सकता है, किंतु अपने-आपमें यह पराजय स्वीकार करनेका केवल एक अन्य प्रकार ही है। केवल उपयोग करना ही पर्याप्त नहीं; उसे सफलताके साथ आत्मसात् करने एवं भारतीय भावनाके अनुकूल बनाने-

की भी आवश्यकता है। आज यह समस्या एक अत्यंत विपत्संकुल एवं अतिभीमकाय रूपमें उपस्थित है और हमने अभीतक इसपर बुद्धिमत्ता एवं अंतर्दृष्टिसे विचार नहीं किया है। आज दिन इस बातकी और भी तीव्र आवश्यकता है कि हम स्थितिके प्रति जागरूक होकर एक मौलिक विचार-धारा एवं एक ऐसी सचेतन क्रियाके साथ इसका प्रतिकार करें जिसके पीछे एक ज्ञानपूर्ण एवं ओजस्वी अंतर्दृष्टि विद्यमान हो और साथ ही जिसकी प्रणाली भी सुनिश्चित हो। एक शाश्वत देहमें नये उपादानका प्रभुत्वपूर्ण एवं लाभप्रद सात्म्यकरण सदा ही प्राचीन कालमें भारतीय प्रतिभाका अपना विशिष्ट गुण रहा है।

क्या भारत सभ्य है ?

तीसरा अध्याय

परंतु हमारे मामने यह जो विवाद उपस्थित है इसके संबंधमें एक और भी दृष्टि है। उम दृष्टिसे देखनेपर इमका स्वरूप वैमा नही रहता जैसा कि संस्कृतियोंके मंघर्षके रूपमे स्थूल और उत्तेजक ढगसे वर्णित किया गया है; बल्कि तब यह एक अत्यंत अर्थपूर्ण ममस्याके रूपमे हमारे सामने आता है; यह एक विचारोत्तेजक निर्देशका रूप ग्रहण कर लेता है जिमका प्रभाव केवल हमारी ही सभ्यतापर नही बल्कि जो भी सभ्यताए आजतक जीवित है उन सबपर पड़ता है।

प्राचीन दृष्टिकोणसे विचार करते हुए तथा मानवजातिके विकासमे प्राप्त सहायताके रूपमे विभिन्न मस्कृतियोका मूल्याकन करते हुए हम उक्त विवादके सास्कृतिक पहलूका उत्तर यो दे मकते हैं कि भारतीय सभ्यता एक ऐसी मंस्कृतिका बाह्य रूप एव अभिव्यक्ति रही है जो मानवजातिकी किसी भी ऐतिहासिक सभ्यताके ममान ही महान् है, वह धर्ममे महान् रही है, दर्शनमे महान् रही है, विज्ञानमे महान् रही है, अनेक प्रकारके चितनमें महान् रही है, साहित्य, कला और काव्यमे महान् रही है, समाज और राजनीतिके सगठनमे महान् रही है, शिल्प और व्यापार-व्यवसायमें महान् रही है। काले धब्बे, स्पष्ट त्रुटिया और भारी कमियां भी अवश्य रही है; भला ऐसी सभ्यता कौन-सी है जो सर्वांगपूर्ण रही हो, जिसपर गहरे कलंक न लगे हों, जिसमें निष्ठुर नरक न रहे हो? इसमे बडे-बडे छल-छिद्र और अनेक अंध गलिया रही है, बहुत-सी अन-जुती या अध-जुती जमीन भी रही है; पर कौन-सी सभ्यता खाई-खंदकों एवं अभावात्मक पहलुओंसे खाली रही है? तथापि हमारी प्राचीन सभ्यता प्राचीन युग किवा मध्ययुगकी सभ्यताओके साथ अत्यत कठोर तुलना करनेपर भी टिक सकती है। यूनानी सभ्यतासे कही अधिक उच्चाकाक्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी, अनुसंधानप्रिय और गभीर, रोमन सभ्यताकी अपेक्षा कही अधिक उच्च और कोमल, पुरानी मिस्री सभ्यतासे कही अधिक उदार और आध्यात्मिक, अन्य किसी भी एशियाई सभ्यतासे कही अधिक विशाल और मौलिक, अठारहवी सदीसे

पहलेके यूरोपकी सभ्यतासे कहीं अधिक बौद्धिक, इन सब सभ्यताओंमें जो कुछ था उस सबकी तथा उससे भी अधिककी स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता सभी अतीत मानव-संस्कृतियोंसे अधिक शक्तिशाली, आत्मस्थित, प्रेरणादात्री और महाप्रतापशाली रही है।

और यदि हम वर्तमानकी तथा प्रगतिशील काल-पुरुषके फलप्रद कार्योंकी दृष्टिसे देखें तो हम कह सकते हैं कि यहां हमारी अवनतिके होते हुए भी सब कुछ बट्टे-खातेमें ही नहीं है। यह ठीक है कि हमारी सभ्यताके बहुत-से विधि-विधान अब अनुपयोगी और जर्जरित हो गये हैं और कुछ दूसरे विधि-विधानोंको जड़-मूलसे बदलने और नया करनेकी जरूरत है। परंतु यह बात तो यूरोपीय संस्कृतिके बारेमें भी समान रूपसे कही जा सकती है; क्योंकि हाल ही में यह जो इतनी अधिक प्रगतिशील हो उठी है और अधिक तेजीके साथ उसने अपने-आपको अवस्थाओंके अनुकूल बनानेका जो अभ्यास डाला है उसका बहुत बड़ा भाग अब सड़ गया है और अनुपयुक्त हो गया है। सब त्रुटियोंके रहते और पतनके होते हुए भी भारतीय संस्कृतिका मूल भाव, उसके केंद्रीय विचार, उसके श्रेष्ठ आदर्श आज भी केवल भारतके लिये ही नहीं अपितु समस्त मानवजातिके लिये संदेश लिये हुए हैं। और हम भारतवासी तो यह मानते हैं कि वह भाव, विचार एवं आदर्श नयी आवश्यकता एवं भावनाके संपर्कमें आकर अपने अंदरसे हमारी समस्याओंके ऐसे समाधान निकाल सकते है जो पश्चिमी स्रोतोंसे उधार लिये गये पुराने समाधानोंके समान ही, बल्कि उनसे भी कहीं अधिक अच्छे होंगे। परंतु भूत-कालकी तुलनाओं और वर्तमानकी आवश्यकताओंके अतिरिक्त, आदर्श भविष्य-का भी एक दृष्टिकोण है। कुछ और सुदूरतर लक्ष्य भी हैं जिनकी ओर मानवजाति बढ़ रही है, और वर्तमान काल तो उनके निमित्त एक स्थूल अभीप्सामात्र है और इसके बाद तुरंत ही आनेवाला निकट-भविष्य, जिसे हम आज एक आशाके रूपमें देख रहे हैं और व्यक्त रूप देनेका यत्न कर रहे हैं, उस आदर्श भविष्यकी एक स्थूल आरंभिक अवस्थामात्र है। कुछ ऐसे असिद्ध आदर्शभूत विचार है जो आधुनिक मनके लिये तो रामराज्यके स्वप्नमात्र है, किंतु एक अधिक विकसित मानवजातिके लिये वे उसके दैनिक जीवनके सामान्य अंग बन सकते हैं, वर्तमानके सुपरिचित विचार बन सकते है, उस वर्तमानके जिसे छोड़कर मानवजातिको आगे बढ़ना है। जातिका यह जो भविष्य अभीतक चरितार्थ नहीं हुआ है इसकी दृष्टिसे भारतीय सभ्यताकी स्थिति कैसी ठहरती है? क्या इसके लिये भारतीय सभ्यताके प्रधान विचार एवं प्रमुख शक्तियां हमारे मार्गदर्शक ज्योतिस्तंभ या हमारी

सहायक शक्तियां हैं अथवा क्या उनका अंत अपने-आपमें ही हो जाता है और पृथ्वीके आगामी युगोंकी विकासात्मक संभावनाओंको आंकनेकी क्षमता उनमें नहीं है।

कई विचारकोंके मतसे स्वयं प्रगतिका विचार ही एक भ्रांत धारणा है; क्योंकि उनका ख्याल है कि मानवजाति निरंतर एक ही वृत्तपर घूमा करती है। अथवा वे यहांतक मानते हैं कि महानताके दर्शन हमें अधिकांशमें अतीतमें ही हो सकते हैं और आज हम ह्रास एवं अवनतिकी ही दिशामें जा रहे हैं। परंतु यह एक भ्रांति है जिसका जन्म तब होता है जब हम अतीतके उच्च ज्योतिशिखरोंपर तो अत्यधिक दृष्टि डालते हैं और उसकी अंधकारमय छायाओंको भुला देते हैं अथवा जब हम वर्तमानके अंधकारमय स्थानोंकी ओर अत्यधिक ध्यान देते है, और इसकी प्रकाशदायी शक्तियों एवं अधिक सुखकर आशामय पहलुओंकी उपेक्षा करते हैं। इस भ्रांतिके उत्पन्न होनेका एक कारण यह भी है कि अपनी प्रगतिको सर्वदा एक जैसी होती हुई न देख उससे हम एक गलत सिद्धांत निकाल लेते हैं। बात यह है कि प्रकृति हमारा जो विकास साधित करती है उसे वह प्रगति और अधोगति, दिन और रात्रि, जागरण और निद्राके लय-तालके द्वारा ही साधित करती है; कुछ परिणामोंको अल्पकालके लिये आगे बढ़ाया जाता है और उनके लिये कुछ दूसरोंकी बलि दे दी जाती है यद्यपि पूर्णताके लिये वे भी पहलोंके समान ही वांछनीय होते हैं। इस प्रकार, स्थूल दृष्टिवालोंको हमारी उन्नतिमें भी अवनति दिखायी दे सकती है। यह मानी हुई बात है कि प्रगति उस प्रकार सुरक्षित रूपसे एक सीधी रेखामें ही आगे नहीं बढ़ती जाती जिस प्रकार अपने सुपरिचित मार्गका निश्चित ज्ञान रखनेवाला मनुष्य आगे ही आगे बढ़ता जाता है या जिस प्रकार एक सेना किसी निष्कंटक भूखंडको या नक्शेमें भलीभांति अंकित अनधिकृत प्रदेशोंको लेती हुई बढ़ती चली जाती है। मानव-प्रगति बहुत कुछ एक ऐसा अभियान है जो अज्ञात प्रदेशमेंसे होते हुए किया जाता है और वह अज्ञात प्रदेश अप्रत्याशित आक्रमणों एवं परेशान करनेवाली बाधाओंसे भरा हुआ होता है; बहुधा यह प्रगति ठोकरें खाती है, अनेक स्थलोंपर यह अपना मार्ग खो बैठती है, एक ओरकी कोई चीज पानेके लिये यह दूसरी ओरकी चीजका त्याग करती है, अधिक व्यापक रूपमें आगे बढ़नेके लिये यह प्रायः ही अपने पैर पीछे खींच लाती है। अतीतके साथ तुलना करनेपर वर्तमान सदा अच्छा ही नहीं सिद्ध होता; यहांतक कि, जब वह समूचे रूपमें अधिक उन्नत होता है तब भी वह हमारे आंतरिक या बाह्य कल्याणके लिये किन्हीं आवश्यक दिशाओं-

में अवनत हो सकता है। पर पृथ्वी आखिरकार आगे बढ़ती ही है (Eppur si mouve)। असफलतामें भी सफलताके लिये तैयारी चल रही होती है: हमारी रातोंमें एक महत्तर उषाका रहस्य छिपा रहता है। हमारी वैयक्तिक उन्नतिमें तो यह बात प्राय: ही अनुभवमें आती है, किंतु मानव-समष्टि भी बहुत कुछ इसी ढंगसे आगे बढ़ती है। प्रश्न यह है कि हम किस ओर बढ़ रहे हैं अथवा हमारी यात्राके सच्चे मार्ग और पड़ाव कौनसे हैं।

पाश्चात्य सभ्यताको अपनी सफल आधुनिकतापर गर्व है। परंतु ऐसा बहुत कुछ है जिसे इसने अपने लाभोंकी उत्सुकतामें गंवा दिया है और ऐसा भी बहुत कुछ है जिसके लिये प्राचीन लोगोंने प्रयास किया था पर जिसे पूरा करनेकी इसने चेष्टातक नहीं की। ऐसी चीजें भी बहुत-सी हैं जिन्हें इसने अधैर्य या अवज्ञाके कारण जानबूझकर फेंक दिया है; इससे इसकी अपनी ही महान् क्षति हुई है, इसका जीवन क्षत-विक्षत हो गया है, इसकी संस्कृति त्रुटिपूर्ण रह गयी है। पेरिक्लिस (Pericles) या दार्शनिकोंके युगके किसी प्राचीन ग्रीकको यदि सहसा इस सदीमें ले आया जाय तो वह बुद्धिकी अपरिमित प्राप्तियों, मनके विस्तार, बुद्धिकी आधुनिक बहुमुखता और जिज्ञासाकी अक्षय प्रवृत्ति, अनंत सिद्धांतोंकी रचना करने और ठीक-ठीक विवरण देनेकी शक्तिको देखकर आश्चर्यचकित रह जायगा। विज्ञानकी आश्चर्यजनक उन्नति और इसके अतिमहान् आविष्कारोंकी, इसकी विपुल शक्ति, समृद्धि और इसके यंत्रोंकी सूक्ष्मता, एवं आविष्कारक प्रतिभाकी अद्भुत-कर्मा शक्तिकी वह निःसंकोच सराहना करेगा। आधुनिक जीवनकी विराट् हलचल और स्पंदनको देखकर वह मुग्ध और विस्मित होनेके बजाय अभिभूत और विमूढ़ हो उठेगा। पर साथ ही इसकी कुरूपता और असभ्यताके निर्लज्ज स्तूप, इसके विकृत बाह्य उपयोगितावाद, प्राणिक भोगोंके लिये इसके कलह-कोलाहल, इसकी विकसित की हुई कितनी ही चीजोंकी अस्वाभाविक अतिरंजना और अस्वस्थताको देखकर वह घृणापूर्वक मुह फेर लेगा। इसमें उसे इस बातका पुष्कल और स्पष्ट-सा प्रमाण दिखायी देगा कि जो बर्बर यहां किसी समय विजयी था वह आज भी पूरी तरहसे बहिष्कृत नहीं हुआ है, बल्कि जीवित ही बचा हुआ है। जहां वह इसके बौद्धिक ज्ञानको और जीवनकी मशीनरीपर विचार-शक्ति एवं वैज्ञानिक बुद्धिके सतर्क प्रयोगको स्वीकार करेगा वहां उसे यह बात खटकेगी कि उसने पिछले दिनोंमें मन और अंतरात्मासंबंधी आंतरिक जीवनपर भावप्रधान बुद्धिका उज्ज्वल और उदात्त प्रयोग करनेका जो प्रयास किया था उसका यहां

सर्वथा अभाव है। वह देखेगा कि इस सभ्यतामें सुंदरता तो एक विजातीय वस्तु बनी हुई है और तेजोमय आदर्श मन कुछ क्षेत्रोंमें तो पदच्युत और शोषित दास बना हुआ है और कई अन्य क्षेत्रोंमें एक उपेक्षित परदेसी।

उधर, अतीतके महान् आध्यात्मिक साधकोंको बुद्धि और जीवनकी इस सब विशाल कर्मण्यतामें एक प्रकारकी दुःखदायी रिक्तताका अनुभव होगा। मनुष्यमें जो कुछ भी अत्यंत महान् है तथा जो उसे अपने-आपसे ऊपर उठाता है उसकी इसमें उपेक्षा देखकर उन साधकोंको इसकी असत्यता एवं असारताका अनुभव होगा जो उन्हें पग-पगपर पीड़ा पहुंचायगा। भौतिक प्रकृतिके नियमोंकी खोजमें लगनेमे हमारी जो महत्तर खोज एवं उपलब्धि, अर्थात् आत्माके स्वातंत्र्यकी उपलब्धि दीर्घकालतक प्रायः पूर्ण रूपसे विलुप्त ही रही और आज भी अपेक्षाकृत ह्रासकी ही अवस्थामें है उस खोज और क्षतिकी पूर्ति उनकी दृष्टिमें हमारे भौतिक आविष्कारोंसे नहीं हो सकती।

परंतु एक निष्पक्ष विचारक सभ्यताके इस युगको विकासकी एक विशेष अवस्था एवं मानवप्रगतिका एक अपूर्ण पर महत्त्वपूर्ण मोड़ समझना अधिक पसंद करेगा। और तब यह देखना संभव होगा कि इसमें हमें ऐसी बड़ी-बड़ी प्राप्तियां हुई हैं, जो अंतिम पूर्णताके लिये अत्यंत मूल्यवान है, भले ही वे एक भारी कीमतपर क्यों न प्राप्त हुई हों। हमारी प्राप्ति केवल यही नहीं है कि आज ज्ञानका रूप कहीं अधिक व्यापक हो गया है और अनेकानेक क्षेत्रोंमें बौद्धिक शक्ति और क्रियाशीलताका अधिक पूर्ण प्रयोग किया गया है, हमारी प्राप्ति केवल इतनी ही नहीं है कि विज्ञानकी उन्नति हुई है और हमारी परिस्थितिपर विजय पानेके लिये इसका प्रयोग हुआ है, अपरिमित साधनोपकरणोंका निर्माण तथा उनका विशाल उपयोग किया गया है, सुख-सुविधाके अनन्त छोटे-मोटे साधन और अदम्य शक्तिशाली मशीनें तैयार की गयी हैं तथा शक्तियोंका अथक दुरुपयोग किया गया है। बल्कि इस सबके अतिरिक्त, अनेक महान् आदर्शोंका एक प्रकारका विकास भी हुआ है जो बहुत ऊंचे न सही पर शक्तिशाली अवश्य हैं, और साथ ही समूचे मानवसमाजके कार्य-कलापपर प्रभाव डालनेके लिये उनका प्रयोग करनेका यत्न भी किया गया है, भले ही वह बाहरी और इसलिये त्रुटिपूर्ण क्यों न रहा हो। यह ठीक है कि बहुत-सी चीजोंका ह्रास या विलोप हो गया है, किंतु उन्हें नये सिरेसे प्राप्त भी किया जा सकता है, भले ही इसमें कुछ कठिनाई क्यों न हो। जब एक बार मनुष्य अपने अंतर्जीवनको फिरसे ठीक ढर्रेपर ले आयगा तो वह देखेगा कि इसकी साधन-संपदामें तथा नमनीयताकी शक्तिमें वृद्धि ही हुई है, इसे एक नयी कोटिकी

गभीरता और विशालता प्राप्त हुई है। और तब हममें बहुमुखी पूर्णता प्राप्त करनेका एक लाभदायी अभ्यास पड़ जायगा और अपने बाह्य सामूहिक जीवनको हम अपने उच्चतम आदर्शोंकी ठीक-ठीक प्रतिमूर्ति बनानेका सच्चा प्रयत्न करने लगेंगे। बाह्य विप्लव और बहिर्मुख प्रयासके इस युगके बाद जो महत्तर आंतरिक विस्तार होनेकी संभावना है उसके सामने आजके क्षण-स्थायी ह्रासोंकी कोई गिनती नहीं।

दूसरी ओर, यदि उपनिषत्काल, बौद्ध काल या परवर्ती उच्च-साहित्यिक युगके किसी प्राचीन भारतीयको आधुनिक भारतमें लाया जाय और वह इस-के जीवनकी ह्रास-युगसे संबंध रखनेवाली बहुत-सी बातोंपर दृष्टि डाले तो उसे और भी अधिक विषादकारी संवेदन होगा, उसे यह अनुभव होगा कि राष्ट्र और संस्कृतिका सर्वनाश हो गया है, वे उच्चतम शिखरोंसे पतित होकर ऐसे निम्न स्तरोंपर आ पहुंचे हैं जिनसे फिर उबरनेकी भी आशा नहीं। वह संभवतः अपनेसे यह पूछेगा कि भला इस पतित संततिने अतीत-की इस महान् सभ्यताकी क्या दुर्दशा कर डाली है। उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि जब इन लोगोंको प्रेरित करने, ऊंचे उठाने तथा और भी महत्तर पूर्णता एवं आत्म-अतिक्रमणकी ओर ले चलनेके लिये इतना अधिक मौजूद था तब भला कैसे ये इस निःशक्त और जड़ अस्तव्यस्ततामें आ गिरे और, भारतीय संस्कृतिके उच्च प्रेरक भावोंको और भी गभीरतर एवं विशालतर परिणतियोंतक विकसित करनेके बदले उन्हें भद्दी अभिवृद्धिसे लद जाने दिया, उन्हें कलुषित, विगलित और नष्टप्राय होने दिया। वह देखेगा कि मेरी जाति भूतकालके बाह्य आचारों, खोखली और जीर्ण-शीर्ण वस्तुओंसे चिपकी हुई है और अपने उदात्ततर तत्त्वोंका नौ-दशमांश खो बैठी है। वह उपनिषदों और दर्शनोंके वीरतापूर्ण कालकी आध्यात्मिक ज्योति और शक्तिके साथ बादकी तामसिकता या हमारे दार्शनिक चिंतनकी तुच्छ, टूटी-फूटी और अधूरे रूपमें उधार ली हुई क्रियाकी तुलना करेगा। उच्च साहित्यिक युग-की बौद्धिक जिज्ञासा, वैज्ञानिक उन्नति, सर्जनशील साहित्यिक एवं कलात्मक महत्ता और श्रेष्ठ एवं प्रचुर उद्घाटन-शक्तिके पश्चात् परवर्ती अधःपतन अर्थात् जातिकी मानसिक दरिद्रता, गतिहीनता, जड़ पुनरावृत्ति, सर्जनक्षम बोधिकी अपेक्षाकृत दुर्बलता, कलाकी दीर्घकालीन वंध्यता और विज्ञानका विलोप किस हदतक पहुंच गया है यह देखकर वह दंग रह जायगा। नीचे-की ओर अज्ञानावस्थामें उतर आना, प्राचीन शक्तिशाली संकल्प और तप-स्याका क्षीण हो जाना और इच्छाशक्तिका प्रायः नितांत अक्षम हो जाना देखकर वह आठ-आठ आंसू रोयेगा। प्राचीन युगकी अधिक सरल और

अधिक अध्यात्मतः युक्तियुक्त सुव्यवस्थाके स्थानपर उसे एक घबड़ा देनेवाली, अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित व्यवस्था दिखलायी देगी जिसका न कोई केंद्र होगा और न कोई व्यापक समन्वयकारी विचार। उसे किसी सच्ची समाज-व्यवस्थाके दर्शन नहीं होंगे बल्कि वह देखेगा कि सारी व्यवस्था ही विकृत हो रही है और वह विकृति कहीं तो कुछ समयके लिये रुकी हुई है और कहीं बड़ी तेजीके साथ बढ़ती जा रही है। जो महान् सभ्यता अपनेको अवस्थाओंके अनुकूल बनानेमें पटु थी, जो दूसरोंसे ग्रहण की हुई वस्तुको आत्मसात् करने और फिर उससे दसगुना प्रतिदान करनेकी क्षमता रखती थी, उस सभ्यताके स्थानपर वह एक ऐसी असहाय सभ्यताको देखेगा जो बाह्य जगत्की शक्तियोंको और विरोधी परिस्थितिके दबावको निष्क्रिय भावसे या केवल कुछ एक निष्प्रभाव आकस्मिक प्रतिक्रियाओंके साथ सहन करती है। इतना ही नहीं, एक समय तो उसे ऐसा दिखायी देगा कि इस देशमें श्रद्धा और आत्म-विश्वासकी इतनी अधिक कमी हो गयी है कि इसके मनीषी बाहरसे आयी हुई एक विजातीय संस्कृतिके लिये अपने प्राचीन भावों और आदर्शोंको मटियामेट करनेके लिये लालायित हैं। निस्संदेह वह यह भी देखेगा कि परिवर्तनका सूत्रपात हो चुका है, पर शायद उसे इस बातमें संदेह हो सकता है कि यह परिवर्तन कितनी गहराईतक पहुंचा है अथवा क्या यह इतना शक्तिशाली है कि संपूर्ण राष्ट्रकी रक्षा कर सके, क्या यह इतना सामर्थ्य रखता है कि समस्त जातिको उसकी चिरपोषित जड़ता और दुर्बलतासे ऊपर उठा सके, क्या यह इतना आलोकित है कि प्राचीन भावना-के नये अर्थपूर्ण रूपोंका गठन करनेके निमित्त एक नूतन और सबल सर्जना-त्मक प्रवृत्तिका मार्गदर्शन कर सके।

यहां भी यदि अधिक अच्छी तरह सोच-समझकर देखा जाय तो आशा ही दीख पड़ती है जब कि ऊपरी और सरसरी दृष्टिसे देखनेपर कोरी निराशाके सिवा कुछ नहीं सूझ सकता। भारतीय इतिहासका यह अंतिम युग इस बातका एक दृष्टांत है कि जातिके विकासमें सुदीर्घ और समुज्ज्वल दिवसके बाद भी कहीं-कहीं बराबर ही तमोरात्रिका आगमन हुआ करता है। परंतु इस युगकी रात्रि आरंभमें अनेक जगमगाते तारकपुंजोंसे परिपूरित थी और अपने घोरतम एवं निकृष्टतम रूपमें भी वह कालिदासकी "**विचेयतारका प्रभातकल्पेव शर्वरी**, उषाकी तैयारी करती हुई, मुश्किलसे दीखनेवाले दो-चार तारोंसे युक्त रात्रि" का अंधकार थी। अधःपतनके समय भी सब कुछ तिरोहित नहीं हो गया था; तब भी कई आवश्यक चीजोंका विकास हुआ, कई आध्यात्मिक तथा अन्यान्य प्रकारकी प्राप्तियां हुईं जो भविष्यके

लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण थीं। और अवनति एवं पतनके निकृष्टतम कालमें भी भारतकी आत्मा मर नहीं गयी थी, बल्कि वह केवल सोयी हुई, थकी हुई और पाशोंसे जकड़ी हुई थी। अब जब कि वह अपनेको जगानेवाले अनवरत आघातोंके दबावके प्रत्युत्तरस्वरूप एक शक्तिशाली आत्मोद्धारके लिये उठ रही है, वह देखती है कि उसकी निद्रा तो केवल एक पर्दा थी जिसकी ओटमें नयी शक्यताओंकी तैयारी हो रही थी। जहां उच्च अध्यात्म-भावित मन, और आध्यात्मिक संकल्पकी सुमहान् शक्ति अर्थात् तपस्या, जो प्राचीन भारतकी विशेषताएं थीं — ये दोनों ही अपेक्षाकृत कम देखनेमें आती थीं, वहां हमें चेतनाके निम्न स्तरोंपर आध्यात्मिक भावावेश, और आध्यात्मिक संवेगके प्रति संवेदनशीलता — ये दोनों ही नयी प्राप्तियां हुईं जिनका पहले नितांत अभाव था। वास्तुकला, साहित्य, चित्रकला, भास्कर-विद्याने अपनी प्राचीन गौरव-गरिमा, शक्ति और श्रेष्ठता तो गंवा दी किंतु उन दूसरी शक्तियों और प्रेरणाओंको उद्बुद्ध किया जो कोमलता, सुस्पष्टता और श्री-सुषमासे संपन्न थीं। उच्च शिखरोंसे निम्न स्तरोंपर अवतरण अवश्य हुआ, पर वह एक ऐसा अवतरण था जिसने अपने मार्गमें ऐश्वर्य-वैभवका संग्रह किया, जो आध्यात्मिक खोज तथा उपलब्धिकी परिपूर्णताके लिये आवश्यक था। हमारी प्राचीन संस्कृतिके ह्रासको इस रूपमें भी देखा जा सकता है कि वह पुरानी रीति-नीतियोंका एक ऐसा क्षय और विनाश था जिसकी जरूरत थी ताकि नये सृजनके लिये मार्ग साफ हो सके और इतना ही नहीं बल्कि, यदि हम चाहें तो, एक अधिक महान् और अधिक पूर्ण सृजन भी हो सके।

कारण, अंततोगत्वा सत्ताकी भीतरी इच्छा ही घटनाओंको उनका वास्तविक मूल्य प्रदान करती है जो प्रायः ही एक अप्रत्याशित मूल्य होता है; ऊपरमें दीखनेवाले तथ्यका रंग-रूप तो भ्रममें डालनेवाला चिह्न होता है। यदि किसी जाति या सभ्यताकी आभ्यंतरिक इच्छा मृत्युका आलिंगन करनेकी हो, यदि वह अवनतिजनक उदासीनता और मुमूर्षुकी हस्तक्षेप न करने देनेकी इच्छाके साथ चिपकी रहे या शक्तिशाली होते हुए भी विनाशकारी प्रवृत्तियोंपर अंधवत् आग्रह करे अथवा यदि वह केवल मृत युगकी शक्तियोंको ही स्नेहके साथ संजोये और भविष्यकी शक्तियोंको अपनेसे दूर हटा दे, यदि वह अतीत जीवनको भावी जीवनकी अपेक्षा अधिक पसंद करे, तो कोई भी चीज अवश्यंभावी विघटन या विध्वंससे उसकी रक्षा नहीं कर सकेगी, यहांतक कि विपुल शक्ति, साधन-संपदा और बुद्धि, जीवनके लिये आह्वान करनेवाली शत-शत पुकारें और निरंतर प्रदान किये गये अवसर भी

उसे विनाशसे नहीं बचा सकेंगे। परंतु यदि उसके अंदर दृढ़ आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाय, जीनेकी प्रबल इच्छा जागृत हो उठे, यदि वह आनेवाली वस्तुओंकी ओर खुल जाय, भविष्यको और उसके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तुओंको अधिकृत करनेकी इच्छुक हो और जहां कहीं वह (भविष्य) विरोधी प्रतीत हो वहां वह उसे बदल देनेकी शक्ति रखती हो, तो वह विरोध और पराजयसे भी अदम्य विजयकी शक्ति खींच सकती है और ऊपरी विवशता एवं पतनकी अवस्थासे नवजीवनकी ओजस्वी ज्वालाके रूपमें एक भव्यतर जीवनकी ज्योतिकी ओर उठ सकती है। भारतीय सभ्यता अपनी आत्माकी चिरंतन शक्तिके द्वारा सदा ही यही करती रही है और यही करनेके लिये आज उसका पुनरुत्थान हो रहा है।

भूतकालके आदर्शोंकी महत्ता इस बातका आश्वासन देती है कि भविष्यके आदर्श और भी महान् होंगे। अतीत प्रयास एवं शक्ति-सामर्थ्यके पीछे जो कुछ निहित था उसका सतत विस्तार ही किसी संस्कृतिके जीवित होनेका एकमात्र स्थायी प्रमाण होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि सभ्यता और बर्बरता ये दोनों ही शब्द सर्वदा सापेक्ष अर्थ रखते हैं। कारण, भावी विकासक्रमके दृष्टिकोणसे देखें तो यूरोप और भारतकी सभ्यताएं अपने सर्वोत्तम रूपमें भी केवल अधूरी प्राप्तियां रही हैं, ऐसी धीमी उषाएं रही हैं जो आनेवाले प्रखर मध्याह्नकी सूचना देती हैं। इस दृष्टिबिंदुसे न तो यूरोप कभी पूर्ण रूपसे सभ्य रहा है और न भारत और न ही मानवजगत्की कोई अन्य जाति, देश या महाद्वीप; सच्चे एवं सर्वांगीण मानवजीवनका संपूर्ण रहस्य इनमेंसे किसीकी भी पकड़में नहीं आया है, जो थोड़ा-सा रहस्य प्राप्त करनेमें ये सफल भी हुए उसे भी इनमेंसे किसीने संपूर्ण अंतर्दृष्टि या पूर्णतया जागरूक सच्चाईके साथ जीवनमें व्यवहृत नहीं किया है। यदि हम सभ्यताकी परिभाषा इन शब्दोंमें करें कि यह आत्मा, मन और देहका सामंजस्य है तो भला कहां यह सामंजस्य पूर्ण या सर्वथा वास्तविक रूपमें चरितार्थ हुआ है? प्रखर त्रुटियां और दुःखदायी विषमताएं कहां नहीं रही हैं? सामंजस्यका समग्र रहस्य अपने अंगोपांग-समेत कहां पूर्णतया अधिगत हुआ है अथवा जीवनका पूर्ण संगीत एक संतोषजनक, स्थायी एवं अविरत आरोहणशील स्वर-संगतिकी विजयशाली रस-धाराके रूपमें कहां विकसित हुआ है? इतना ही नहीं कि मानवजीवनपर प्रत्यक्ष, कुत्सित, यहांतक कि "बीभत्स" कलंक यत्र-तत्र-सर्वत्र देखनेमें आते हैं, अपितु जिन बहुतसी चीजोंको हम आज समचित्तके साथ ग्रहण करते हैं, जिन बहुतसी चीजोंपर हम आज गर्व करते हैं, उन सबको भावी मानवता शायद सहज ही

निरी बर्बर या कम-से-कम अर्द्ध-बर्बर एवं अधकचरी चीजें समझेगी। अपनी जिन प्राप्तियोंको हम आदर्श वस्तुएं मानते हैं उनकी यह कहकर निंदा की जायगी कि ये अपनेसे संतुष्ट अपूर्ण वस्तुएं हैं जो अपनी त्रुटियोंके प्रति अंधी हैं; जिन विचारोंकी हम एक ज्ञानज्योतिके रूपमें प्रशंसा करते हैं अर्द्ध-प्रकाश या फिर अंधकार प्रतीत होंगे। हमारे जीवनके अनेक आचार-अनुष्ठान जो प्राचीन या यहांतक कि सनातन होनेका दावा करते हैं,—मानों वस्तुओंके प्रत्येक बाह्य रूपको सनातन कहा जा सकता हो,—क्षीण होकर विलुप्त हो जायंगे; इतना ही नहीं वरन् अपने सर्वश्रेष्ठ सिद्धांतों और आदर्शोंको हम अपने अंतरमें जो आकार देते हैं वे भी शायद भविष्यसे, अधिक-से-अधिक, यही मांग करेंगे कि उन्हें समझ-बूझकर स्वीकार किया जाय। ऐसी चीजें बहुत कम हैं जिन्हें विस्तार और परिवर्तनमेंसे नहीं गुजरना पड़ेगा, ऐसे रूपांतरमेंसे नहीं गुजरना पड़ेगा जिसके हो जानेपर संभव है कि उन्हें पहचाना ही न जा सके; या एक नये समन्वयमें शामिल होनेके लिये थोड़ा सुधार नहीं स्वीकार करना पड़ेगा। अंततः, आगामी युग आजके यूरोप और एशियाको शायद बहुत कुछ उसी तरह देखेंगे जिस तरह हम जंगली जातियों या आदिवासियोंको देखते हैं। और यदि भविष्य-से हम यह दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें तो निःसंदेह यह एक अत्यंत प्रकाशप्रद एवं क्रियाशील दृष्टिकोण होगा जिससे हम अपने वर्तमानको परख सकेंगे, परंतु यह प्राचीन और आजतक जीवित संस्कृतियोंके हमारे तुलनात्मक मूल्यांकनको निरर्थक नहीं बना देता।

कारण, यह अतीत और वर्तमान उस भविष्यके महत्तर सोपानोंका निर्माण कर रहे हैं और जो भविष्य इनका स्थान लेगा उसमें भी इनकी बहुतसी चीजें बनी रहेंगी। हमारे अपूर्ण सांस्कृतिक प्रतीकोंके पीछे एक स्थायी भावना है, जिसे हमें दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना होगा और जो भविष्य-में भी स्थायी रूपसे बनी रहेगी। कुछ एक मौलिक प्रेरणाएं या प्रमुख विचार-शक्तियां हैं जिनका त्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे हमारी सत्ताके अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्वके अंग हैं, हममें हमारे अंदरकी प्रकृतिका जो लक्ष्य है उसके अंग हैं, हमारे स्वधर्मके अंग हैं। परंतु ये प्रेरणाएं, ये विचार-शक्तियां, राष्ट्रके लिये हों या समूची मानवजातिके लिये, केवल इनी-गिनी और सारतः सरल होती हैं और साथ ही नित्य-नवीन, विविधतापूर्ण एवं प्रगतिशील ढंगसे प्रयोगमें लाने योग्य होती हैं। इनके अतिरिक्त बाकी सब हमारी सत्ताके कम भीतरी स्तरोंकी चीज होता है और उसे परिवर्तनके दबावके वशीभूत होना ही होगा तथा युग-भावनाकी प्रगतिशील मांगोंको

पूरा करना ही होगा। वस्तुओंमें यह स्थायी मूलभाव विद्यमान है, और हमारे अंदर यह अटल स्वधर्म अर्थात् हमारी प्रकृतिका विधान भी विद्यमान है; परंतु क्रमशः, रूप ग्रहण करनेके नियमोंकी एक कम् अनिवार्य धारा भी है, आत्माके ताल-छंद, बाह्य रूप, प्रवृत्तियां, प्रकृतिके अभ्यास आदि भी हैं और ये परिवर्तनोंका, युगधर्मका अनुगमन करते हैं। मनुष्यजातिको स्थायित्व और परिवर्तनोंका इस दोहरे नियमका अनुसरण करना होगा या फिर उसे ह्रास और क्षयका दंड भोगना होगा जो इसके सजीव केंद्रतकको कलुषित कर सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक विघटनकारी आक्रमणका प्रतिकार हमें पूरे बलके साथ करना होगा; परंतु इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी अतीत उपलब्धि, वर्तमान स्थिति और भावी संभावनाओंके संबंधमें, अर्थात् हम क्या थे, क्या हैं और क्या बन सकते हैं इस सबके संबंधमें हम अपनी सच्ची और स्वतंत्र सम्मति निश्चित करें। हमारे अतीतमें जो कुछ भी महान्, मौलिक, उन्नतिकारक, बलदायक, प्रकाशदायक, जयशील एवं अमोघ था उस सबका हमें स्पष्ट रूपसे निर्धारण करना होगा। और फिर उसमेंसे भी जो कुछ हमारी सांस्कृतिक सत्ताकी स्थायी मूल भावना एवं उसके अटल विधानके निकट था उसे साफ-साफ जानकर हमें उसे अपनी संस्कृतिके सामयिक बाह्य रूपोंका निर्माण करनेवाली अस्थायी वस्तुओंसे पृथक् कर लेना होगा। कारण, भूतकालमें जो कुछ भी महान् था उस सबको ज्योंका त्यों सुरक्षित नहीं रखा जा सकता और न उसे अनंत कालतक बार-बार दुहराया ही जा सकता है; क्योंकि हमारे सामने नयी आवश्यकताएं आती हैं, अन्यान्य क्षेत्र उपस्थित होते हैं। परंतु हमें इस बातका भी विवेचन करना होगा कि हमारी संस्कृतिमें ऐसी चीजें कौनसी थीं जो त्रुटियोंसे युक्त थीं किंवा ठीक तरहसे नहीं समझी गयी थीं, जो या तो अपूर्ण रूपसे गठित थीं अथवा केवल युगकी सीमित आवश्यकताओं या प्रतिकूल परिस्थितियोंके ही उपयुक्त थीं। क्योंकि यह दावा करना सर्वथा निरर्थक है कि प्राचीन युगकी, यहांतक कि उसके अत्यंत गौरवमय कालकी भी, सभी वस्तुएं पूर्ण रूपसे सराहनीय थीं और वे मानव मन एवं आत्माकी परमोच्च कोटिकी प्राप्तियां थीं। उसके बाद हमें इस अतीतकी अपने वर्तमानके साथ तुलना करनी होगी और अपनी अवनतिके कारणोंको समझना तथा अपने दोषों और रोगोंका इलाज ढूंढ़ना होगा। अपने अतीतकी महत्ताका बोध हमारे लिये ऐसा आकर्षक एवं सम्मोहक नहीं बन जाना चाहिये कि वह हमें अकर्मण्यताकी ओर घसीटकर मृत्युके मुखमें ले जाय; बल्कि उसे

एक नवीन और महत्तर प्राप्तिके लिये एक प्रेरणाका काम करना चाहिये। परंतु वर्तमानकी समालोचना करते हुए हमें एकपक्षीय भी नहीं बन जाना चाहिये और न हमें, हम जो कुछ हैं या जो कुछ कर चुके हैं उस सबकी मूर्खतापूर्ण निष्पक्षताके साथ निंदा ही करनी चाहिये। न तो हमें अपने अध:पतनकी झूठी बड़ाई करनी चाहिये या उसपर मुलम्मा ही चढ़ाना चाहिये और न ही विदेशियोंकी वाहवाही लूटनेके लिये अपने पैरों आप कुल्हाड़ी ही मारनी चाहिये, बल्कि हमें अपनी असली दुर्बलता तथा इसके मूल कारणोंकी ओर ध्यान देना चाहिये, पर साथ ही अपने शक्तिदायी तत्त्वों एवं अपनी स्थायी शक्यताओंपर और अपना नव-निर्माण करनेकी अपनी क्रियाशील प्रेरणाओंपर हमें और भी दृढ़ मनोयोगके साथ अपनी दृष्टि गड़ानी चाहिये।

एक दूसरी तुलना हमें पश्चिम और भारतके बीच भी करनी होगी। यदि हम यूरोप और भारतके अतीतपर निष्पक्ष मनसे विचार करें तो हम देख सकते हैं कि पश्चिमने क्या-क्या सफलताएं प्राप्त की हैं, वह मानवजातिके लिये कौनसा उपहार लाया है, पर साथ ही हमें उसके बड़े-बड़े छिद्रों, सुस्पष्ट त्रुटियों, भीषण और यहांतक कि "बीभत्स" बुराइयों और असफलताओंपर भी दृष्टि डालनी होगी। दूसरे पलड़ेमें हमें प्राचीन और मध्ययुगीन भारतकी सफलताओं और विफलताओंको रखना होगा। यहां हमें पता चलेगा कि ऐसी चीजें नहींके बराबर हैं जिनके कारण हमें यूरोपके सामने सिर नीचा करना पड़े और ऐसी चीजें बहुत-सी हैं जिनमें हम यूरोपसे ऊंचे उठ जाते हैं और कहीं-कहीं तो बहुत ऊंचे। परंतु इसके बाद हमें पश्चिमके वर्तमानकी अर्थात् इसकी सबल सफलता, प्राण-शक्ति और विजयशील धृष्टताकी छानबीन करनी होगी। इसमें जो चीजें महान् हैं उन्हें हम अंगीकार करेंगे, परंतु इसके दोषों, स्खलनों और खतरोंपर भी गहरी दृष्टि डालेंगे। और इस खतरनाक महानताकी तुलना हमें भारतके वर्तमानके साथ करनी होगी अर्थात् उसके अध:पतन और इसके कारणों तथा उसकी पुनरुत्थानकी दुर्बल इच्छाके साथ, और उसके जो तत्त्व आज भी उसकी श्रेष्ठताके समर्थक हैं तथा भविष्यमें भी रहेंगे उनके साथ करनी होगी। हमें यह देखना तथा विवेचन करना होगा कि पश्चिमसे क्या-क्या ग्रहण करना आवश्यक है और फिर यह सोचना होगा कि किस प्रकार हम उसे हजम कर अपनी भावना और आदर्शोंके साथ समरस बना सकते हैं। परंतु हमें यह भी देखना होगा कि हमारे अपने अंदर सहजात शक्तिके ऐसे कौनसे स्रोत हैं जिनसे हम, पश्चिमसे प्राप्य किसी भी वस्तुकी अपेक्षा, जीवकी

शक्तिकी अधिक गहरी, अधिक जीवंत और अधिक ताजी धाराएं प्राप्त कर सकते हैं। कारण, ये धाराएं ही हमें पाश्चात्य रीति-नीतियों और प्रेरणाओंकी अपेक्षा अधिक सहायता पहुंचायेंगी, क्योंकि ये हमारे लिये अधिक स्वाभाविक होंगी, हमारी प्रकृतिकी विशिष्ट प्रवृत्तिके लिये अधिक प्रोत्साहित करनेवाली और सर्जनसंबंधी निर्देशोंसे अधिक परिपूर्ण होंगी, साथ ही इन्हें हम अधिक आसानीसे ग्रहण कर सकेंगे। और व्यवहारमें इनका अनुसरण भी पूर्णताके साथ कर सकेंगे।

परंतु इन सब आवश्यक तुलनाओंसे कहीं अधिक सहायक वस्तु यह होगी कि हम अपने अतीत और वर्तमान आधारसे भविष्यकी और किसी विजातीय नहीं, वरन् अपने ही भविष्यकी आदर्श-दृष्टि डालें। क्योंकि, भविष्यकी ओर हमारा विकासात्मक आवेग ही हमारे अतीत और वर्तमानको इनका सच्चा मूल्य और महत्त्व प्रदान करेगा। भारतकी प्रकृति, उसका भगवन्निर्दिष्ट कार्य, उसका कर्तव्य कर्म, पृथ्वीकी भवितव्यतामें उसका भाग, वह विशिष्ट शक्ति जिसका वह प्रतिनिधि है — यह सब उसके विगत इतिहासमें लिखा हुआ है और यही उसके वर्तमान कष्टों और अग्निपरीक्षाओंका गुप्त प्रयोजन है। हमें अपनी आत्माके बाह्य रूपोंका पुनः गठन करना होगा; किंतु प्राचीन रूपोंके पीछे विद्यमान आत्माको ही हमें उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नये और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नये उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे। और जबतक हम इन सारभूत वस्तुओंको मान्यता देते रहेंगे और इनके मूल भावके प्रति निष्ठावान् रहेंगे, तबतक अवस्थाओंके अनुकूल अत्यंत उग्र ढंगकी मानसिक या भौतिक व्यवस्थाएं एवं अत्यंत चरम कोटिके सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन करनेसे भी हमें कोई हानि नहीं होगी। परंतु स्वयं इन परिवर्तनोंको भी भारतकी ही भावना एवं सांचेके अनुरूप ढालना होगा, किसी अन्य भावना एवं सांचेके अनुसार नहीं। हमें अमरीका या यूरोपकी भावना एवं जापान या रूसके सांचेके अनुरूप नहीं होना है। हम जो कुछ हैं और जो कुछ बन सकते हैं एवं जो बननेका हमें यत्न करना चाहिये — इन दोनोंके बीचकी बड़ी भारी खाईको हमें देखना-समझना होगा। परंतु यह हमें किसी प्रकारके अनुत्साहके भावके साथ या अपने अस्तित्वसे और अपनी आत्माके सत्यसे इन्कार करनेकी वृत्तिको लेकर नहीं करना होगा, बल्कि यह देखनेके लिये करना होगा कि हमें अभी कितनी दूरतक प्रगति करनी है। क्योंकि, हमें इस प्रगतिकी सच्ची धाराओंको खोजना होगा और साथ ही अपने अंदर अभीप्सा और प्रेरणा, तेज और शक्ति प्राप्त करनी होगी

जिससे हम उन धाराओंकी परिकल्पना करके उन्हें कार्य-रूपमें परिणत कर सकें।

यदि हमें यह आधार ग्रहण करना तथा यह प्रयास करना हो तो हमें आवश्यकता होगी एक मौलिक सत्यान्वेषी चिंतनकी, एक ओजस्वी और साहसपूर्ण अंतर्ज्ञानकी, एक अमोघ आध्यात्मिक और बौद्धिक सरलताकी। अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचनाके विरुद्ध अपनी संस्कृतिका समर्थन करने और आधुनिक युगके भीषण दबावसे इसकी रक्षा करनेका साहस सबसे पहली वस्तु है, परंतु इसके साथ ही अपनी संस्कृतिकी भूलोंको, किसी यूरोपियन दृष्टिकोणसे नहीं बल्कि अपने निजी दृष्टिकोणसे स्वीकार करनेका साहस भी होना चाहिये। अवनति या विकृतिसे संबंधित समस्त बातोंको एक ओर छोड़ देनेपर भी, हमारे जीवन-संबंधी सिद्धांतों और सामाजिक प्रथाओंमें कुछ ऐसी चीजें हैं जो अपने-आपमें भ्रांत हैं, उनमेंसे कुछ एक तो समर्थनके भी योग्य नहीं हैं, वे हमारे जातीय जीवनको दुर्बल करनेवाली, हमारी सभ्यताको नीचे गिरानेवाली तथा हमारी संस्कृतिकी प्रतिष्ठा नष्ट करनेवाली हैं। उन चीजोंसे हमें किसी प्रकारके कुतर्कके द्वारा इन्कार न करके उन्हें स्वीकार करना चाहिये। अस्पृश्योंके साथ हम जो व्यवहार करते हैं उसमें हमें ऐसी चीजोंका एक ज्वलंत दृष्टांत मिल सकता है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इसे यह कहकर क्षम्य समझेंगे कि भूतकालकी अवस्थाओंमें इस भूलका होना अनिवार्य ही था; और कुछ ऐसे हैं जो यह युक्ति देते हैं कि उस समय जो अच्छे-से-अच्छा समाधान हो सकता था वह यही था। फिर कुछ ऐसे भी हैं जो इसे उचित सिद्ध करना चाहेंगे और, चाहे किन्हीं संशोधनोंके साथ, हमारे सामाजिक संघटनके आवश्यक अंगके रूपमें इसे बनाये रखना चाहेंगे। इसके लिये कुछ बहाना था तो सही पर वह इसे जारी रखनेका कोई उचित कारण नहीं हो सकता। हां, इसके पक्षमें जो तर्क उपस्थित किया जाता है वह अत्यंत विवादास्पद है। एक ऐसा समाधान जो जातिके छठवें भागको स्थायी अपमान, सतत अपवित्रता, आंतर और बाह्य जीवनकी अस्वच्छता और क्रूर पशुसम जीवनसे ऊपर उठानेके बजाय उसे शेष जातिसे अलग करनेका दंड देता है, कोई समाधान नहीं है, बल्कि अपनी दुर्बलताको स्वीकार करना है, और वह समाजकी देह तथा इसके समष्टिगत आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं भौतिक उन्नतिके लिये एक स्थायी घाव है। जो समाज-संघटन हमारे कुछ मनुष्य-भाइयों और देशवासियोंकी अवनतिका स्थायी नियम बनाकर ही जीवित रह सकता है वह स्वयमेव दूषित ठहरता है और क्षीण एवं अस्तव्यस्त होना ही उसके भाग्यमें

बढ़ा होता है। उसके दुष्परिणाम चिरकालतक दबाकर रखे जा सकते हैं और वे केवल कर्म-सिद्धांतकी एक सूक्ष्मतर अप्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा ही अपना कार्य कर सकते हैं; परंतु एक बार जब इन अंधकारमय स्थानोंमें सत्यकी रश्मिका प्रवेश हो जाता है तब इन्हें स्थायी बनाये रखना ध्वंसके बीजको बचा रखना है और, अंतमें, अपने चिरजीवनकी संभावनाओंको विनष्ट करना है।

और फिर, हमें अपने सांस्कृतिक विचारों और सामाजिक आचारोंपर दृष्टिपात करना होगा और यह देखना होगा कि कहां वे अपना पुराना भाव या अपना सच्चा अर्थ खो चुके हैं। उनमेंसे बहुतेरे तो आज एक मिथ्या वस्तु बन गये हैं और वे अपनी ग्रहण की गयी भावनाओंके साथ या जीवनके तथ्योंके साथ अब और मेल नहीं खाते। कुछ अन्य आचार-विचार ऐसे हैं जो अपने-आपमें तो अच्छे हैं या जो अपने समयमें तो लाभदायी थे तथापि आज वे हमारे विकासके लिये पर्याप्त नहीं हैं। इन सबका या तो कायापलट करना होगा या फिर इन्हें त्यागकर इनके स्थानपर अधिक सच्चे विचारों और अधिक उत्कृष्ट आचार-व्यवहारोंकी स्थापना करनी होगी। इन्हें जो नयी दिशा हमें प्रदान करनी होगी वह सदा इनके पुराने अर्थकी ही पुनरावृत्ति नहीं होगी। जिन नये क्रियाशील सत्योंकी हमें खोज करनी है वे प्राचीन आदर्शके सीमित सत्यके घेरेमें ही आबद्ध हों यह आवश्यक नहीं। अपने अतीत और वर्तमान आदर्शोंपर हमें आत्माका प्रकाश फेंककर यह देखना होगा कि क्या उन्हें अतिक्रांत या विस्तारित करनेकी आवश्यकता तो नहीं है अथवा क्या उन्हें नये विशालतर आदर्शोंके साथ समस्वर करनेकी जरूरत तो नहीं है। जो कुछ भी हम करें या जिस किसी भी वस्तुका हम सृजन करें वह सब भारतकी शाश्वत आत्माके साथ संगत होना चाहिये, किंतु उसका ढांचा ऐसा होना चाहिये कि वह एक महत्तर, सुसमंजस एवं छंदोबद्ध समन्वयके भीतर ठीक बैठ जाय तथा साथ ही एक अधिक उज्ज्वल भविष्यकी पुकारके प्रति नमनीय भी हो। जहां अपने-आपमें विश्वास और अपनी संस्कृतिकी भावनाके प्रति निष्ठा एक स्थायी एवं शक्तिशाली जीवनके लिये प्रथम आवश्यक शर्त्तें हैं, वहां महत्तर संभावनाओंका ज्ञान भी इनसे कुछ कम अनिवार्य नहीं है। यदि हम अपने अतीत आदर्शको एक प्रेरणाप्रद संवेगका रूप न दे एक मिट्टीका घोंघा बना दें तो हम स्वस्थ और विजयी होकर नहीं बने रह सकते।

हमारी सभ्यताकी भाव-भावनाओं और आदर्शोंको किसी प्रकारके समर्थनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि अपने सर्वोत्कृष्ट अंशोंमें एवं अपने सारतत्त्वमें

वे शाश्वत महत्त्वकी ही वस्तु थे। भारतने उनकी जो आभ्यंतरिक एवं व्यक्तिगत खोज की वह सच्ची, शक्तिशाली और फलोत्पादक थी। किंतु समाजके सामूहिक जीवनमें उसका अत्यधिक संशय-संकोचके साथ जो प्रयोग किया गया वह कभी पर्याप्त साहस और पूर्णताके साथ तो किया ही नहीं गया बल्कि जब भारतकी जनतामें जीवन-शक्तिका ह्रास होने लगा, तो वह अधिकाधिक संकीर्ण और निश्चेष्ट बनता चला गया। यह त्रुटि, आदर्श और सामूहिक कर्ममें यह भारी विषमता समस्त मानवजीवनका पीछा करती आयी है, यह भारतकी ही कोई निराली विशेषता नहीं थी। किंतु समय बीतनेके साथ-साथ यह विषमस्वरता विशेष रूपसे स्पष्ट होती गयी और अंतमें इसने हमारे समाजपर दुर्बलता और असफलताकी मुहर लगा दी जो अधिकाधिक गहरी होती गयी। आरंभमें आंतरिक आदर्श और बाह्य जीवनके बीच किसी प्रकारका समन्वय स्थापित करनेके लिये एक व्यापक प्रयास किया गया; किंतु बादमें उसके परिणामस्वरूप समाजमें एक गति-हीन नियम-व्यवस्था स्थापित हो गयी। आध्यात्मिक आदर्शवादका एक मूल-भूत सिद्धांत, एक भ्रामक ऐक्य और पारस्परिक व्यवहारमें सहायता करने-वाले कुछ एक बंधे-बंधाये नियम-विधान तो सदा ही विद्यमान रहे, पर इनके साथ ही समाज-रूप समष्टिमें कड़े बंधन, सूक्ष्म भेद-वैषम्य और दिन दूनी बढ़नेवाली जटिलताका तत्त्व भी सदा बढ़ता ही गया। मुक्ति, एकत्व और मनुष्यके अंदर विद्यमान भगवत्ताके महान् वैदांतिक आदर्शोंको व्यक्तिके आनरिक आध्यात्मिक प्रयासके लिये छोड़ दिया गया। फैलने और हजम कर जानेकी शक्ति कम हो गयी और जब बाहरसे प्रबल और आक्रमण-कारी शक्तियां, इस्लाम और यूरोप भारतमें घुस आये तब परवर्ती हिन्दू समाज संकीर्ण और निष्क्रिय आत्मसंरक्षण और जीनेभरकी स्वतंत्रता पाकर संतुष्ट रहा। जीवन-धारा अधिकाधिक संकीर्ण हो गयी और उसने बराबर कुछ सीमित अंशमें ही अपनी पुरानी भावनाको बने रहने दिया। इससे स्थायित्वकी प्राप्ति और जीवनकी रक्षा तो अवश्य हुई, किंतु वह स्थायित्व, अन्ततोगत्वा, वास्तविक रूपमें सुरक्षित और प्राणवंत नहीं था और वह जीवन-रक्षा भी महान्, सशक्त और विजयशाली नहीं थी।

और अब तो आत्म-विस्तार किये बिना जीवनकी रक्षा करना भी असंभव हो गया है। यदि हमें जीवित रहना है तो हमें भारतके महान् प्रयासको, जो आज रुका पड़ा है, फिरसे हाथमें लेना होगा; व्यक्तिमें और समाजमें, आध्यात्मिक और सांसारिक जीवनमें, दर्शन और धर्ममें, कला और साहित्य-में, चिन्तनमें, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विधि-विधानमें हमें भारत-

की उज्ज्वलतम भावना और ज्ञानके पूर्ण और निःसीम आशयको साहसके साथ अपनाना होगा और साथ ही उसे समग्र रूपमे कार्यान्वित भी करना होगा। और यदि हम ऐसा करे तो हमे पता चलेगा कि पाश्चात्य रूपोसे ढका हुआ उत्तमोत्तम जो कुछ भी हमारे पास आता है वह सब हमारे अपने प्राचीन ज्ञानमे पहलेसे ही छिपा हुआ है और उसके पीछे एक अधिक महान् भाव, एक अधिक गभीर सत्य और आत्मज्ञान विद्यमान है और है अधिक उत्कृष्ट एव आदर्श रूपायणोके लिये सकल्प करनेकी क्षमता। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि जिस वस्तुको हम आत्माके अदर सदा ही जानते आये है उसे जीवनमे पूर्णरूपेण कार्यान्वित करे। हमारी अतीत सस्कृतिके मूल आशय और हमारे भविष्यकी पारिपार्श्विक आवश्यकताओमे जिस सामजस्यकी जरूरत है उसका रहस्य उसीमे है, अन्य किसी चीजमे नही।

यह दृष्टि हमारे सामने एक क्षेत्र खोल देती है और पूर्व तथा पश्चिमके मिलनका जो तात्कालिक भयावह पहलू सस्कृतियोका सघर्ष है उससे परेका यह क्षेत्र है। मनुष्यके अदर अवस्थित दिव्य आत्माका समग्र मानवजातिके अदर बस एक ही लक्ष्य है, परतु विभिन्न महाद्वीप या जातिया पृथक्-पृथक दिशाओमे, विभिन्न रूपोके द्वारा और अलग-अलग भावके साथ उस लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती है। अतिम भागवत उद्देश्यकी आधारभूत एकताको न जाननेके कारण वे एक-दूसरेके साथ युद्ध करती है और दावा करती है कि केवल उन्हीका मार्ग मनुष्यजातिके लिये यथार्थ मार्ग है। एकमात्र वास्तविक और पूर्ण सभ्यता वही है जिसमे उनका जन्म हुआ है, अन्य सब सभ्यताओको या तो मिट जाना होगा या अपना महत्त्व खो देना होगा। पर सच पूछो तो वास्तविक और पूर्ण सभ्यता अभी खोजे जानेकी प्रतीक्षा कर रही है, क्योकि मनुष्यजातिके जीवनमे आज भी दसमे नौ हिस्सा तो बर्बरता है और केवल एक हिस्सा ही सस्कृति है। यूरोपीय मनोवृत्ति सघर्षके द्वारा विकास करनेके सिद्धातको प्रथम स्थान देती है, वह सघर्षके द्वारा ही किसी प्रकारके सामजस्यतक पहुचती है। परतु स्वय यह सामजस्य भी प्रतियोगिता, आक्रमण तथा और आगेके सघर्षके द्वारा विकास साधित करनेके लिये एक प्रकारका सगठन ही होता है, इससे अधिक कुछ नही। वह एक ऐसी शाति होता है जो, स्वय अपने अदर भी निरतर विघटित होकर सिद्धातो, विचारो, स्वार्थों, जातियो और वर्गोके नये कलहका रूप धारण करती रहती है। वह एक ऐसा सगठन होता है जिसका आधार और केद्र अनिश्चित स्थितिमे होते है क्योकि वह उन अधूरे सत्योपर आधारित होता है जो ह्रासको प्राप्त होकर पूर्ण असत्योमे परिणत हो जाते है; परतु उसमे

अभीतक निरंतर सफलता प्राप्त करनेकी शक्ति है या रही है तथा वह अभी-तक सबल रूपसे विकसित होने और भक्षण तथा आत्मसात् करनेमें समर्थ है या रही है। भारतीय संस्कृति सामंजस्यके एक ऐसे सिद्धांतको लेकर अग्रसर हुई जिसने एकतामें ही अपना आधार पानेकी चेष्टा की और उससे आगे किसी महत्तर एकत्वतक पहुंचनेका प्रयास किया। उसका ध्येय एक ऐसे स्थायी संगठनका निर्माण करना था जो संघर्षके तत्त्वको कम कर दे या यहां-तक कि उसका बहिष्कार ही हो जाय। किंतु अंतमें वह वर्जन और विभा-जनके द्वारा एवं एक निष्क्रिय स्थितिके द्वारा केवल एक प्रकारकी शांति और गतिहीन व्यवस्था ही ला सकी; उसने अपने चारों ओर सुरक्षाका एक ऐंद्रजालिक घेरा बना लिया और अपने-आपको सदाके लिये उसमें बंद कर दिया। अंतमें उसकी आक्रमण-शक्ति खो गयी, आत्मसात् करनेकी सामर्थ्य क्षीण हो चली और इसके फलस्वरूप अपनी चौहद्दीके भीतर ही ह्रासको प्राप्त होने लगी। जो सामंजस्य स्थितिशील और सीमाबद्ध होता है, जो न सदा विस्तृत होता है और न नमनीय, वह हमारी त्रुटिपूर्ण मानवीय अवस्थामें एक कारागार या निद्रागृह बन जाता है। सामंजस्य, अपने बाह्य रूपमें, एक अपूर्ण और सामयिक वस्तुके सिवा और कुछ नहीं हो सकता और वह अपनी जीवनी-शक्तिकी सुरक्षा तथा अपने अंतिम लक्ष्यकी पूर्ति केवल तभी कर सकता है जब वह सदा ही अवस्थानुसार परिवर्तित होता रहे, विस्तृत और विकसित होता चले। उसकी क्षुद्रतर एकताओंको विस्तृत होकर एक अधिक उदार एवं व्यापक और, सबसे बढ़कर, एक अधिक वास्त-विक एवं आध्यात्मिक एकत्वकी ओर अग्रसर होना होगा। अब हमें अपनी संस्कृति और सभ्यताकी जो अधिक विशाल प्रस्थापना करनी है उसमें आध्या-त्मिक एवं मनोवैज्ञानिक एकताकी एक महत्तर बाह्य अभिव्यक्ति निश्चय ही, एक प्रमुख उद्देश्य होगी, हां, उस एकतामें विविधताका एक तत्त्व भी होगा जिसे यूरोपकी यांत्रिक पद्धति सहन नहीं करती। हमारे प्रयासकी एक अन्य दिशा होगी शेष मनुष्यजातिके साथ एक ऐसी समस्वरता वा एकता जिसमें हमारी आध्यात्मिक और भौतिक स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। परंतु यह बहुत संभव है कि आज जो हमें एक संघर्ष प्रतीत होता है वह मनुष्य-जातिकी उस एकताका निर्माण करनेके लिये पहला आवश्यक कदम हो। पश्चिम उस एकताको केवल एक विचारके रूपमें ही देखता है, किंतु वह उसे साधित नहीं कर सकता; कारण, उस एकताकी भावना उसे उप-लब्ध नहीं है। अतएव यूरोप विरोधी स्वार्थोंमें किसी प्रकारका मेल बिठा-कर और यांत्रिक संस्थाओंकी शक्तिका आश्रय लेकर एकता स्थापित करने-

का यत्न करता है; परंतु इस प्रकारके यत्नसे या तो यह स्थापित ही नहीं होगी, या बालूकी भीतपर ही स्थापित होगी। इस बीच वह अन्य प्रत्येक संस्कृतिको मटियामेट कर देना चाहता है, मानो उसकी संस्कृति ही एकमात्र सत्य हो अथवा वही जीवनका संपूर्ण सत्य हो और मानो 'आत्माका सत्य' जैसी कोई चीज ही न हो। उधर प्राचीन कालसे आत्माके सत्यको धारण करनेवाले भारतको यूरोपके इस अभिमानपूर्ण दावे और आक्रमणका प्रतिरोध करना होगा और भारी कठिनाइयोंके बावजूद तथा सभी लोगोंके विरुद्ध अपने गभीरतर सत्यको दृढ़तापूर्वक स्थापित करना होगा। कारण, उस सत्यकी सुरक्षामें ही हमारी यह एकमात्र आशा निहित है कि मनुष्यजाति बारंबार उन्हीं पुराने अंधकारमय चक्रोंमें भटकने और साथ ही एक नये महासंकट तथा एक असंस्कृत आरंभकी ओर बढ़नेके स्थानपर, अंततः, प्रकाश-में निखर आयेगी तथा प्रगतिकी प्रेरणाको कार्यान्वित करेगी और वह प्रेरणा जगत्के विकासको आत्माकी वृद्धिशील अभिव्यक्तिमें उठाकर अगले सोपान-पर पहुंचा देगी।

२

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

पहला अध्याय

जब हम किसी संस्कृतिका मूल्यांकन करनेका यत्न करते हैं, और जब वह संस्कृति ऐसी होती है जिसमें हम पल-पुसकर बड़े हुए हैं या जिससे हम अपने सर्वोपरि आदर्श ग्रहण करते हैं और इसलिये जिसकी त्रुटियोंको बहुत ही कम करके दिखला सकते हैं अथवा उसके जो पक्ष या मूल्य एक अनभ्यस्त दृष्टिको एकदम आकृष्ट कर लेंगे वे, अतिपरिचयके कारण, हमारी दृष्टिसे छूट भी सकते हैं — ऐसी दशामें यह जानना कि दूसरे लोग उसे किस दृष्टिसे देखते हैं सदा ही उपयोगी और मनोरंजक होता है। इसमें हम अपने दृष्टिकोणको बदलकर दूसरोंका दृष्टिकोण अपनाने नहीं जायेंगे; बल्कि इस प्रकारके अनुशीलनसे हमें एक नया प्रकाश मिल सकता है और उससे हमारे आत्मनिरीक्षणमें सहायता प्राप्त हो सकती है। परंतु एक विदेशी सभ्यता और संस्कृतिको देखनेकी कई अलग-अलग दृष्टियां होती हैं। एक दृष्टि होती है सहानुभूति और संबोधिकी तथा विषयवस्तुके साथ एकाकार होकर गभीर गुणान्वेषण करनेकी : यह दृष्टि हमें बहन निवेदिताकी 'भारतीय जीवनका ताना-बाना' या श्री फिल्डिंगकी बर्मा-विषयक पुस्तक या सर जान उड्रफकी तंत्र-संबंधी पुस्तक जैसी कृति प्रदान् करती है। ये ऐसे प्रयत्न हैं जो सभी ढकनेवाले पर्दोंको एक ओर हटाकर एक जातिकी आत्माको प्रकाशमें लानेके लिये किये गये हैं। यह बहुत संभव है कि ये हमें सभी निर्विवाद बाह्य तथ्य न दें, किंतु इनसे हमें एक ऐसी गभीरतर वस्तुका पता चलता है जिसमें एक महत्तर सत्य निहित होता है। उस वस्तुको हम यहां, जीवनकी न्यूनताओंके बीच, उसका जैसा रूप है उसमें नहीं पाते, बल्कि उसके आदर्श अर्थको पाते है। आत्मा, अर्थात् मूल आंतर स्वरूप एक वस्तु है और इस विषम मानवीय जगत्में वह आत्मा जो रूप ग्रहण करती है वे दूसरी चीज हैं और वे प्रायः ही अपूर्ण या विकृत होते हैं : यदि हम समग्र दृष्टि प्राप्त करना चाहें तो इन दोनोंमेंसे किसीकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर एक विवेकशील और निष्पक्ष आलोचककी दृष्टि

है जो वस्तुको उसके मूल आशय और यथार्थ रूप दोनोंमें देखनेकी चेष्टा करती है, प्रकाश और छाया दोनोंका भाग निश्चित करने, गुण और दोष तथा सफलता और विफलताको तौलने, जो चीज गुणग्राही सहानुभूतिको जगाती है और जो आलोचनात्मक निन्दाकी मांग करती है उन दोनोंमें भेद करनेका यत्न करती है। हो सकता है हम उससे सदा सहमत न हों; यह दृष्टि बिलकुल और है और अपनी बहिर्मुखताके कारण, अंतर्ज्ञान और तादात्म्यके अभावके कारण, यह सारभूत वस्तुओंको जाननेसे चूक भी सकती है या फिर यह जिस चीजकी प्रशंसा या निंदा करती है उसका संपूर्ण आशय नहीं भी पकड़ पाती; फिर भी हम इनसे लाभ उठा सकते है, हम छाया या प्रकाशको समझनेकी अपनी शक्ति बढ़ा सकते हैं अथवा अपने पिछले निर्णयमें संशोधन कर सकते है। अंतमें आती है विरोधी आलोचककी दृष्टि; उसे यह विश्वास होता है कि विचारास्पद संस्कृति निश्चय ही हीनतर है और इसलिये वह, जानबूझकर अनुचित आरोप लगाये बिना, अपने मतकी पुष्टिके लिये स्पष्टता और सच्चाईके साथ ऐसी युक्ति देता है जिसे वह यथार्थ भी समझता है। उसकी दृष्टि भी हमारे लिये उपयोगी होती है: ऐसी प्रतिकूल आलोचना आत्मा और बुद्धिके लिये हितकर होती है, हां, एक शर्त्त है कि हमें उससे व्यथित और हताश नहीं होना चाहिये और न अपने जीवंत विश्वास और कर्मको सहारा देनेवाले केंद्रसे विचलित ही होना चाहिये। हमारे मानव-जगत्में बहुतेरी चीजें त्रुटिपूर्ण ही हैं और कभी-कभी अपनी त्रुटियोंको खूब स्पष्ट रूपमें देखना लाभदायक भी होता है। अथवा, और कुछ नहीं तो कम-से-कम, हम विरोधी दृष्टिकोणोंका मूल्याकन करना सीख सकते हैं और विरोधके मूल कारणतक पहुंच सकते हैं; ऐसी तुलनाओंसे विवेक-शक्ति, अंतर्दृष्टि और समवेदनाका विकास होता है।

परंतु विरोधी आलोचनाको, कुछ वास्तविक या निर्भ्रांत मूल्यवाली होनेके लिये, आलोचनामात्र होना चाहिये न कि निंदा और मिथ्या साक्षी, और न ही कीचड़ उछालना; उसे तथ्योंको बिना बिगाड़े प्रस्तुत करना होगा, अपने निर्णयका मानदंड सुसंगत बनाये रखना होगा, न्याय, सुविचार और संयम प्राप्त करनेके लिये कुछ प्रयत्न करना होगा। इसमें संदेह नहीं कि मिस्टर विलियम आर्चरकी भारत-विषयक सुप्रसिद्ध पुस्तक, जिसे मैंने उसके अवगुणोंके ही कारण हमारी संस्कृतिके संबंधमें पाश्चात्य या भारत-विरोधी विशिष्ट दृष्टिके नमूनेके रूपमें चुना है, इस कोटिकी रचना नहीं थी। इतना ही नहीं कि इसमें हमारी संस्कृतिकी सभी चीजोंकी जी खोल-

कर निंदा की गयी है; उसका एक ऐसा चित्र दिखाया गया है जिसमें सब छाया ही छाया है, प्रकाशका नामतक नहीं: यह तो इस कृतिकी स्तुति है, क्योंकि मिस्टर आर्चरका घोषित उद्देश्य ही यह था कि भारतीय संस्कृतिको जो इसके प्रशंसक उत्साहपूर्वक श्रेष्ठ पद देते हैं उसे शैतानके एक ऐसे वकीलकी भांति चुनौती दी जाय जिसका काम ही हो उक्त दायेके विरोधमें जो कुछ भी कहा जा सकता हो—उस सबको ढूंढ़ निकालना और फिर उसका उग्रतम रूपमें वर्णन करना। और हमारे लिये भी यह उपयोगी है कि हमारे सामने एक ऐसे आक्रमणका चित्र उपस्थित रहे जो संपूर्ण क्षेत्रको व्यापे हुए हो जिससे कि हमारी संस्कृतिके विरुद्ध प्रतिपक्षीका जो अभियोग है उसे हम एक व्यापक दृष्टिसे संपूर्ण रूपमें देख सकें। परंतु आर्चरके वर्णनमें तीन बातें हैं जो उसके कथनको दूषित बनाती हैं। प्रथम, इसके पीछे एक परोक्ष, एक राजनीतिक उद्देश्य था; यह इस भावको लेकर चला था कि भारतके स्व-शासनके दावेको क्षुण्ण या निर्मूल करनेके लिये उसे पूर्ण रूपसे बर्बर सिद्ध करना होगा; इस प्रकारका बाह्य उद्देश्य तुरंत ही उसकी सारी बहसको गैरकानूनी बना देता है; क्योंकि इसका तो अर्थ हुआ एक भौतिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये तथ्यको जानबूझकर निरंतर विकृत करना और यह चीज संस्कृतियोंकी तुलना और समीक्षाके पक्षपातहीन बौद्धिक उद्देश्योंके लिये सर्वदा विजातीय है।

वास्तवमें यह पुस्तक कोई समालोचना नही है; यह तो एक साहित्यिक या यूं कहें कि एक अखबारी घूसेबाजी है। तिसपर भी यह अपने ढंगकी अजीब है; यह तो भारतकी सामान्य बाहरी मूर्तिपर क्रोधपूर्वक घूंसे जमाना है, मिथ्या वर्णन और अतिरंजनका लंबा और जोशीला नाच दिखाकर, अपनी मर्जीके मुताबिक उस पुतलेको ठोकर मार पटक देना है इस आशासे कि अज्ञ दर्शकोंको यह विश्वास हो जाय कि कौशल दिखानेवालेने एक बलशाली प्रतिपक्षीको चित कर दिया है। इसमें सुविचार, न्याय और संयमको तो बट्टे खाते डाल दिया गया है: बस एक ही दृश्य दिखानेका उद्देश्य सामने रखा गया है और वह यह कि प्रहार-पर-प्रहार पड़ते हुए मालूम होने चाहियें और सो भी ऐसे जो दुर्धर्ष और थर्रा देनेवाले हों, और इस उद्देश्यके लिये कोई भी चीज उसकी दृष्टिमें उपयोगी बन जाती है,—तथ्योंका उल्लेख बिलकुल गलत रूपमें किया गया है या फिर उनका एक भद्दा व्यंग्य-चित्र उपस्थित किया गया है, अत्यंत साधारण और निराधार संकेत ऐसी भावभंगीके साथ सामने रखे गये है मानों वे सर्वथा प्रत्यक्ष ही हों, जहां कही बाहरी रूपमें बाजी मार ले जानेकी संभावना थी वहां ही अत्यंत युक्ति-

विरुद्ध असंगतियोंको ग्रहण कर लिया गया है। यह सब किसी ऐसे जानकार समालोचककी क्षणिक मनमौज नहीं है जो मानसिक चिड़चिड़ाहटके दौरेसे पीड़ित है और उस चिड़चिड़ाहटको बाहर निकालने और उससे मुक्त होनेके लिये एक ऐसे विषयके संबंधमें, जिससे उसे सहानुभूति नहीं है, अपरिमित बौद्धिक कलाबाजी, दायित्वहीन कपोलकल्पना या शत्रुतापूर्ण रुद्र-नृत्य करनेको प्रेरित होता है। यह एक प्रकारकी अति है, जो कभी-कभी स्वीकार्य होती है और रोचक तथा मनोरंजक हो सकती है। एक रोमन कविके कथनानुसार यथासमय और यथास्थान मूर्खकी नाईं कार्य करना प्रिय और मधुर होता है (dulce est desipere in loco)। परंतु मि. आर्चरका निरंतर च्युत होकर युक्तिविरुद्ध अतिमें जा गिरना किसी प्रकार भी यथास्थान (in loco) नहीं है। हमें बहुत शीघ्र पता चल जाता है कि उसके अनुचित उद्देश्य और स्वेच्छाकृत अन्यायके अतिरिक्त उसमें एक तीसरा प्रधान दोष है जो अत्यंत निकृष्ट है और वह यह कि जिन चीजोंको वह निश्चित रूपमें दोषावह घोषित कर रहा है उनके बारेमें वह अधिकांशमें कुछ भी नहीं जानता। उसने बस यही किया है कि भारतके विषयमें उसने जो भी प्रतिकूल टिप्पणियां पढ़ रखी थीं उन सबको अपने मनमें इकट्ठा करके उनमें कहीं-कहीं अपनी धारणाएं जोड़कर उन्हें बढ़ा दिया है और इस हानिकारक एवं निःसार मिश्रणको अपनी मौलिक कृतिके रूपमें प्रस्तुत कर दिया है, यद्यपि उसकी एकमात्र वास्तविक और निजी देन यह है कि उसे अपनी उधार ली हुई सम्मतियोंकी निश्चिततापर पूरा विश्वास और प्रसन्नता है। यह पुस्तक अखबारी होआ है, सच्ची समालोचनात्मक रचना नहीं।

स्पष्ट ही, लेखकको दर्शनपर कुछ कहनेका जरा भी अधिकार नहीं था, वह तो इसे मानव मनका दुष्प्रयोग कहकर इसकी निंदा करता है और फिर भी भारतीय दर्शनके मूल्योंके विषयमें विस्तारपूर्वक एक नियम-व्यवस्थाका प्रतिपादन करता है। वह एक ऐसा युक्तिवादी था जिसकी दृष्टिमें धर्म एक भ्रम एवं मानसिक रोग है, तर्क-बुद्धिके प्रति एक पाप है; तथापि वह यहां धर्मोंके तुलनात्मक दावोंके बारेमें अपना निर्णय देता है, ईसाईधर्मको प्रायः विजयीका स्थान देता है और मालूम होता है, इसका मुख्य कारण यह है कि ईसाई लोग अपने धर्ममें गंभीरतापूर्वक विश्वास नहीं करते, — पाठक हंसें नहीं, इस पुस्तकमें अत्यंत गंभीरताके साथ यह आश्चर्यजनक युक्ति दी गयी है — और फिर वह हिन्दू-धर्मको सबसे नीचे स्थान देता है। वह स्वीकार करता है कि संगीतके बारेमें वह कुछ कहनेके योग्य नहीं है फिर

भी वह भारतीय संगीतको अत्यंत हीन श्रेणीमें रखनेसे बाज नहीं आता। कला और स्थापत्यपर उसका मत अत्यंत ही संकीर्ण कोटिका है; परंतु वस्तुओंके मूल्योंको निश्चित रूपसे घटानेमें वह बहुत ही उदार है। नाटक और साहित्यके विषयमें हम उससे कुछ अच्छी चीजोंकी आशा कर सकते थे; परंतु यहां उसकी कसौटियों और युक्तियोंकी विस्मयजनक तुच्छता देखकर हमें आश्चर्य होता है कि जगत्‌में नाटक और साहित्यके आलोचकके रूपमें उसे प्रसिद्धि कैसे प्राप्त हो गयी : हम समझते हैं कि या तो यूरोपीय साहित्यके विवेचनमें उसने एक अत्यंत भिन्न शैलीका प्रयोग किया होगा या फिर इंगलैंडमें इस प्रकारकी प्रसिद्धि प्राप्त करना अत्यंत सहज होगा। तथ्योंका बे-जाने मिथ्या-निरूपण, जिन वस्तुओंका अध्ययन करनेकी उसने परवाह ही नहीं की उनपर बिना विचारे निर्णय देनेका दुःसाहस ही मानो उसे भारतीय संस्कृतिपर लिखने और इसे बर्बरताका स्तूप कहकर प्रामाणिक रूपसे खारिज कर देनेका न्याय्य अधिकार प्रदान करता है।

अतएव, मिस्टर विलियम आर्चरकी ओर जो मैंने दृष्टि डाली है वह भारतीय सभ्यताके संबंधमें एक सुविज्ञ विदेशीका दृष्टिकोण या एक ज्ञानप्रद विरोधी आलोचनाको जाननेके लिये नहीं। फिर, जो लोग किसी संस्कृतिके माननेवाले होते हैं वे ही उसकी कृतियोंका आभ्यंतरिक मूल्य जांच सकते हैं, क्योंकि केवल वे ही उसकी आत्माके भीतर पूर्ण रूपसे पैठ सकते हैं। किसी विदेशी समालोचककी शरण भी हम ले सकते हैं, पर केवल तुलनात्मक सम्मति स्थिर करनेमें सहायता पानेके लिये, — और इस प्रकारकी सम्मति बनाना भी अनिवार्य रूपसे आवश्यक होता है। परंतु, इन चीजोंके बारेमें यदि सुनिश्चित विचार बनानेके लिये हमें किसी कारण विदेशीय मतपर निर्भर करना भी पड़े, तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्रमें हमें उन्हीं लोगोंकी ओर मुड़ना होगा जिन्हें उसके संबंधमें कहनेका कुछ अधिकार हो। मेरे लिये इस बातका बहुत ही कम महत्त्व है कि मिस्टर आर्चर या डाक्टर गफ, या सर जान उड्रफके अज्ञातनामा अंग्रेज प्रोफेसर भारतीय दर्शनके विषयमें क्या कह सकते हैं; मेरे लिये यही जानना काफी है कि इमर्सन या शोपनहावर या नीत्सेको, — जो इस क्षेत्रमें तीन सर्वथा भिन्न प्रकारके मनीषी हैं और तीनों ही अत्यंत शक्तिशाली हैं, — अथवा कजिन और श्लीगल (Schlegel) जैसे विचारकोंको इस विषयमें क्या कहना है, या फिर मेरे लिये यह देखना ही काफी है कि भारतीय दर्शनकी कुछ एक परिकल्पनाओंका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और प्राचीनतर यूरोपीय चिंतनमें भी विचारकी महान् समानांतर धाराएं थीं और साथ ही अत्यंत अर्वाचीन अनुसंधान-अन्वेषणके

परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञानके पोषक प्रमाण प्राप्त हो रहे हैं। न मैं धर्म-विषयक समीक्षाके लिये मि. हैरल्ड बेगबी (Harold Begbie) के पास जाऊंगा और न अपनी आध्यात्मिकतापर फतवा लेनेके लिये किसी यूरोपीय नास्तिक या युक्तिवादीकी शरण लूंगा, वरंच यह देखूंगा कि धार्मिक बोध और अनुभव रखनेवाले उदारचेता व्यक्तियोंपर, जो इस विषयके एकमात्र निर्णायक हो सकते हैं, उदाहरणार्थ, टाल्स्टाय जैसे किसी आध्यात्मिक और धार्मिक विचारकपर, हमारे धर्म और आध्यात्मिकताकी क्या छाप पड़ी है। अथवा, यहांतक कि थोड़े बहुत पक्षपातकी अनिवार्य रूपसे गुंजाइश स्वीकार करता हुआ मैं इस विषयका भी परिशीलन कर सकता हूं कि एक अधिक सुसंस्कृत ईसाई मिशनरीका हमारे धर्मके संबंधमें क्या वक्तव्य है — एक ऐसे धर्मके संबंधमें जिसे वह अब और बर्बरतापूर्ण अंधविश्वास कहकर खारिज तो नहीं कर सकता। कलामें मैं एक औसत यूरोपवासीकी सम्मति जाननेकी ओर प्रवृत्त नहीं हूंगा, क्योंकि वह तो भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिविद्याके मूल-भाव, आशय या शिल्प-कौशलके संबंधमें कुछ भी नहीं जानता। इनमेंसे स्थापत्यके लिये मैं फर्गुसन (Ferguson) जैसे किसी माने हुए अधिकारी विद्वान्का मत लूंगा; फिर चित्रकला और मूर्तिविद्याके लिये यदि मिस्टर हेवेल (Havell) जैसे आलोचकोंको पक्षपाती मानकर त्याग देना हो, तो कम-से-कम मैं ओकाकुरा (Okakura) या मि. लारेन्स बिनयन (Laurence Binyon) से तो कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकता हूं। साहित्यके संबंधमें मैं थोड़ी दुविधामें पड़ जाऊंगा, क्योंकि मुझे स्मरण नहीं आता कि पश्चिमके किसी प्रतिभाशाली लेखक या समालोचकके रूपमें सुविख्यात समालोचकको संस्कृत साहित्य या प्राकृत भाषाओंका किसी प्रकारका सीधा, मूललब्ध ज्ञान हो, और अनुवादोंके आधारपर किया गया निर्णय केवल मूलभावका ही विवेचन कर सकता है, — और वह भी भारतीय कृतियोंके अधिकतर अनुवादोंमें केवल निर्जीव भाव ही है जिसमेंसे जीवनी-शक्ति पूर्ण रूपसे विलुप्त हो गयी है। तथापि, यहां भी शाकुंतलपर गेटेकी सुप्रसिद्ध रसमय लघु-कवितामात्र मुझे यह दिखानेके लिये काफी होगी कि समस्त भारतीय कृतियां यूरोपीय रचनाकी तुलनामें बर्बरतापूर्ण हीन कोटिकी नहीं हैं। और शायद जहां-तहां हमें कोई ऐसा विद्वान् भी मिल जाय जिसमें कुछ साहित्यिक रुचि और निर्णय-शक्ति दोनों हों, — यद्यपि इन दोनोंका संयोग कोई अत्यंत साधारण वस्तु नहीं है, — और ऐसा व्यक्ति हमारे लिये सहायक होगा। निःसंदेह, इस प्रकारका सैर-सपाटा हमें मूल्योंकी एक पूर्णतः विश्वसनीय योजना तो नहीं देगा, पर कम-

से-कम गफों, आर्चरों और बेगबियों (Goughs, Archers and Begbies) की नीची भूमिपर रहनेवाली जातिकी शरण लेनेकी अपेक्षा हम अधिक सुरक्षित रहेंगे।

इसपर भी यदि मैं इन पांडित्य-प्रदर्शक रचनाओंकी ओर ध्यान देना आवश्यक या उपयोगी समझता हूं तो वह किसी और ही उद्देश्यके लिये। किंतु उस उद्देश्यके लिये भी, मिस्टर आर्चर जो कुछ लिखते हैं वे सब बातें उपयोगी नहीं हैं; उनमेंसे बहुत-सी बातें तो इतनी अयुक्तियुक्त, असंबद्ध या अविवेकपूर्ण सुझाव देती हैं कि व्यक्ति केवल उनपर नजरभर डालकर आगे बढ़ सकता है। उदाहरणके लिये, जब वह अपने पाठकोंको यह विश्वास दिलाता है कि भारतीय दार्शनिकोंके विचारमें टांगपर टांग रखकर बैठना और अपनी नाभिपर ध्यान लगाना ही विश्वके सत्योंको जाननेका सर्वोत्तम मार्ग है और उनका वास्तविक लक्ष्य आलस्यपूर्ण अकर्मण्यता तथा श्रद्धालुओंकी भिक्षापर निर्वाह करना ही होता है, तब आत्म-समाहित ध्यान-के केवल एक आसनका इस प्रकार वर्णन वह इस उद्देश्यसे करता है कि अज्ञ अंग्रेज पाठकोंकी दृष्टिमें यह बात जमकर बैठ जाय कि स्वयं ध्यानका वास्तविक स्वरूप जड़ मूढ़ता और स्वार्थपूर्ण आलस्य ही होता है। यह उसकी विवेक-शून्यताका एक दृष्टांत है जो हमें स्वयं उसके अपने युक्तिवादी मनके पेंचोंको देखनेमें सहायता पहुंचाता है, किंतु इसके सिवा उसका और कोई उपयोग नहीं। जब वह यह माननेसे इनकार करता है कि हिन्दूधर्ममें किसी प्रकारकी वास्तविक नैतिकताका अस्तित्व है अथवा यह कहता है कि हिन्दू-धर्मने कभी यह दावा नहीं किया कि नैतिक शिक्षण भी इसका एक कार्य है (ये दोनों ही कथन तथ्योंके ठीक विपरीत हैं), जब वह इससे भी आगे बढ़कर यहांतक कह डालता है कि हिन्दू-धर्म हिन्दूजातिके स्वभावका ही नामांतर है और जब यह बात 'जो कुछ भी' राक्षसीय और अस्वास्थ्यकर है उसकी ओर एक उदास प्रवृत्तिको सूचित करती है, तब इससे हम केवल यही परिणाम निकाल सकते हैं कि मिस्टर विलियम आर्चरने जिन नैतिक गुणोंको आचरणमें लाना आवश्यक समझा था उनमें सत्यभाषण शामिल नहीं है या कम-से-कम, यह किसी युक्तिवादीकी धर्मसंबंधी आलोचनाका कोई आवश्यक अंग नहीं है।

परंतु नहीं, यह सब होते हुए भी मि. आर्चर सत्यकी वेदीपर अनिच्छा-पूर्वक अपनी भेंट अवश्य चढ़ाते हैं; क्योंकि वह उसी सांसमें यह भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दूधर्म सदाचारकी बहुत अधिक चर्चा करता है और वह मानते हैं कि हिन्दू ग्रंथोंमें सदाचारके विषयमें बहुतसे सराहनीय सिद्धांत

हैं। परंतु यह बात तो केवल यह सिद्ध करती है कि हिंदू-दर्शन तर्कविरुद्ध है,—नैतिकताका वर्णन उसमें अवश्य है, पर वह होना नहीं चाहिये; इसका वहां होना मि. आर्चरके विषयके अनुकूल नहीं। बलिहारी है! युक्तिवाद-के इस योद्धाका तर्क और युक्तिसंगतता देखते ही बनती है! साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदूजातिकी एक प्रधान धर्मपुस्तक मानी जानेवाली रामायणपर उसका एक आक्षेप यह है कि इसके आदर्श पात्र, राम और सीता, जो उच्चतम भारतीय पुरुषत्व और नारीत्वके प्रबल दृष्टांत हैं, उसकी रुचिके लिये आवश्यकतासे अत्यंत ही अधिक पुण्यात्मा हैं। राम इतने अधिक साधु स्वभावके हैं कि मानव-प्रकृतिकी पहुंचके परे हैं। सच पूछो तो मुझे नहीं मालूम कि राम ईसा या सेंट फ्रांसीससे अधिक साधु-प्रकृति हैं, मेरे मनमें तो सदा यही विचार आता रहा है कि ये मानव-प्रकृति-की परिधिके भीतर ही हैं; किंतु शायद यह समालोचक इसका यह उत्तर देगा कि चाहे ये मानव-परिधिके परे न भी हों तो भी इनके अपरिमित गुण, कम-से-कम, हिंदू मतके नित्य कर्मोंकी ही भांति — उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि सावधानीके साथ बाहरी पवित्रता और व्यक्तिगत स्वच्छता बनाये रखना तथा प्रतिदिन पूजा और ध्यानके द्वारा ईश्वरकी ओर मन लगाना आदि कर्मोंकी भांति — "उन्हें सभ्यताके घेरेसे बाहर बैठानेके लिये पर्याप्त हैं।" क्योंकि, वह हमें बताता है कि सतीत्व और पतिव्रता-धर्मकी प्रतिमूर्ति सीतामें अपने इस गुणकी इतनी अधिकता है कि वह "अनैतिकता-की सीमातक पहुंच जाती हैं।" निरर्थक उग्र वक्तव्य जब इस प्रकार मूर्खता-की सीमाको छू देता है तब समझो कि वह अपनी चरम सीमाको पहुंच गया है। मुझे 'मूर्ख' की उपाधिका व्यवहार करते हुए उसी तरह खेद हो रहा है जिस तरह भारतकी "बर्बरता"का राग अलापते हुए मि. आर्चरको होता है। परंतु वास्तवमें और कोई चारा ही नहीं है; "यही उपाधि इस स्थितिका सच्चा स्वरूप प्रकट करती है।" यदि सभी बातें इसी श्रेणीकी होतीं, — इस श्रेणीकी चीजोंकी ही बहुतायत है और यह शोचनीय है, — तो घृणापूर्ण मौन ही एकमात्र सम्भव उत्तर होता। परंतु भाग्यवश अपोलो अपना धनुष सदा इस प्रकार ही नहीं खींचता कि टूटनेकी नौबत आ जाय; मि. आर्चरके भी सभी बाण इस प्रकारकी लंबी उड़ान भरनेवाले नहीं हैं। उसकी रचनामें ऐसी बातें भी बहुत सी हैं जो एक भद्दे ढंगसे पर फिर भी काफी ठीक रूपमें यह प्रकट करती हैं कि एक सामान्य पश्चिमी मन भारतीय संस्कृतिकी अनुपम विशेषताओंपर प्रथम दृष्टिपात करते ही कैसी जुगुप्सा अनुभव करता है और यह एक ऐसी बात है जो ध्यान देने और

तौलकर देखने लायक है, इसे समझना और इसका मूल्य जाना आवश्यक है।

यही उस पुस्तकको उपयोगिता है जिसे मैं ग्रहण करना चाहता हूं; क्योंकि यह एक उपयोगिता ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक कुछ है। औसत मनुष्यके द्वारा ही हम सर्वोत्तम रूपसे उन मनोवैज्ञानिक भेदोंकी तहतक पहुंच सकते हैं जो हमारी सामान्य मानवताके बड़े-बड़े समुदायोंको एक-दूसरेसे अलग करते हैं। एक सुसंस्कृत मनुष्यकी प्रवृत्ति इन पक्षपातोंका बल कम करने या कम-से-कम भेद और विरोधमें भी साम्य या संबंधके सूत्रोंका विकास करनेकी ओर होती है। औसत मनुष्यके मनमें हम इन भेदोंको इनके स्वाभाविक रूपमें देखनेका सुयोग प्राप्त करते हैं और वहीं हम इनकी पूरी शक्ति और अभिप्रायका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकते हैं। यहां हमें मि. आर्चरसे जो सहायता मिलती है वह सराहनीय है। इसका अर्थ यह नहीं कि अपनी अभीष्ट वस्तुतक पहुंचनेके लिये हमें बहुत अधिक कूड़ा-करकट साफ नहीं करना पड़ेगा। मैं तो मतभेदकी एक ऐसी पुस्तिकाका विवेचन करना अधिक पसंद करता जिसका क्षेत्र इतना ही व्यापक होता पर जिसके वर्णनमें सच्चाई और सरलता तो अधिक होती और दुष्टतापूर्ण चालाकी तथा अनावश्यक विद्वेष कम: किंतु ऐसी कोई पुस्तिका प्राप्य ही नहीं है। अतएव हम मि. आर्चरकी पुस्तिकको ही लें और उनकी कुछेक पक्षपातपूर्ण धारणाओंका विश्लेषण करके उनके आंतर मनोभावतक पहुंचनेका यत्न करें। तब संभवत: हमें पता चलेगा कि इस सब अप्रिय और भद्दी सामग्रीके द्वारा हम दो महाद्वीपोंके एक ऐतिहासिक मतभेदके सारमर्मतक पहुंच सकते है। यहांतक कि उसका यथार्थ बोध हमें एक प्रकारके समन्वयकी ओर अग्रसर होनेमें सहायता भी पहुंचा सकता है।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

दूसरा अध्याय

सबसे पहले इस बातका ठीक-ठीक विचार कर लेना अत्युत्तम होगा कि जिस समालोचकसे हम सांस्कृतिक विरोधोंका आनुमानिक ज्ञान प्राप्त करने जा रहे हैं वह किस श्रेणीका है। हमारे सामने जो विचार हैं वे भारतीय संस्कृतिपर एक औसत और ठीक पाश्चात्य मनके हैं, ऐसे मनुष्यके हैं जो काफी शिक्षित और बहुत अधिक पढ़ा हुआ तो है पर उसमें कोई प्रतिभा या असाधारण क्षमता नहीं है, है केवल साधारण कोटिकी सफलीभूत योग्यता; उसके मनमें न तो नमनीयता है न उदार सहानुभूति, हैं कुछ निश्चित किये हुए कठोर मत, जिन्हें वह प्रभावशाली ढंगसे नाना प्रकारकी, पर सर्वदा सही-सही नहीं, जानकारियोंका व्यवहार करनेकी अपनी आदतके द्वारा पुष्ट करता है और वजनदार बनानेकी चेष्टा करता है। यही वास्तवमें कुछ योग्यता रखनेवाले औसत अंग्रेजकी दृष्टि और मनोवृत्ति है जो पत्रकारिताका अभ्यास करते-करते बनती है। यह ठीक वही चीज है जिसे हम चाहते हैं ताकि हम उस विरोध-भावके स्वरूपको समझ सकें जिससे प्रेरित होकर मि. रुडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipling) ने,—जो स्वयं एक महा-पत्रकार (Super-journalist) और एक "बढ़े-चढ़े अस्वाभाविक" औसत मनुष्य है, एक प्रकारकी गंदी और बर्बर प्रतिभाकी चमचमाहटसे ऊपर उठे हुए, पर फिर भी अपनी कक्षाके भीतर ही बने रहनेवाले औसत मनुष्य हैं,—यह मत स्थापित किया है कि पूर्व और पश्चिमका विरोध चिरदिन बना रहेगा। अब हम जरा यह देखें कि भारतीय मन और इसकी संस्कृतिमें वह कौनसी चीज है जो ऐसी मनोवृत्तिको विलक्षण और घृणास्पद प्रतीत होती है: यदि हम समस्त व्यक्तिगत राग-द्वेषकी भावनाको त्यागकर निष्पक्ष भावसे इस विषयको देखें तो हमें पता चलेगा कि इसका अनुशीलन मनोरंजक और ज्ञानप्रद है।

इस बातपर एक प्रकारका आक्षेप किया जा सकता है कि हमने इस विषयके अध्ययनके लिये राजनीतिक पक्षपातसे युक्त एक युक्तिपंथी आलोचकको, उस वर्तमानके एक मनको, जो अब भूतकाल बन रहा है, इतने

व्यापक क्षेत्रके प्रतिनिधिके रूपमें क्यों चुना है, क्योंकि ऐसे आलोचकका मन, अधिकसे अधिक, एक क्षणस्थायी वर्तमानसे ही संबंध रखता है। महाद्वीपोंके संबंधमें आज जो भ्रांति देखनेमें आती है वह एक चिरंतन एवं ऐतिहासिक भेदके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है, पर यह पुस्तक हमारे सामने इस भ्रांतिका केवल एक ही पक्ष रखती है जो अपने स्वरूपमें अत्यंत आधुनिक ढंगका है। किंतु इस आधुनिक कालमें ही, वैज्ञानिक और युक्तिवादी ज्ञानोदयके इस युगमें ही उस भेदने अत्यंत सुनिश्चित रूप धारण किया है, वह भ्रांति अत्यंत उग्र हो उठी है और संस्कृतियोंका मेल न हो सकनेकी भावना अत्यंत सचेतन और आत्मप्रकाशक बन गयी है। एक प्राचीन यूनानी, जो निष्पक्ष बौद्धिक जिज्ञासा और सौंदर्यविषयक नमनीय गुणग्राहितासे पूर्ण होता था, जाति और संस्कृतिकी दृष्टिसे अपने-आपको एक बर्बरकी अपेक्षा श्रेष्ठ अनुभव करता हुआ भी एक विशुद्ध आधुनिक यूरोपियनकी अपेक्षा भारतीय मनके कहीं अधिक निकट था। इतना ही नहीं कि एक पाइथोगोरस या नव-अफलातूनी संप्रदायका एक दार्शनिक, एक अलेक्जेंडर या एक मिनांडर एशियाई संस्कृतिके मूल विचारोंको अधिक सहज सहानुभूतिके साथ समझ सकता था, बल्कि एक साधारण योग्य व्यक्ति, उदाहरणार्थ, एक मेगस्थनीजपर भी यह विश्वास किया जा सकता था कि वह आभ्यंतरिक तथा समग्र रूपसे न भी सही, कम-से-कम, पर्याप्त मात्रामें उन विचारोंको देख और समझ पायगा। मध्य युगका यूरोपियन अपनी समस्त युद्धप्रिय ईसाइयतके होते हुए तथा नास्तिकों और काफिरोंके प्रति विद्वेष रखते हुए भी देखने और अनुभव करनेके अपने अनेक विशिष्ट तरीकोंमें अपने प्रतिपक्षी (भारत) से कुछ हदतक समानता रखता था, पर आजके औसत यूरोपीय मनके लिये अब वैसी समानता रखना तबतक संभव नहीं है जबतक कि वह उन नये विचारोंसे अनुप्राणित न हो जाय जो फिर एक बार महाद्वीपोंके बीचकी खाईको पाट रहे हैं। पाश्चात्य मनको युक्तिवादी सांचेमें ढालने, यहांतक कि उसके धार्मिक विचारों एवं भावनाओंको भी यौक्तिक रूप दे देनेसे ही वह खाई इतनी चौड़ी हो गयी कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह कभी नहीं भरी जा सकती। हमारा समालोचक इसी बढ़े हुए विद्वेषके एक चरम रूपका प्रतिनिधित्व करता है, जो रूप एक अविचारशील स्वतंत्र-विचारकका गढ़ा हुआ है। उस विचारकने इन कठिन समस्याओंपर मौलिक रूपसे विचार ही नहीं किया है, उसने तो अपने विचारोंको अपने सांस्कृतिक परिवेश और अपने कालके बौद्धिक वातावरणसे ग्रहण कर लिया है। वह विरोधकी बातोंको तो बहुत अधिक अतिरंजित

करेगा ही, किंतु अपनी उस अतिरंजनाके द्वारा ही वह उन्हें अधिक ज्वलंत रूपमें स्पष्ट और सुबोध भी बना देगा। वह अपने मानसिक दृष्टिकोणसे भिन्न स्वभावकी वस्तुओंपर आक्रमण करनेके लिये यथार्थ जानकारी और समझदारीके साथ अध्ययन करनेकी अपनी कमीको एक प्रकारके अचूक सहजबोधके द्वारा पूरा करेगा ही।

इस प्रेरणासे. प्रचालित होकर ही उसने भारतीय दर्शन और धर्मको अपने आक्रमणके वास्तविक अभियोगका लक्ष्य बनाया है। मोटे तौरपर यह कहा जा सकता है कि किसी जातिकी संस्कृति उसकी जीवन-विषयक चेतनाकी अभिव्यक्ति होती है और वह चेतना अपने-आपको तीन रूपोंमें प्रकट करती हैं। उसका एक रूप होता है विचार, आदर्श, ऊर्ध्वमुख संकल्प और आत्मिक अभीप्साका; दूसरा रूप है सर्जनशील आत्म-अभिव्यंजनाकी शक्ति और गुणग्राही सौंदर्यबोधका, मेधा और कल्पनाका; और तीसरा होता है व्यावहारिक और बाह्य रूप-संघटनका। किसी जातिका दर्शन और उच्चतर चिंतन हमारे सामने उसकी जीवनविषयक चेतना और जगत्-विषयक सक्रिय दृष्टिका एक अत्यंत शुद्ध और उसके मनके द्वारा गठित विस्तृत और व्यापक रूप उपस्थित करता है। उसका धर्म उसके ऊर्ध्वमुख संकल्पके तीव्रतम रूपको प्रकट करता है, उसके सर्वोच्च आदर्श और संवेगकी परिपूर्तिके लिये उठनेवाली उसकी आत्माकी अभीप्साको अभिव्यक्त करता है। उसकी चित्रकला, उसका काव्य और साहित्य हमारे समक्ष उसकी संबोधि, कल्पना, प्राणिक प्रवृत्ति और सृष्टिक्षम बुद्धिकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति और विशेषता प्रस्तुत करते हैं। उसका समाज और राजनीति अपने रूपोंमें हमें एक बाह्य ढांचा प्रदान करती हैं जिसमें बाह्यतर जीवन उसके अनुप्रेरक आदर्श और उसके विशेष स्वभाव और चारित्र्यको, पारिपार्श्विक कठिनाइयोंके अधीन, यथाशक्ति कार्यान्वित करता है। हम देख सकते हैं कि जीवनके स्थूल उपादानका कितना अंश उस जातिने अपने हाथमें लिया है, उसके साथ इसने क्या व्यवहार किया है, किस प्रकार उसने इस उपादानके यथासंभव अधिकतम भागको अपनी मार्गदर्शक चेतना और गभीरतर आत्माकी किसी प्रतिमूर्तिमें परिणत कर डाला है। उसके धर्म, दर्शन, कला और समाज आदिमेंसे कोई भी पीछे अवस्थित आत्माको पूर्ण रूपसे प्रकाशित नहीं करता किंतु वे सभी अपने मुख्य विचार और अपनी सांस्कृतिक विशेषता उसीसे ग्रहण करते है। वे सब मिलकर उसकी आत्मा, मन और देहका गठन करते हैं। भारतीय सभ्यतामें दर्शन और धर्म — धर्मद्वारा क्रियाशील बना हुआ दर्शन और दर्शनद्वारा आलोकित धर्म — ही

नेतृत्व करते आये हैं। और शेष सभी चीजें (कला, काव्य आदि) यथासंभव उत्तम रूपमें उनका अनुसरण करती रही हैं। निःसंदेह, भारतीय सभ्यताकी पहली विलक्षण विशेषता यही है। यह विशेषता अधिक उन्नत एशियाई जातियोंमें भी पायी जाती है, किंतु भारतीय सभ्यताने इसे सर्वांगपूर्ण व्यापकताकी असाधारण सीमातक पहुंचा दिया है। जब उसे 'ब्राह्मणोंकी सभ्यता' के नामसे पुकारा जाता है तब उसका वास्तविक अभिप्राय यही होता है। इस नामका सच्चा अर्थ किसी प्रकारके पुरोहितवादका आधिपत्य कभी नहीं हो सकता यद्यपि भारतीय संस्कृतिके कुछ हीनतर रूपोंमें पुरोहितवादी मन आवश्यकतासे अत्यधिक प्रधान रहा है; क्योंकि संस्कृतिकी महान् धाराओंका निर्माण करनेमें उस तरह पुरोहितका कोई हाथ नहीं रहा। परंतु यह सत्य है कि इसके प्रधान प्रेरक भावोंको दार्शनिक विचारकों और धार्मिक मनीषियोंने ही रूप प्रदान किया है,—और वे सबके सब ब्राह्मण-कुलमें ही नहीं उत्पन्न हुए थे। यह ठीक है कि एकं ऐसें वर्गका विकास हुआ है जिसका काम जातिकी आध्यात्मिक परंपराओंकी, उसके ज्ञान तथा पवित्र शास्त्रकी रक्षा करना था,— क्योंकि यही ब्राह्मणका वास्तविक कार्य था न कि केवल पुरोहिताईका व्यवसाय— और यह भी सत्य है कि यह वर्ग सहस्रों वर्षोंतक जातीय मन और अंतःकरणके संरक्षण और सामाजिक सिद्धांतों और आचार-व्यवहारोंके मार्गदर्शनका अधिकांश कार्य करता रह सका, पर फिर भी इसने उसपर अपना एकाधिकार स्थापित नहीं किया; पर यह तथ्य तो केवल एक विशिष्ट बातका सूचक है। इसके पीछे विद्यमान यथार्थ बात यह है कि भारतीय संस्कृति आरंभसे ही एक आध्यात्मिक एवं अंतर्मुख धार्मिक-दार्शनिक संस्कृति रही है और बराबर ऐसी ही चली आयी है। उसमें और जो कुछ भी है वह सब इस एक प्रधान और मौलिक विशेषतासे ही उद्भूत हुआ है अथवा वह किसी-न-किसी प्रकार इसपर आश्रित या इसके अधीन ही रहा है; यहांतक कि बाह्य जीवनको भी आत्माकी आभ्यंतरिक दृष्टिके ही अधीन रखा गया है।

हमारे समालोचकने इस केंद्रीय बातका महत्त्व समझा है और इसे अपने अत्यंत नृशंस आक्रमणका लक्ष्य बनाया है; अन्य क्षेत्रोंमें वह कुछ रियायतें कर सकता है, आक्रमणोंको हलका कर सकता है, पर यहां वह ऐसी कोई चीज नहीं कर सकता। यहां तो प्रधान विचारों और उद्देश्योंके निज स्वरूपके ही कारण सब कुछ किसी सच्चे हितके लिये बुरा और हानिकारक है अथवा घातक नहीं तो बेकार अवश्य है। यह एक महत्त्वपूर्ण मनोवृत्ति

है। इसमें संदेह नहीं कि इसके साथ एक विवादात्मक उद्देश्य भी विद्यमान है। भारतीय मन और इसकी सभ्यताके संबंधमें हम जिस चीजका दावा करते हैं वह है एक उच्च आध्यात्मिकता, एक ऐसी आध्यात्मिकता जो चिंतन और धर्मके सभी शिखरोंपर उच्चताको पहुंची हुई है, जो कला और साहित्यमें तथा धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विचारोंमें व्यापी हुई है और यहांतक कि साधारण मनुष्यके जीवनविषयक मनोभावपर भी प्रभाव डालती है। यदि इस दावेको स्वीकार कर लिया जाय, जैसा कि इसे सभी सहानुभूतिपूर्ण और निष्पक्ष जिज्ञासु जीवनसंबंधी भारतीय दृष्टिकोणको न मानते हुए भी स्वीकार करते हैं, तब तो भारतीय संस्कृतिकी स्थिति सुदृढ़ हो जाती है, भारतीय सभ्यताको जीनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। और साथ ही इसे युक्तिपंथी आधुनिकतावादको चुनौती देने और यह कहनेका अधिकार भी प्राप्त हो जाता है कि "पहले तुम आध्यात्मिकताके उस स्तरतक पहुंचो जहांतक मैं पहुंची हुई हूं, उसके बाद कहीं तुम मुझे नष्ट एवं पदच्युत करने या मुझसे यह अनुरोध करनेका दावा कर सकते हो कि मैं अपनेको तुम्हारी ही भावनाके अनुसार पूर्ण रूपसे आधुनिक बना लूं। इस बातकी कोई परवाह नहीं कि स्वयं मैं हालमें अपनी चोटियोंसे नीचे गिर पड़ी हूं अथवा मेरे वर्तमान विधि-विधान मानवताके भावी मनकी सभी अवश्यकताओंको पूरा नहीं कर सकते; मैं फिरसे ऊपर चढ़ सकती हूं, शक्ति तो मुझमें है ही। यहांतक कि मैं एक आध्यात्मिक आधुनिकतावादका विकास करनेके योग्य भी बन सकती हूं जो तुम्हें अपने-आपको अतिक्रम करने तथा एक बृहत्तर सामंजस्यतक पहुंचनेके प्रयत्नमें सहायता पहुंचायेगा और भूतकालमें तुमने जो सामंजस्य प्राप्त किये हैं या वर्तमानमें तुम जिनकी कल्पना कर सकते हो उन सबकी अपेक्षा वह सामंजस्य कहीं अधिक महान् होगा।" विद्वेषपूर्ण समालोचक अनुभव करता है कि उसे इस दावेका जड़-मूलसे खंडन करना होगा। वह भारतीय दर्शनको अध्यात्महीन दर्शन तथा भारतीय धर्मको लकड़ी-पत्थर पूजनेवाला तर्कविरोधी और भयंकर अजूबा चीज सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। उसका यह प्रयत्न सत्यको सिरके बल खड़ा करके इस बातके लिये विवश करता है कि वह तथ्योंको बिलकुल उलटे रूपमें देखे; इस प्रयत्नमें वह विरोधाभासपूर्ण मूर्खता और असंगत प्रलापके धरातलपर उतर आता है जो महज अत्युक्ति ही के कारण उसके पक्षको निर्मूल कर डालते हैं। परंतु इस गड़बड़झालेसे भी दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं जो सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्रथम, हम यह पूछ सकते हैं कि जीवनसंबंधी आध्यात्मिक एवं धर्मप्रधान-दार्शनिक

दृष्टिकोण और उसीके विचारों एवं प्रेरणाओंके द्वारा सभ्यताका नियंत्रण और जीवनसंबंधी युक्तिवादी और बहिर्मुख दृष्टिकोण तथा बौद्धिक और व्यावहारिक तर्कके द्वारा नियंत्रित प्राणिक सत्ताका सुखोपभोग इन दोनोंमेंसे कौन मनुष्यजातिका सर्वोत्तम मार्गदर्शक हो सकता है। और जीवनसंबंधी आध्यात्मिक दृष्टिकोणका मूल्य और प्रभाव स्वीकार करते हुए हम पूछ सकते हैं कि क्या भारतीय संस्कृतिने इसे जो रूप प्रदान किया है उससे उत्तम रूप और कोई नहीं हो सकता और क्या वही मानवजातिके लिये उसके उच्चतम स्तरकी ओर विकसित होनेमें सर्वाधिक सहायक है। इस एशियाई या प्राचीन मानस और यूरोपीय या आधुनिक बुद्धिके बीच ये ही वास्तविक विवादास्पद प्रश्न हैं।

ठेठ पाश्चात्य मन आज भी अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियोंकी मनोवृतिको सुरक्षित रखे हुए है और यह प्रायः पूर्णतया दूसरे दृष्टिकोणसे ही गठित है; यह प्राणात्मवादी बौद्धिक विचारके सांचेमें ढला हुआ है। यूनानी-रोमन संस्कृतिके एक छोटेसे कालको छोड़कर और कभी भी इसकी जीवन-विषयक भावना जगत्-संबंधी दार्शनिक दृष्टिकोणसे नियंत्रित नहीं हुई और उस कालमें भी वह नियंत्रण चिंतनशील और सुसंस्कृत विचारकोंके एक छोटेसे वर्गतक ही सीमित था; जैसे इसकी जीवन-भावनापर सदा ही परिस्थितिजन्य आवश्यकता और व्यावहारिक बुद्धिका ही प्रभुत्व रहा है। साथ ही, यह उन युगोंको भी पार कर आया है जिनमें पूर्वसे आकर आध्यात्मिक और धार्मिक विचारोंने इसपर आक्रमण किया तथा इसकी प्राणात्मवादी एवं तर्कप्रधान प्रवृत्तिपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा की; इसने व्यापक रूपमें उनका निराकरण किया या फिर उन्हें एक कोनेमें ढकेल दिया। इसका धर्म है जीवनका धर्म, पृथ्वी और पार्थिव मानवताका धर्म, बौद्धिक विकास, प्राणिक दक्षता, शारीरिक स्वास्थ्य और उपभोग, एक युक्तिसंगत समाज-व्यवस्थाका आदर्श। यह मन भारतीय संस्कृतिके सम्मुख उपस्थित होते ही एकदम उससे पीछे हट आता है, इसका पहला कारण तो यह है कि वह इसके लिये अपरिचित और नवीन प्रतीत होती है, दूसरे, इसे उसमें एक तर्कविरुद्ध असामान्यताका अनुभव होता है तथा उसका दृष्टिकोण अपने दृष्टिकोणसे पूर्णतया भिन्न और प्रायः एकदम विपरीत मालूम होता है और, तीसरे, उसमें इसे दुर्बोध विधि-विधानोंकी अधिकता और बहुलता दिखायी देती है। ये विधि-विधान इसे अतिप्राकृतिक तत्त्वोंसे और अतएव, इसके विचारके अनुसार, मिथ्या तत्त्वोंसे परिपूर्ण दिखायी देते हैं। यहांतक कि इसके विचारमें इनके अंदर अस्वाभाविक चीजें भी विद्यमान हैं, इनमें सर्व-

सामान्य आदर्श, यथार्थ विधि और युक्तियुक्त साधनका बार-बार उल्लंघन किया गया है, इनमें वस्तुओंका एक ऐसा ढांचा है जिसके अंदर, मि. चेस्टर-टन (Chesterton) के शब्दोंमें, प्रत्येक चीजका आकार ही गलत है। अस्वाभाविक पुराना कट्टर ईसाई दृष्टिकोण इस संस्कृतिको एक नारकीय वस्तु किंवा दानवीय रचना समझेगा; आधुनिक कट्टर युक्तिपंथी दृष्टिकोण इसे एक ऐसा हौवा समझता है जो तर्कहीन ही नहीं वरन् तर्कविरोधी भी है, वह इसे एक विकराल वस्तु, पुरानी विश्रृंखला अथवा अधिक-से-अधिक, पूर्वके भूतकालका एक अलंकारपूर्ण मनमौजी गान मानता है। निःसंदेह यह एक चरम मनोवृत्ति है,—यह मि. आर्चरकी है,—पर नासमझी और कुरुचि ही इसका नियामक विधान है। जो मनुष्य समझने तथा सहानुभूति प्रकट करनेका यत्न करते हैं उनमें भी हम निरंतर इन भावोंके चिह्न पाते हैं; किंतु एक सामान्य पश्चिमवासीके लिये, जो अपने प्रथम अपरिपक्व स्वाभाविक संस्कारोंसे ही संतुष्ट रहता है, सब कुछ एक घृणाजनक गड़बड़-झाला ही है। उसके निकट भारतीय दर्शन एक दुर्बोध्य और सूक्ष्मतः सार-हीन कल्पना-जाल है; भारतीय धर्म उसकी दृष्टिको मूर्खतापूर्ण वैराग्य तथा उससे भी अधिक मूर्खतापूर्ण, स्थूल, अनैतिक और अंधविश्वासपूर्ण बहुदेवता-वादका मिश्रण प्रतीत होता है। भारतीय कलामें उसे स्थूलतः विकृत या रूढ़िबद्ध रूपोंका और अनंत-सत्ता-संबंधी निर्देशोंके असंभव अनुसंधानका उत्पात दीखता है — जब कि समस्त सच्ची कलाको स्वाभाविक और सांतकी ही सुंदर और युक्तियुक्त प्रतिकृति या उत्कृष्ट कल्पनात्मक प्रतिमूर्ति होना चाहिये। वह भारतीय समाजकी उन चीजोंकी निंदा करता है जो पुरानी दुनिया और मध्ययुगके विचारों और विधि-व्यवस्थाओंके काल-विरोधी एवं अर्द्ध-बर्बर अवशेष हैं। हाल ही में इस विचारमें कुछ परिवर्तन आया है और यद्यपि इसे आज कुछ कम ऊंचे स्वरसे तथा कम विश्वासके साथ प्रकट किया जाता है, तथापि यह अभीतक जीवित है। और यही है मि. आर्चरके निंदापूर्ण कथनोंका संपूर्ण आधार।

भारतीय सभ्यतापर उसने जितने भी आक्षेप किये हैं, उन सबके स्व-रूपसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब तुम उनपरसे पत्रकारोचित अलं-कारोंका पर्दा हटाओगे तो तुम्हें पता चलेगा कि वे आक्षेप एक ऐसी संस्कृति-के प्रति बुद्धिप्रवण प्राण एवं व्यावहारिक मनुष्यके इस स्वाभाविक विरोध-को ही द्योतित करते हैं जो बुद्धिको अतिबौद्धिक आध्यात्मिकताके तथा जीवन और कर्मको इनसे अधिक महान् किसी वस्तुकी खोजके अधीन रखती है। दर्शन और धर्म भारतीय संस्कृतिकी आत्मा हैं, इन्हें एक-दूसरेसे अलग नहीं

किया जा सकता और साथ ही ये एक-दूसरेके अंदर व्याप्त भी होते रहते हैं। भारतीय दर्शनका संपूर्ण ध्येय, इसके अस्तित्वका संपूर्ण हेतु ही (Raison d'être) है आत्माका ज्ञान प्राप्त करना, उसे अनुभव करना तथा आध्यात्मिक जीवनका यथार्थ मार्ग उपलब्ध करना; इसका अनन्य लक्ष्य धर्मके उच्चतम सारमर्मसे एकदम मिलता-जुलता है। भारतीय धर्म अपना सारा विशिष्ट मूल्य-महत्त्व आध्यात्मिक दर्शनसे ही प्राप्त करता है, जो उसकी परमोच्च अभीप्साको आलोकित करता है और यहांतक कि धार्मिक अनुभवके निम्न स्तरसे आहरण की हुई वस्तुओंमेंसे भी बहुतोंको अपने रंगमें रंग देता है। परंतु मि. आर्चरके आक्षेप हैं क्या? सर्वप्रथम, भारतीय दर्शनपर उसके क्या आक्षेप हैं? उसका पहला आक्षेप केवल यह है कि यह अत्यधिक दार्शनिक है। उसका दूसरा आरोप यह है कि उस निकम्मी चीज, तत्त्वज्ञानात्मक दर्शन, के रूपमें भी यह अतीव आध्यात्मिक है। उसका तीसरा दोषारोपण — जो अत्यंत निश्चयात्मक है तथा युक्ति-युक्त भी प्रतीत होता है — यह है कि निराशावाद, वैराग्यवाद, कर्म और पुनर्जन्मकी मिथ्या धारणाओंके द्वारा यह व्यक्तित्व तथा संकल्पशक्तिको क्षीण और विनष्ट कर देता है। इनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके आक्षेपके अंतर्गत उसने जो आलोचना की है उसपर विचार करनेसे हमें ज्ञात होगा कि वास्तवमें वह कोई निष्पक्ष बौद्धिक आलोचना नहीं है, बल्कि मानसिक घृणा और स्वभाव तथा दृष्टिकोणके आधारभूत भेदकी एक अतिरंजित अभि-व्यक्ति है।

मि. आर्चर इस बातसे इंकार नहीं कर सकते कि दार्शनिक चिंतनमें भारतीय मानसने अनुपम कार्य और सफलता प्रदर्शित की है, इस बातसे यदि उन्होंने इंकार किया तो वे मूर्खतापूर्ण स्थापनाएं करनेकी अपनी अतुलनीय क्षमताकी सीमाको भी लांघ जायेंगे। वे इस बातसे इंकार नहीं कर सकते कि तत्त्वज्ञानसंबंधी विचारोंकी अभिज्ञता तथा किसी तत्त्वज्ञानविषयक समस्यापर कुछ सूक्ष्मताके साथ विचार करनेकी क्षमता किसी अन्य देशकी अपेक्षा भारतमें अत्यधिक व्यापक रूपसे पायी जाती है यहांतक कि भारतका एक साधारण बुद्धिशाली व्यक्ति इस प्रकारके प्रश्नोंको समझ सकता तथा इनका विवेचन कर सकता है जब कि उसीके समान संस्कृत और योग्य एक पश्चिमी विचारक अपने-आपको उसी प्रकार एकदम उथला अनु-भव करेगा जिस प्रकार हमें इन पृष्ठोंमें मि. आर्चर दीख पड़ते हैं। परंतु वे इस बातसे इंकार करते हैं कि यह अभिज्ञता और यह सूक्ष्मता "आवश्यक रूपसे" महान् मानसिक क्षमताका एक प्रमाण है — मेरी समझमें उन्होंने

"आवश्यक रूपसे" ये शब्द इसलिये जोड़ दिये हैं कि कोई उनपर यह दोष न लगा बैठे कि आपके कथनानुसार तो प्लेटो, स्पिनोजा, या बर्कलेने भी कोई महत् मानसिक क्षमता नहीं प्रकट की। हां, तो शायद यह "आवश्यक रूपसे" कोई ऐसा प्रमाण नहीं है; परंतु प्रश्नोंकी एक महान् परंपरामें, मनकी शक्तियों और रुचियोंके एक विस्तृत और विशेष कठिन क्षेत्रमें यह अभिज्ञता और सूक्ष्मता एक अद्भुत और अनुपम व्यापक विकासको अवश्य प्रदर्शित करती है। अर्थशास्त्र और राजनीतिके प्रश्नोंपर अथवा, जहांतक मैं जानता हूं, कला, साहित्य और नाटकपर कुछ दिखावेकी निपुणताके साथ विचार करनेकी यूरोपीय पत्रकारकी क्षमता "आवश्यक रूप"से किसी महत् मानसिक क्षमताका प्रमाण नहीं है; हां, सामान्य रूपसे यूरोपीय मनके महान् विकास, अपने कर्मके इन क्षेत्रोंमें उसकी व्यापक अभिज्ञता तथा स्वाभाविक क्षमताको यह अवश्य प्रदर्शित करती है। उसकी सम्मतियोंकी स्थूलता और अपने विषयोंका उसका विवेचन किसी विदेशीको कभी-कभी कुछ "बर्बर" प्रतीत हो सकता है; परंतु स्वयं यह चीज इस बातका प्रमाण है कि उसमें संस्कृति और सभ्यता है, एक महान् बौद्धिक और पौरोचित प्राप्ति है और है उस प्राप्तिमें एक पर्याप्त जन-व्यापी रुचि। मि. आर्चर भारतके संबंधमें एक अन्य, सूक्ष्मतर और क्लिष्टतर क्षेत्रमें इस प्रकारके निष्कर्षपर पहुंचनेसे बचना चाहते हैं। इसके लिये वे दर्शनकी उपयोगितासे ही इंकार कर देते हैं; भारतीय मनकी यह क्रिया-प्रवृत्ति उनके निकट अज्ञेयको जानने और अचिंत्यका चिंतन करनेकी एक अप्रतिम चेष्टामात्र है। पर यह सब क्यों? हां तो, बात यह है कि दर्शन एक ऐसे स्तरसे संबंध रखता है जहां "मूल्योंकी जांच" करना संभव ही नहीं और ऐसे स्तरमें स्वयं विचारका भी या तो कुछ मूल्य नहीं हो सकता या फिर नहींके बराबर ही मूल्य हो सकता है, क्योंकि यह केवल एक अनुमान ही होता है जिसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

यहां हम दृष्टिकोणोंके एक स्वभावगत विरोधपर आ पहुंचे हैं जो सचमुच ही मनोरंजक है; इससे भी बढ़कर यहां हम मनकी गठनतकमें भेद पाते हैं। जिस रूपमें यहां युक्ति प्रस्तुत की गयी है उस रूपमें वह एक नास्तिक एवं अज्ञेयवादीकी संदेहसंकुल युक्ति है, किंतु अंततः वह उस मनोवृत्तिका केवल एक चरम तार्किक निरूपण है जो सामान्य यूरोपीय विचारधारामें सर्वत्र देखनेमें आती है और जो आभ्यंतरिक रूपसे एक प्रत्यक्षवादी मनोवृत्ति है। यूरोपमें सर्वोच्च मनीषियोंने दर्शनका अनुशीलन किया है और उससे महान् एवं उदात्त बौद्धिक फल प्राप्त हुए हैं, पर वह अनुशीलन

जीवनसे बहुत कुछ पृथक् ही रहा है, उच्च और भव्य वस्तु होनेपर भी वह प्रभावहीन ही रहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां भारत और चीनमें दर्शनने जीवनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा है, सभ्यता-पर एक गुरुतर क्रियात्मक प्रभाव डाला है तथा यह प्रचलित विचार और कर्मकी नस-नसमें व्यापा हुआ है, वहां यूरोपमें यह ऐसा महत्त्व प्राप्त करनेमें कभी सफल नहीं हुआ। जिन दिनों स्टोइक (Stoic) संप्रदाय और एपीक्यूरस (Epicurus) के मतका प्राधान्य था उन दिनों इसने कुछ प्रभुत्व अवश्य प्राप्त किया था पर तब भी केवल अत्यंत सुसंस्कृत व्यक्तियोंके बीच ही; वर्तमान समयमें भी उस प्रकारकी एक अभिनव प्रवृत्ति हमें दृष्टिगोचर हो रही है। नीट्शेका प्रभाव पड़ा है, उधर फ्रांसमें भी कई फ्रेंच विचारकोंने, जेम्स और बर्गसोंके दर्शनोंने कुछ अंशमें जनताकी रुचिको आकृष्ट किया है; किंतु एशियाके दर्शनकी अमोघ शक्तिकी तुलनामें वह सब कोरे शून्यके समान है। औसत यूरोपवासी अपने मार्गदर्शक विचार दार्शनिक नहीं बल्कि प्रत्यक्षवादी एवं व्यावहारिक बुद्धिसे ही आहरण करता है। वह मि. आर्चरकी न्याई दर्शनकी नितांत अवहेलना तो नहीं करता, परंतु वह इसे एक "मनुष्यनिर्मित भ्रम" न सही, पर एक प्रकारकी अपेक्षाकृत दूरकी, धुंधली-सी और निष्प्रभाव प्रवृत्ति अवश्य समझता है। वह दार्शनिकोंका सम्मान अवश्य करता है, परंतु उनकी कृतियोंको वह सभ्यताके पुस्तकालयके सबसे ऊपरले आलेमें रख देता है, यह सोचकर कि इन्हें नीचे उतारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं और न असाधारण प्रवृत्तिवाले कुछ एक विचारकोंको छोड़कर और किसीको इन्हें देखनेकी जरूरत ही है। वह उनकी सराहना तो करता है लेकिन उनपर विश्वास नहीं करता। प्लेटोका यह विचार कि दार्शनिक ही समाजके सच्चे शासक और श्रेष्ठ मार्गनिर्देशक हैं, उसे सभी धारणाओंमें सर्वाधिक ऊटपटांग और अव्यवहार्य प्रतीत होता है; ठीक विचारोंमें विचरण करनेके ही कारण दार्शनिकका यथार्थ जीवनपर किसी प्रकारका प्रभुत्व नहीं हो सकता। इसके विपरीत, भारतीय मनकी मान्यता यह है कि ऋषि, अर्थात् आध्यात्मिक सत्यका चिंतक एवं द्रष्टा धार्मिक और नैतिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवनका भी सर्वोत्तम मार्गदर्शक होता है। ऋषि समाजका सच्चा परिचालक होता है; ऋषियों-को ही वह अपनी सभ्यताके आदर्शों और मार्गनिर्देशक अंतःस्फुरणाओंका मूल मानता है। अपिच, जो कोई भी व्यक्ति उसे अपने जीवनमें सहायता पहुंचानेवाला आध्यात्मिक सत्य प्रदान कर सके या धर्म, नीति, समाज और यहांतक कि राजनीतिपर प्रभाव डालनेवाली रचनात्मक परिकल्पना एवं

प्रेरणा दे सके उसे 'ऋषि' नामसे अभिहित करनेके लिये वह आज भी बहुत उद्यत रहता है।

कारण, भारतवासीको यह विश्वास है कि अंतिम सत्य आत्माके ही सत्य हैं और आत्माके सत्य हमारी सत्ताके अत्यंत आधारभूत एवं अत्यंत कार्यक्षम सत्य हैं जो आंतरिक जीवनका ओजस्वी रूपमें निर्माण कर सकते हैं तथा बाह्य जीवनका हितकारक सुधार कर सकते हैं। यूरोपवासीकी दृष्टिमें अंतिम सत्य प्रायः ही विचारणात्मक बुद्धि, विशुद्ध तर्कबुद्धिके सत्य होते हैं, परंतु वे चाहे बौद्धिक हों या आध्यात्मिक, वे मन, प्राण और शरीरके साधारण कार्यसे परेके स्तरसे ही संबंध रखते हैं जब कि उनके "मूल्योंकी परीक्षा" करनेवाली कोई भी दैनंदिन कसौटियां केवल मन, प्राण और शरीरके स्तरमें ही होती हैं। ये परीक्षाएं बाह्य तथ्यके जीवंत-जाग्रत् अनुभव और प्रत्यक्षवादी एवं व्यावहारिक बुद्धिके ही द्वारा की जा सकती हैं। शेष सब परीक्षाएं तो कल्पनामात्र हैं और उनका वास्तविक स्थान विचारोंके जगत्में है, जीवनके जगत्में नहीं। यह बात हमें दृष्टिकोणके उस भेदतक ले आती है जो मि. आर्चरके दूसरे आक्षेपका सार है। उनका मत है कि समस्त दर्शन एक कल्पना एवं अनुमान है; तब तो हमें यह मान लेना होगा कि सामान्य तथ्यका, बाह्य जगत् और उसके प्रति हमारे प्रत्युत्तरोंका, भौतिक विज्ञान और उसपर आधारित मनोविज्ञानका सत्य ही एकमात्र ऐसा सत्य है जिसकी यथार्थता सिद्ध की जा सकती है। वे भारतीय दर्शनको इस बातके लिये धिक्कारते हैं कि उसने अपनी कल्पनाओंको गंभीर भावके साथ ग्रहण किया है, कल्पनाको धर्ममतके वेषमें प्रस्तुत किया है, एक ऐसी "अनाध्यात्मिक" आदत डाल ली है जो भ्रमवश टटोलनेको देखना तथा अनुमान करनेको जानना समझती है,—मैं समझता हूं कि इसके स्थानपर उसमें वह आध्यात्मिक आदत होनी चाहिये थी जो इंद्रियगोचर वस्तुको ही एकमात्र ज्ञेय मानती है तथा देहके ज्ञानको आत्मा और अध्यात्मसत्ताका ज्ञान समझती है। इस विचारपर वे तीखा व्यंग्य कसते हैं कि तत्त्वचिंतनात्मक ध्यान और योग प्रकृतिके सत्य और विश्वकी रचनाको जाननेका सर्वोत्तम साधन हैं। मि. आर्चरके भारतीय दर्शनसंबंधी सभी वर्णन उस दर्शनके विचार और मूल भावका स्थूल अज्ञानयुक्त मिथ्या निरूपण हैं, किंतु अपने सार-रूपमें वे उस दृष्टिकोणका प्रतिनिधित्व करते हैं जिसे पश्चिमका सामान्य प्रत्यक्षवादी मन अनिवार्य रूपसे ग्रहण करता है।

वास्तविक तथ्य यह है कि भारतीय दर्शन कोरे अनुमान और कल्पनाको अत्यंत घृणाकी दृष्टिसे देखता है। यूरोपीय समालोचक उपनिषदों, दर्शनों

और बौद्धधर्मके विचारों एवं परिणामोंके संबंधमें सदा ही इस शब्दोंका प्रयोग करते हैं; परंतु भारतीय दार्शनिक इन्हें अपनी पद्धतिके न्याय्य वर्णनके रूपमें बिलकुल स्वीकार नहीं करेंगे। यदि हमारा दर्शन एक अचिंत्य और अज्ञेय चरम सत्ताको स्वीकार करता है तो वह उस परम गुह्यका कोई निश्चयात्मक वर्णन या विश्लेषण करनेकी उस मूर्खतासे कुछ भी संबंध नहीं रखता जिसका कि आरोप युक्तिपंथी उसपर करता है; वह तो केवल उसीसे संबंध रखता है जो कुछ कि हमारे अनुभवकी उच्चतम भूमिकामें तथा इसके निम्न स्तरोंपर हमारे लिये चिंत्य एवं ज्ञेय है। यदि वह अपने निष्कर्षोंको धार्मिक विश्वासके विशिष्ट अंग बनानेमें समर्थ हुआ है,—जिन्हें यहां धर्ममत (dogmas) कहा गया है,—तो इसका कारण यह है कि उन्हें वह एक ऐसे अनुभवपर प्रतिष्ठित करनेमें सफल हुआ है जिसकी सत्यताकी जांच कोई भी व्यक्ति कर सकता है यदि वह आवश्यक उपायोंका अवलंबन करे तथा एकमात्र संभवनीय कसौटियोंका प्रयोग करे। भारतीय मानस इस बातको स्वीकार नहीं करता कि वस्तुओंका मूल्य या उनकी वास्तविकता बाह्य एवं वैज्ञानिक परीक्षा ही से, अर्थात् भौतिक प्रकृतिकी सूक्ष्म छानबीनकी कसौटी ही से जांची जा सकती है, न वह यह मानता है कि हमारा जो स्थूल मनोविज्ञान विशाल, गुप्त, अवचेतन और अतिचेतन ऊंचाइयों, गहराइयों और विस्तारोंपर होनेवाली केवल एक क्षुद्र गतिमात्र है उसके प्रतिदिनके सामान्य तथ्य ही एकमात्र कसौटी हो सकते हैं। इन अधिक साधारण या वस्तुगत सत्योंकी कसौटियां भला क्या हैं? स्पष्ट ही, ये हैं—अनुभव, परीक्षणात्मक विश्लेषण और संश्लेषण, तर्क और अंतर्ज्ञान—क्योंकि मेरी समझमें आधुनिक दर्शन और विज्ञान आजकल अंतर्ज्ञानका महत्त्व स्वीकार करते हैं। इस अन्य सूक्ष्मतर श्रेणीके सत्योंकी कसौटियां भी यही हैं, अनुभव, परीक्षणात्मक विश्लेषण और संश्लेषण, तर्क और अंतर्ज्ञान। हां, इतना अंतर अवश्य है कि चूंकि ये चीजें आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके सत्य हैं, अतः अवश्य ही वह अनुभव मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक होना चाहिये, वह परीक्षण, विश्लेषण और संश्लेषण मनोवैज्ञानिक तथा मनो-भौतिक होना चाहिये, वह अंतर्ज्ञान भी ऐसा विशालतर होना चाहिये जो सत्ताके उच्चतर स्तरों, सत्यों और संभावनाओंके भीतर दृष्टि डाले, वह तर्क भी ऐसा होना चाहिये जो अपनेसे परेके किसी तत्त्वको अंगीकार करे, ऊपर अतिबौद्धिककी ओर दृष्टिपात करे और, जहांतक बन पड़े, मानव-बुद्धिको उसका विवरण देनेका यत्न करे। स्वयं योग भी, जिसे त्यागनेके लिये मि. आर्चर इतने आग्रहके साथ हमसे अनुरोध करते हैं, अनुभवके इन

महत्तर स्तरोंको खोलनेका एक सुपरीक्षित साधन ही है, और कुछ नहीं।

मि. आर्चर और उनके ढंगके अन्य विचारकोंसे इन चीजोंके जाननेकी आशा नहीं की जा सकती; ये तो तथ्यों और विचारोंके उस छोटे-से संकुचित क्षेत्रसे परेकी चीजें हैं जो कि उनकी दृष्टिमें ज्ञानका संपूर्ण क्षेत्र है। परंतु यदि मि. आर्चर इन्हें जान भी लें तो भी इससे उनकी दृष्टिमें कोई अंतर नहीं पड़ेगा; वे इनके विचारतकको घृणायुक्त अधीरताके साथ त्याग देंगे, पर कोई अज्ञात सत्य भी संभव हो सकता है इस बातकी किसी प्रकारकी जांच-पड़ताल करके वे अपने महान् युक्तिवादीय बड़प्पनपर कलंक नहीं लगने देंगे। उनकी इस मनोवृत्तिमें सामान्य प्रत्यक्षवादी मन उनका साथ देगा। ऐसे मनको इस प्रकारके विचार अपने स्वरूपमें ही मूर्खतापूर्ण तथा दुर्बोध प्रतीत होते हैं,—उन ग्रीक और हिब्रू भाषाओंसे भी गये-बीते मालूम होते हैं जिनके अत्यंत सम्माननीय और कीर्तिभाजन उपाध्याय विद्यमान हैं; परंतु ये तो संकेत-लेखन हैं जिनका समर्थन केवल यह कहकर किया जा सकता है कि इन संकेतोंका रहस्योद्घाटन भारतीय, थियोसोफिस्ट और गुह्यवादी विचारक आदि बदनाम लोग ही कर सकते हैं। आध्यात्मिक सत्यसंबंधी मतवाद और कल्पना, पुरोहित और बाइबल — ये सब प्रत्यक्षवादी मनकी समझमें आ सकती हैं, भले ही वह इनमें विश्वास न भी करे अथवा केवल लोकाचारके वश ही इन्हें स्वीकृति प्रदान करे; पर गभीरतम प्रमाण-योग्य आध्यात्मिक सत्य, सुनिर्धार्य आध्यात्मिक मूल्य! इनकी तो परिकल्पना ही ऐसे मनके लिये एक विजातीय वस्तु है और वह इसे एक बे-सिरपैरकी बात मालूम होती है। एक क्षमताशाली धर्मकी, "मैं इसलिये विश्वास करता हूं कि तर्कतः यह असंभव है" — ऐसे भावसे स्वीकार करने योग्य धर्मकी बात तो इसकी समझमें आ सकती है, चाहे वह उसका निराकरण ही क्यों न कर डाले; परंतु धर्मका गभीरतम रहस्य, दार्शनिक चिंतनका उच्चतम सत्य, मनोवैज्ञानिक अनुभवकी चरम-परम खोज, आत्मान्वेषण और आत्म-विश्लेषणका व्यवस्थित और विधिबद्ध परीक्षण, आत्म-पूर्णताकी एक रचनात्मक आभ्यंतरिक संभावना, इन सबका एक ही परिणामपर पहुंचना, एक-दूसरेके निष्कर्षोंसे सहमत होना, आत्मा और बुद्धि तथा संपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रकृति और इसकी गंभीरतम आवश्यकताओंमें सामंजस्य स्थापित करना,—भारतीय संस्कृतिकी इस महान् प्राचीन अटल खोज और विजयसे पश्चिमका सामान्य प्रत्यक्षवादी मन चकरा जाता और खीज उठता है। जिस ज्ञानको पश्चिम अंततक केवल टटोलता ही रहा पर कभी पा नहीं सका, उसे भारतीय संस्कृतिमें पाकर यह घबड़ा जाता है।

क्षुब्ध, विमूढ़ और घृणाकुल होकर यह अपनी हीनतर विभक्त संस्कृतिकी अपेक्षा ऐसे सामंजस्यकी उत्कृष्टताको माननेसे इंकार कर देता है। क्योंकि, यह केवल एक ऐसे धार्मिक अनुसंधान और अनुभवका अभ्यस्त है जो विज्ञान और दर्शनसे शत्रुता रखता है अथवा जो तर्कविरुद्ध विश्वास और विक्षुब्ध या स्व-विश्वासी संदेहवादके बीच झूलता रहता है। यूरोपमें दर्शन कभी-कभी धर्मका नौकर बनकर रहा है, भाई नहीं; किंतु प्रायः ही उसने शत्रुतापूर्वक या घृणाके साथ अलग होकर धार्मिक विश्वाससे मुंह फेर लिया है। धर्म और विज्ञानका युद्ध यूरोपीय संस्कृतिकी प्रायः प्रमुख घटना रहा है। यहांतक कि दर्शन और विज्ञान भी कभी एकमत नहीं हो सके; वे भी झगड़ते रहे हैं और एक-दूसरेसे अलग रहे हैं। ये शक्तियां यूरोपमें आज भी एक साथ विद्यमान हैं, पर ये एक सुखी परिवारके रूपमें निवास नहीं करतीं; गृहयुद्ध ही इनका स्वाभाविक वातावरण बना हुआ है।

कुछ आश्चर्य नही यदि प्रत्यक्षवादी विचारक, जिसे यह वस्तुस्थिति स्वाभाविक प्रतीत होती है, चिंतन और ज्ञानकी एक ऐसी प्रणालीसे मुंह मोड़ ले जिसके अंदर दर्शन और धर्ममें एक प्रकारका सामंजस्य, एकमतता और एकता विद्यमान है और एक क्रमबद्ध सुपरीक्षित मनोवैज्ञानिक अनुभव है। वह सहज ही ज्ञानके इस विजातीय रूपकी चनौतीसे बचनेके लिये प्रेरित होता है और इस उद्देश्यसे वह तुरंत ही भारतीय मनोविज्ञान, धर्म और दर्शनका यह कहकर खंडन कर डालता है कि भारतीय मनोविज्ञान आत्म-सम्मोहकारी भ्रांतियोंका एक जंगल है, भारतीय धर्म तर्कविरोधी अंध-विश्वासोंकी आत्यंतिक वृद्धि है, भारतीय दर्शन निःसार कल्पनाका एक सुदूर स्वप्नलोक है। इस स्वसंतुष्ट मनोवृत्तिसे जो मानसिक शांति प्राप्त होती है उसके लिये तथा मि. आर्चरकी सुगम और सर्वनाशी आलोचना-प्रणालीके प्रभावके लिये यह दुर्भाग्यकी बात है कि पश्चिम भी हालमें चिंतन और अन्वेषणके इन पथोंकी ओर अभिप्रेरित हुआ है और इस बातकी भीषण संभावना दिखायी दे रही है कि ये पथ अप्रिय बर्बरताके इस समस्त स्तूप-को युक्तिसंगत सिद्ध कर देंगे तथा स्वयं यूरोपको भी ऐसी ही भयंकर विचार-प्रणालीके अधिक निकट ले आयेंगे। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि दार्शनिक विवेचनके रूपमें जो कुछ भी विचारा गया है या विचारा जा रहा है उसका अधिकांश भारतीय दर्शनको अपने ढंगसे पहलेसे ही ज्ञात है। यहांतक कि हम देखते हैं कि वैज्ञानिक विचार भी अपने अनुसंधानके मानदंडके दूसरे छोरसे भारतके अत्यंत प्राचीन सिद्धांतोंकी ही फिरसे घोषणा कर रहा है। मि. आर्चरने भारतीय सृष्टिविज्ञान और

शरीर-क्रिया-विज्ञानके साथ-साथ भारतीय मनोविज्ञानका भी यों कहकर खंडन कर डाला है कि यह एक निराधार वर्गीकरण और चतुरतापूर्ण अनुमान है, पर यह और कुछ भी हो, एक ऐसा वर्गीकरण एवं अनुमान तो नहीं ही है क्योंकि यह कठोरतापूर्वक अनुभवपर आधारित है; इसके विपरीत, आज जो भी नयीसे नयी मनोवैज्ञानिक खोजें हो रही हैं वे सभी अधिकाधिक इसका समर्थन कर रही हैं। भारतीय धर्मके मूलभूत विचार अपनी विजयके इतने निकट पहुंच गये लगते हैं कि इस बातकी भीषण आशंका उत्पन्न हो गयी है कि वे एक नवीन और सार्वभौम धार्मिक मनोभाव एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाकी प्रमुख भावना और विचारधारा बन जायेंगे। तब भला कौन कह सकता है कि यदि पश्चिममें "टटोलने और अनुमान करने"की कतिपय पद्धतियोंको कुछ और आगे ढकेल दिया जाय तो भारतीय योगका मनोदैहिक विज्ञान भी युक्तियुक्त नहीं सिद्ध हो जायगा? और यहांतक कि शायद भारतका यह सृष्टि-विज्ञानसंबंधी विचार कि जड़-प्रकृतिके इस सहज-गोचर साम्राज्यसे भिन्न सत्ताके अन्य स्तर भी हैं, निकट भविष्यमें पुनः अपने पदपर प्रतिष्ठित नहीं हो जायगा? परंतु यह सब होनेपर भी प्रत्यक्षवादी मन दृढ़ साहस दिखा सकता है : क्योंकि उसका प्रभुत्व अभी भी प्रबल है, आज भी वह बुद्धिवादका कट्टर अनुयायी होनेका दावा करता है और प्रभुत्व स्थापित करनेका अधिकार पाने योग्य सम्मान अभीतक उसे प्राप्त है; अतएव पहले अनेक धाराओंको उमड़ना और एक साथ मिल जाना होगा और तब कहीं वह उनके महाप्रवाहमें बह जायेगा और एकीकारक विचारकी ज्वार तीव्र वेगके साथ मानवताको आत्माके गुप्त तटोंकी ओर ले जायगी।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

तीसरा अध्याय

यहांतक तो यह आलोचना बहुत जोरदार या भयानक नहीं है; उसकी धार, यदि चुभीले मिथ्या वर्णनके सिवा अन्य कोई धार उसमें हो तो वह, आक्रमणकर्त्ताके ऊपर ही वार करती है। दर्शनको अत्यधिक महत्त्व प्रदान करना, उसके द्वारा अपनी सत्ताके उच्चतम रहस्योंकी खोज करना, प्रभावशाली दार्शनिक चिंतनको जीवनपर प्रयुक्त करना और समाजका गठन तथा संचालन करनेके लिये विचारकोंको, गभीरतम आध्यात्मिक अनुभव, उच्चतम विचारों एवं विशालतम प्राप्तव्य ज्ञानसे संपन्न व्यक्तियोंको, आमंत्रित करना, मतवाद और सिद्धांतको दार्शनिक मनकी कसौटीपर कसना और धार्मिक विश्वासको आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान, दार्शनिक विचार और मनोवैज्ञानिक अनुभवपर प्रतिष्ठित करना — ये कोई बर्बरता या निकृष्ट एवं अज्ञानमय संस्कृतिके चिह्न नहीं वरन् संभवनीय अत्यंत उच्च प्रकारकी सभ्यताके लक्षण हैं। इनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रत्यक्षवादी बुद्धिके देवताओंके आगे हमारे सिर झुकानेको अथवा भारतीय संस्कृतिकी भावना और उद्देश्यको पश्चिमी सभ्यताकी भावना और उद्देश्यकी अपेक्षा जरा भी नीचा पद प्रदान करनेको उचित ठहराये, भले ही वह पश्चिमी सभ्यता बौद्धिक आलोक और परिकल्पनात्मक विचारके अपने उच्च प्राचीन युगकी हो अथवा सूक्ष्म और विशाल वैज्ञानिक विचार तथा सुदृढ़ व्यवहारसिद्ध ज्ञानके आधुनिक युगकी। भारतीय संस्कृति भिन्न अवश्य है पर हीन नहीं, बल्कि इसके उद्देश्यकी अनुपम उच्चता और इसके प्रयासकी आध्यात्मिक महानताके रूपमें इसमें उत्कृष्टताका एक विलक्षण तत्त्व विद्यमान है।

भावना और लक्ष्यकी इस महानतापर बल देना उपयोगी है, केवल इसीलिये नहीं कि यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है तथा किसी संस्कृतिके मूल्यांकनकी पहली कसौटी है, वरन् इसलिये भी कि आक्रमणकारी आलोचक जनताकी भावना पहलेसे दूषित कर देने तथा वास्तविक प्रश्नोंको उलझा देनेके लिये दो बाहरी परिस्थितियोंसे लाभ उठाते हैं। आज जब भारत चित पड़ा हुआ है और धूलमें लोट रहा है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक

दृष्टिसे उसकी सभ्यताकी बड़ी भारी पराजय एवं अवनति हो गयी है, तब उन्हें उसपर आक्रमण करनेका एक महान् सुयोग प्राप्त हो जाता है। इस क्षणस्थायी सुयोगसे बल पाकर वे शिकारियोंके पाशमें फंसी हुई बीमार और आहत सिंहनीपर अपने खुरोंसे आसपासकी धूल और कीचड़ उछालनेका महान् एवं उदारतापूर्ण साहस दिखा सकते हैं और संसारको यह विश्वास दिलानेका यत्न कर सकते हैं कि उसमें कभी किसी प्रकारकी शक्ति एवं गुण नहीं रहे हैं। मोलोक (Moloch)[1] का काम करनेवाली तर्क-बुद्धि, अर्थ-देवता और विज्ञानकी महान् संस्कृतिके इस युगमें ऐसा करना आसान है जब कि महान् 'सफलता' देवीकी तड़क-भड़कवाली मूर्तिकी ऐसी पूजा की जाती है जैसी कि इससे पूर्व कभी सुसभ्य मनुष्योंद्वारा नहीं की गयी। परंतु उन्हें इससे भी बढ़कर एक और सुयोग प्राप्त है, वह यह कि वे जगत्के समक्ष भारतका चित्रण, उसकी सभ्यताके एक अंधकारग्रस्त युगमें कर रहे हैं जब कि अत्यंत उज्ज्वल एवं बहुमुखी सांस्कृतिक कर्मठताके कम-से-कम दो सहस्र वर्षोंके पश्चात् वह कुछ समयके लिये अपना सर्वस्व खो चुका है, हां, केवल एक ही चीज बाकी रह गयी है और वह है अपने अतीतकी और अपनी उस धार्मिक भावनाकी स्मृति जो दीर्घ कालसे ढकी और दबी हुई है लेकिन फिर भी सदा-सर्वदा जीवित रही है और अब तो प्रबल रूपमें पुनरुज्जीवित हो रही है।

इस असफलता और इस अल्पकालिक निस्तेजताके गूढ़ार्थका मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है। मुझे शायद बहुत जल्द ही फिरसे इस बातकी चर्चा करनी पड़े, क्योंकि इसे भारतीय संस्कृति और भारतीय आध्यात्मिकताकी उपयोगितापर एक आक्षेपके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। अभी इतना ही कहना काफी होगा कि संस्कृतिका मूल्य भौतिक सफलताके द्वारा नहीं जांचा जा सकता; आध्यात्मिकताको तो इस कसौटीपर कसना और भी कम संभव है। दार्शनिक, सौंदर्यप्रेमी, काव्यप्रिय और बुद्धिशाली यूनान असफल रहा और पराजित हो गया जब कि सैन्य-शिक्षाप्राप्त और युद्धप्रिय रोमने सफलता और विजय प्राप्त की, किंतु इसी कारण उस विजयी और साम्राज्यशाली राष्ट्रके सिरपर एक महत्तर सभ्यता एवं उच्चतर संस्कृतिका सेहरा बांधनेका किसीको स्वप्नमें भी ख्याल नहीं आता। जूडियाकी धार्मिक संस्कृति यहूदी राज्यके विनाशके कारण असत्य या हीन नहीं सिद्ध हो जाती, जैसे कि, यहूदी जातिके देश-देशांतरोंमें फैलकर व्यापारिक कुशलता दिखलानेके कारण वह

[1]केनान देशका एक देवता जिसे नरबलि दी जाती थी। — अनु.

न तो सत्य सिद्ध होती है और न अधिक मूल्यवान् ही हो जाती हैं। परंतु प्राचीन भारतीय विचारकोंके समान मैं भी यह स्वीकार करता हूं कि भौतिक तथा आर्थिक क्षमता और समृद्धि मानव सभ्यताके समग्र प्रयासके आवश्यक अंग हैं, भले ही ये उसके उच्चतम या प्रधानतम अंग न हों। इस बातमें भारत सांस्कृतिक प्रवृत्तिके अपने सारे लंबे युगमें किसी भी प्राचीन या मध्यकालीन देशके समकक्ष होनेका दावा कर सकता है। आधुनिक युगसे पहले किसी भी जातिने धन-संपत्ति, व्यापारिक समृद्धि, भौतिक पद-प्रतिष्ठा तथा सामाजिक संगठनमें इससे ऊंचा गौरव नहीं प्राप्त किया। यह बात इतिहास तथा प्राचीन कागज-पत्रोंमें अंकित है और तत्कालीन साक्षियोंने भी इसका उल्लेख किया है; इससे इन्कार करना अद्भुत कुसंस्कार, दृष्टिकी अंधता तथा कल्पनाद्वारा, या इसे कल्पनाहीनता कहें, अतीत तथ्यमें वर्तमान तथ्यके मिथ्या दर्शनका प्रमाण देना है। एशियाई और उसके समान ही भारतीय ऐश्वर्यका प्रताप, पूर्वीय देशोंका, ओर्मज और इण्ड (Ormuz and Ind) का धन-वैभव, 'स्वर्णमंडित बर्बर द्वार' (Barbaricae portes squalentes auro) — इनको कभी कम समृद्धिशाली पश्चिम बर्बरता-का चिह्न कहकर कलंकित किया करता था। पर आज अवस्थाएं विचित्र रूपसे पलट चुकी हैं; समृद्धिशाली बर्बरता और ऐश्वर्यका अपेक्षाकृत बहुत ही कम कलात्मक प्रदर्शन आज लंदन, न्यूयार्क और पेरिसमें दिखायी देता है, और भारतकी नग्नता और उसकी दरिद्रताका कीचड़ उसकी संस्कृतिकी मूल्यहीनताके प्रमाणके रूपमें उसके मुंहपर उछाला जाता है।

भारतकी प्राचीन और मध्ययुगीन राजनीतिक, प्रशासनीय, सैनिक और आर्थिक व्यवस्था कोई निकृष्ट प्राप्ति नहीं थी; तत्संबंधी अभिलेख विद्यमान हैं और अशिक्षित लोगोंके अज्ञान तथा पत्र-पत्रिकाओंके आलोचक या पक्षपातपूर्ण राजनीतिज्ञकी लच्छेदार भाषाका खंडन करनेका कार्य उनपर छोड़ा जा सकता है। इसमें संदेह नही कि उसमें विफलता और न्यूनताका तत्त्व भी विद्यमान था, पर इतने बड़े पैमानेपर जो समस्या उपस्थित थी उस सारीमें तथा उस समयकी अवस्थाओंमें वह प्रायः अनिवार्य ही था। किंतु उसे बढ़ा-चढ़ाकर भारतकी सभ्यताके विरुद्ध अभियोगका रूप दे देना एक अजीब ढंगकी कठोर आलोचना होगी और यदि सभ्यताओंका आद्योपांत पर्यवेक्षण किया जाय तो उनमेंसे शायद ही कोई ऐसी आलोचनाके आगे टिक सके। हां, अंतमें उसे असफलता मिली, पर वह अपनी संस्कृतिके ह्रासके कारण, न कि उसके अंदर विद्यमान वस्तुओंके परिणामस्वरूप। आगे चलकर उसकी सभ्यताके अधिक सारभूत तत्त्वोंका जो विलोप हुआ वह उनकी मूल उपयोगिताका खंडन

नहीं कर सकता। भारतीय सभ्यताको मुख्य रूपसे उसकी सहस्रों वर्षोंकी संस्कृति और महानताके द्वारा परखना होगा न कि उसकी थोड़ीसी सदियों-की अज्ञानता और दुर्बलताके द्वारा। किसी संस्कृतिकी परीक्षा तीन कसौ-टियोंसे करनी चाहिये, प्रथम, उसकी मूल भावनासे, दूसरे उसकी सर्वोत्तम प्राप्तियोंसे और अंतमें, उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवन और नवीकरणकी शक्तिसे एवं अपने-आपको जातिकी चिरंतन आवश्यकताओंके नये रूपोंके अनुकूल बनानेकी सामर्थ्यसे। अल्पकालीन अवनतिके युगकी दरिद्रता, विश्रृंखलता एवं अव्यवस्थामें, एक विद्वेषपूर्ण साक्षीकी दृष्टि उस रक्षक शिव-मय आत्माको देखने या पहचाननेसे इन्कार करती है जो इस सभ्यताको आजतक जीवित रखे हुए है और इसके शाश्वत आदर्शकी महत्ताके ओजस्वी और सजीव पुनरुदयकी आशा बंधाता है। इसकी दबाये जानेपर उचकनेकी सुदृढ़ और नमनीय शक्ति, आवश्यकतानुसार अपनेको गढ़ लेनेकी इसकी पुरानी अपरिमेय शक्ति फिरसे अपने कार्यमें लग गयी हैं; यहांतक कि यह पहलेकी तरह केवल अपना बचाव ही नहीं कर रही है बल्कि साहसपूर्वक आक्रमण भी कर रही है। भविष्य केवल बचे रहनेकी ही नहीं बल्कि विजय और प्रभुत्व प्राप्त करनेकी आशा भी इससे रखता है।

परंतु हमारा आलोचक भारतीय सभ्यताकी आत्माकी उस उच्चाशयता एवं महानतासे इन्कार करता है जो कि इतनी ऊंचाईपर स्थित हैं कि इस प्रकारके अज्ञ और पक्षपातयुक्त आक्रमणके द्वारा आक्रांत हो ही नहीं सकतीं। इतना ही नहीं, वह इसके प्रधान विचारोंपर शंका उठाता है, जीवनके लिये इसकी व्यावहारिक उपयोगितासे इन्कार करता है, इसके फलोंकी, इसकी प्रभावशालिता एवं विशिष्टताकी निंदा करता है। क्या इस निंदाका कोई आलोचनात्मक मूल्य है, अथवा क्या यह उस भ्रांतिकी स्वभावानुगत अभि-व्यक्तिमात्र है जो जीवनके विषयमें अत्यंत भिन्न दृष्टिकोण रखने तथा हमारी प्रकृतिके उच्चतम मर्मों एवं सत्योंका मूल्य नितांत विपरीत ढंगसे आंकनेके कारण स्वभावतः ही उत्पन्न हुई है? यदि हम इस आक्रमणके स्वरूप तथा इसके तार्किक वचनोंपर विचार करें तो हम देखेंगे कि यह जीवनके साधारण मूल्य-मानोंमें आसक्त प्रत्यक्षवादी विचारकके द्वारा एक ऐसी संस्कृतिके सर्वथा विभिन्न मानदंडोंपर किये गये दोषारोपणके सिवा और कुछ नहीं है जो मनुष्यके सामान्य जीवनके परे दृष्टिपात करती है, इसके पीछे अवस्थित किसी महत्तर वस्तुकी ओर इंगित करती है तथा इसे किसी नित्य, चिरंतन और अनंत वस्तुकी प्राप्तिका मार्ग बनाती है। हमें बताया जाता है कि भारतमें आध्यात्मिकता है ही नहीं, — क्या ही अद्भुत कल्पना

है; इसके विपरीत, कहा जाता है कि वह समस्त बुद्धिसंगत और ओजपूर्ण आध्यात्मिकताके अंकुरोंका नाश करनेमें सफल हुआ है। स्पष्टतः ही, मि. आर्चर 'आध्यात्मिकता' शब्दको अपना निजी अर्थ, एक अनोखा, मनोरंजक तथा अत्यंत पश्चिमीय अर्थ, देते हैं। अबतक आध्यात्मिकताका अर्थ रहा है —— मन और प्राणसे महान् किसी वस्तुको अंगीकार करना, अपनी सामान्य मानसिक और प्राणिक प्रकृतिके परे विद्यमान एक शुद्ध, महान् और दिव्य चेतनाके लिये अभीप्सा करना, मनुष्यकी अंतरात्माका हमारे निम्न भागोंकी क्षुद्रता और बंधनग्रस्ततामेंसे निकलकर उसके अंदर छुपी हुई एक महत्तर वस्तुकी ओर उमड़ना और ऊपर उठना। यही कम-से-कम वह विचार वह अनुभव है जो भारतीय विचारधाराका सारमर्म है। परंतु युक्तिपंथी इस अर्थमें आत्मामें विश्वास नहीं करता; प्राण-शक्ति, मानवसुलभ संकल्प-बल और तर्कबुद्धि उसके सर्वोच्च देवता हैं। तो फिर आध्यात्मिकताको —— जब उस चीजको ही अस्वीकार कर दिया गया है जिसपर यह आश्रित है, तब कहीं अधिक सीधी और युक्तिसंगत बात यही होती कि इस शब्दका ही त्याग कर दिया जाता —— एक और ही अर्थ देना होगा, — इसका अर्थ होगा एक ऐसा उत्कट आवेग, हृद्गत भावोंका तथा संकल्प-शक्ति और तर्कबुद्धिका एक ऐसा प्रयास जिसका लक्ष्य हो सांत, न कि अनंत, अनित्य पदार्थ न कि नित्य तत्त्व, नश्वर जीवन न कि कोई ऐसी महत्तर सद्वस्तु जो जीवनकी स्थूल घटनाओंसे अतीत है और इन्हें आश्रय देती है। हमें बताया जाता है कि जो वेदना और विचारणा होमरके आदर्श मस्तिष्कको कुरेदती और कुतरती हैं उसीमें युक्तिसंगत और ओजपूर्ण आध्यात्मिकता निहित है। अज्ञान और दुःखपर विजय पानेवाले बुद्धकी शांति और करुणा, 'सनातन' के साथ योगमें समाहित और विचार-शक्तिकी जिज्ञासाओंसे ऊपर, परम ज्योतिके साथ तादात्म्यमें उठे हुए मनीषीकी ध्यान-धारणा, शुद्ध अंतःकरणके प्रेमके द्वारा विश्वसे परे और विश्वमें फैले हुए 'प्रेम' के साथ एकीभूत संतका आनंदातिरेक, अहंकारमय कामना और वासना-से ऊपर उठकर दिव्य विश्वव्यापी 'संकल्प-शक्ति' की निर्व्यक्तिकतामें पहुंचे हुए कर्मयोगीकी संकल्प-शक्ति, —— ये चीजें, जिन्हें भारतने सर्वोच्च मूल्य प्रदान किया है और जो उसकी महान्-से-महान् आत्माओंका परम ध्येय रही हैं, युक्तिसंगत और ओजपूर्ण नहीं हैं। हम कह सकते है कि यह आध्यात्मिकताके विषयमें एक अत्यंत पश्चिमी तथा आधुनिक विचार है। क्या हम यों कहें कि अब होमर, शेक्सपियर, राफेल (Raphael), स्पिनोजा, कांट, शार्लमाइन, अब्राहम लिंकन, लेनिन और मुसोलिनी केवल

महान् कवियों और कलाकारों या विचार और कर्मके महारथियोंके रूपमें ही नहीं बल्कि आध्यात्मिकताके हमारे यथार्थ वीरों और आदर्श-पुरुषोंके रूपमें हमारे सामने आयेंगे, बुद्ध भी नहीं, ईसा, चैतन्य, संट फ्रांसिस और रामकृष्ण भी नहीं। ये या तो अर्धबर्बर पूर्वीय लोग हैं अथवा पूर्वीय धर्मके स्त्रैण उन्मादसे प्रभावित व्यक्ति हैं। भारतीय मानसपर इस बातका वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि एक सुसंस्कृत बुद्धिशाली पुरुषपर उस समय पड़ता है जब उससे यह कहा जाता है कि अच्छी रसोई बनाना, अच्छे ढंगसे कपड़े पहनना, अच्छा मकान बनाना, अच्छी तरह पढ़ाना आदि सच्चा सौंदर्य हैं तथा इनका अनुशीलन ही यथार्थ, विवेकयुक्त एवं ओजपूर्ण सौंदर्य-भावना है, और साहित्य, स्थापत्य, मूर्तिविद्या एवं चित्रकला तो बस व्यर्थमें कागज काला करना, पागलोंकी तरह पत्थर खुरचना और निरर्थक कपड़ेपर रंग पोतना है; तब तो वोबान (Vauban), पेस्तोलोत्सी (Pestolozzi), डा. पार (Dr. Parr), वाताल (Vatal) और बो ब्रूमेल (Beau Brummel) ही कलात्मक सृजनके सच्चे नायक हैं न कि दा वैंसी (Da Vinci), आंजेलो (Angelo), सोफोक्लिज (Sophocles), दांते (Dante), शेक्सपियर या रोंदें (Rondin)। भारतीय आध्यात्मिकताके विरुद्ध मि. आर्चरने जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं तथा उसपर जो दोष लगाये हैं उनकी तुलना उक्त कथनसे की जा सकती है या नहीं यह विज्ञ जन स्वयं निर्णय कर लें। परंतु इस बीच हम दृष्टिकोणोंके विरोधपर गौर करें और पश्चिम तथा भारतके विभेदका आंतरिक कारण समझनेकी कोशिश करें।

भारतीय दर्शनके क्रियात्मक मूल्यके विरुद्ध अभियोग लगानेका कारण यह है कि यह जीवन, प्रकृति और प्राणगत इच्छाशक्तिसे तथा मनुष्यके ऐहलौकिक पुरुषार्थसे मुंह मोड़ता है। यह जीवनको कुछ भी मूल्य नहीं प्रदान करता; यह प्रकृतिके अध्ययनकी ओर नहीं बल्कि उससे दूर ले जाता है। यह समस्त इच्छाप्रधान व्यक्तित्वका उन्मूलन करता है; यह जगत्के मिथ्यात्व, ऐहिक लाभोंके प्रति अनासक्ति, अतीत और अनागत जीवनोंकी अनंत शृंखलाकी तुलनामें वर्तमान जीवनकी तुच्छताकी शिक्षा देता है। यह एक दुर्बलताकारी तत्त्वज्ञान है जो निराशावाद, वैराग्य, कर्म और पुनर्जन्मकी मिथ्या धारणाओंके साथ उलझा हुआ है, — ये सभी विचार परम आध्यात्मिक वस्तु, संकल्पप्रधान व्यक्तित्वके लिये घातक हैं। यह भारतीय संस्कृति और दर्शनके विषयमें भद्दे ढंगसे अतिरंजित एवं मिथ्याभूत धारणा है जो भारतीय मनके केवल एक ही पक्षपर बल देते हुए उसे उदासी-भरे और

अंधकारमय रंगमें प्रस्तुत करनेसे पैदा होती है और इस धारणाको जिस ढंग-से प्रस्तुत किया गया है वह मेरी समझमें मि. आर्चरने यथार्थवादके आधुनिक गुरुओंसे सीखा है। परंतु अपने सार और भावनामें यह उन धारणाओंका बहुत सही निरूपण है जो यूरोपीय मनने भूतकालमें, कभी तो अज्ञानवश और कभी प्रमाणकी अवज्ञा करते हुए, भारतीय विचार और संस्कृतिके स्वरूपके विषयमें निर्मित की हैं। यहांतक कि कुछ समयके लिये तो यह शिक्षित भारतीयोंके मनपर इस भ्रांतिकी एक गहरी छाप जमानेमें भी सफल हुई। अतः सबसे अच्छा यह होगा कि इस चित्रके रंग-रूपका, इसकी छाया और आलोकका मेल पहले ही ठीक-ठीक बैठा लिया जाय, ऐसा कर लेनेपर हम मनोवृत्तिके उस विरोधकी अधिक अच्छी तरह जांच कर सकेंगे जो इस समालोचनाका मूल आधार है।

यह कहना कि भारतीय दर्शनने लोगोंको प्रकृतिके अध्ययनसे विमुख किया है, सफेद झूठ है और भारतीय सभ्यताके भव्य इतिहासकी अवहेलना है। यदि यहां प्रकृतिका अर्थ भौतिक प्रकृति हो तो स्पष्ट सत्य यह है कि आधुनिक युगके पूर्व किसी भी राष्ट्रने प्राचीन भारतके समान दूरतक और वैसी अपूर्व सफलताके साथ वैज्ञानिक खोज नहीं की। यह एक ऐसा सत्य है जो इतिहासके पृष्ठोंपर अंकित है और जिसे सभी लोग पढ़ सकते हैं; भारतके विख्यात विद्वानों और वैज्ञानिकोंने इसे अत्यंत ओजस्वी रूपमें और अपरिमित विस्तारके साथ प्रतिपादित किया है, परंतु यूरोपके जिन मनी-षियोंने इस विषयमें तुलनात्मक अध्ययन करनेका कष्ट किया था वे भी इसे जानते और मानते थे। इतना ही नहीं कि गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्साशास्त्र और शल्यतंत्रमें, प्राचीन कालमें भौतिक ज्ञानकी जितनी भी शाखाओंका अनुशीलन किया जाता था उन सभीमें भारत अग्रगण्य था, अपितु यूनानियों ही के समान वह भी अरबवासियोंका गुरु था जिनसे यूरोपने वैज्ञानिक जिज्ञासाकी अपनी खोयी हुई आदत पुनः प्राप्त की और वह आधार उपलब्ध किया जिसके सहारे आधुनिक विज्ञान अपने मार्गपर अग्रसर हुआ। अनेक दिशाओंमें भारतको ही खोजका प्रथम श्रेय प्राप्त हुआ, — इसके अने-कानेक दृष्टांतोंमेंसे हम यहां केवल दो ज्वलंत दृष्टांत लेते हैं, एक तो है गणितमें दशमलव-पद्धति और दूसरा यह ज्ञान कि ज्योतिषमें पृथ्वी एक गतिशील पिंड है, — गैलिलियोसे सदियों पहले एक भारतीय ज्योतिषीने कहा था **'चला पृथ्वी स्थिरा भाति'** अर्थात् पृथ्वी गतिशील है और वह केवल देखनेमें ही स्थिर प्रतीत होती है। यह महान् विकास एक ऐसे राष्ट्रमें, जिसके विद्वान और विचारक दार्शनिक प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर प्रकृतिके

अध्ययनसे पराङ्मुख हो जाते हों, कदाचित् ही संभव हो पाता। भारतीय मनकी एक विलक्षण विशेषता थी जीवनकी वस्तुओंकी ओर सूक्ष्म मनोयोग, इसके प्रमुख तथ्योंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेकी प्रवृत्ति, इसके प्रत्येक विभाग-को क्रमबद्ध करना तथा उसमें एक प्रकारके विज्ञान, एक शास्त्र, सुप्रतिष्ठित नियम एवं योजनाकी स्थापना करना। यह, कम-से-कम, वैज्ञानिक प्रवृत्ति-का एक शुभ आरंभ है, किसी ऐसी संस्कृतिका चिह्न नहीं जो केवल निःसार दर्शनकी ही रचना करनेमें समर्थ हो।

यह सर्वथा सत्य है कि तेरहवीं सदीके आसपास भारतीय विज्ञानकी प्रगति एकाएक बंद हो गयी और अंधकार तथा अकर्मण्यताके एक युगने इसे आगे बढ़ने या वैज्ञानिक ज्ञानके विशाल आधुनिक विकासमें तुरंत भाग लेनेसे रोक दिया। परंतु इसका कारण यह नहीं था कि दार्शनिक प्रवृत्ति कुछ बढ़ गयी थी या अनुदार हो चली थी और उसने राष्ट्रके मनको भौतिक प्रकृतिसे विमुख कर दिया था। यह तो नयी बौद्धिक क्रियाशीलताके सामान्य गतिरोधका एक भाग था, क्योंकि दर्शनका विकास भी लगभग उसी समय बंद हो गया। आध्यात्मिक दर्शनकी रचनाके लिये जो अंतिम महान् एवं मौलिक प्रयत्न किये गये, उनका काल अंतिम महान् एवं मौलिक वैज्ञानिकोंके नामोंसे केवल दो-एक ही सदी बादका है। यह भी सत्य है कि भारतीय दर्शनने मुख्यतया भौतिक प्रकृति ही के सत्योंके प्रकाशद्वारा जगत्के सत्यका अध्ययन करनेका यत्न नहीं किया जैसा कि आधुनिक दर्शनने विफलताके साथ किया है। परंतु इस प्राचीन ज्ञानका आधार था आंतरिक परीक्षणात्मक मनोविज्ञान और गभीर चैत्य विज्ञान, जो भारतका अपना विशिष्ट बल है,—पर मनका तथा अपनी आभ्यंतरिक शक्तियोंका अध्ययन भी, निश्चय ही, प्रकृतिका अध्ययन है,—और इसमें उसकी सफलता भौतिक ज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक थी। ऐसा अध्ययन किये बिना वह रह ही नहीं सकता था, क्योंकि वह जगत्के आध्यात्मिक सत्यकी ही खोज कर रहा था; और इस आधारके बिना किसी वस्तुतः महान् एवं स्थायी दर्शनकी रचना करना संभव भी नहीं है। यह भी सही है कि अपनी संस्कृतिमें उसने दर्शनके सत्य और मनोविज्ञान तथा धर्मके सत्यमें जो सामंजस्य जिस मात्रामें स्थापित किया उसे वह उतनी मात्रामें भौतिक प्रकृतिके सत्यतक विस्तारित नहीं कर सका। भौतिक विज्ञान तबतक उन महान् सार्वभौम सिद्धांतोंपर नहीं पहुंचा था जो ऐसे समन्वयको पूर्णतः संभव बना देते और आज बना भी रहे हैं। तथापि आदिकालसे ही, अत्यंत प्राचीन वैदिक विचार-युगमे ही, भारतीय मनने यह जान लिया था कि आध्यात्मिक, मान-

सिक और भौतिक सत्तामें एक ही सर्वसामान्य नियम और शक्तियां कार्य करती हैं। उसने 'सभी चीजोंमें प्राणकी विद्यमानता' का सिद्धांत भी खोज निकाला था, प्रकृतिमें वनस्पति और पशुके रूपसे मनुष्यके रूपकी और आत्माके विकासकी प्रस्थापना की थी, दार्शनिक अंतर्ज्ञान और आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अनुभवके आधारपर उन सब अनेक सत्योंका प्रतिपादन किया था जिन्हें आधुनिक विज्ञान ज्ञान-प्राप्तिके अपने निजी दृष्टिकोणसे पुन: प्रस्थापित कर रहा है। ये चीजें भी सारहीन और अनुर्वर तत्त्वज्ञानके परिणाम नहीं थीं; नाभिपर दृष्टि जमानेवाले निस्तेज स्वप्नदर्शियोंके आविष्कार नहीं थीं।

इसी प्रकार, यह कहना कि भारतीय संस्कृति जीवनको कुछ भी महत्त्व नहीं देती, पार्थिव लाभोंसे विलग करती और वर्तमान जीवनकी तुच्छतापर जोर देती है, एक मिथ्या वर्णन है। यूरोपवासियोंकी ये आलोचनाएं पढ़कर कोई यह सोचेगा कि समस्त भारतीय विचारमें बौद्धधर्मकी शून्यवादी विचार-धारा तथा शंकरके अद्वैतात्मक मायावादको छोड़कर और कुछ भी नहीं है और समस्त भारतीय कला, साहित्य और सामाजिक चिंतन वस्तुओंकी असारता एवं मिथ्यात्वके प्रति अपने वैराग्यके निरूपणके सिवा कुछ नहीं है। यह सही है कि औसत यूरोपवासीने भारतके विषयमें जो बातें सुन रखी हैं अथवा इसकी विचाराधारामें यूरोपीय विद्वान्को जो चीजें अत्यधिक पसंद आती या प्रभावित करती हैं वे यही हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि ये ही भारतकी संपूर्ण चिंतनधारा है, चाहे इनका प्रभाव कितना ही अधिक क्यों न रहा हो। भारतकी प्राचीन सभ्यताने अपना आधार अत्यंत स्पष्ट रूपमें चार मानवीय पुरुषार्थोंपर रखा था; उनमेंसे पहला था कामना और उपभोग, दूसरा, मन और शरीरके भौतिक, आर्थिक तथा अन्य उद्देश्य एवं आवश्यकताएं, तीसरा, वैयक्तिक और सामाजिक जीवनका नैतिक आचार-व्यवहार एवं यथार्थ धर्म, और अंतिम, आध्यात्मिक मुक्ति; **काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष**। संस्कृति और सामाजिक संगठनका काम था इन विषयोंमें मनुष्यका मार्गदर्शन करना, इनकी पूर्ति और पुष्टि करना तथा उद्देश्यों और बाह्य आचारोंमें किसी प्रकारका सामंजस्य स्थापित करना। अत्यंत विरले व्यक्तियोंको छोड़कर शेष सबके लिये मोक्षसे पहले तीन सांसारिक उद्देश्योंकी पूर्ति कर लेना आवश्यक था; जीवनके अतिक्रमणसे पहले जीवनकी परिपूर्णता प्राप्त करना आवश्यक था। पितृ-ऋण, समाज-ऋण और देव-ऋणकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; पृथ्वीको उसका उचित भाग और सापेक्ष जीवनको उसकी क्रीड़ाका अवसर देना जरूरी था, यद्यपि यह माना जाता था कि

इसके परे ही स्वर्गका महान् सुख या निरपेक्षकी शांति विद्यमान है। सर्वसाधारणको गुहा और तपोवनमें भाग जानेका उपदेश नहीं दिया जाता था।

प्राचीन भारतकी सुव्यवस्थित जीवनधारा और उसके साहित्यका जीवंत वैचित्र्य किसी नितांत पारलौकिक प्रवृत्तिके साथ मेल नहीं खाते। संस्कृतका विपुल साहित्य मानवजीवनका ही साहित्य है; यह ठीक है कि कुछ एक दार्शनिक और धार्मिक कृतियां जीवनके त्यागका प्रतिपादन करती हैं, किंतु ये भी साधारणतः इसके मूल्यकी अवज्ञा नहीं करतीं। यद्यपि भारतीय मनने आध्यात्मिक मुक्तिको सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया — और प्रत्यक्षवादी मनोवृत्तिवाला व्यक्ति चाहे कुछ भी क्यों न कहे, किसी-न-किसी प्रकारकी आध्यात्मिक मुक्ति ही मानव-आत्माकी उच्चतम संभावना है—तथापि उसकी दिलचस्पी केवल इसीमें नहीं थी। वह नीति, विधि-विधान (Law), राजनीति, समाज, विभिन्न विज्ञान, कला-कौशल और शिल्पविद्या, मानवजीवनसे संबंध रखनेवाली सभी चीजोंकी ओर आध्यात्मिक मुक्तिके समान ही ध्यान देता था। इन विषयोंपर उसने खूब गहराई और छानबीनके साथ विचार किया और अधिकारके साथ ओजस्वी भाषामें इनका निरूपण किया। एक ही उदाहरण काफी होगा, शुक्रनीति राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिभाका कितना उत्कृष्ट स्मारक है! एक महान् सभ्य जातिके क्रियात्मक संगठनका कैसा दर्पण है! भारतीय कला सदा देवालयोंकी ही वस्तु नही रही, — यह ऐसी इस कारण प्रतीत होती थी कि इसका महत्तम कार्य देवालयों और गुहा-मंदिरोंमें ही बचा रहा; किंतु पुराना साहित्य इस बातका साक्षी है और राजपूत तथा मुगल चित्रकारियोंसे भी हमें पता चलता है कि भारतीय कला राजदरबार और नगरकी तथा जातिके जीवन और सांस्कृतिक विचारोंकी सेवामें भी उतनी ही तत्पर थी जितनी कि मठ-मंदिरों और उनके उद्देश्योंकी सेवामें। भारतमें स्त्रियो और पुरुषोंको जो शिक्षा दी जाती थी वह आधुनिक युगसे पहलेकी और किसी भी शिक्षा-प्रणालीसे अधिक समृद्ध, व्यापक और बहुमुखी थी। जो लेख इन बातोंको प्रमाणित करते हैं वे आज सुलभ हैं और उन्हें जो चाहे पढ़ सकता है। अब समय आ गया है जब कि यह तोता-रटन कि भारतीय सभ्यता अपने स्वरूपसे ही अव्यावहारिक, दार्शनिक, निवृत्तिमार्गी और जीवन-विरोधी है, बंद हो जानी चाहिये और इसे अपना स्थान एक सच्चे और समझदारीके साथ किये गये मूल्यांकनको दे देना चाहिये।

परंतु यह पूर्णतः सत्य है कि भारतीय संस्कृतिने मनुष्यके अंदरकी उस चीजको, जो लौकिक एषणाके ऊपर उठ जाती है, सदैव सर्वोच्च महत्त्व

प्रदान किया है; इसने परमोच्च और कष्टसाध्य स्व-अतिक्रमणके लक्ष्यको मानव-प्रयासके शिखरके रूपमें माना है। इसकी दृष्टिमें आध्यात्मिक जीवन बाहरी शक्ति-सामर्थ्य और उपभोगके जीवनसे अधिक उदात्त वस्तु है, चिंतनशील व्यक्ति कर्मीकी अपेक्षा और आध्यात्मिक मनुष्य विचारककी अपेक्षा महान् है। ईश्वरमें निवास करनेवाली आत्मा केवल बाह्य मनमें निवास करनेवाली या केवल मनोमय और प्राणमय देहकी मांगों और उसके सुखोंके लिये जीनेवाली आत्मासे अधिक पूर्ण है। विशिष्ट पश्चिमीय और विशिष्ट भारतीय मनोवृत्तिमें जो भेद है वह इसी बातमें है। पश्चिमने धार्मिक मनोवृत्ति अभ्यासके द्वारा प्राप्त की है, यह उसके स्वभावका अंग नहीं है और इसे उसने सदा कुछ शिथिलताके साथ ही धारण किया है। भारत सदैव उन पीछेकी ओर अवस्थित लोकोंमें विश्वास करता आया है, जिनका एक बाह्य कक्ष-मात्र यह स्थूल जगत् है। उसने सदा ही हमारे अंदर एक आत्माको देखा है जो मानसिक और प्राणिक सत्तासे महान् है, हमारे अहंसे भी महान् है। उसने सदैव, उस निकटस्थ एवं अंतर्यामी सनातनके आगे अपने हृदय और मस्तिष्कको झुकाया है जिसमें इस कालगत जीवका अस्तित्व है और मनुष्यके अंदर स्थित जिस सनातनकी ओर यह जीव उत्त-रोत्तर आत्म-अतिक्रमणके लिये मुड़ता है। अद्भुत गायक और भगवती माताके भाव-विभोर भक्त एक बंगाली कविकी यह भावना कि—

"एमन मानव जमीन रइलो पतित
आबाद करले फलतो सोना।"

अर्थात्—"आहा, कैसा समृद्ध है यह मनुष्य-रूपी खेत जो यहां बंजर पड़ा है! यदि इसे जोता जाय तो यह सुनहली फसलसे लहलहा उठेगा," —मानवजीवनके संबंधमें वास्तविक भारतीय भावको व्यक्त करती है। परंतु भारतीय मन उन महत्तर आध्यात्मिक संभावनाओंसे अत्यंत आकृष्ट होता है जो पार्थिव जीवोंमेंसे केवल मनुष्यमें ही निहित हैं। प्राचीन आर्य संस्कृति समस्त मानव संभावनाओंको मान्यता देती थी, पर आध्यात्मिक संभावनाओंको वह सर्वोच्च स्थान प्रदान करती थी और अपनी चार वर्णों तथा चार आश्रमोंकी प्रणालीमें उसने जीवनको एकके बाद एक आनेवाले स्तरोंके अनुसार क्रमबद्ध किया था। बौद्धधर्मने सबसे पहले संन्यासके आदर्श और भिक्षु-प्रवृत्तिको अतिरंजित और विपुल रूपमें प्रसारित किया, स्तरपरंपराको मिटा डाला और संतुलनको भंग कर दिया। इसकी विजयी विचार-धाराने केवल दो ही आश्रमोंको जीवित रहने दिया, गृहस्थ और संन्यासी, साधु और साधारण मनुष्य; इसने एक ऐसा प्रभाव डाला जो

आजतक विद्यमान है। धर्ममें इस प्रकारकी उलट-पलट करनेके कारण ही, हम देखते हैं कि, विष्णु पुराणमें एक नीति-कथाके बहाने इसपर प्रचंड आक्रमण किया गया है, क्योंकि अपनी तीव्र अति और परस्पर-विरोधी सत्योंकी कठोर प्रणालीके द्वारा इसने समाजके जीवनको अंतमें दुर्बल कर दिया। परंतु बौद्ध-धर्मका भी एक और पक्ष था जो कर्म और सृजनकी ओर मुड़ा हुआ था, जिसने जीवनको एक नया प्रकाश और नया अथ दिया, नयी नैतिक और आदर्श शक्ति प्रदान की। इसके बाद भारतीय संस्कृतिकी दो प्रसिद्धतम सहस्राब्दियोंके अंतमें शंकरका महान् मायावाद आया। तबसे जीवनकी यह कहकर अत्यधिक अवहेलना की जाने लगी कि यह एक मिथ्या या आपेक्षिक चीज है और, अंततः, जीने लायक नहीं है, इस योग्य नहीं है कि इसे हम अपनी स्वीकृति दें और इसके उद्देश्योंपर अड़े रहें। परंतु यह सिद्धांत सबने स्वीकार नहीं किया, बिना संघर्ष किये यह प्रवेश ही नहीं पा सका; यहांतक कि शंकरके प्रतिपक्षियोंने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनकी निंदा भी की। परवर्ती भारतीय मनपर उनके मायावादी सिद्धांतका अत्यंत प्रबल प्रभाव पड़ा है; किंतु जनसाधारणके विचार और भावका पूर्ण रूपसे निर्माण इसने कभी नहीं किया। जनतापर तो उन भक्तिप्रधान धर्मोंका ही अधिक घनिष्ठ प्रभाव पड़ा है और उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है जो जीवनमें नित्य सत्ताकी शुभ्र नीरवताको विकृत करनेवाली आधी-अंधेरी और आधी-उजली मायाके नहीं बल्कि भगवान्‌की लीलाके ही दर्शन करते हैं। यदि उन्होंने (उन धर्मोंने) उस कठोर आदर्शको निर्मूल नहीं किया तो उसे कोमल अवश्य बना डाला। अभी हालमें ही शिक्षित भारतीयोंने अंग्रेज और जर्मन विद्वानोंके विचारोंको स्वीकार किया है, कुछ समयके लिये शंकरके मायावादको हमारे दर्शनका संपूर्ण सार नहीं तो एकमात्र उच्चतम तत्त्व माना है और इसे अनन्य उच्चताके पदपर प्रतिष्ठित किया है। परंतु आज इस प्रवृत्तिके विरुद्ध भी एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही है, उस प्रतिक्रियाका उद्देश्य जीवन-विहीन आत्माके स्थानपर आत्माविहीन जीवनकी प्रतिष्ठा करना नहीं बल्कि मन, प्राण और शरीरपर आत्माका प्रभुत्व स्थापित करना है। तथापि यह सत्य है कि संन्यासका आदर्श, जो हमारी संस्कृतिके प्राचीन ओजस्वी युगमें जीवनका भव्य शिखर था, जो शाश्वत सत्ताकी ओर उठा हुआ था, आगे चलकर इसका भारी-भरकम गुंबज बन गया और अपनी एकाकी एवं प्रभावशाली महानताके बोझके नीचे शेष सारी अट्टालिकाको चकनाचूर करने लगा।

परंतु यहां भी हमें समस्त अतिरंजनासे दूर रहकर तथा किसी भी

बातपर मिथ्या बल न देते हुए सब कुछ यथार्थ रूपमें देखना चाहिये। मि. आर्चर कर्म और पुनर्जन्मको जीवनविरोधी भारतीय धारणाओंकी अपनी सूचीमें ला घुसेड़ते हैं। परंतु यह कहना कि पुनर्जन्म एक ऐसा सिद्धांत है जो अतीत और भावी जीवनोंकी अनंत शृंखलाकी तुलनामें वर्तमान क्षणके जीवनकी तुच्छताकी शिक्षा देता है, एक असंगत प्रलाप है, एक मूर्खतापूर्ण भ्रांति है। पुनर्जन्म और कर्मका सिद्धांत तो हमें यह बताता है कि जीवका एक अतीत जन्म एवं जीवन है जिसने इसके वर्तमान जन्म एवं जीवनका गठन किया है; इसका एक भावी जन्म एवं जीवन भी है जिसे हमारा वर्तमान कर्म गठित कर रहा है; हमारा अतीत फिर-फिर मिलनेवाले पार्थिव जन्मोंका रूप धारण कर चुका है और हमारा भविष्य भी ऐसे जन्मोंका रूप धारण करेगा और हमारा 'कर्म' वह शक्ति है जो अपने सातत्य और विकासके द्वारा एक आंतरिक तथा बाह्य शक्तिके रूपमें इन बार-बार आनेवाले जीवनोंके संपूर्ण स्वरूप और परिणतिका निर्धारण करती है। इसमें ऐसा कुछ नहीं है जो वर्तमान जीवनके महत्त्वकी अवज्ञा करता हो। इसके विपरीत यह सिद्धांत इसे एक विशाल दृश्यक्षेत्र प्रदान करता है और प्रयत्न एवं कर्मका महत्त्व अत्यधिक बढ़ा देता है। वर्तमान कर्मका स्वरूप अपरिमेय महत्त्व रखता है क्योंकि यह हमारे निकट भविष्य ही को नहीं बल्कि दूर भविष्यको भी निर्धारित करता है। यह विचार कि पूरे दिलसे और एकाग्र होकर किया हुआ वर्तमान कर्म एवं तपस्या हमारे मनोरथोंकी सिद्धिके लिये, भले ही वे मानवीय इच्छाके भौतिक मनोरथ हों या आध्यात्मिक, एक चमत्कारी सर्व-समर्थ शक्ति है, भारतीय साहित्यमें अत्यंत दृढ़तापूर्वक फैला हुआ तथा भारतवासियोंके मनमें जमकर बैठा हुआ पाया जाता है। निःसंदेह, इस प्रकार हमारा वर्तमान जीवन उस ऐकांतिक महत्त्वको खो देता है जो इसे हम तब देते हैं जब हम इसको कालचक्रके भीतर केवल एक ऐसी क्षणस्थायी सत्ता समझते हैं जिसे फिर कभी नहीं दुहराना है या इसे अपना एक ऐसा अनन्य सुयोग मानते हैं जिसके परे कोई पारलौकिक अस्तित्व नहीं है। परंतु वर्तमानपर जो संकीर्ण और अतिरंजित बल दिया जाता है वह मानव आत्माको वर्तमान क्षणकी कारामें कैद कर देता है : वह कर्मको क्षुब्ध तीव्रता भले ही प्रदान करे पर आत्माकी शांति, प्रसन्नता और महत्ताका वह वैरी है। निःसंदेह, यह विचार कि हमारे वर्तमान दुःख-कष्ट हमारे अपने अतीत कर्मके ही फल हैं, भारतीय मनको एक ऐसी शांति, सहिष्णुता और नति प्रदान करता है जिन्हें समझना या सहन करना चंचल पश्चिमी बुद्धिको कठिन प्रतीत होता है। यह विचार

महान् राष्ट्रीय दुर्बलता, अवसाद और दुर्भाग्यके कालमें ह्रासको प्राप्त होकर निवृत्तिमार्गी दैववादके रूपमें परिणत हो सकता है जो एक सुधारके प्रयत्नकी आगको बुझा सकता है। परंतु इसका इस दिशाकी ओर मुड़ना अवश्यंभावी नहीं है, और अपनी संस्कृतिके अधिक तेजस्वी अतीतके इतिहासमें भी हम देखते हैं कि उस समय इसे जो मोड़ दिया गया था वह यह नहीं है। सुर तो वहां कर्मका, तपस्याका ही है। हां, इस विश्वासको एक और मोड़ भी प्रदान किया गया था जिसका कालक्रमसे विस्तार होता गया, वह था बौद्ध धर्मका यह सिद्धांत कि पुनर्जन्मोंकी परंपरा तो असलमें एक कर्म-शृंखला है जिससे मुक्त होकर जीवको शाश्वत नीरवतामें प्रवेश करना होगा। इस धारणाने हिंदूधर्मको प्रबल रूपसे प्रभावित किया है; परंतु इसमें जो चीज अवसाद उत्पन्न करनेवाली है वह वास्तवमें पुनर्जन्मके सिद्धांतसे नहीं बल्कि उन दूसरे तत्त्वोंसे संबंध रखती है जिन्हें यूरोपके प्राणात्मवादी विचारकोंने वैराग्यमय निराशावाद कहकर निंदित ठहराया है।

निराशावाद भारतीय मनकी ही कोई निराली विशेषता नहीं है: यह सभी उन्नत सभ्यताओंके विचारका अंग रहा है। यह ऐसी संस्कृतिका चिह्न होता है जो पुरानी हो चुकी हो, एक ऐसे मनका फल होता है जिसने बहुत लंबा जीवन बिताया हो, बहुत अधिक अनुभव किया हो, जीवनकी थाह ली हो और उसे दुःखोंसे परिपूर्ण पाया हो, सुख और सफलताकी थाह लेकर यह अनुभव किया हो कि सब कुछ निःसार है, आत्माका सिर-दर्द है और इस सूर्य-चांदके राज्यमें कुछ भी नया नहीं है, अथवा यदि है भी तो उसकी नवीनता केवल चार दिनकी चांदनी है। भारतके समान ही यूरोपमें भी निराशावादका बोलबाला रहा है, और, निश्चय ही, यह एक अजीब बात है कि सबसे अधिक जड़वादी जाति भारतीय आध्यात्मिकतापर यह लांछन लगाये कि इसने जीवनके मूल्योंको गिरा दिया है। क्योंकि, जो जड़वादी विचार मानवजीवनको सर्वथा भौतिक और नाशवान् समझता है उससे बढ़कर निराशाजनक और क्या हो सकता है? सच पूछा जाय तो भारतीय विचारके अत्यंत वैराग्यवादी स्वरमें भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो यूरोपीय निराशावादके कुछ मतोंमें पाये गये घोर अंधकारके समान हो, घोर रात्रिसे पूर्ण उस नगरके समान हो जिसमें न तो इस कालमें सुख है और न परकालके लिये कोई आशा ही है तथा कोई ऐसी चीज भी नहीं है जो मृत्यु और शरीर-नाशके सम्मुख दुःखी और भयभीत होनेवाली मनोवृत्तिके समान हो जिससे कि सारा पाश्चात्य साहित्य भरा पड़ा है। अत्यंत कठोर निराशावादका जो स्वर ईसाइयतमें प्रायः ही पाया

जाता है वह स्पष्ट रूपसे पश्चिमी स्वर है; क्योंकि ईसाकी शिक्षाओंमें वह देखनेमें नहीं आता। शूली, कष्टसहनके द्वारा मोक्ष, असुर-अधिष्ठित और देहशासित लोक तथा नित्य नरककी ज्वालाएं जो कब्रके परे मनुष्यकी प्रतीक्षा करती हैं—इन सबसे युक्त मध्यकालीन धर्मका स्वरूप ऐसे कष्ट और आतंकसे परिपूर्ण है जो भारतीय मनके लिये विजातीय है, क्योंकि उसके लिये धार्मिक आतंक, सचमुच ही, एक विदेशीय वस्तु है, संसारका दुख है तो सही किंतु शोककी सीमारेखासे परे वह आध्यात्मिक शांतिके आनंदमें या एक हर्षातिरेकमें विलीन हो जाता है। बुद्धकी शिक्षामें दुःखपर तथा वस्तुओंकी नश्वरतापर अत्यधिक बल दिया गया था, परंतु नैतिक आत्म-विजय और शांत ज्ञानकी वीरतापूर्ण भावनाके द्वारा उपलब्ध बौद्ध निर्वाण एक अनिर्वचनीय शांति और सुखकी अवस्था है जिसका द्वार ईसाइयोंके स्वर्ग-लोककी तरह केवल इने-गिने लोगोंके लिये ही नहीं बल्कि सबके लिये खुला है; वह उस शून्य निवृत्तिसे अत्यंत भिन्न है जो दुःख-दर्द और संघर्षसे हमारी यांत्रिक मुक्ति है, पाश्चात्य निराशावादीका दुःखमय निर्वाण है तथा जड़-वादीके मतके अनुसार सब वस्तुओंका एक क्रूर एवं विषादपूर्ण अंत है। यहांतक कि मायावाद भी दुःखके सिद्धांतकी शिक्षा नहीं देता था, बल्कि यह कहता था कि हर्ष और शोक तथा संपूर्ण जगत्-सत्ता अंततः मिथ्या है। वह जीवनकी व्यावहारिक सत्यताको स्वीकार करता है और जो लोग अज्ञानमें निवास करते हैं उनके लिये वह इसके मूल्योंको मान्यता देता है। और, समस्त भारतीय वैराग्यवादके समान यह मनुष्यके समक्ष एक महान् पुरु-षार्थकी अर्थात् ज्ञानकी एक ज्योतिर्मय एकाग्रता और संकल्पशक्तिके एक महत् आवेगकी संभावना उपस्थित करता है जिसके द्वारा कि वह चरम शांति या चरम आनंदकी ओर उठ सकता है। मनुष्यका सामान्य जीवन जैसा है उसके विषयमें कोई निकृष्ट निराशावाद नहीं रहा है, रही है उसकी अपूर्णताकी गहरी अनुभूति उसकी निःसार अंधकारमयता, क्षुद्रता और अज्ञानतासे विरक्ति; किंतु इस मनोभावके दूसरी ओर मनुष्यकी आध्यात्मिक संभावनाके विषयमें एक अजेय आशावाद भी रहा है। यदि यह मानवजातिकी अपरिमित भौतिक प्रगतिके या संसाररूपी क्षेत्रमें सामान्य मनुष्यकी पूर्णताके आदर्शमें विश्वास नहीं करता था, तो यह प्रत्येक व्यक्तिकी सुनिश्चित आध्या-त्मिक उन्नतिमें तथा जीवनके आघातोंकी अधीनतासे ऊपर उठी हुई एक चरम परिपूर्णतामें विश्वास रखता था। और जीवनके संबंधमें यह निराशा-वाद ही भारतीय धार्मिक मनोवृत्तिका एकमात्र स्वर नहीं है; इसके अत्यंत प्रचलित रूप जीवनको भगवान्‌की लीला समझकर इसे स्वीकार करते हैं और

हमारी वर्तमान अवस्थाओंके परे प्रत्येक मनुष्यके लिये भगवान्‌के शाश्वत सामीप्यकी संभावना देखते हैं। भगवान्‌की ओर ज्योतिर्मय आरोहणको सदा ही एक ऐसी परिणति समझा जाता था जो मनुष्यकी पहुंचके भीतर ही है। इसे जीवनसंबंधी विषादजनक या निराशावादी सिद्धांत नहीं कहा जा सकता।

वैराग्यका थोड़ा-बहुत अंश हुए बिना कोई भी संस्कृति महान् एवं पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि वैराग्यका अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगोंका दमन करके अपनी प्रकृतिके महत्तर शिखरोंकी ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दुःख-कष्टकी विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर कृच्छ्र साधनाके द्वारा शरीरका दुःखदायी निग्रह है, बल्कि वह तो आत्माके उच्चतर हर्ष एवं पूर्ण स्वामित्वकी प्राप्तिके लिये एक उदात्त प्रयत्न है। आत्मविजयका महान् हर्ष, आंतरिक शांतिका निश्चल हर्ष, परम आत्म-अतिक्रमणका शक्तिशाली हर्ष आदि उसके अनुभवका सार-तत्त्व है। देहद्वारा विमोहित या बाह्य जीवन तथा उसके चंचल प्रयत्न एवं अस्थायी सुखोंमें अति आसक्त मन ही वैरागीके प्रयत्नकी श्रेष्ठता या आदर्शवादी उच्चतासे इंकार कर सकता है। किंतु सभी आदर्शोंको अतियों और पथभ्रष्टताओंके शिकार भी होना पड़ता है। जो आदर्श मानवताके लिये अत्यंत कठिन होते हैं वे सबसे अधिक इनके शिकार होते हैं; और वैराग्यवाद एक धर्मांध आत्म-यंत्रणाका, प्रकृतिके कठोरतापूर्ण दमन, जगत्‌से ऊबकर पलायन या जीवनके संघर्षके आलस्यपूर्ण त्याग और हमारे पुरुषत्वसे जिस प्रयासकी मांग की जाती है उससे दुर्बलतापूर्ण निवृत्तिका रूप ग्रहण कर सकता है। जब इसका अनुसरण केवल वे अपेक्षाकृत थोड़ेसे लोग ही नहीं करते जिन्हें इसके लिये पुकार प्राप्त हुई है, बल्कि जब इसका उपदेश इसके चरम रूपमें सभीको दिया जाता है और हजारों अयोग्य व्यक्ति इसका अवलंबन करते हैं, तब इसका मूल्य-महत्त्व गिर सकता है, जाली सिक्के बढ़ जा सकते हैं और समाजकी जीवन-शक्ति अपनी नमनशीलता और आगे बढ़नेकी क्षमता गंवा सकती है। यह दावा करना निरर्थक होगा कि भारतमें ऐसे दोष एवं अनिष्ट परिणाम नहीं उत्पन्न हुए। वैराग्यके आदर्शको मैं मानवजीवनकी समस्याका अंतिम हल नहीं मानता। परंतु इसके अतिरंजित रूपोंके पीछे भी प्राणात्मवादी अतिरंजनोंकी अपेक्षा, जो कि पश्चिमी संस्कृतिके उस छोरके दोष हैं, कहीं महत्तर भावना विद्यमान है।

जो हो, वैराग्यवाद और मायावादके प्रश्न गौण विषय हैं। जिस बात-

पर बल देनेकी जरूरत है वह यह है कि भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगोंमें तथा अपने अंतरतम अर्थमें कोई क्लांतिपूर्ण वैराग्य या रूढ़िभूत संन्यासधर्म नहीं रही है, बल्कि वह कामना और प्राणिक संतुष्टिके जीवनसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढ़प्रतिष्ठ शांति और आनंदकी पराकाष्ठाको प्राप्त करनेके लिये मानव आत्माके एक उच्च प्रयासके रूपमें रही है। भारतकी संस्कृति और आधुनिक मनके उत्कट लौकिक कर्मवादके बीच प्रश्न यह है कि ऐसा प्रयास मानवकी उच्चतम पूर्णताके लिये आवश्यक है या नहीं। और यदि आवश्यक है तो फिर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या इसे इनी-गिनी विरली आत्माओंतक सीमित एक असाधारण शक्ति ही बनना है या इसे एक महान् एवं पूर्ण मानव सभ्यताकी मुख्य प्रेरणाप्रद चालक-शक्ति भी बनाया जा सकता है।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

चौथा अध्याय

जीवनकी दृष्टिसे भारतीय दर्शनके मूल्यका ठीक-ठीक निर्णय तभी किया जा सकता है जब उसी दृष्टिसे भारतीय धर्मके मूल्यको ठीक-ठीक आंका जाय; इस संस्कृतिमें धर्म और दर्शन इतने घनिष्ठ रूपमें मिले हुए हैं कि उन्हें एक-दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन अधिकांश यूरोपीय दर्शनके समान हवामें अनुमान और तर्क-वितर्क करनेका कोई कोरा बौद्धिक व्यायाम नहीं है, न वह विचारों और शब्दोंका जाल बुननेकी कोई अति सूक्ष्म प्रक्रिया ही है; वह तो उस सबका सुव्यवस्थित बुद्धिमूलक सिद्धांत या उस सबको क्रमबद्ध करनेवाला अंतर्ज्ञानात्मक बोध है जो भारतीय धर्मकी आत्मा है, इसका विचार, क्रियाशील सत्य, सारभूत अनुभव और बल है। भारतीय आध्यात्मिक दर्शन कर्म और अनुभवके अंदर जो रूप ग्रहण करता है वही भारतीय धर्म है। हम जिसे हिंदूधर्म कहते है उस विशाल, समृद्ध, महस्रमुखी, अत्यधिक नमनीय पर फिर भी सुदृढ़ रूपसे गठित धर्मप्रणालीके धार्मिक विचार और आचारमें जो भी चीजें ऐसी हैं जिनकी मूल भावना उक्त परिभाषाके अंदर नहीं आती, उनका व्यावहारिक रूप चाहे कुछ भी हो, वे या तो सामाजिक ढांचा हैं या कर्मकांडको सहारा देनेवाले बाहरी रूप या फिर पुराने आश्रयों एवं परिवर्द्धनोंका अवशेष हैं। अथवा वे कोई अस्वाभाविक सृजन या किसी विकारका उभाड़ हैं, असंस्कृत मनमें धर्मके सत्य और अर्थका ह्रास है, उन हीन मिश्रणोंके अंग हैं जो समस्त धार्मिक चिंतन और अनुष्ठानको आक्रांत किया करते हैं। अथवा, कुछ प्रसंगोंमें, वे ऐसी निर्जीव आदतें हैं जो प्रस्तरीकरण (Fossilisation) के युगोंमें सिकुड़नेकी प्रक्रियाके द्वारा पत्थर-सी हो गयी हैं, या फिर वे अपूर्ण रूपमें आत्मसात् किया हुआ बाह्य द्रव्य हैं जो इस बृहत् देहमें एकत्र हो गया है। सभी धार्मिक प्रणालियोंमें सर्वाधिक सहिष्णु और ग्रहणशील हिंदूधर्मका आभ्यंतरिक तत्त्व ईसाइयत या इस्लामकी धार्मिक भावनाकी न्याईं तीव्र रूपसे एकांगी नहीं है; जहांतक अपनी विशिष्ट शक्तिशाली प्रकृतिको और अपनी सत्ताके विधानको खोये बिना संभव हो सकता था वहांतक वह

समन्वयात्मक, अर्जनशील और समावेशकारी रहा है। सदा ही उसने सब ओरसे अपने अंदर ग्रहण किया है और अपने आध्यात्मिक हृदयमें एवं अपने जाज्वल्यमान केंद्रके प्रखर तापमें प्रज्वलित हो रही सात्म्यकरणकी शक्ति-पर इस बातके लिये विश्वास किया है कि वह अत्यंत निराशाप्रद पदार्थको भी उसकी आत्माके लिये उपयुक्त रूपोंमें परिणत कर देगी।

परंतु यह देखनेकी चेष्टा करनेसे पहले कि भारतके धार्मिक दर्शनमें ऐसी कौनसी चीज है जो हमारे प्रतिपक्षी पाश्चात्य आलोचकको इतने प्रचंड रूपमें क्रुद्ध और क्षुब्ध करती है, यह विचार कर लेना अच्छा होगा कि इस प्राचीन, तिथि-मिति-हीन और अभीतक शक्तिशालिताके साथ जीने, बढ़ने और सबको आत्मसात् करनेवाले हिंदूधर्मके और पहलुओंके बारेमें उसे क्या कहना है। क्योंकि उसे बहुत कुछ कहना है जिसमें न तो संयम-मर्यादा है और न जिसका कोई हद-हिसाब ही है। उसमें निंदाका वह अमित उन्माद और मिथ्या साक्षी, घृणा एवं अनुदारताका तथा सभी पतनकारी अनाध्यात्मिक और अपवित्र वस्तुओंका वह वमन तो नहीं है जो इस विषय-पर लिखे गये एक विशेष प्रकारके "ईसाई साहित्य" का विशिष्ट लक्षण हैं,—सर जान उड्रफने मि. हैरल्ड बेगबीकी पुस्तकसे इस अनिष्टकारी मिश्रण-का जो सर्वोत्कृष्ट नमूना पेश किया है वह इसका एक दृष्टांत है,—वह शायद "पुरुषत्वपूर्ण" भले ही हो,— यदि उग्रता ही पुरुषत्वपूर्ण मानी जाय,—पर निश्चय ही बुद्धिमत्तापूर्ण तो नहीं है। वह एक अपरिमित निंदाका स्तूप है। जहां उसे जरा भी आधार मिल सका है वहां तो वह खूब ही खिल उठा है, अतिरंजन और जानबूझकर मिथ्या वर्णन करनेकी प्रसन्नता और प्रफुल्लतामें वह स्पष्ट रूपसे युक्ति और न्यायसे उलटा चलता है। तथापि इस भद्दी सामग्रीमेंसे भी उन प्रमुख और विशिष्ट विरोधोंको खोज निकालना संभव है जो इसे अनालोचक व्यक्तियों और बहुतसे आलोचक व्यक्तियोंके सम्मुख भी उचित ठहराते हैं, और इन विरोधोंकी ही ढूंढ़ निकालना उपयोगी होगा।

इस आक्रमणका मुख्य विषय यह है कि हिंदूधर्म नितांत युक्तिहीन है। मि. आर्चर कहीं-कहीं यह स्वीकार करते ही हैं कि भारतके धर्ममें दार्शनिक और इसलिये हम समझ सकते हैं कि युक्तिसंगत, तत्त्व विद्यमान है, परंतु वह इस धार्मिक दर्शनके प्रधान विचारोंको जैसा समझते या मानते हैं कि मैं समझता हूं, उस रूपमें वह उन्हें मिथ्या और निश्चितरूपेण हानिकारक बताकर उनका तिरस्कार और निराकरण करते हैं। वह हिंदूधर्मके तथा-कथित व्यापक तर्कहीन स्वरूपकी व्याख्या इस बातके द्वारा करते हैं कि

भारतवासी सदा ही सारतत्त्वकी अपेक्षा कहीं अधिक बाह्य रूपकी ओर तथा मूल भावकी अपेक्षा कहीं अधिक शब्दकी ओर ही आकृष्ट हुए हैं। कोई यों सोच सकता था कि इस प्रकारका आकर्षण मानव मनकी एक पर्याप्त सार्वभौम विशेषता है और यह केवल धर्ममें ही नहीं बल्कि समाज, राजनीति, कला, साहित्य और यहांतक कि विज्ञानमें भी पायी जाती है। प्रत्येक कल्पनीय मानव क्रिया-कलापमें बाह्य रूपकी पूजा करने और आत्मा-को भूल जाने, रीति-रिवाज, बाह्याचार और विचारशून्य सिद्धांतकी ओर मुड़ जानेकी ही मानव मनकी एक सर्वसामान्य प्रवृत्ति चीनसे पेरू (अमेरिका) तक प्रवाहित होती रही है और यह अपने रास्तेमें यूरोपको अछूता नहीं छोड़ देती और जिस यूरोपमें, लोगोंने चर्चकी सरकारके सिद्धांतों, शब्दों, धार्मिक कृत्यों और विधि-विधानोंके लिये मानव मूढ़ता और क्रूरताके द्वारा कल्पनीय प्रत्येक तरीकेसे निरंतर युद्ध और वध किया है, लोगोंको जिन्दा जलाया, यातनाएं दीं, जेलमें डाला और उत्पीड़ित किया है, जिस यूरोपमें इन सब चीजोंने ही आध्यात्मिकता और धर्मका काम किया है, उस यूरोप-का इतिहास ऐसा नहीं है जो इसे पूर्वके मुखपर यह कलंक लगानेका अधि-कार दे। परंतु हमसे कहा जाता है कि यह आकर्षण भारतीय धर्मको किसी भी अन्य धर्ममतकी अपेक्षा अपना अधिक शिकार बनाता है। यह कहा जा सकता है कि कुछ एक छोटे-छोटे सुधारक संप्रदायोंको छोड़कर शायद और कहीं भी उच्चतर हिंदूधर्मका अस्तित्व नहीं है और सामान्य हिंदूधर्म भयावह पौराणिक कथाओंका धर्म है जो कल्पना-शक्तिका दमन और क्षय करनेवाला है, — यद्यपि यहां भी कोई समझ सकता है कि भार-तीय मनपर यदि कोई दोष लगाया जा सकता है तो वह सर्जनशील कल्पनाकी अतिशयता है न कि उसका क्षय। जड़-चैतन्यवाद और इंद्रजाल हिंदू-धर्मकी प्रधान विशेषताएं हैं। भारतजातिने तर्कबुद्धिको आच्छन्न करने और धर्मको अनुष्ठानात्मक और भौतिक बनाकर अधोगतिकी ओर ले जानेमें प्रतिभाका प्रदर्शन किया है। यदि भारतमें महान् विचारक हुए हों तो भी उसने उसके विचारोंसे तर्कसंगत और उन्नतिकारक धर्मका संकलन नहीं किया है: स्पेन या रूसके किसानकी भक्ति अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत और आलोकित है। तर्कहीनता, तर्कविरुद्धता, यही इस श्रमसिद्ध और अतिरंजित दोषारोपणकी अविराम रट है; यही आर्चरके रागका प्रधान स्वर है।

जिस तथ्यने आलोचकके मनमें आश्चर्य और असंतोष उत्पन्न किया है वह यह है कि भारतमें पुरानी धार्मिक भावना तथा विशाल प्राचीन धार्मिक

आदर्श अभीतक आग्रहपूर्वक जीवित हैं और वे आधुनिकताकी बाढ़ और इसके विध्वंसकारी उपयोगितावादी स्वतंत्र विचारके प्रवाहमें डूबे नहीं। वे हमें बताते हैं कि भारत अब भी उस चीजसे चिपका हुआ है जिसे न केवल पश्चिमी जगत् अपितु चीन और जापान भी युगोंसे अतिक्रांत कर चुके हैं। भारतीय धर्म एक अंधविश्वास है जिसमें पुण्यकर्मोंकी भरमार है और ये कर्म आधुनिक मनुष्यके स्वतंत्र और प्रबुद्ध लौकिक मनके लिये घृणाजनक हैं। इसके नित्य कर्म इसे सभ्यताकी सीमासे सर्वथा बहिष्कृत कर देते हैं। यदि यह अपने अनुष्ठानोंको शिष्ट रूपमें चर्चके रविवारके समारोहों, विवाह और अंत्येष्टि संस्कारों तथा भोजनसे पहलेकी प्रार्थनाओंतक ही सीमित रखता तो शायद इसे मानवीय और सहनीय माना जा सकता था! पर अपने वर्तमान स्वरूपमें यह आधुनिक जगत्की एक अत्यंत युगविरोधी वस्तु है। तीस सदियोंसे इसकी कभी सफाई नहीं की गयी, यह एक मूर्त्तिपूजावाद (Paganism) है, यह एक सर्वथा अपरिशोधित मूर्त्तिपूजावाद है; पवित्रीकरणकी अपेक्षा मलिनताकी ओर इसकी प्रवृत्ति इसे जगत्के धर्मोंकी पंक्तिमें सबसे नीचा स्थान प्रदान करती है जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। इसका एक चातुरीपूर्ण इलाज प्रस्तुत किया गया है। यूरोपमें ईसाइयतने मूर्त्तिपूजावादका उच्छेद किया था; अतएव, चूंकि संदेहवादी स्वतंत्र विचार-की कोई अविलंब या अत्यंत द्रुत विजय एक ऐसा सुखद एवं आकस्मिक परिवर्तन होगा जो पूर्ण रूपसे संभव नहीं हो सकता, हम अज्ञानयुक्त, कलुषित और अपवित्र हिंदुओंको सलाह दी गयी है कि हमें कुछ समयके लिये ईसा-इयतको, अपने वर्तमान स्वरूपमें युक्तिविरोधी बिचारी ईसाइयतको स्वीकार कर लेना चाहिये, भले ही वह प्रत्यक्षवादी बुद्धिके विपुल प्रकाशमें अंधकार-मय और विकृत दिखायी देती हो, क्योंकि ईसाइयत और विशेषकर प्रोटेस्टेंट ईसाइयत (Protestant-Christianity) नास्तिकवाद और अज्ञेयवादकी श्रेष्ठ स्वतंत्रता और निष्कलंक पवित्रताकी ओर, कम से-कम, एक अच्छा आरंभिक पग होगी। परंतु दुर्भिक्षके समय बड़ी संख्यामें धर्म परिवर्तन करनेपर भी यदि इस छोटेसे परिणामकी आशा न की जा सके तो कम-से-कम हिंदूधर्मको किसी-न-किसी प्रकार अपनेको विशुद्ध कर लेना होगा, और जबतक यह स्वास्थ्यकारी प्रक्रिया संपन्न नहीं हो जाती, तबतक भारत-को सभ्य देशोंके साथ समान स्तरपर भ्रातृत्व नहीं प्राप्त होना चाहिये।

प्रसंगवश, हम देखते हैं कि तर्कहीनताके इस आरोप और इसके सह-चारी प्रतिमा-पूजनके आरोपका समर्थन करनेके लिये हमारे तथा हमारी धार्मिक संस्कृतिके विरुद्ध एक तीसरा तथा अधिक अनिष्टकारक अभियोग

लगाया गया है, हमारे अंदर समस्त नैतिक मूल्य और सदाचार-तत्त्वका अभाव घोषित किया गया है। आज यूरोपमें भी इस बातको अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि तर्क ही मानव मनकी अंतिम शक्ति नहीं है, सत्यप्राप्तिका एकमात्र और अद्वितीय राजपथ नहीं है और निश्चय ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक सत्यका एकमात्र निर्णायक नहीं है। मूर्त्तिपूजाका दोष लगानेसे भी प्रश्न हल नहीं होता, क्योंकि अनेकों सुसंस्कृत व्यक्ति भलीभांति यह देख सकते हैं कि प्राचीन धर्मोंमें ऐसी बहुतसी महान्, सत्य और सुन्दर वस्तुएं थीं जिन्हें अज्ञानी ईसाइयोंने एक साथ एकत्र कर 'पेगेनिज्म (Paganism)' — 'अंधविश्वास' का अनुपयुक्त व्यंग्य-नाम दे दिया था और जगत् इन उच्च प्राचीन बाह्याचारों एवं प्रेरणाओंको खोकर पूर्ण रूपसे लाभान्वित नहीं हुआ है। परंतु मनुष्योंका वास्तविक आचरण कैसा भी क्यों न हो, — और इस बातमें सामान्य मनुष्य सच्चे पर सर्वथा प्रभावशून्य, ठीक साधारण कोटिके आदरयोग्य, नैतिक बनते हुए मानव और अपने-आपको धोखा देनेवाले अर्द्ध-कपटी फारिसी (Pharisee)[1] का अपूर्व मिश्रण है, — कोई भी व्यक्ति इस विषयमें सदैव तथाकथित नैतिक अनुरागकी बलपूर्वक दुहाई दे सकता है। सभी धर्म नैतिकताकी ध्वजाको ऊंचा उठाते हैं और शास्त्र-विरोधियों, समाज-विद्रोहियों और दुरात्माओंको छोड़कर सभी लोग, चाहे वे धर्मपरायण हों या संसारपरायण, अपने जीवनोंमें उस उच्च आदर्शका अनुसरण करने या कम-से-कम उसे स्वीकार करनेका दावा करते हैं। अतएव यह अभियोग लगभग सबसे अधिक हानिकारक आरोप है जो किसी धर्मपर लगाया जा सकता है। अपने-आप बना हुआ यह अभियोग लगानेवाला न्यायाधीश, जिसकी निंदात्मक वक्तृताकी हम जांच कर रहे हैं बिना संकोच और संयमके ऐसा आरोप लगाता है। इसने आविष्कार किया है कि हिंदू-धर्म कोई ऊपर उठानेवाला या यहांतक कि नैतिक दृष्टिसे सहायता पहुंचानेवाला धर्म भी नहीं है; यदि उसने सदाचारकी बहुत चर्चा की है तो नैतिक शिक्षाको उसने कभी अपने एक कर्मके रूपमें नहीं घोषित किया है। जो धर्म सदाचारकी तो अत्यधिक चर्चा करता है पर नैतिक शिक्षणका कार्य नहीं करता वह एक ऐसे वर्ग (Square) जैसा प्रतीत होता है जो चतुर्भुज होनेका दावा नहीं कर सकता; पर इस बातको जाने दें। यदि हिंदू स्थूलतर पश्चिमी बुराइयोंसे अपेक्षाकृत अधिक मुक्त है, — और ऐसा अभीतक है, केवल और केवल तभीतक जबतक कि वह ईसाइयतको अपनाकर

[1] 'फारिसी' नामक एक प्राचीन यहूदी संप्रदायके अनुयायी जो रूढ़िग्रस्त और दिखावा करनेके लिये प्रसिद्ध थे। — अनु०

या और किसी तरहसे "सभ्यताके घेरे" में प्रवेश नहीं करता,—तो इसका कारण यह नहीं है कि उसके स्वभावमें कोई नैतिक प्रवृत्ति है वरन् यह है कि ये बुराइयां उसके मार्गमें आती ही नहीं। उसकी समाजव्यवस्थाने, जो धर्मके अर्थात् दिव्य और मानवीय, विश्वगत और व्यक्तिगत तथा नैतिक और सामाजिक विधानके बर्बर विचारपर आधारित है, और पद-पदपर इसीके ऊपर अवलंबित है, उसे नैतिकताका त्याग करनेका अवसर प्रदान करनेकी मूर्खतापूर्वक उपेक्षा की है जो पश्चिमी सभ्यताने इतनी उदारताके साथ प्रदान किया है! फिर भी, हमें शांतिपूर्वक बताया जाता है कि हिंदूधर्मका संपूर्ण स्वभाव, जो हिंदूजातिका ही स्वभाव है, सभी बीभत्स और अस्वास्थ्य-कर वस्तुओंकी ओर विषादमय प्रवृत्तिको ही सूचित करता है! असंयत निंदाके इस उच्चतम तालपर ही हम मि. आर्चरके बीभत्स और अस्वास्थ्यकर निंदापरक नृत्यको छोड़ दें और इसमेंसे उनकी घृणा और क्रोधके स्वभावगत स्रोतोंको ढूंढ़ निकालनेकी ओर मुड़ें।

दो चीजें विशेष रूपसे सामान्य यूरोपीय मनका परिचय देती हैं,—क्योंकि कुछ महान् आत्माओं और कुछ महान् विचारकों अथवा असामान्य धार्मिकताके कुछ क्षणों या युगोंको एक ओर छोड़कर हमें प्रधान प्रवृत्तिपर ही दृष्टिपात करना होगा। इसकी दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं—जिज्ञासा और परिभाषा करनेवाली कार्यक्षम व्यावहारिक बुद्धिका सिद्धांत और जीवन-विषयक सिद्धांत। यूरोपीय सभ्यताकी महान् उच्च धाराएं, यूनानी संस्कृति, कान्स्टैंटाइन (Constantine) से पहलेका रोमन जगत्, नव-जागरण (Renaissance), अपनी दो महान् प्रतिमाओं, व्यवसायवाद और भौतिक विज्ञानके सहित आधुनिक युग—ये सभी पश्चिमके पास इस दोहरी शक्तिके ऊपर उठनेवाले आवेगपर सवार होकर आये हैं। जब कभी इन शक्तियोंकी ज्वार उतरी है, यूरोपीय मन अत्यधिक विश्रृंखलता, अंधकार और दुर्बलतामें जा गिरा है। ईसाई-धर्म यूरोपको आध्यात्मिक बनानेमें सफल नहीं हुआ,—कतिपय नैतिक दिशाओंमें इसे मानवीय बनानेके लिये उसने चाहे कुछ भी क्यों न किया हो,—क्योंकि उसने इन दो प्रधान सहज-प्रवृत्तियोंका विरोध किया; उसने तर्क-बुद्धिको सर्वश्रेष्ठ माननेसे इन्कार किया और जीवनकी संतुष्ट या सोत्साह परिपूर्णताको अपने अभिशापका पात्र बनाया। परंतु एशियामें न तो तर्कबुद्धि और जीवन-सिद्धांतका इस प्रकार-का आधिपत्य रहा है और न इन दो शक्तियोंके साथ धार्मिक भावनाकी किसी प्रकारकी असंगति ही रही है। एशियाके महान् युग, उसकी सभ्यता और संस्कृतिके सर्वोच्च उत्थान—भारतमें उच्च वैदिक प्रभातका उदय;

उपनिषदोंका महत् आध्यात्मिक आंदोलन; बौद्धधर्म, वेदांत, सांख्य, पौराणिक और तांत्रिक धर्मोंकी व्यापक बाढ़; दक्षिणी राज्योंमें वैष्णव और शैव धर्मोंका विकास — अध्यात्म-ज्योतिके लहरानेपर और धार्मिक या धर्म्य-दार्शनिक मनके अपनी ऊंचाइयों, अपने श्रेष्ठतम सत्यों, अपने अंतर्दर्शन और अनुभवके विशालतम ऐश्वर्योंकी ओर बृहत् या तीव्र आरोहण करनेपर प्रकट हुए हैं। ऐसे समयोंमें भी बुद्धि, विचार, काव्य, कला तथा भौतिक जीवन अपने वैभवशाली रूपमें विकसित हुआ। इसके विपरीत, आध्यात्मिकताके ह्रासने सदा ही इन अन्य शक्तियोंकी क्षीणता, जीवन-शक्तिके प्रस्तरीकरण (Fossilisation) या कम-से-कम अवसादके कालों और अवनतिके सुदीर्घ क्षेत्र-को जन्म दिया, यहांतक कि क्षयका भी सूत्रपात किया। यदि हम पूर्व और पश्चिमके विभेदकी प्रधान दिशाओंको समझना चाहें तो हमें इस सूत्र-को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना होगा।

मनुष्यको आत्माकी ओर आरोहण करना होगा, चाहे वह इस आरोहण-का पूरा रास्ता तै न भी करे, अन्यथा वह शक्तिकी ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तिको खो बैठेगा। पर आत्माकी गुप्त शक्तियोंतक पहुंचनेके नानाविध मार्ग हैं। ऐसा लगता है कि यूरोपको प्राणशक्ति और तर्कबुद्धिके द्वारा ही आगे बढ़ना होगा और इन्हींकी सहायतासे एक सर्वोच्च परिणति एवं सत्यदर्शनके रूपमें आध्या-त्मिक सत्यको प्राप्त करना होगा; वह स्वर्गके राज्यको जोर-जबर्दस्तीसे तुरंत ही नहीं छीन सकता, जिसके लिये कि ईसाका कथन मनुष्योंको प्रेरित करता है। ऐसा प्रयत्न उसकी बुद्धिको भरमाता और धूमिल बनाता है और उसकी प्राणिक प्रवृत्तियां भी ईसका विरोध करती हैं जिसके परिणामस्वरूप यह विद्रोह एवं निषेधकी ओर ले जाता है और अंतमें उसे पुनः अपनी प्रकृतिके नियमकी ओर लौटना पड़ता है। परंतु एशिया या कम-से-कम भारत, स्वभावतः ही ऊर्ध्वसे आनेवाले आध्यात्मिक प्रवाहके सहारे जीता है; यही उसकी उच्चतर मानसिक और प्राणिक शक्तियोंके आध्यात्मिक जागरण-को अपने संग ले जाता है। ये दो महाद्वीप मानवजातिके पूर्ण वृत्तके दो पार्श्व हैं और जबतक ये घुलमिलकर एक नहीं हो जाते तबतक इनमेंसे प्रत्येकको अपनी सत्ताके विधान, अपने विशिष्ट स्वधर्मके द्वारा उस विकास या चरम उत्कर्षकी ओर बढ़ना होगा जिसे मानवजातिकी आत्मा प्राप्त करना चाहती है। किसी एक पक्षपर जोर देनेवाला जगत् अपनी एक-रूपता और एक ही संस्कृतिकी नीरसताके कारण अपेक्षाकृत दरिद्र हो जायगा; जबतक हम आत्माकी उस अनंततामें अपना सिर ऊंचा नहीं उठा लेते जिसमें इतना विशाल प्रकाश विद्यमान है जो सब कुछको, सोचने,

अनुभव करने और जीनेकी उच्चतम प्रणालियोंको, एकत्र लाकर समन्वित कर सकता है, तबतक प्रगतिके विभिन्न मार्गोंकी आवश्यकता रहेगी ही। यह एक ऐसा सत्य है जिसे जड़वादी यूरोपपर उग्र आक्रमण करनेवाला भारतीय अथवा एशियाई या भारतीय संस्कृतिका घृणापूर्ण शत्रु या विद्वेषमय निंदक दोनों ही एकसमान उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। वास्तवमें यहां बर्बरता और सभ्यताका कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि मनुष्योंके सभी समुदाय बर्बर हैं और वे अपनेको सभ्य बनानेका यत्न कर रहे हैं। हां उनमें जो भेद देखनेमें आता है वह उन क्रियात्मक भेदोंमेंसे एक है जो मानवसंस्कृतिके वर्द्धनशील वृत्त (Orb) की पूर्णताके लिये आवश्यक है।

इस बीच, उक्त विभेद दुर्भाग्यवश धर्ममें तथा अन्य अनेक विषयोंमें दृष्टिकोणोंके एक सतत संघर्षरत विरोधको जन्म देता है, और वह विरोध एक-दूसरेको समझनेमें कम या अधिक असमर्थता और यहांतक कि एक स्पष्ट शत्रुता या घृणाको अपने साथ लाता है। पश्चिमी मन जीवनपर, सर्वाधिक बाह्य जीवनपर, ग्राह्य, दृश्य और स्थूल वस्तुओंपर बल देता है। आंतर जीवनको वह बाह्य जगत्‌का एक बुद्धिगत प्रतिबिंबमात्र समझता है। जिसमें बुद्धि वस्तुओंको आकार देनेका एक सुदृढ़ साधन है, प्रकृतिके द्वारा प्रस्तुत बाह्य सामग्रीकी विज्ञ आलोचक है, उसे गठित और परिष्कृत करनेवाली है। वर्तमान कालमें जीवनका उपयोग करना, पूर्ण रूपसे इसी जीवनमें तथा इसी जीवनके लिये जीना यूरोपका संपूर्ण काम-धंधा है। व्यक्तिका वर्तमान जीवन और मानवजातिका अविच्छिन्न भौतिक अस्तित्व तथा इसका विकसनशील मन और ज्ञान ही उसका एकमात्र तन्मयकारी प्रिय विषय है। पश्चिम धर्मसे भी स्वभाववश यही मांग करता है कि यह अपने लक्ष्य या प्रभावको वर्तमान प्रत्यक्ष जगत्‌के इस प्रयोजनके अधीन कर दे। यूनानी और रोमवासी धर्ममतको नगर (Polis) के जीवनके लिये अनुमति-स्वरूप या राज्यसत्ता (State) की समुचित दृढ़ता एवं स्थिरताके लिये शक्तिस्वरूप समझते थे। मध्ययुग, जब ईसाई विचार अपने चरमोत्कर्षपर था, अराजकत्वका काल था; यह वह समय था जब पश्चिमी मन अपने भावावेग और बुद्धिमें प्राच्य आदर्शको आत्मसात करनेका यत्न कर रहा था। परंतु इसे दृढ़तापूर्वक जीवनमें उतारनेमें वह कभी सफल नहीं हुआ और अंतमें उसे इसका परित्याग करना या फिर उसे इसकी केवल शाब्दिक उपासना करनेके लिये ही रख छोड़ना पड़ा। उसी प्रकार वर्तमान समय एशियाके लिये अराजकत्वका काल है जिसमें वह आत्मा

और स्वभावके विद्रोहके होते हुए भी अपनी बुद्धि और अपने प्राणमें पश्चिमी दृष्टिकोण और इसके पार्थिव आदर्शको आत्मसात् करनेके प्रयत्नसे अभिभूत है। और, यह भविष्यवाणी निःशंक होकर की जा सकती है कि एशिया भी इस विजातीय धर्मको दृढ़तापूर्वक या दीर्घकालतक अपने जीवनके अंदर क्रियान्वित करनेमें सफल नहीं होगा। परंतु यूरोपमें ईसाई विचारको भी, जो अपनी प्रवृत्तिपर बल देने तथा आग्रहपूर्ण पारलौकिकताके कारण अपनी पवित्रताके लिये विख्यात था, पाश्चात्य स्वभावकी मांगोंके साथ समझौता करना पड़ा और ऐसा करनेमें वह अपने आंतर राज्यको गंवा बैठा। पश्चिमके वास्तविक स्वभावकी विजय हुई और उसने धार्मिक भावनाको उत्तरोत्तर तार्किक और लौकिक रूप देकर लगभग नष्ट ही कर डाला। धर्म अधिकाधिक एक हलकी और नित मद्धिम पड़ती जानेवाली छायाका रूप धारण करता गया जिसे जीवनके एक छोटेसे कोनेमें और प्रकृतिके उससे भी छोटे कोनेमें धकेल दिया गया और वहां वह मृत्यु या निर्वासनके दंडकी प्रतीक्षा करने लगा, जब कि पराजित चर्चके द्वारोंके बाहर बाह्य जीवन, प्रत्यक्षवादी तर्कबुद्धी और जड़वादी विज्ञान अपनी विजयकी लौकिक धूमधामके साथ अपने जयशाली पथपर कूच करने लगे। जीवन और तर्कबुद्धि जब अपनी अंतरतम अंतर्दृष्टिसे विच्छिन्न हो जाते हैं तो उनके सिद्धांतका अवश्यंभावी परिणाम होता है लौकिकताकी प्रवृत्ति। प्राचीन यूरोपने धर्म और जीवनको एक-दूसरसे अलग नहीं किया था; परंतु इसका कारण यह था कि इन्हें अलग करनेकी उसे आवश्यकता ही नहीं थी। उसका धर्म जब एक बार पूर्वीय गूढ़तत्त्वसे मुक्त हो गया तब वह एक लौकिक विधिव्यवस्था बन गया जो इस जीवनके नियंत्रणके लिये किसी विशेष अतिभौतिक स्वीकृति और सुविधाजनक सहायताके परे दृष्टिपात नहीं करती थी। और तब भी उसकी प्रवृत्ति मूल धार्मिक भावनाके अवशेषोंको दर्शन और तर्कके द्वारा निराकृत करनेकी थी, अतिबौद्धिक रहस्यके छाये हुए पंखोंकी थोड़ीसी भी बची छायाको दूर भगाने और तार्किक एवं व्यावहारिक बुद्धिके सूर्यसम उज्ज्वल प्रकाशमें पहुंचनेकी थी। परंतु आधुनिक यूरोप इससे भी आगे और इस मार्गके बिलकुल अंततक गया। जो ईसाई विचार समस्त प्राच्य धार्मिक विचारकी भांति धर्मका जीवनके साथ मेल बैठानेका और पशुप्राय मनुष्यकी असंस्कृत प्राणिक प्रकृतिके द्वारा उपस्थित की जानेवाली समस्त बाधाओंके होते हुए भी संपूर्ण सत्ता और इसके कर्मको आध्यात्मिक बनानेका दावा करता है उसके प्रभावको अधिक सफलतापूर्वक दूर करनेके लिये आधुनिक यूरोपने धर्मको जीवन,

दर्शन, कला, विज्ञान, और राजनीतिसे, सामाजिक जीवन और कार्यकलापके अधिकतर भागसे अलग कर डाला। उसने नैतिक मांगको भी लौकिक तथा तार्किक रूप दे दिया ताकि यह स्वतः अपने ही आधारपर खड़ी रह सके और इसे धार्मिक स्वीकृति या गुह्य दबावसे किसी प्रकारकी सहायता लेनेकी आवश्यकता न पड़े। इस मोड़के परले सिरेपर है विधि-परंपराका विरोध करनेवाली प्रवृत्ति जो यूरोपके जीवन-इतिहासमें बारंबार प्रकट होती रही है और आज फिरसे दिखायी पड़ रही है। यह शक्ति नैतिकताको भी विनष्ट करना चाहती है. पर इसके लिये यह नैतिकताके उपर आत्माकी पूर्ण पवित्रतामें नहीं उठती, जैसा करनेका दावा गुह्यवादी अनुभव करता है, बल्कि इसके घेरेको तोड़-फोड़कर तथा उससे बाहर निकलकर नीचे प्राणिक क्रीड़ाकी उल्लाससूर्ण स्वतंत्रतामें प्रवेश करती है। इस विकासमें धर्मको एक ओर छोड़ दिया गया, वह विश्वास और क्रियाकांडकी एक ऐसी दुर्बल प्रणालीमात्र रह गया जिसे स्वीकार करने या न करनेके लिये हर कोई स्वतंत्र था और इससे मानव मन और प्राणकी प्रगतिमें कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता था। चीजोंके अंदर पैठने तथा उन्हें अपने रंगमें रंग देनेकी उसकी शक्ति क्षीण होकर अत्यंत मंद पड़ गयी; सिद्धांत और भाव-भावनापर उसका एक ऊपरी रंग ही इस तीव्र प्रक्रियाके बाद शेष बच रहा।

इतना ही नहीं, बल्कि अबतक उसे जो छोटा-सा दीन-हीन कोना मिला हुआ था उसे भी बुद्धिवाद (Intellectualism) ने यथासंभव तर्कके प्रकाशसे प्लावित कर देनेका आग्रह किया। उसकी प्रवृत्ति धार्मिक भावना-के अवबौद्धिक ही नहीं बल्कि अतिबौद्धिक आश्रय-स्थलोंको भी न्यूनसे न्यून कर देनेकी रही है। समस्त प्रकृतिमें प्राण और जड़-तत्त्वके एक-एक अणु-में, संपूर्ण जीव-जगत्में और मनुष्यकी समस्त मानसिक क्रियाओंमें एक दिव्य सत्ता और अतिभौतिक जीवन एवं शक्तिके विद्यमान होनेके प्राचीन विचारको पुराने मूर्त्तिपूजक बहुदेवतावादी प्रतीकवादने अपने सुन्दर रूपकोंका परिधान पहनाया था; परंतु यह विचार, जो लौकिक बुद्धिके लिये केवल एक बुद्धिभावापन्न जड़-चैतन्यवाद है, पहले ही निर्दयतापूर्वक बहिष्कृत कर दिया गया था। भागवत सत्ता भूतलको छोड़ चुकी थी और अन्य लोकोंमें, संतों और अमर आत्माओंके स्वर्गलोकमें बिलकुल अलग-थलग और अत्यंत दूर रहने लगी थी। परंतु कोई अन्य लोक भला होने ही क्यों चाहियें? प्रगतितत्पर बुद्धिने चिल्लाकर कहा, मैं तो केवल इस जड़ जगत्को ही स्वीकार करती हूं जिसके अस्तित्वकी साक्षी हमारी बुद्धि और इंद्रियां देती हैं। आध्यात्मिक सत्ताके एक अनिश्चित और शून्यसे अमूर्त्त रूपको, जिस-

का न कोई निवासधाम है और न जिसके साथ सक्रिय सामीप्य प्राप्त करनेका कोई साधन ही है, पुरानी आध्यात्मिक अनुभूति या पुरानी अद्भुत भ्रांतिके निरुत्साही अवशेषोंको संतुष्ट करनेके लिये छोड़ दिया गया। एक रिक्त और मंदोत्साह आस्तिकवाद बाकी रह गया या फिर एक युक्ति-सिद्ध ईसाइयत बच रही जिसमें न ईसाका नाम शेष रहा और न उनकी उपस्थिति। अथवा बुद्धिका आलोचक प्रकाश भला इसे भी क्यों रहने दे? एक तर्कबुद्धि या शक्ति, जिसे किसी अधिक अच्छे नामके अभावमें 'ईश्वर' कहकर पुकारा जाता है और इस जड़ जगतमें नैतिक एवं भौतिक नियम ही जिसका प्रतिनिधि है, किसी तर्कप्रधान मनुष्यके लिये सर्वथा पर्याप्त है, और इस प्रकार हम ईश्वरवाद (Deism) या एक शून्य बौद्धिक सूत्रपर पहुंचते हैं। अथवा कोई ईश्वर भी भला क्यों हो? स्वयं बुद्धि और इंद्रियां ईश्वरके विषयमें कोई प्रमाण नहीं देतीं; अधिकसे अधिक वे उनके विषयमें एक युक्तिसंगत अनुमान भर कर सकती हैं। परंतु एक निःसार अनुमानकी जरूरत ही क्या है, क्योंकि प्रकृति ही अपने-आपमें पर्याप्त है और यही वह एकमात्र वस्तु है जिसकी हमें जानकारी है। इस प्रकार एक अवश्यंभावी प्रक्रियाके द्वारा हम लौकिकताके नास्तिकतावादी या अज्ञेयवादी सिद्धांतपर पहुंच जाते हैं जो प्रत्यक्षवादी बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले निषेधकी पराकाष्ठा है और है इस बुद्धिका चरम शिखर। वहां तर्कबुद्धि और जीवन आगेके लिये अपना आधार रख सकते हैं तथा खूब संतुष्ट होकर विजित जगतपर शासन कर सकते हैं,—पर हां, यदि वह पीछेकी ओर अवस्थित, असुविधाजनक, आवृत, संदिग्ध अनंत अनिर्वचनीय 'सत्ता' भविष्यके लिये उन्हें स्वतंत्र रहनेकी छूट दे दे तो!

अवश्य ही, इस प्रकारका स्वभाव एवं दृष्टिकोण अतिबौद्धिक और अनंतकी प्राप्तिके सच्चे प्रयत्न जैसी किसी भी चीजसे अधीर हो उठेगा। यह इन सूक्ष्म भ्रमोंकी किसी मर्यादित क्रीड़ाको अनुमानात्मक मन या कलात्मक कल्पनाकी निर्दोष तृप्तिके रूपमें सहन कर सकता है, बशर्ते कि वह अत्यंत गंभीर न हो उठे तथा जीवनमें बलात् घुस न आये। परंतु वैराग्य और पारलौकिकता तर्कबुद्धिके स्वभावके लिये घृणास्पद तथा इसके दृष्टिकोणके लिये घातक है। जीवन एक ऐसी वस्तु है जिसे हमें अपनी सामर्थ्यके अनुसार, युक्तिपूर्वक या बलपूर्वक अधिकृत करना तथा भोगना चाहिये, किंतु इस पार्थिव जीवनको, इस एकमात्र वस्तुको ही जिसे हम जानते हैं और जो हमारा अनन्य क्षेत्र है। अधिक-से-अधिक, एक माध्यम बौद्धिक एवं नैतिक वैराग्य, अर्थात् सरल जीवन, सादी रहन-सहन और उच्च विचार ही

मान्य हो सकते हैं; किंतु एक भाव-विभोर आध्यात्मिक वैराग्य बुद्धिके निकट एक दोष है, लगभग एक अपराध ही है। प्राणात्मवादी ढंगके निराशावाद को अपने भाव और अपने मुहूर्त्तका उपयोग करने दिया जा सकता है। क्योंकि वह स्वीकार करता है कि जीवन एक बुराई है पर इसमेंसे गुजरना ही होगा और वह इस जीवनकी जड़ नहीं काट डालता। परंतु स्पष्ट ही, यथार्थ दृष्टिकोण यह है कि जीवन जैसा है वैसेका वैसा अपनाया जाय और या तो व्यावहारिक दृष्टिसे इसकी मिली-जुली भलाई और बुराईको अधिकसे अधिक अच्छे रूपमें व्यवस्थित करनेके लिये या आदर्शकी दृष्टिसे एकदम शांति प्राप्त करनेकी कोई आशा लेकर इसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय। यदि आध्यात्मिकताको कोई अर्थपूर्ण वस्तु बनना हो तो इसे केवल उस उदात्त बुद्धि, तर्कसंगत संकल्प सीमित सौंदर्य और नैतिक शुभके लक्ष्य या उच्च प्रयासको ही प्रकट करना चाहिये जो इस वर्तमान जीवनका सर्वोत्तम उपयोग करनेका यत्न करेंगे, न कि इसके परे व्यर्थमें किसी अमानवीय, अप्राप्य, असीम या चरम तृप्तिकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। यदि धर्मको जीवित रहना हो तो उसका कर्म इस प्रकारके आध्यात्मिक लक्ष्यकी सेवा करना, आचार-व्यवहारका नियमन करना, हमारे जीवनमें सौंदर्य और पवित्रता लाना ही होना चाहिये; परंतु उसे इस बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सबल आध्यात्मिकताकी ही सेवा करनी चाहिये, और व्यावहारिक तर्कशक्ति एवं पार्थिव बुद्धिकी सीमाओंके भीतर ही रहना चाहिये। निःसंदेह, यह वर्णन मुख्य बातोंको तो अलग कर देता है और किसी एक या दूसरी दिशामें होनेवाले व्यतिक्रमोंकी उपेक्षा करता है; परंतु समस्त मानव-प्रकृतिमें व्यतिक्रम तो होने ही चाहियें और वे बहुधा चरम कोटिके होते हैं। परंतु मेरी समझमें यह पश्चिमी स्वभाव और उसके दृष्टिकोणके दृढ़ आधार एवं विशिष्ट झुकावका तथा उसकी बुद्धिकी सामान्य स्थितिका कोई अनुचित या अतिरंजित वर्णन नहीं है। यही बुद्धिकी आत्म-तुष्ट निश्चल स्थिति तबतक रहती है जबतक वह उस व्यतिक्रम या आत्म-अतिक्रमणकी ओर अग्रसर नहीं होती जिसकी ओर मनुष्य, अपनी सामान्य प्रकृतिके शिखरपर पहुंचनेके बाद अनिवार्य रूपसे प्रेरित होता है। कारण, उसमें प्रकृतिकी एक शक्ति निहित है जिसे या तो विकसित होना होगा या फिर निश्चेष्ट होकर विघटित और विलुप्त हो जाना होगा, और जबतक वह अपने-आपको पूर्ण रूपसे प्राप्त नहीं कर लेता तबतक उसे कोई स्थिर जीवन और उसकी आत्माको कोई स्थायी धाम नहीं प्राप्त हो सकता।

अब जब कि यह पश्चिमी मन भारतीय धर्म विचार और संस्कृतिकी

अभीतक बची हुई जीवित शक्तिके सम्मुख उपस्थित होता है तो यह देखता है कि उसमें इसके सभी मानदंडोंका या तो निषेध और अतिक्रमण किया गया है या उनकी अवहेलना कर दी गयी है; जिन चीजोंका यह मान करता है उन सबको गौण स्थान दिया गया है, जिन चीजोंका इसने त्याग कर दिया है उन सबका उसमें अभीतक सम्मान किया जाता है। यहां उसे एक ऐसा दर्शन दिखायी देता है जो अनंतकी साक्षात् वास्तविकतापर तथा निरपेक्षके प्रबल दावेपर आधारित है। और यह कोई अनुमान करनेकी वस्तु नहीं है, बल्कि एक वास्तविक उपस्थिति एवं शाश्वत शक्ति है जो मनुष्यकी अंतरात्माकी मांग करती तथा उसे अपनी ओर बुलाती है। यहां उसे एक ऐसी मनोवृत्ति दिखायी देती है जो प्रकृतिमें, मनुष्य और पशुमें तथा जड़ पदार्थमें भगवान्‌को देखती है; आदि, मध्य और अंतमें, यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान् हीके दर्शन करती है। और यह सब कल्पनाकी कोई ऐसी स्वीकार्य काव्यमय क्रीड़ा नहीं है जिसे अत्यंत गंभीरतापूर्वक लेना जीवनके लिये आवश्यक न हो, बल्कि इसे एक ऐसी वस्तुके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है जिसे जीवनमें उतारना, चरितार्थ करना, यहांतक कि बाह्य कर्मके पीछे बनाये रखना और विचार, अनुभव तथा व्यवहारके उपादानमें परिणत कर डालना आवश्यक है! और पूरी-की-पूरी साधन-पद्धतियां इसी उद्देश्यके लिये सुव्यवस्थित की गयी हैं, जिनका लोग आज भी पालन करते हैं! और सारा जीवन परम पुरुष, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एवं अनंतकी इस खोजमें ही होम दिया जाता है! और इस अपार्थिव लक्ष्यका अनुसरण करनेके लिये आज भी मनुष्य बाह्य जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यंत प्रिय विषयोंको एवं उस सबको, जो तर्कप्रधान मनके लिये सच्चा तथा ठोस मूल्य रखता है, त्याग देनेमें संतोष अनुभव करते हैं! यहां एक ऐसा देश है जिस-पर अभीतक संन्यासीकी पोशाकका गेरुआ रंग खूब पक्का चढ़ा हुआ है, जहां अभीतक परात्परका एक सत्यके रूपमें प्रचार किया जाता है और मनुष्य अन्य लोकों तथा पुनर्जन्ममें और प्राचीन विचारोंकी उस संपूर्ण शृंखलामें जीवंत विश्वास रखते हैं जिसकी सत्यता भौतिक विज्ञानके उपकरणोंके द्वारा बिलकुल ही नहीं परखी जा सकती। यहां योगके अनुभवोंको वैज्ञानिक प्रयोगशालाके परीक्षणोंके समान या उनसे भी अधिक वास्तव माना जाता है। क्या यह ऐसी वस्तुओंपर विचार करना नहीं है जो स्पष्टतः ही अवि-चारणीय हैं, क्योंकि तर्कवादी पश्चिमी मनने उनके बारेमें सोचना बंद कर दिया है? क्या यह उन वस्तुओंको जाननेका प्रयत्न नहीं है जो स्पष्टतः ही अज्ञेय हैं क्योंकि आधुनिक मनने उन्हें जाननेका प्रयत्न करना सर्वथा त्याग

दिया है? इन बुद्धिहीन अर्द्ध-बर्बर लोगोंमें इस अवास्तविक वस्तुको भी जीवनकी उड़ानका सर्वोच्च शिखर, इसका असली लक्ष्य, और कला, संस्कृति तथा आचार-व्यवहारकी नियामक शक्ति एवं निर्माणकारी सामर्थ्य बनानेका प्रयत्न देखनेमें आता है। परंतु, यह तार्किक मन हमें बताता है कि, कला, संस्कृति और आचार-व्यवहार ऐसी चीजें हैं जिनका, न्यायतः, भारतीय अध्यात्म और धर्मको स्पर्श ही नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह सांतके क्षेत्रसे संबंध रखती हैं और इनका आधार केवल बौद्धिक तर्क और व्यावहारिक परिस्थितिपर तथा भौतिक प्रकृतिके सत्यों एवं संकेतोंपर ही रखा जा सकता है। इन दो मनोवृत्तियोंके बीच जो प्रत्यक्ष खाई है वह अपने मूल रूपमें यही है और ऐसा दीखता है कि इसे पाटा नहीं जा सकता। अथवा सच पूछो तो, भारतीय मनोवृत्ति पश्चिमी बुद्धिके प्रत्यक्षवादी झुकावमें योग न देती हुई भी इसका अभिप्राय भलीभांति समझ सकती है; परंतु वह अपने-आपमें पश्चिमी बुद्धिकी दृष्टिमें एक ऐसी चीज है जो चाहे घृणित न हो पर कम-से-कम असामान्य और समझसे बाहर अवश्य है।

पाश्चात्य आलोचकके लिये, भारतके धार्मिक-दार्शनिक दृष्टिकोणका जीवनपर जो प्रभाव पड़ता है वह तो और भी अधिक असह्य है। जहां उसकी बुद्धि इस अतिबौद्धिक — और उसकी दृष्टिमें बुद्धिविरोधी — आवेग-के कारण पहलेसे ही रुष्ट थी, वहां अब उसकी प्रकृतिकी प्रबलतम सहज-प्रवृत्तियोंको अपनी निजी स्पष्ट प्रतिकूल और विरोधी चीजोंके द्वारा तीव्र आघात पहुंचता है। जिस जीवनपर वह संपूर्ण और असंदिग्ध महत्त्व प्रदान करता है, ठीक उसीपर यहां शंका उठायी जाती है। भारतीय बहिर्दृष्टि या अंतर्दृष्टिके एक पक्षके चरमतम परिणामोंके द्वारा इसे तिरस्कृत और निरुत्साहित किया जाता है और कहीं भी इसे इसकी अपनी खातिर ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जाता। सर्वत्र वैराग्यवादका बोलबाला है, वही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, वह प्राणकी सहज-प्रवृत्तियोंपर अपनी छाया डालता है तथा मनुष्यको शरीरके जीवन और यहांतक कि मानसिक इच्छा एवं बुद्धिके जीवनका भी अतिक्रमण करनेके लिये पुकारता है। पश्चिमी मन व्यक्तित्वकी शक्ति, वैयक्तिक संकल्प, मानवकी बाह्य सत्ता तथा उसकी प्रकृतिकी इच्छाओं और मांगोंपर अत्यधिक बल देता है। परंतु यहां उसके ठीक विपरीत, निर्व्यक्तिकताकी ओर एक उच्च विकास संपन्न करने, व्यक्तिगत संकल्पको विस्तृत करके विश्वगत संकल्पमें मिला देने, मनुष्य की बाहरी सत्ता और उसकी सीमाओंके परे वर्द्धित होने या उसके बंधनोंको तोड़कर ऊपर उठ जानेपर बल दिया गया है। मानसिक और प्राणिक

अहंका विकास करना या अधिक-से-अधिक इसे समाजके विशाल अहंके अधीन रखना ही पश्चिमका सांस्कृतिक आदर्श है। परंतु यहां अहंको आत्माकी पूर्णतामें मुख्य बाधा समझा जाता है और यह प्रस्ताव किया जाता है इसका स्थान स्थूल सामाजिक अहंको नहीं बल्कि किसी आंतरिक, अमूर्त्त, विश्वातीत वस्तुको, किसी अतिमानसिक, अतिभौतिक एवं परम वास्तविक वस्तुको लेना चाहिये। पश्चिमका स्वभाव है राजसिक, प्रवृत्तिमय, व्यावहारिक एवं सक्रिय; इसकी दृष्टिमें विचार सदा कर्मकी ही ओर मुड़ता है और वह कर्मको या मनकी क्रीड़ा एवं उत्साहशीलताकी सूक्ष्म तृप्तिको छोड़कर और किसी चीजके लिये उपयोगी नहीं है। परंतु यहां जिस प्रकारके स्वभावको स्तुत्य प्रतिपादित किया गया है वह उस जितात्मा सात्त्विक मनुष्यका स्वभाव है जिसके लिये शांत विचार, आध्यात्मिक ज्ञान और आभ्यंतरिक जीवन ही सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं और कर्म मुख्यतया अपने निजके लिये एवं अपने फलों एवं पुरस्कारोंके लिये नहीं वरन् आंतरिक प्रकृतिके विकासपर पड़नेवाले अपने प्रभावकी खातिर महत्त्व रखता है। यहां एक विनाशकारी निवृत्ति-मार्ग भी है जो एक शाश्वत ज्योति और शांतिमें समस्त विचार और कर्मके निरोध या निर्वाणकी आशा करता है। यदि बद्ध मनवाला कोई पाश्चात्य आलोचक इन वैषम्योंपर अत्यधिक असंतोष, विद्वेषपूर्ण जुगुप्सा तथा निष्ठुर घृणाके साथ दृष्टिपात करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

किंतु, चाहे कुछ भी हो, चाहे ये चीजें उसकी बुद्धिको कितनी ही दूर क्यों न प्रतीत होती हों, फिर भी इनमें कोई उच्च और श्रेष्ठ तत्त्व निहित है। इन्हें वह मिथ्या, बुद्धिविरुद्ध और विषादजनक कहकर इनकी अवहेलना कर सकता है पर इन्हें बुरी और नीच बताकर निंदनीय नहीं घोषित कर सकता। अथवा वह उस प्रकारके मिथ्या वर्णनोंके बलपर ही ऐसा कर सकता है जैसे कि हम कहीं-कहीं मि. आर्चरके अधिक दायित्वशून्य आक्षेपोंमें देख चुके हैं। ये चीजें पुराकालीन या अप्रचलित मनोवृत्तिके चिह्न हो सकती हैं, पर ये किसी बर्बर संस्कृतिके फल तो कदापि नहीं हो सकतीं। परंतु जब वह धर्मके उन आचार-अनुष्ठानोंका पर्यवेक्षण करता है जिन्हे ये आलोकित और अनुप्राणित करती हैं तो उसे ऐसा अवश्य दिखायी देता है मानो वह एक निरी बर्बरता, असभ्य और अज्ञानयुक्त गड़बड़घोटालेके सामने उपस्थित हो। कारण, यहां उन सभी चीजोंकी भरमार है जिनसे वह अपनी संस्कृतिमें धर्मको इतने दीर्घकालसे दृढ़तापूर्वक पृथक् करता रहा है और उस पृथक्करणको सुधार, ज्ञानालोक और वस्तुओंका तर्कसंगत सत्य

कहनेमें अत्यन्त संतोष मानता रहा है। यहां वह देखता है — एक विराट् बहु-देवतावाद, जो चीजें उसकी बुद्धिको पूर्ण मात्रामें अंधविश्वास प्रतीत होती हैं उनकी अतिप्रचुरता, जो वस्तुएं उसके निकट अर्थहीन या अविश्वसनीय हैं उनमें विश्वास करनेकी असीम तत्परता। हिंदू तीस करोड़ और इससे भी अधिक देवताओंको माननेके लिये संसारभरमें प्रसिद्ध हैं, उनके लिये, भूमंडलके इस एक प्रायद्वीप भारतमें जितने मनुष्य रहते हैं उतने ही, उन अनेकों स्वर्गलोकोंमें देवता भी निवास करते हैं, और जरूरत पड़नेपर, इस बड़ी भारी संख्यामें वृद्धि करनेमें भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं। यहां भारतमें हैं मंदिर, मूर्त्तियां, पुरोहितगिरी, दुर्बोध रीति-रिवाजों और आचार-अनुष्ठानोंका समूह, संस्कृतके मंत्रों और प्रार्थनाओंका नित्य-पाठ जिनमेंसे कुछ तो ऐतिहासिक कालसे पहलेकी रचनाएं हैं, सब प्रकारकी अतिभौतिक सत्ताओं और शक्तियोंमें विश्वास, संत, गुरु, पवित्र दिन, व्रत, पूजा, यज्ञ, मर्त्य जीवोंके जीवनका नियमन करनेवाले एकमात्र भौतिक नियमोंपर तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंगसे निर्भर रहनेके बजाय जीवनका संबंध सदैव उन शक्तियों और प्रभावोंके साथ स्थापित करना जिनका कोई भौतिक प्रमाण संभव ही नहीं है। उसके लिये यह एक दुर्बोध गड़बड़घोटाला है; यह जड़-चैतन्यवाद है; यह एक बीभत्स परंपरागत धर्म है। भारतीय विचारक इन चीजोंको जो अर्थ प्रदान करते हैं वह, अर्थात् इनका आध्यात्मिक अर्थ उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है अथवा उसे जानकर भी वह अविश्वासी बना रहता है। फिर वह उसके मनको एक निःसार एवं अत्यंत मूर्खतापूर्ण प्रतीकवाद प्रतीत होता है, सूक्ष्म, व्यर्थ और निरुपयोगी। इतना ही नहीं कि इस जातिका धर्ममत और विश्वास पुरातन और मध्ययुगीन ढंगका है, बल्कि वह अपने समुचित स्थानपर विन्यस्त भी नहीं है। धर्मको एक संकुचित और प्रभावशून्य कोनेमें रखनेके स्थानपर भारतीय मन संपूर्ण जीवनको उससे परिपूरित कर देनेका दावा, एक दम अज्ञानपूर्ण दावा करता है जिसे युक्तिप्रधान मनुष्य सदाके लिये अतिक्रम कर चुका है।

सामान्य यूरोपवासीकी अति-प्रत्यक्षवादी बुद्धिको, — जो धार्मिक मनोवृत्तिको "अतिक्रांत" कर चुकी है अथवा युक्तिपंथी जड़वादके अभीतक बने हुए दिवालियापनके बाद उस मनोवृत्तिकी ओर पुनः लौटनेके लिये केवल संघर्ष कर रही है, — यह विश्वास दिलाना कठिन है कि भारतके इन धार्मिक आचार-अनुष्ठानोंमें कोई गंभीर सत्य या अर्थ निहित है। क्या ही अच्छा कहा गया है कि ये आत्माकी स्वरलहरियां हैं; परंतु जो मनुष्य आत्माको नहीं देख पाता वह निश्चय ही, आत्मा और उसके ताल-छंदके

परस्पर-संबंधको भी नहीं देख पायगा। जैसा कि प्रत्येक भारतीय जानता है, इस पूजाके पात्र देवता एकमेव अनंतके शक्तिशाली नाम, दिव्य रूप, क्रियाशील व्यक्तित्व एवं जीवंत स्वरूप हैं। प्रत्येक देव परम त्रिमूर्त्ति (Trinity) का एक रूप है या उससे पैदा हुई सत्ता या उसपर आश्रित शक्ति है, प्रत्येक देवी विश्व-शक्ति, चिच्छक्ति या परमा शक्तिका एक रूप है। परंतु तार्किक यूरोपीय मनके लिये, एकेश्वरवाद बहुदेवतावाद, विश्वेश्वरवाद ऐसे सिद्धांत हैं जो एक समन्वय-सूत्रमें नहीं बंधते और परस्पर झगड़ते रहते हैं; एक-त्व, बहु-त्व, सर्व-त्व सनातन अनंतके परस्पर भिन्न रूप नहीं हैं और न हो ही सकते हैं, बल्कि ये उसके सुसमन्वित रूप हैं। विश्वके परे अधिष्ठित किसी ऐसी एकमेब दिव्य सत्तामें विश्वास करना, जो स्वयं यह समस्त विश्व है और जो देवाधिदेवके अनेक रूपोंमें निवास करती है, विचारों का एक घपला, घोटाला और गड़बड़झाला है; क्योंकि समन्वय, अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि, आंतर अनुभूति इस अतीव बहिर्मुख, विश्लेषक और तार्किक मनकी विशेषताएं नहीं हैं। हिंदूके लिये प्रतिमा अतिभौतिक सत्ताका एक भौतिक प्रतीक एवं आलंबन है; मनुष्यका देहबद्ध मन एवं इंद्रिय और वह अतिभौतिक बल, शक्ति या उपस्थिति जिसकी वह पूजा करता है और जिसके साथ वह संपर्क स्थापित करना चाहता है — इन दोनोंके मिलनके लिये मूर्त्ति एक आधारका काम करती है। परंतु औसत यूरोपवासीको अमूर्त्त सत्ताओंमें बहुत ही कम आस्था होती है और यदि हो भी तो उन्हें वह एक अलग श्रेणी एवं एक अन्य संबंधरहित लोकमें, सत्ताके एक पृथक् स्तरमें रख देना चाहेगा। भौतिक और अतिभौतिकके बीचकी ग्रंथि, उसकी दृष्टिमें, एक निरर्थक सूक्ष्मता है जिसके लिये केवल कल्पनात्मक काव्य और उपन्यासमें ही जगह दी जा सकती है।

हिंदूधर्मके रीति-रिवाज, आचार-अनुष्ठान, इसकी पूजा और उपासनाकी प्रणाली केवल तभी समझमें आ सकती हैं यदि हम इसके मूल स्वरूपको ध्यानमें रखें। सर्वप्रथम, यह कट्टरतासे रहित एक सर्व-समावेशी धर्म है, और यदि इस्लाम और ईसाइयत समावेशकी प्रक्रियाको सहन करते तो यह उन्हें भी अपने अंदर मिला लेता। इसके मार्गमें जो कुछ भी आया है वह सब इसने अपने अंदर ले लिया है, और यदि वह अतिभौतिक लोकोंके सत्य तथा अनंतके सत्यके साथ अपने रूपोंका कोई यथार्थ संबंध स्थापित कर सका तो वह उतनेसे ही संतुष्ट रहा है। और फिर, अपने अंतस्तलमें इसे सदैव यह ज्ञान रहा है कि यदि धर्मको कुछ एक संतों और विचारकोंके लिये ही नहीं बल्कि जनसाधारणके लिये एक वास्तविक वस्तु बनना हो

तो उसे हमारी सारीकी सारी सत्ताको, केवल अतिबौद्धिक और बौद्धिक भावोंको ही नहीं बल्कि अन्य सभी भागोंको अपनी पुकार सुनानी होगी। कल्पना, भावावेग और सौंदर्यबुद्धिको, यहांतक कि अर्द्ध-अवचेतन भागोंकी निज सहज-प्रवृत्तियोंको भी अपने प्रभावमें लाना होगा। धर्मको अति-बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सत्यकी प्राप्तिमें मनुष्यका मार्गदर्शक बनना होगा और अपने मार्गमें इसे आलोकित बुद्धिकी सहायता लेनी होगी, परंतु वह हमारी जटिल प्रकृतिके शेष भागोंको भगवान्‌की ओर पुकारनेसे नहीं चूक सकता। और इसे फिर प्रत्येक मनुष्यको, जहां वह स्थित है वहींसे, हाथमें लेना होगा और वह जो कुछ भी अनुभव कर सकता है उसीके द्वारा उसे आध्यात्मिक बनाना होगा, न कि उसपर तुरंत कोई ऐसी चीज थोप देनी होगी जिसे वह अभी एक सच्ची और सजीव शक्तिके रूपमें हृदयंगम नहीं कर सकता। यही हिंदूधर्मके उन अंगोंका अभिप्राय और उद्देश्य है जिन्हें प्रत्यक्षवादी बुद्धि तर्कहीन या तर्कविरुद्ध कहकर विशेष रूपसे कलंकित करती है। परंतु यूरोपीय मन इस सीधी-सादी आवश्यकताको समझनेमें असफल रहा है अथवा उसने इसे तुच्छताकी दृष्टिसे देखा है। वह धर्मको आत्माके द्वारा नहीं वरन् बुद्धिके द्वारा "शुद्ध करने" पर, आत्माके द्वारा नहीं वरन् बुद्धिके द्वारा "सुधारने" पर जोर देता है। और हम देख चुके हैं कि यूरोपमें इस प्रकारके पवित्रीकरण और सुधारके क्या परिणाम हुए हैं। इस अज्ञानपूर्ण चिकित्साका अचूक परिणाम प्रथम तो धर्मको दुर्बल करना और फिर धीरे-धीरे मार डालना ही हुआ है, रोगी इलाजका शिकार हो गया है, जब कि वह रोगसे भली-भांति मुक्त होकर दीर्घजीवी हो सकता था।

नैतिक तत्त्वके अभावका दोष लगाना एक घोर असत्य है, यह तो सत्यसे ठीक उलटी बात है; परंतु इसकी व्याख्या हमे एक प्रकारकी विशेष गलतफहमीमें ढूंढ़नी होगी; क्योंकि यह दोषारोपण नया नहीं है। हिंदू विचार एवं साहित्यपर प्रायः ही यह दोष लगाया जा सकता है कि इसमें सर्वत्र नैतिकताकी ओर इतना अधिक झुकाव है कि हर जगह नैतिकताका स्वर बार-बार बजता है। अनंतके विचारके बाद धर्मका विचार ही इसका प्रधान तार है; आत्माके बाद धर्म ही इसमें जीवनका आधार है। ऐसा कोई नैतिक विचार नहीं जिसपर इसमें बल न दिया हो, जिसे इसने उसके अत्यंत उच्च एवं अलंघनीय रूपमें उपस्थित न किया हो, शिक्षा, आदेश, कथानक, कलात्मक कृति और रचनात्मक दृष्टांतोंके द्वारा प्रस्थापित न किया हो। सत्य, सम्मान, राजभक्ति, विश्वासपात्रता, साहस, शुचिता, प्रेम, सहिष्णुता, आत्मत्याग, अहिंसा, क्षमा, करुणा, हितैषिता, दानशीलता, परोप-

कार इसके सामान्य विषय हैं, इसकी दृष्टिमें ये यथार्थ मानवजीवनके वास्तविक उपादान हैं, मनुष्यके धर्मका सारतत्त्व हैं। अपने महत् और उदात्त आचार-शास्त्रसे युक्त बौद्धधर्म, आत्मविजयके कठोर आदेशसे समन्वित जैनधर्म, धर्मके सभी पक्षोंके भव्य दृष्टांतोंसे विभूषित हिंदूधर्म नैतिक शिक्षा और आचरणमें किसी भी धर्म या संप्रदायसे कम नहीं हैं, बल्कि सच पूछो तो इनका स्थान सब धर्मोंसे अधिक ऊंचा है और इनका प्रभाव भी सबसे अधिक सबल रहा है। प्राचीन समयमें इन गुणोंके अभ्यासके विषयमें स्वदेशीय और विदेशीय प्रमाण प्रचुर रूपमें पाये जाते हैं। अत्यधिक ह्रासके होनेपर भी अभीतक इनकी काफी छाप मौजूद है, यद्यपि कई अपेक्षाकृत पुरुषोचित गुण जो स्वतंत्रताके क्षेत्रमें ही अपने पूर्णतम वैभवके साथ पनपते हैं, कुछ दब अवश्य गये हैं। इससे उलटी कहानी ईसाइयतके पक्षपाती उन अंग्रेज विद्वानोंके मनमे उद्भूत हुई जिन्हें भारतीय दर्शनके मुक्तिके साधनके रूपमें कर्मकी अपेक्षा ज्ञानपर अधिक बल देनेके कारण भ्रम हो गया। कारण, वे सभी भारतीय अध्यात्म-साधकोंके परिचित इस नियमको नहीं देख पाये या इसका अर्थ नहीं समझ सके कि शुद्ध सात्त्विक मन और जीवन दिव्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रथम पग माने गये हैं — गीता कहती है कि दुष्कर्म करनेवाले मुझे नहीं पाते। और वे अंग्रेज विद्वान् समझनेमें असमर्थ थे कि भारतीय मनके लिये सत्यके ज्ञानका अर्थ बौद्धिक स्वीकृति या अभिज्ञता नही बल्कि आत्माके सत्यके अनुसार नयी चेतना और नये जीवनको प्राप्त करना है। पश्चिमी मनके लिये नैतिकता, अधिकांशमें, बाह्य आचारकी वस्तु है; परंतु भारतीय मनके लिये बाह्य आचार आत्मिक स्थितिकी अभिव्यक्तिका एक साधन एवं चिह्नमात्र है। हिंदूधर्म केवल प्रसंगवश ही कुछ आदेशोंको एक सूत्रमें पिरो देता है, नैतिक नियमोंकी एक तालिका दे देता है; पर अधिक गहरे रूपमें वह मनकी एक आध्यात्मिक या नैतिक शुद्धताका आदेश देता है और कर्म उस शुद्धताका केवल एक बाह्य लक्षण है। वह काफी बलपूर्वक, प्रायः अत्यंत बलपूर्वक कहता है, "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये", परंतु इस आदेशपर अधिक दृढ़ताके साथ बल देता है कि "तुझे घृणा नहीं करनी होगी; लोभ, क्रोध या द्वेषके वशमें नहीं होना होगा", क्योंकि ये ही हिंसाके मूल हेतु हैं। और, हिंदूधर्म सापेक्ष मानदंडोंको स्वीकार करता है जो एक ऐसा ज्ञान है जो यूरोपीय बुद्धिके लिये अत्यंत गहन है। हिंसा न करना उसका सर्वोच्च नियम है, **अहिंसा परमो धर्मः**; तथापि वह इसे योद्धाके लिये एक स्थूल नियमके रूपमें प्रस्थापित नहीं करता, बल्कि उसे युद्ध न करनेवाले, दुर्बल, निरस्त्र, पराजित, बंदी, आहत और पलायनकारीके

प्रति दया, संरक्षण और आदरभावके व्यवहारकी आग्रहपूर्वक मांग करता है, और इस तरह समस्त जीवनके लिये एक अत्यंत निरपेक्ष नियमकी अव्यवहार्यतासे बच जाता है। इस अंतर्मुखता और इस बुद्धिमत्तापूर्ण सापेक्षताको समझनेकी भूल ही, संभवतः, अत्यधिक मिथ्या वर्णनके लिये उत्तरदायी है। पाश्चात्य नीतिशास्त्री पूर्णताके उपदेशके रूपमें एक उच्च मानदंड स्थापित करना चाहता है और यदि उस मानदंडका आदर उसके अनुसरणकी अपेक्षा उसके उल्लंघनसे ही अधिक हो तो भी उसे इसकी कोई विशेष परवा नहीं; भारतीय आचारशास्त्र उतना ही ऊंचा और प्रायः उससे भी ऊंचा मानदंड स्थापित करता है; परंतु जीवनके सत्यकी अपेक्षा ऊंचे-ऊंचे दावोंसे कम संबंध रखनेके कारण यह उन्नतिकी क्रमिक अवस्थाओंको स्वीकार करता है और निचली अवस्थाओंमें यह उन लोगोंको यथासंभव नैतिक बनानेसे ही संतुष्ट रहता है जो अभी उच्चतम नैतिक विचारों और आचार-व्यवहारके योग्य नहीं हैं।

अतएव हिंदूधर्मकी ये सब आलोचनाएं या तो वास्तवमें मिथ्या हैं अथवा ये अपने स्वरूपमें ही अप्रमाणिक हैं। एक और, अधिक प्रचलित तथा अनिष्टकारी आरोप यह है कि भारतीय संस्कृति प्राणशक्तिको अवसन्न तथा संकल्पबलको पंगु कर देती है तथा यह मानवजीवनको कोई महान् या ओजस्वी शक्ति, कोई उच्च प्रेरणा या उत्साहवर्द्धक एवं उन्नतिकारक उद्देश्य नहीं प्रदान करती। इसपर विचार करना अभी बाकी है कि यह पूर्णतः या अंशतः युक्तियुक्त है या नहीं।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

पांचवां अध्याय

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या हमारे सामान्य मानवजीवनको शक्तिशाली और समुन्नत करनेके लिये भारतीय संस्कृतिमें पर्याप्त शक्ति है? इसके लोकोत्तर उद्देश्योंके अतिरिक्त, क्या इसका कोई व्यावहारिक, प्रवृत्तिमार्गीय एवं क्रियाशील मूल्य भी है, जीवनके विस्तार और यथार्थ नियंत्रणके लिये क्या इसमें कोई शक्ति है? यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। क्योंकि, यदि इस संस्कृतिमें हमें देनेके लिये इस प्रकारकी कोई चीज न हो तो फिर इसकी अन्य महत्ता कुछ भी क्यों न हो, यह जी नहीं सकती। जैसे कोई विशेष सुन्दर पौधा अपने विशेष उष्ण-गृहमें ही जीवित रहता है, वैसे ही यह संस्कृति हिमालयके इस पारके अपने उष्ण प्रायद्वीपके एकांतमें ही जीवित रह सकती है, किंतु जीवनके आधुनिक संघर्षके तीव्र और विकट वातावरणमें विनष्ट हो जायगी। कोई भी प्राणविरोधी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। तीव्र प्राणिक प्रेरणा और उत्साहसे रहित अतीव बौद्धिक या अतीव पारलौकिक सभ्यता रस और रक्तके अभावमें क्षीण हो जायगी। कोई भी संस्कृति मनुष्यके लिये स्थायी और पूर्ण रूपसे उपयोगी तभी हो सकती है जब कि वह उसे समस्त पार्थिव जीवन-मूल्योंके अतिक्रमणार्थ एक प्रकारका दुर्लभ एवं विश्वातीत ऊर्ध्वमुख प्रवेग देनेके अतिरिक्त कुछ और भी प्रदान करे। इसे पुरातन, परिपक्व और परोपकारी समाजकी चिरस्थायिता और व्यवस्थित सुख-समृद्धिको ज्ञान, विज्ञान और दार्शनिक जिज्ञासाके महान् कौतूहलके द्वारा या कला, काव्य और स्थापत्यकी समृद्ध ज्योति एवं प्रभाके द्वारा विभूषित करनेसे भी अधिक कुछ करना होगा। अतीत कालमें भारतीय संस्कृतिने एक महत् उद्देश्यके लिये यह सब कुछ किया था। परंतु इसे विकास पाती हुई जीवनशक्तिकी कसौटियोंपर भी खरा उतरना चाहिये। मनुष्यके पार्थिव प्रयासके लिये कुछ अंतःप्रेरणा अवश्य होनी चाहिये, विकासके लिये एक उद्देश्य, एक प्रेरणा, एक शक्ति, और जीवन धारण करनेके लिये एक इच्छाशक्ति अवश्य होनी चाहिये। चाहे हमारा लक्ष्य निश्चल-नीरवता एवं निर्वाण, आध्यात्मिक लय या भौतिक मृत्यु हो

या न हो, पर इतना निश्चित है कि स्वयं यह जगत् एक विशाल प्राण-पुरुषका महान् प्रयास है और मनुष्य इस भूतलपर उसके प्रयास या नाटकका वर्तमान संदिग्ध मुकुट एवं संघर्षरत पर अभीतक असफल आधुनिक नायक एवं अग्रणी है। एक महान् संस्कृतिको इस सत्यके किसी पूर्ण रूपको अवश्य देखना चाहिये; उसे इस ऊर्ध्वमुखी प्रयत्नको चरितार्थ करनेके लिये कोई चेतन एवं आदर्श शक्ति प्रदान करनी चाहिये। जीवनके लिये एक स्थिर आधार स्थापित करना ही काफी नहीं है, इसे सजाना-संवारना ही पर्याप्त नहीं है, इसके परेके शिखरोंकी ओर बहुत ऊंची उड़ान भरना ही काफी नहीं है; भूतलपर मानवजातिकी महानता और विकास भी समान रूपसे हमारा ध्येय होना चाहिये। इस महान् मध्यवर्ती सत्यसे चूक जाना एक प्रधान त्रुटि है और यह स्वयं अपने-आपमें ही असफलताकी एक छाप है।

हमारे आलोचक यह कहना चाहेंगे कि भारतीय संस्कृतिके संपूर्ण अंगपर ठीक ऐसी ही असफलताकी छाप अंकित है। पाश्चात्य लोगोंके मनमें यह धारणा बैठी हुई है कि हिंदूधर्म एक सर्वथा दार्शनिक एवं पारलौकिक धर्म है जो परेकी वस्तुओंके स्वप्न देखता रहता है, इहकाल और इहलोकको भुलाये रहता है : जीवनके मिथ्यात्वका अवसादजनक भाव या अनंतकी मादकता इसे मानव अभीप्सा और जागतिक प्रयासकी किसी भी उच्चता, सजीवता और महानतासे विमुख कर देती है। इसका दर्शन महिमाशाली हो सकता है, इसकी धार्मिक भावना उत्साहपूर्ण तथा इसकी प्राचीन समाज-व्यवस्था सुदृढ़, सुसमंजस तथा स्थायी हो सकती है, इसका साहित्य और इसकी कला अपने ढंगमे उत्तम हो सकती है, किंतु जीवनका रस इसमें नहीं है, संकल्प-शक्तिके स्पंदन और जीवंत प्रयासकी शक्तिका इसमें सर्वथा अभाव है। यह नया पत्रकार अपोलो, हमारा आर्चर, जो भारतीय बर्बरतारूपी अजगर-की कुंडलियोंको बाणोंसे छेदनेपर उतारू है, इस प्रकारकी घोषणाएं करनेमें उस्ताद है। परंतु यदि ऐसा हो तो, स्पष्ट ही, भारत कोई महान् कार्य नहीं कर सका है, मानवजीवनको कोई प्राणप्रद शक्ति नहीं दे सका है, कोई प्रबल संकल्पशाली पुरुष, कोई क्षमतासंपन्न व्यक्तित्व, कोई शक्तिशाली सार्थक मानवजीवन, कला और काव्यके क्षेत्रमें कोई प्राणवंत व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सका है, किसी महत्त्वपूर्ण वास्तुकला और मूर्तिविद्याकी सृष्टि नहीं कर पाया है। और यही बात हमारा छिद्रान्वेषी अपने सुन्दर शब्दोंके द्वारा हमें बताता है। वह कहता है कि इस धर्म और दर्शनमें जीवन और प्रयासका मूल्य साधारणतया कम कर दिया गया है। जीवनको बिना कूल-किनारेका एक विशाल क्षेत्र समझा जाता है। जिसमें पीढ़ियोंका उसी

प्रकार असहाय और निरुद्देश्य उत्थान-पतन होता रहता है जिस प्रकार समुद्रके बीच तरंगें उठती-गिरती हैं; व्यक्तिको सर्वत्र हीन किया गया और उसका मूल्य घटा दिया गया है; केवल एक महान् पुरुष गौतम बुद्ध, जो "शायद कभी हुए ही नहीं", विश्वके देवमंदिरमें भारतकी एकमात्र देन हैं, अथवा दूसरे एक हैं—निस्तेज वैशिष्टयहीन अशोक। नाटकों और काव्योंके पात्र या तो निर्जीव अतिरंजित चरित्र हैं या अतिप्राकृतिक शक्तियोंकी कठपुतलियां हैं; कला वास्तविकतासे शून्य है; इस सभ्यताका संपूर्ण इतिहास ही एक धूमिल, जीर्ण-शीर्ण और विषादजनक चित्र उपस्थित करता है। इस धर्म और इस दर्शनमें जीवनकी कोई शक्ति नहीं है, इस इतिहासमें जीवनका कोई स्पंदन नहीं है, इस कला और काव्यमें जीवन का कोई चिह्न नहीं है; यही है भारतीय संस्कृतिका थोथा परिणाम। जिस किसीने भी भारतका साहित्य सीधे मूल रूपमें देखा-पढ़ा है तथा इसका संवेदन प्राप्त किया है, भारतके इतिहासका अनुशीलन तथा उसकी सभ्यताका अध्ययन किया है, वह देख सकता है कि यह सब एक कटु मिथ्या वर्णन है, एक तीक्ष्ण व्यंग्य-चित्र है, एक मूर्खतापूर्ण असत्य है। पर साथ ही यूरोपीय मनपर बहुधा जो प्रभाव पड़ता है उसका निरूपण करनेका यह चरम तथा संकोचहीन तरीका है और पहलेकी तरह यहां भी हमें यह देखना होगा कि क्यों विभिन्न दृष्टियां एक ही वस्तुको ऐसे विभिन्न रंगोंमें देखती हैं। वही एक प्राथमिक भ्रांति इसका भी मूल कारण है। भारतने जीवन यापन किया है और समृद्ध, समुज्ज्वल और महान् रूपमें जीवन यापन किया है, किंतु उसका जीवनसंबंधी संकल्प यूरोपसे भिन्न रहा है। उसकी जीवन-विषयक भावना और योजना उसके स्वभावके अनुसार विशिष्ट प्रकारकी मौलिक और अद्वितीय रही है। उसके मूल्योंको समझ सकना किसी विदेशीके लिये सुगम नहीं है और अज्ञानी जन उसकी उच्चतम चीजोंका सहज ही द्वेषपूर्ण मिथ्या निरूपण कर सकते हैं; इसका कारण ठीक यही है ये सामान्य एवं असंस्कृत मनके लिये बेहद ऊंची हैं और इसकी सीमाओंसे परे उड़ान लेनेकी प्रवृत्ति रखती हैं।

किसी संस्कृतिके जीवन-मूल्यकी जांच करनेके लिये हमें उसकी तीन शक्तियोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। उनमेंसे पहली है जीवन-विषयक उसके मौलिक विचारकी शक्ति; दूसरी है उन रूपों, आदर्शों और गतिच्छंदोंकी शक्ति जो उसने जीवनको प्रदान किये हैं; अंतिम है उसके उद्देश्योंकी प्राणवंत कार्यान्वितिके लिये प्रेरणा, उत्साह और शक्ति जो उसके प्रभावमें फलने-फूलनेवाले मनुष्योंके तथा समाजके वास्तविक जीवनोंमें प्रकट

होती हैं। यूरोपकी जीवनसंबंधी परिकल्पनासे हम भारतवासी आज खूब परिचित हैं, क्योंकि हमारा वर्तमान चिंतन और प्रयास उस परिकल्पनाकी उपस्थितिसे यदि ओतप्रोत नहीं तो कम-से-कम उसकी छायासे आच्छन्न अवश्य हैं। कारण, हम उसके कुछ अंशको आत्मसात् करनेके लिये, यहां तक कि अपने-आपको और विशेषकर अपने राजनीतिक, आर्थिक और बाह्य आचार-व्यवहारको उसके विधि-विधानों एवं गतिच्छंदोंके किसी प्रतिरूपमें ढालनेके लिये निरंतर जी-तोड़ यत्न करते रहे हैं। यूरोपीय विचार एक ऐसी "शक्ति" की परिकल्पना है जो इस जड़ जगत्में अपने-आपको व्यक्त करती है और साथ ही यह इस संसारमें एक ऐसे 'जीवनतत्त्व' की परिकल्पना है जिसका प्रायः एकमात्र पाने योग्य अर्थ मनुष्य ही है। हालमें विज्ञानने निश्चेतन यांत्रिक प्रकृतिकी बृहत् शून्य जड़तापर जो बल दिया है उससे भी जगत्-विषयक इस विचारमें, जो मनुष्य हीको हर चीजका केंद्र मानता है, कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। और मनुष्यमें, जो प्रकृतिके जड़ प्रवाहके बीच एक ऐसी निराली सत्ता है, 'जीवन'के संपूर्ण प्रयत्नका उद्देश्य है — बोधग्राही और व्यवस्थापक बुद्धिके किसी प्रकाश और सामंजस्यको, बुद्धिमूलक कार्यदक्ष शक्ति, प्रसाधक सौंदर्य, प्रबल उपयोगिता, प्राणिक उपभोग एवं आर्थिक उन्नतिको प्राप्त करना। इसके लिये वैयक्तिक अहंकी स्वतंत्र शक्ति, समष्टिगत अहंकी संगठित इच्छाशक्ति, ये दो महान् आवश्क शक्तियां हैं। मनुष्यके अपने पृथक् व्यक्तित्वका विकास और संगठित समुन्नत राष्ट्रीय जीवन — यही दो चीजें यूरोपीय आदर्शमें महत्त्व रखती हैं इन दोनों शक्तियोंने अपना विकास किया है, संघर्ष किया है और कभी-कभी ये अपनी सीमातक पहुंच गयी हैं और यूरोपकी ऐतिहासिक उथल-पुथलमें जो चंचल और प्रायः प्रचंड प्राणवत्ता और उसके साहित्य एवं कलामें जो ओजस्विता दिखायी देती है उसका कारण इन्हीं शक्तियोंका प्रबल प्रभाव है। जीवन और सामर्थ्यका उपभोग, अहंभावमय लालसा और प्राणिक तुष्टिकी घुड़दौड़ ही यूरोपीय जीवनके ऊंचे और स्थायी स्वर हैं, ये ही सतत उद्घोषित उद्देश्य हैं। इनके विरुद्ध एक अन्य इनसे उलटा प्रयत्न भी देखनेमें आता है, वह है जीवनको तर्कबुद्धि, विज्ञान, नीतिशास्त्र और कलाके द्वारा संचालित करनेका प्रयत्न; यहां नियामक और सामंजस्य साधक उपयोगिता ही सर्वप्रधान उद्देश्य है। विभिन्न समयोंमें विभिन्न शक्तियोंने नेतृत्व किया है। ईसाई धार्मिकता भी बीचमें आयी है और उसने नये स्वरोंको जोड़ा है, कुछ प्रवृत्तियोंको परिवर्तित किया तथा किन्हीं दूसरी प्रवृत्तियोंको अधिक गहरा बनाया है। प्रत्येक युग और कालने सहायक धाराओं और शक्तियोंका भंडार बढ़ाया है और

समग्र परिकल्पनाकी जटिलता एवं विशालतामें हाथ बंटाया है। वर्तमान समयमें समष्टिगत जीवनकी भावनाका बोलबाला है और महान् बौद्धिक एवं भौतिक प्रगतिका तथा विज्ञानके द्वारा नियंत्रित एक समुन्नत राजनीतिक और सामाजिक राज्यका विचार इस भावनाकी सहायता करता है। आज या तो विवेकपूर्ण उपयोगिता, स्वतंत्रता और समानताका आदर्श देखनेमें आता है या फिर सुदृढ़ संगठन और कार्यदक्षताका तथा सार्वजनीन हितके लिये अविराम प्रयास करनेके लिये शक्तियोंको पूर्णतः एकत्र कर और सावधानीके साथ व्यवस्थित कर एकताके सूत्रमें बांधनेका आदर्श। यूरोपका यह प्रयास भीषण रूपसे बाह्य और प्रत्यक्षतः यांत्रिक बन गया है; किंतु एक अधिक मानवतावादी विचारकी कोई पुनर्जीवित शक्ति फिरसे अपना मार्ग बनानेका यत्न कर रही है और संभवतः शीघ्र ही मनुष्य अपनी विजयी मशीनरीके पहियेपर बांधे जाने और अपने ही यंत्रोपकरणोंके द्वारा विजित होनेसे इंकार कर सकता है। जो हो, हमें उस अवस्थापर अत्यधिक बल देनेकी जरूरत नहीं जो अवस्था शायद क्षणस्थायी ही हो सकती है। जीवनके संबंधमें यूरोपका व्यापक और स्थायी विचार तो विद्यमान है ही और यह अपनी सीमाओंके भीतर एक महान् और शक्तिप्रद परिकल्पना है,—अपूर्ण, तंग शिखरवाली, एक भारी आवरणके नीचे आच्छन्न, अपने क्षितिजोंमें दीन-हीन और अत्यधिक पार्थिव होनेपर भी इसके अंदर एक ऐसा भाव है जो उदात्त और ओजस्वी है।

जीवनसंबंधी भारतीय विचार एक अधिक गहरे केंद्रसे उठता है तथा कम बाह्य प्रणालियोंका अनुसरण कर एक अत्यंत भिन्न लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। भारतीय विचारकके नेत्रकी विशेषता यह है कि वह रूपके आरपार देखता है, यहांतक कि शक्तिके भी आरपार देखता है और सर्वत्र वस्तुओंके अंतर्निहित आत्माकी खोज करता है। जीवनसंबंधी भारतीय संकल्पकी विशेषता यह है कि जबतक उसे आत्माका सत्य नहीं प्राप्त होता और वह उसमें निवास नहीं करने लग जाता तबतक उसे ऐसा लगता है कि वह कृतार्थ नहीं हुआ, उसे पूर्णताका संपर्क नहीं प्राप्त हुआ, उसे किसी मध्यवर्ती संतुष्टिमें बने रहना उचित नहीं जंचता। जगत्, प्रकृति और सत्ताके विषयमें भारतीय विचार भौतिक नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। आत्मा, अंतरात्मा और चेतना जड़ प्रकृति तथा निश्चेतन शक्तिसे केवल महान् ही नहीं हैं अपितु वे इन निम्नतर वस्तुओंके आदि और मूल कारण भी हैं। समस्त बल-सामर्थ्य एक निगूढ़ आत्माकी शक्ति या साधन है। जगत्को धारण करनेवाली शक्ति एक सचेतन संकल्प-

शक्ति है, और प्रकृति उसका कार्यवाहक शक्ति-रूप यंत्र है। जड़तत्त्व अपने अंदर छुपी हुई चेतनाका शरीर या क्षेत्र है, और यह जड़ जगत् आत्मा-का बाह्य रूप और क्रिया-व्यापार है। स्वयं मनुष्य कोई ऐसा प्राण और मन नहीं है जो जड़तत्त्वसे उत्पन्न हुआ हो और सदाके लिये भौतिक प्रकृति-के अधीन हो, बल्कि वह एक आत्मा है जो प्राण और शरीरका उपयोग करता है। जगद्विषयक इस विचारमें जो एक सज्ञान श्रद्धा है, इसे जीवनमें कार्यान्वित करनेका जो एक प्रयत्न है, इस उच्च प्रयासकी जो कला और पद्धति है और अंतमें प्राण और जड़तत्त्वके साथ बंधे हुए इस मनके घेरेसे बाहर निकलकर महत्तर अध्यात्म-चेतनामें प्रविष्ट होनेकी जो अभीप्सा है यही भारतीय संस्कृतिका अंतरतम मर्म है। यही उस भारतीय आध्या-त्मिकताका स्वरूप है जिसकी इतनी अधिक चर्चा सुननेमें आती है। स्पष्ट ही, यह प्रमुख यूरोपीय विचारसे अत्यंत दूर है; जीवनविषयक ईसाई विचार-को जो रूप यूरोपने दिया है उससे भी यह भिन्न है। परंतु इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं कि भारतीय संस्कृति जीवनकी कोई वास्तविकता नहीं स्वी-कार करती, किन्हीं भौतिक या प्राणिक लक्ष्यों एवं तुष्टियोंका अनुसरण नहीं करती; अथवा हमारे वर्तमान मानवजीवनके लिये कुछ भी करनेकी परवाह नहीं करती। सचमुच यह तर्क नहीं उठाया जा सकता कि इस प्रकारका विचार मनुष्यके मानवीय प्रयासको कोई ओजस्वी और उत्प्रेरक उद्देश्य नहीं प्रदान कर सकता: निःसंदेह, इस विचारमें जड़तत्त्व, प्राण, बुद्धि और बाह्य रूप केवल आत्माकी शक्तियां हैं और ये अपने लिये नहीं बल्कि अपने अंतरस्थ आत्माके लिये, आत्मार्थम्, मूल्यवान् हैं; उपनिषद् कहती है कि इनका अस्तित्व आत्माके ही लिये है, और निश्चय ही, इन वस्तुओंके प्रति भारतीय मनोभाव यही है। परंतु यह इनका मूल्य कम नहीं करता, न इन्हें अपने मूल्यसे वंचित ही करता है; बल्कि यह इनके महत्त्वको सौगुना बढ़ा देता है। यदि बाह्य रूप और देह आत्माके जीवनसे अनु-प्राणित अनुभूत हों और यदि इन्हें उसके कार्य-व्यापारके लय-तालका अव-लंबन समझा जाय तो इनका महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। प्राचीन भारतीय विचारमें मानवजीवन कोई निकृष्ट और अयोग्य वस्तु नहीं था; पुराणमें दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि यह हमारी जानकारीमें सबसे महान् वस्तु है, स्वर्गके देवता भी इसकी आकांक्षा करते हैं। अपने मनों, हृदयों, अपनी प्राणशक्ति और अपने शरीरोंकी समृद्धतम या सबलतम शक्तियोंको गंभीर और उन्नत बनाना वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा स्व-उपलब्धिकी ओर तथा अपनी अनंत स्वाधीनता और शक्ति-सामर्थ्यकी पुनः प्राप्तिकी ओर

बढ़ सकता है। कारण, जब मन, हृदय और बुद्धि अपनी महत्तम ज्योतियों और शक्तियोंतक ऊंचे उठ जाते हैं तब ये देहबद्ध जीवनको ऐसे बिंदुपर ले आते हैं जहां यह इनसे परेकी एक और भी महत्तर ज्योति और शक्तिकी ओर उन्मुक्त हो सकता है; वहां व्यक्तिगत मन एक विशाल विश्व-चेतनाके रूपमें विस्तृत हो जाता है और एक उच्च आध्यात्मिक परात्परताकी ओर उठ जाता है। ये, कम-से-कम, विषाद और वंध्यताको पैदा करनेवाले विचार नहीं हैं; ये मनुष्यके जीवनको ऊंचा उठाते और इसके युक्तिसंगत परिणामके रूपमें देवत्व जैसी कोई चीज उत्पन्न करते हैं।

वैदांतिक विचारने और भारतीय संस्कृतिके प्राचीन सर्वोत्कृष्ट युगोंके विचारने मानवजीवनको जो गरिमा प्रदान की वह मानवता-विषयक पश्चिमी विचारकी किसी भी परिकल्पनासे कहीं बढ़कर थी। पश्चिममें मनुष्य सदा ही प्रकृतिका एक क्षणिक जीवमात्र रहा है अथवा वह एक ऐसी आत्मा रहा है जिसे जन्मके समय मनमौजी स्रष्टा अपनी मनमानी इच्छाके द्वारा रचता है और मोक्ष पानेके लिये सर्वथा प्रतिकूल अवस्थाओंमें रख देता है, पर कहीं अधिक संभावना यही होती है कि उसे एक नितांत असफल व्यक्तिकी भांति नरकके जलते हुए कूड़ेके ढेरमें फेंक दिया जाय। अधिक-से-अधिक उसे यही श्रेय प्राप्त है कि उसमें एक तर्क-वितर्क करनेवाला मन और संकल्पशक्ति है और ईश्वर या प्रकृतिने उसे जैसा बनाया है उससे अच्छा बननेका वह प्रयास करता है। परंतु भारतीय संस्कृतिने हमारे सामने जो परिकल्पना रखी है वह इससे कहीं अधिक उन्नतिकारी एवं प्रेरणाप्रद है और साथ ही एक महान् विचारकी प्रेरक शक्तिसे परिपूर्ण है। भारतीय विचारके अनुसार मनुष्य एक अध्यात्म सत्ता है जो शक्तिके कार्योंमें छुपी हुई है, आत्म-उपलब्धिकी ओर बढ़ रही है और देवत्वको प्राप्त करनेमें समर्थ है। वह एक अंतरात्मा है जो प्रकृतिके भीतरसे होती हुई सचेतन आत्म-स्थितिकी ओर विकसित हो रही है; वह एक देवता और एक शाश्वत सत्ता है; वह भगवत्-सिंधुमें नित्य लहरानेवाली एक तरंग है; परम अग्निकी कभी न बुझनेवाली चिनगारी है। यहांतक कि, अपनी सर्वोच्च सत्तामें वह उस अनिर्वचनीय परात्पर सत्तासे अभिन्न है जिससे वह प्रादुर्भूत हुआ था और उन देवताओंसे भी महान् है जिनकी वह पूजा करता है। कुछ समयके लिये वह जो एक प्राकृत अर्द्धपशु-रूपी प्राणी प्रतीत होता है, वह उसकी संपूर्ण सत्ता कदापि नहीं है और न वह किसी प्रकार उसकी वास्तविक सत्ता ही है। उसकी अंतरतम सत्ता भागवत आत्मा या कम-से-कम इसका एक क्रियाशील सनातन अंश है, और इसे प्राप्त करना तथा अपनी

बाह्य, प्रतीयमान एवं प्राकृत सत्ताको अतिक्रम करना वह महत्ता है जिसका अधिकारी पार्थिव जीवोंमेंसे केवल वही है। मानवताके परमोच्च एवं असाधारण शिखरतक पहुंचनेकी आध्यात्मिक क्षमता उसके अंदर विद्यमान है और भारतीय संस्कृति उसके सामने जो प्रथम लक्ष्य रखती है वह यही है। अविकसित मानवताकी जिस प्रथम असंस्कृत अवस्थाके साथ आज भी अधिकतर मनुष्य संबंध रखते हैं, उसमें अब और निवास न कर, **न यथा प्राकृतो जनः**, वह मुक्त सिद्ध और देवतुल्य पुरुष बन सकता है। उसकी मुक्त आत्मा भगवान्‌के साथ एकीभूत, विश्व-पुरुषके साथ एकात्मा हो सकती है अथवा वह एक ऐसी ज्योति एवं विशालतामें उठ सकती है जो विश्वसे परे है; उसकी प्रकृति विश्व-प्रकृतिको क्रियाशील शक्तिके साथ एकीभूत या परात्पर विज्ञान-ज्योतिके साथ एकमय हो सकती है। अपने अहंमें ही सदाके लिये बंद रहना उसकी अंतिम पूर्णता नहीं है; वह एक विश्वमय आत्मा बन सकता है, परम 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ, दूसरोंके साथ, सर्वभूतोंके साथ एक हो सकता है। उसकी मानवतामें छुपा हुआ उच्च अर्थ एवं शक्ति यही है कि वह इस पूर्णता और परात्परताके लिये अभीप्सा कर सकता है। और इसे वह अपनी किसी भी एक या सभी स्वाभाविक शक्तियोंके द्वारा प्राप्त कर सकता है यदि वे मुक्त होना स्वीकार करें, अर्थात् इसे वह अपने मन, बुद्धि और विचार तथा इनके आलोकोंके द्वारा, अपने हृदय तथा इसकी प्रेम और सहानुभूतिकी असीम शक्तिके द्वारा, अपनी इच्छाशक्तिके तथा प्रभुत्व और यथार्थ कर्मकी ओर इसकी क्रियाशील प्रवृत्तिके द्वारा, अपनी नैतिक प्रकृति, और सार्वभौम कल्याणके लिये इसकी भूखके द्वारा, अपनी सौंदर्यबोध और इसको आनंद एवं सौंदर्यविषयक खोजोंके द्वारा अथवा अपनी अंतरात्माके और इसकी पूर्ण आध्यात्मिक स्थिरता, विशालता, हर्ष एवं शांतिकी शक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकता है।

यही उस आध्यात्मिक मुक्ति और सिद्धिका अर्थ है जो प्राचीनतम वैदिक युगसे भारतीय विचारधारा और आंतरिक साधनामें बराबर ओतप्रोत रही है। यह लक्ष्य कितना ही ऊंचा और दुःसाध्य क्यों न हो, फिर भी जब एक बार आध्यात्मिक उपलब्धिने अपना मार्ग खोज लिया है तो यह उसे सदा ही संभव और यहांतक कि एक प्रकारसे निकट और स्वाभाविक प्रतीत हुआ है। प्रत्यक्षवादी पश्चिमी मन इस परिकल्पनाको एक जीवंत और बुद्धिगम्य विचारका पद देनेमें कठिनाई महसूस करता है। सिद्ध, 'भागवत' और मुक्तकी स्थिति उसे एक निर्मूल कपोल-कल्पना प्रतीत होती है। उसके ईसाई संस्कारोंको उन ईश्वरकी ऐकांतिक महत्ताके सामने यह

एक अपवित्र भावना मालूम होती है, जिनके आगे मनुष्य एक रेंगनेवाला कीड़ामात्र है, सामान्य अहंके प्रति उसकी घोर आसक्तिको यह व्यक्तित्वका निषेध और एक घृणाजनक भयावह वस्तु प्रतीत होती है और उसके संसार-बद्ध युक्तिवादको एक स्वप्न, आत्म-संमोहक भ्रांति या विभ्रामक उन्माद प्रतीत होती है। तथापि प्राचीन यूरोपमें स्टोइक संप्रदायके तथा प्लेटो और पाइथागोरसके अनुयायियोंने इस अभीप्साकी ओर कुछ प्रगति की थी और उसके बाद भी कुछ विरली आत्माओंने इसे अपना लक्ष्य बनाया या गुह्य पद्धतियोंके द्वारा इसका अनुशीलन किया है। और अब यह पुनः पाश्चात्य कल्पनाके भीतर छन-छनकर पहुंचना आरंभ कर रही है, पर एक क्रियाशील जीवनोद्देश्यके रूपमें उतनी नहीं जितनी काव्यमें तथा सामान्य चिंतनके कुछ एक रूपोंमें या थियोसोफी जैसे उन आंदोलनोंके द्वारा जो प्राचीन और प्राच्य स्रोतोंसे अपनी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। पाश्चात्य विज्ञान, दर्शन और धर्म अभीतक इसे घृणापूर्वक एक भ्रमके रूपमें, उदासीनतापूर्वक एक स्वप्नके रूपमें या निंदापूर्वक एक म्लेच्छोचित गर्वके रूपमें देखते हैं। भारतीय संस्कृतिकी विलक्षणता यही है कि उसने इस महान् सक्रिय आशा-को अधिकृत किया है, इसे एक सजीव और व्यवहार्य वस्तुके रूपमें सुरक्षित रखा है और सर्वांगपूर्ण जीवनकी इस आध्यात्मिक प्रणालीतक पहुंचनेके सभी संभव मार्गोंको खोज निकाला है। भारतीय विचारने इस महान् वस्तुको प्रत्येक मानवजीवनमें विराजमान अंतरात्माके सर्वसामान्य उच्चतम ध्येय और सार्वभौम आध्यात्मिक भवितव्यताका रूप प्रदान किया है।

जीवनविषयक भारतीय विचारका मूल्य उन संबंधों और क्रम-परंपराओं-पर निर्भर करता है जिनके द्वारा वह इस दुष्प्राप्य और दूरस्थ पूर्णताको हमारे सामान्य जीवन तथा वर्तमान दैनंदिन स्वभावके साथ जोड़ता है। यदि उस पूर्णताके आदर्शको किसी संबंधके बिना या इसतक ले जाने वाली और इसे संभव बनानेवाली किन्हीं क्रमपरंपराओंके बिना ही सामान्य जीवन और स्वभावके सम्मुख खड़ा कर दिया जाय तो यह या तो उच्च और दुष्प्राप्य आदर्श प्रतीत होगा या इनी-गिनी असाधारण आत्माओंका अनासक्त सुदूर भावावेग। अथवा, आध्यात्मिक सत्ता और हमारी अपनी दीन-हीन अपूर्ण प्रकृतिके बीचके बड़े भारी वैषम्यके कारण यह हमारे प्राकृतिक जीवन-के स्रोतोंको निरुत्साहिततक कर सकता है। अभी पिछले युगमें कुछ ऐसी बात हुई भी है; भारतीय धर्म और दर्शनके आत्यंतिक वैराग्यवाद और पारलौकिकताके विषयमें पश्चिमकी प्रचलित धारणा उस बढ़ती हुई खाईपर ही आधारित है जिसे परवर्ती चिंतनने मनुष्यकी आध्यात्मिक संभावनाओं

और उसकी ऐहलौकिक अवस्थाके बीच पैदा कर दिया है। परंतु हमें, आत्यंतिक प्रवृत्तियोंके कारण या ह्रासके कालमें इनपर दिये गये अत्यधिक बलके कारण भ्रममें नहीं पड़ जाना चाहिये। यदि हम जीवनविषयक भारतीय विचारका वास्तविक तात्पर्य समझना चाहें तो हमें इसके सर्वश्रेष्ठ युगकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। और हमें दर्शनके इस या उस संप्रदाय या उसके किसी एक पहलूको ही संपूर्ण भारतीय विचार नहीं समझ लेना चाहिये; सारे-के-सारे प्राचीन दार्शनिक चिंतन, धर्म, साहित्य, कला और समाजको हमें अपनी खोजका क्षेत्र बनाना चाहिये। भारतीय विचारने अपनी प्रारंभिक स्वस्थ स्थितिमें ऐसी कल्पना करनेकी भूल कभी नहीं की कि सत्ताके एक छोरसे उसके विपरीत छोरतक तीव्र और असहिष्णु रूपमें तथा अविलंब छलांग लगाकर यह महान् कार्य किया जा सकता है या करना उचित भी है। यहांतक कि अत्यंत चरमपंथी दर्शन भी इतनी दूरतक नहीं गये। भारतीय मनके एक पक्षके लिये तो इस विश्वमें होनेवाले परमात्माके कार्य-कलाप वास्तविक सत्य थे और दूसरे पक्षके लिये केवल एक अर्ध-सत्य, एक आत्मप्रकाशक लीला या भ्रमात्मक माया थे। एकके निकट यह जगत् अनंत शक्तिका कार्य-विशेष था और दूसरेके निकट सनातनकी किसी गौण विरोधाभासात्मक चेतनाकी, मायाकी एक मिथ्या रचना। परंतु भारतीय चिंतनके किसी भी संप्रदायने एक मध्यवर्ती सत्यके रूपमें जीवनसे कभी इंकार नहीं किया। भारतीय विचारने इस बातको स्वीकार किया था कि मनुष्यके सामान्य जीवनके उद्देश्यकी पूर्त्तिके हेतु एक सजग प्रयास करते हुए हमें इसमेंसे गुजरना ही होगा। इसकी शक्तियोंको हमें ज्ञानपूर्वक विकसित करना होगा; इसकी रीति-नीतियोंका हमें निरीक्षण करना होगा, उनकी व्याख्या करनी होगी तथा उनकी थाह लेनी होगी; इसके मूल्योंको निर्धारित करके अधिकृत करना तथा जीवनमें चरितार्थ करना होगा; इसके सुखोंका उनके अपने धरातलपर पूर्ण रूपसे उपभोग करना होगा। उसके बाद ही कहीं हम आत्मजीवन या अति-जीवनकी ओर बढ़ सकते हैं। जिस आध्यात्मिक पूर्णताका मार्ग मनुष्यके सामने खुला पड़ा है वह जीवन और प्रकृतिमें आत्माके सुदीर्घ, धैर्यपूर्ण और सहस्रों वर्ष चलनेवाले विकासका सर्वोच्च शिखर है। इस लोकमें होनेवाली क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति एवं विकासमें इस प्रकारका विश्वास होना ही, निःसंदेह वह गूढ़ रहस्य है जिसके कारण पुनर्जन्मके सत्यको भारतमें प्रायः सार्वजनीन मान्यता प्राप्त हुई है। विश्वमें अवस्थित निगूढ़ आत्मा, जो अचेतनोंमें भी चेतन है, चेतनः अचेतनेषु, निम्न योनियोंमें सहस्रों बार जन्म लेकर ही

मानवयोनितक पहुंचा है : सैंकड़ों या हजारों, यहांतक कि शायद लाखों मानव-जीवनोंके द्वारा ही मनुष्य अपनी दिव्य अध्यात्म सत्तामें विकसित हो सकता है। प्रत्येक जीवन एक पग है जिसे वह पीछे या आगेकी ओर उठा सकता है; अत्यंत आरंभिक अवस्थाओंसे लेकर अंतिम परात्परतामें पहुंचने-पक उसका जीवनगत कर्म, जीवनगत संकल्प, उसका विचार और ज्ञान जिनके द्वारा वह अपने जीवनका नियंत्रण और परिचालन करता है, उसके भावी अस्तित्व या जीवनका निर्धारण करते हैं। **यथाकर्म यथाश्रुतम्।**

यही विश्वास जीवन-विषयक भारतीय विचारकी धुरी है कि आत्माका क्रमशः विकास होता है और अंतमें वह एक ऊर्ध्वगति या लोकोत्तर स्थिति-को प्राप्त होता है तथा मानव जीवन इसे प्राप्त करनेका पहला प्रत्यक्ष साधन एवं बारंबार मिलनेवाला अवसर है। यह बात हमारे जीवनको एक कुंडला-कार या चक्राकार गतिके साथ होनेवाले आरोहणका रूप दे देती है; और इस आरोहणके सुदीर्घ कालको मानव ज्ञान, मानव कर्म, मानव अनुभवसे परिपूरित करना होता है। इसके भीतर सभी पार्थिव उद्देश्यों, कर्मों और अभीप्साओंके लिये अवकाश है; इस आरोहणमें सब प्रकारके मानवीय चरित्र और स्वभावके लिये स्थान है। कारण, विश्वगत आत्मा सैंकड़ों रूप धारण करता है और अनेक प्रवृत्तियोंका अनुसरण करता तथा अपनी लीलाको अनेक आकार प्रदान करता है। ये सभी हमारे आवश्यक अनुभवकी संपूर्ण समष्टिके अंग हैं; इनमेंसे प्रत्येककी अपनी सार्थकता है, प्रत्येककी सत्ताका अपना स्वाभाविक या सच्चा विधान और हेतु है, इस लीला और इस प्रक्रियामें प्रत्येककी अपनी उपयोगिता है। इंद्रियोंके सुखभोगके दावेकी उपेक्षा नहीं की गयी थी, इसे उसका उचित महत्त्व दिया गया था। परिश्रम और वीर-कर्म करनेकी आत्माकी आवश्यकताका गला नहीं घोंटा गया था, इसे अपनी पूर्णतम क्रिया और स्वतंत्रतम क्षेत्रकी प्राप्तिके लिये प्रोत्साहित किया गया था। ज्ञानके अनुशीलनके सैंकड़ों रूपोंको अपनी गतिविधिके लिये पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी थी; भावावेगोंकी क्रीड़ाके लिये अनुमति दी गयी थी, उन्हें तबतक परिष्कृत और सुशिक्षित किया जाता था जबतक वे दिव्य स्तरोंके योग्य नहीं बन जाते थे; सौंदर्यग्राही शक्तियोंकी मांगको उसके उच्चतम एवं दुर्लभतम रूपोंमें तथा जीवनके सामान्यतम ब्योरोंमें भी प्रोत्साहित किया जाता था। भारतीय संस्कृतिने मानव जीवनकी महान् क्रीड़ाके वैभव को न तो विकृत किया न क्षीण; इसने हमारी प्रकृतिकी प्रवृत्तियोंको कभी अवसन्न या पंगु नहीं बनाया। बल्कि, सामंजस्य और नियंत्रणके एक विशेष सिद्धांतके अधीन, इसने उन्हें उनका पूर्ण और प्रायः

ही उनका चरम मूल्य प्रदान किया। मनुष्यको अपने मार्गमें समस्त अनुभवकी थाह लेने, अपने चरित्र और कर्मको विशाल स्वातंत्र्य और वीरोचित परिमाण प्रदान करने और जीवनको प्रचुरताके साथ रंग-रूप, सौंदर्य और सुखभोगसे भर देनेकी छूट दी गयी थी। भारतीय विचारके इस जीवन-संबंधी पहलूकी छाप महाकाव्यों और उच्च कोटिके साहित्यपर खूब उभरी हुई दीख पड़ती है। निःसंदेह, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आंख या दिमाग रखनेवाला कोई व्यक्ति रामायण और महाभारतको, नाटकों, साहित्यिक महाकाव्यों तथा आख्यायिकाओंको और संस्कृत तथा बादकी भाषाओंमें विरचित अतिविपुल सूक्ति-काव्य और गीति-काव्यको (अन्य सांस्कृतिक कृतियों और सामाजिक एवं राजनीतिक शास्त्र और चिंतनकी अपार राशिकी हम यहां कुछ भी चर्चा नहीं करते) पढ़कर भी इस विशालता, समृद्धि और महत्ताको न देख पाया हो। उसने अवश्य ही देखनेवाली आंख या समझनेवाली बुद्धिके बिना ही पढ़ा होगा; सच पूछा जाय तो बहुतसे विरोधी आलोचकोंने तो अध्ययन या अनुशीलन किया ही नहीं है, बल्कि केवल अपनी पूर्वकल्पित धारणाओंको ही एक तीव्र या उच्छृंखल तथा अज्ञानयुक्त विश्वासके साथ विकीर्ण कर दिया है।

परंतु जहां मानवजीवनको समृद्ध, विस्तारित और उत्साहित करना संस्कृतिका एक उदार कार्य है, वहां उसे प्राणिक शक्तियोंको एक मार्गदर्शक नियम भी प्रदान करना चाहिये, और जबतक वह जीवनके लिये आध्यात्मिक स्वाधीनता, पूर्णता और महत्ताका सूत्र उपलब्ध नहीं कर लेती, तबतक उसे उन शक्तियोंको किसी नैतिक और बौद्धिक नियंत्रणके अधीन रखकर उनकी प्रकृतिगत प्रथम रचनाओंसे परे ले जाना चाहिये। प्राचीन भारतीय सभ्यताका प्रधान मूल्य उस शक्तिमें निहित था जिसके साथ उसने यह कार्य संपन्न किया, उस गभीर प्रज्ञा और उच्च तथा सूक्ष्म कौशलमें निहित था जिसके साथ इसने समाजका आधार स्थापित किया तथा वैयक्तिक जीवनको व्यवस्थाके सूत्रमें बांधा और मानवप्रकृतिकी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहित एवं परिचालित किया और फिर अंतमें उन सबको अपने सर्वप्रधान विचारकी चरितार्थताकी ओर फेर दिया। जिस मनको वह शिक्षित कर रही थी उसे जहां अपने तात्कालिक लक्ष्योंसे पराङमुख नहीं किया गया, वहां उसे आध्यात्मिक सिद्धिके लिये एक अनुशासन, तथा अनंतकी प्राप्तिके एक पथके रूपमें जीवनकी उपयोगिताको दृष्टिसे कभी ओझल भी नहीं करने दिया गया।

जीवनके संचालनके क्षेत्रमें हो या आध्यात्मिकताकी साधनाके क्षेत्रमें,

भारतीय मनने हमारी सत्ताके दो मुख्य सत्योंको सदा अपनी दृष्टिमें रखा। प्रथम, हमारी सत्ताके विकासकी कुछ अवस्थाएं हैं जिनमेंसे गुजरना ही होगा; यद्यपि कभी-कभी आगेकी ओर लंबी छलांगें भी भरी जाती हैं तथापि उसके अधिकांश विकासका रूप एक क्रमोन्नतिशील प्रगतिका ही होता है; तेजसे तेज दौड़की भी कुछ सीमा होती है। और फिर, जीवन एक जटिल वस्तु है तथा मनुष्यकी प्रकृति भी जटिल है; प्रत्येक जीवनमें मनुष्यको अपनी जटिलताकी कुछ मात्राको आकार प्रदान करना तथा उसे किसी प्रकारकी व्यवस्थामें लाना है। परंतु जीवनकी प्रारंभिक गति है वह रूप-निर्माण करना जो मनुष्यके प्रकृतिगत अहंभावकी शक्तियोंको विकसित करता है; स्वार्थ और सुखभोगकी कामना, काम, अर्थ, मनुष्यके प्रथम उद्देश्य हैं। हमारी प्रकृतिके इस प्राथमिक झुकावको भारतीय संस्कृतिने व्यापक मान्यता दी थी। इन शक्तियोंको अपनाना और व्यवस्थामें लाना होगा; क्योंकि प्राकृतिक अहं-जीवनका यापन करना ही होगा और यह मनुष्यमें जिन शक्तियोंका विकास करता है उन्हें पूर्णतातक पहुंचाना होगा। परंतु इस तत्त्वको किसी प्रकारकी अत्यंत असंयत मांग करनेसे या अपनी संतुष्टिके लिये बेलगाम सरपट दौड़नेसे रोकना होगा; केवल इसी प्रकार यह बिना किसी विपत्तिके अपने सभी फलोंको प्राप्त कर सकता है और केवल इसी प्रकार इसे अंतमें अपनेको अतिक्रांत करने तथा महत्तर आध्यात्मिक मंगल और आनंदकी ओर मुड़नेके लिये प्रेरित किया जा सकता है। आंतरिक या बाह्य अराजकता कोई नियम नहीं हो सकती; स्वैर इच्छा, विषय-वासना, इंद्रिय-आकर्षण, स्वार्थ और कामनाके द्वारा किसी चरम या आत्यंतिक मात्रामें संचालित जीवन मनुष्य या मानुषी जीवनका संपूर्ण स्वाभाविक रूप नहीं हो सकता। यह आकर्षक कल्पना कि ऐसा होना संभव है और यही सच्चा विधान है, एक ऐसा प्रलोभन है जिसके साथ पश्चिमी मनने अपने स्वाभाविक झुकावों या आवेशोंमें अपना मनबहलाव किया है; परंतु यह झुकाव जिसे अनुचित रूपसे 'पैगेनिज्म' (Paganism) का नाम दिया गया है,—क्योंकि यूनानी या पेगन बुद्धि विधान, सामंजस्य और आत्म-शासनके विषयमें उदात्त विचार रखती थी,—भारतीय भावनाके लिये एक विजातीय वस्तु है। इंद्रियोंकी पुकारको भारतने यूनान, रोम या आधुनिक यूरोपसे कम नहीं अनुभव किया है; उसने जड़वादी जीवनकी संभावनाको खूब अच्छी तरहसे अनुभव किया था और इसके आकर्षणने कुछ विचारकोंपर प्रभाव डालकर चार्वाकोंके दर्शनको जन्म दिया; परंतु यह अपना पूरा अधिकार नहीं जमा सका और न थोड़े समयके लिये भी अपना कोई प्रभुत्वशाली

आधिपत्य स्थापित कर सका। यद्यपि बहुत बड़े परिमाणपर बिताये जाने-पर इस जीवनमें भी हम एक प्रकारकी विकृत महानता देख सकते हैं तथापि एकमात्र मन और इंद्रियोंके जीवनमें आसक्त रहनेवाले विराट् अहंभावको भारत असुर और राक्षस का स्वभाव मानता था। यह आसुरिक, राक्षसिक या पैशाचिक कोटिकी भावना है जो अपने स्तरमें तो रहने दी जा सकती है पर जो मानवजीवनके लिये समुचित धर्म नहीं है। मनुष्यपर तो एक और ही शक्ति स्वत्व रखनेका दावा करती है जो कामना, स्वार्थ और स्वेच्छा-से ऊपर उठी हुई है और वह है धर्मकी शक्ति।

धर्म एक साथ ही कर्मका धार्मिक नियम और हमारी प्रकृतिका गभीरतम विधान है, वह कोई ऐसा सिद्धांत, धर्ममत या आदर्श नहीं है जो नैतिक और सामाजिक नियममात्रकी प्रेरणा देता हो जैसा कि पश्चिमी विचारमें उसे माना जाता है; वह तो हमारे जीवनके सभी अंगोंके कार्य-व्यापारका यथार्थ विधान है। अपने जीवन-यापनके न्याय्य और पूर्ण विधानका अनु-संधान करनेकी मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्ममें ही अपनी सत्यता और सार्थकता लाभ करती है। निश्चय ही, प्रत्येक वस्तुका अपना धर्म, अर्थात् अपने जीवनका विधान होता है जो उसकी प्रकृतिके द्वारा उसपर लादा जाता है; परंतु मनुष्यके लिये धर्म है अपने सभी अंगोंपर आदर्श जीवन-यापनके नियमको सचेतन रूपमें लागू करना। अपने साररूपमें तो धर्म एक स्थिर वस्तु है, किंतु फिर भी वह हमारी चेतनामें अभिवर्द्धित एवं विकसित होता है और उसकी कुछ क्रमिक अवस्थाएं होती हैं; अपनी प्रकृतिके उच्चतम विधान-की खोज करते समय हमारे आध्यात्मिक और नैतिक आरोहणके कुछ स्तर होते हैं। सब मनुष्य सभी चीजोंमें एक ही सार्वभौम और अपरिवर्तनीय नियमका अनुसरण नहीं कर सकते। जीवन इतना जटिल है कि इसमें उस स्वच्छंद आदर्शभूत सरलताको प्रवेश नहीं मिल सकता जिसे कि सबको नैतिक बनानेवाला सिद्धांती पसंद करता है। सबकी प्रकृतियां भिन्न-भिन्न हैं; हमारे अपने पद तथा हमारे अपने कर्मके अपने दावे और मानदंड होते हैं; लक्ष्य एवं प्रवृत्ति, जीवनकी पुकार, अंतरस्थ आत्माकी पुकार प्रत्येक आदमीके लिये एक-सी नहीं होती: विकासका परिमाण और रुख, तथा क्षमता अर्थात् अधिकार एकसमान नहीं होते। मनुष्य समाजमें तथा समाज-के द्वारा जीवन यापन करता है, और प्रत्येक समाजका एक अपना सार्व-जनीन धर्म होता है, और प्रत्येक व्यक्तिके जीवनकी गतिविधिको जागतिक प्रवृत्तिके इस व्यापकतर धर्मके अंदर ठीक बैठ जाना चाहिये। किंतु वहां भी समाजमें व्यक्तिका भाग, उसकी प्रकृति, तथा उसकी योग्यता और स्व-

भावकी आवश्यकताएं अलग-अलग, अनेकविध और नाना स्तरोंकी होती हैं: सामाजिक धर्मको इस विविधताके लिये कुछ अवकाश देना होगा; सभीके लिये कठोर रूपसे एक होनेपर तो वह अपनी हानि ही करेगा। ज्ञानी, शूरवीर, उत्पादक और धनोपार्जक मनुष्य, पुरोहित, विद्वान्, कवि, कलाकार, शासक, योद्धा, व्यापारी, कृषक, कारीगर, श्रमिक और सेवकको एकसी शिक्षा देना उपयोगी नहीं हो सकता, उन्हें एक ही सांचेमें नहीं ढाला जा सकता, वे सभी समान जीवन-प्रणालीका अनुसरण नहीं कर सकते। सबको एक ही नियमावलिके अधीन नहीं रखना चाहिये; क्योंकि वह एक निरर्थक ज्यामितिक कठोरता होगी जो जीवनके नमनीय सत्यको विकृत कर देगी। प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिका अपना एक प्रकार होता है और उस प्रकारकी पूर्णताके लिये कोई नियम अवश्य होना चाहिये; प्रत्येकका अपना विशेष कार्य होता है और उस कार्यके लिये कोई नियम और आदर्श होना ही चाहिये। सभी वस्तुओंमें कार्य करनेका कोई ज्ञानयुक्त और बोधपूर्ण मानदंड तथा पूर्णताका कोई विचार, और कोई जीवंत नियम अवश्य होना चाहिये,—यही धर्मके लिये एकमात्र आवश्यक वस्तु है। कामना, स्वार्थ और सहजप्रवृत्तिके नियमहीन आवेगको मानवीय चरित्रका नेतृत्व नहीं करने दिया जा सकता; कामना, स्वार्थ और सहजप्रवृत्तिके सच्चेसे सच्चे अनुसरणमें भी एक नियामक, प्रतिबंधक और निर्देशक रेखा होनी चाहिये, एक मार्गदर्शन होना चाहिये। एक नीतिशास्त्र या विज्ञान, अभीष्ट पदार्थके सत्यसे पैदा होनेवाला एक नियम एवं एक क्षेत्र, पूर्णताका एक आदर्श मान, एक व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। मनुष्यके प्रकार और कार्यके भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये विशेष धर्म उस महत्तर धर्म एवं सत्यकी ओर उठते जायंगे जो अन्य धर्मोंको अपने अंदर लिये हुए और उनसे ऊपर है तथा सार्वभौम रूपसे प्रभावशाली है। सो यह था धर्म, जो विशेष व्यक्ति, विकासकी विशेष अवस्था, जीवनके विशेष उद्देश्य, या कर्मके वैयक्तिक क्षेत्रके लिये विशेष था, पर व्यापक कार्यप्रणालियोंमें, जो सबके लिये अनुसरणीय होती हैं, वह सार्वभौम भी था।

भारतीय विचारमें सार्वभौम, सर्व-समावेशी धर्म मनुष्यके विकसनशील मन और अंतरात्माके लिये एक आदर्श पूर्णताका धर्म है; यह उसे कुछ ऐसे उच्च या व्यापक, सार्वभौम गुणोंके ओज और तेजमें विकसित होनेके लिये बाध्य करता है जो एक-दूसरके साथ समस्वर होकर एक उच्चतम श्रेणीके मनुष्यत्वका निर्माण करते हैं। भारतीय विचार और जीवनमें यह श्रेष्ठ मनुष्यका आदर्श था, आर्य या सज्जन पुरुषका धर्म था, अपनेको

पूर्ण बनानेवाले व्यक्ति, साधु, के लिये निर्धारित अनुशासन था। यह आदर्श कोरा नैतिक या सदाचारसंबंधी विचारमात्र नहीं था, भले ही यह तत्त्व उसमें प्रबल रहा हो; यह बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक और सौंदर्य-बोधात्मक भी था, सर्वांग-संपन्न आदर्श मानवका विकास, समग्र मानव-प्रकृतिका पूर्णत्व भी था। 'श्रेष्ठ' और 'आर्य' की जो भारतीय परिकल्पना है उसमें अत्यंत विभिन्न गुणोंका समावेश था। हृदयमें हितैषिता, परोपकारिता, प्रीति, करुणा, परार्थभावना, सहिष्णुता, उदारता, दयालुता, धीरता; चरित्रमें साहस, शौर्य, तेज, स्वामिभक्ति, जितेन्द्रियता, सत्य, सम्मान, न्याय, श्रद्धा, योग्य स्थानपर आज्ञापालन और आदर-सत्कार, साथ ही शासन और संचालन करनेकी शक्ति भी, एक सुंदर विनयशीलता और फिर भी प्रबल स्वातंत्र्य-भावना और उदात्त आत्माभिमान; मनमें प्रज्ञा, मनीषा, विद्याप्रेम, समस्त श्रेष्ठतम विचारोंका ज्ञान, काव्य, कला और सौंदर्यके प्रति उन्मुक्तता, कर्मोंमें शिक्षालब्ध योग्यता और कुशलता; आभ्यंतरिक सत्तामें तीव्र धार्मिक भावना, पुण्यशीलता, ईश्वरप्रेम, 'परम' की खोज, आध्यात्मिक झुकाव; सामाजिक संबंधों और आचार-व्यवहारमें पिता, पुत्र, पति, भाई, संबंधी, मित्र, शासक या शासित, स्वामी या सेवक, पुरोहित या योद्धा या कर्मी, राजा या ऋषि, जाति या वर्णके सदस्यके रूपमें सब सामाजिक धर्मोंका कठोर पालन: यह आर्य, अर्थात् उच्च कुल और श्रेष्ठ प्रकृतिवाले मनुष्यका समग्र आदर्श था। यह आदर्श प्राचीन भारतके दो सहस्राब्दियोंके इतिहासमें स्पष्ट रूपसे चित्रित है और यह हिन्दू नीतिशास्त्रका वास्तविक प्राण है। यह एक ऐसे मनकी उपज था जो एक साथ ही आदर्श-स्वरूप और युक्तिपूर्ण भी था, अध्यात्मकुशल और व्यवहारकुशल भी था, गहरे रूपमें धार्मिक, श्रेष्ठ रूपमें नैतिक, दृढ़ और फिर भी नमनशील रूपमें बौद्धिक, वैज्ञानिक और सौंदर्योपासक, जीवनकी कठिनाइयों और मानवीय दुर्बलताओंके प्रति धीर और सहनशील, पर आत्म-अनुशासनमें कठोर भी था। यही मन भारतीय सभ्यताके मूलमें था और संपूर्ण संस्कृतिपर इसकी अपनी विशिष्ट छाप थी।

परंतु यह भी उस अन्य उच्चतम वस्तुका मात्र आधार और उपक्रम था जो अपनी उपस्थितिसे मानव-जीवनको उससे परे किसी आध्यात्मिक और दिव्य वस्तुकी ओर उठा ले जाती है। भारतीय संस्कृति कामना, स्वार्थ और संतुष्ट प्रवृत्तिवाले स्थूल पाशविक जीवनमें धर्मके नियम क्रम और उच्च ध्येयोंका संचार करके उसे अपने प्रथम आशयसे परे एक उत्कृष्ट आत्म-अतिक्रमण और सुंदर सामंजस्यतक उठा ले गयी। परंतु इसका

गभीरतर विशिष्ट ध्येय था अपने-आपको पूर्ण बनानेवाले मनुष्यके इस उत्कृष्टतर जीवनको भी इसके अपने उद्देश्यसे ऊंचा उठाकर एक सबलतम आत्म-अतिक्रमण और स्वातंत्र्यतक ले जाना और इस ध्येयमें यह अद्वितीय थी; इसने इसे आध्यात्मिक स्वातंत्र्य और सिद्धि, मुक्ति, मोक्षके महान् लक्ष्यसे अनुप्राणित करनेका यत्न किया। धर्म और उसका पालन करना न तो मनुष्यका आदि है न अंत; धर्मके क्षेत्रसे परे चेतनाका एक बृहत्तर स्तर है जिसमें आरोहण करता हुआ वह एक महान् आध्यात्मिक स्वातंत्र्यको प्राप्त हो जाता है। उदात्त पर सदा मरणशील मनुष्यत्व ही मानव-पूर्णताकी पराकाष्ठा नहीं है; अमरता, स्वतंत्रता और दिव्यता भी उसकी पहुंचके भीतर हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृतिने इस उच्चतम लक्ष्यको सदैव आत्माकी अंतर्दृष्टिके सामने रखा और जीवनविषयक संपूर्ण विचारको इसकी संभावना और ज्योतिसे निरंतर अनुप्राणित किया। इस लक्ष्यसे व्यक्तिका संपूर्ण जीवन महत् बन गया था और समाजकी संपूर्ण व्यवस्था इस परमोच्च शिखरकी ओर ले जानेवाले क्रमिक आरोहणकी एक क्रम-परंपरामें ढाल दी गयी थी।

व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनकी सुनियंत्रित प्रणालीको सदा ही, सर्व-प्रथम भारतीय विचारके द्वारा स्वीकृत तीन प्रमुख शक्तियोंकी व्यवस्था होना चाहिये। उसमें स्वाभाविक कार्य-व्यापारोंकी मांग पूर्ण रूपसे स्वीकृत होनी चाहिये; वैयक्तिक और सामाजिक हितके अनुसरणको तथा मानवी आवश्यकताओंकी भांति मानवी कामनाओंकी तुष्टिको भी पर्याप्त रूपमें स्वीकार करना चाहिये और इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये ज्ञान और पुरु-षार्थका सज्ञान संयोग होना चाहिये। परंतु सबको धर्मके आदर्शके द्वारा नियंत्रित, महत्तर लक्ष्योंकी ओर उन्नीत तथा विस्तारित होना होगा। और यदि, जैसा कि भारत विश्वास करता है, एक ऐसी उच्चतर अध्यात्म-चेतना भी है जिसकी ओर मनुष्य आरोहण कर सकता है, तो उस आरोहणको जीवनके परम ध्येयके रूपमें सदा-सर्वदा अपनी दृष्टिके सामने रखना होगा। भारतीय संस्कृतिकी व्यवस्था मनुष्यकी प्रकृतिको एक साथ ही तुष्टिका अवसर देती और संयमित भी करती थी; यह उसे उसके सामाजिक कर्तव्य-के योग्य बनाती थी; यह उसके मनमें एक ऐसी सुसंस्कृत मानवताके उदार आदर्शकी छाप बैठाती थी जो अपनी सभी क्षमताओंमें परिमार्जित और सुसमन्वित तथा अपने सभी अंगोंमें समुन्नत होती थी; परंतु यह उसके सामने उच्चतर रूपांतरके सिद्धांत और साधनामार्गको भी उपस्थित करती थी, उसे आध्यात्मिक जीवनकी परिकल्पनासे अवगत कराती थी और उसके

अंदर देवत्व तथा 'अनंत'के लिये भूख पैदा करती थी। उसके धर्मके प्रतीक इस ओर ले जानेवाले संकेतोंसे परिपूर्ण थे; पग-पगपर उसे पीछे या आगेके जीवनोंकी तथा इस जड़ जगत्के परे विद्यमान लोकोंकी याद दिलायी जाती थी; उसे उस आत्माके सान्निध्य, यहांतक कि उसके आह्वान और दबावके निकट लाया जाता था जो इस जीवनसे, जिसे वह संजीवित करता है, अधिक महान् है, साथ ही उसे अंतिम लक्ष्य, उच्च संभवनीय अमरता, स्वतंत्रता, भगवच्चेतना और दिव्य प्रकृतिके भी समीप पहुंचाया जाता था। मनुष्यको यह बात भुलाने नहीं दी जाती थी कि उसमें एक उच्चतम आत्मा है जो उसके क्षुद्र व्यक्तिगत अहंसे परे है, और वह तथा सभी पदार्थ सदा ईश्वरमें, सनातन तथा परमात्मामें ही रहते-सहते, चलते-फिरते और अपना अस्तित्व रखते हैं। ऐसे बहुतसे साधन और नियम-व्यवस्थाएं बतलायी गयी थीं जिनके द्वारा वह इस मोक्षप्रद सत्यको अनुभव कर सकता था अथवा, कम-से-कम, अपनी क्षमता और प्रकृति, अधिकार, के अनुसार इस उच्चतम लक्ष्यकी ओर मुड़ सकता तथा कुछ दूरतक इसका अनुसरण भी कर सकता था। अपने चारों ओर वह इन साधनाओंके शक्तिशाली अभ्यासियों और महान् गुरुओंको देखता था और उनके प्रति आदर-भाव रखता था। प्राचीन कालमें ये लोग उसके यौवनके शिक्षक, उसके समाजके मूर्धन्य पुरुष, उसकी सभ्यताके अनुप्रेरक और मूलस्रोत तथा उसकी संस्कृतिके महान् ज्योतिस्तंभ थे। आध्यात्मिक स्वातंत्र्य एवं आध्यात्मिक पूर्णत्वको एक सुदूर और अवास्तव आदर्शके रूपमें चित्रित नहीं किया गया था, बल्कि मनुष्यके उच्चतम लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत किया गया था जिसकी ओर सभीको अंततः विकसित होना होगा और जीवन और धर्मके प्रथम व्यवहार्य आधारके द्वारा तथा धर्मके द्वारा उस स्वातंत्र्य और पूर्णत्वको मनुष्यके प्रयासके लिये निकटस्थ और संभवनीय बनाया गया था। यह आध्यात्मिक विचार एक महान् सभ्य जातिके अन्य सभी जीवन-हेतुओंको नियंत्रित, आलोकित तथा अपने चारों ओर एकत्रित करता था।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

छठा अध्याय

ये हैं वे मुख्य रूप-रेखाएं जिनके आधारपर भारतीय सभ्यताका ढांचा स्थापित किया गया था और यही इसके जीवनसंबंधी विचारकी शक्तिका गठन करती हैं। मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें अन्य मानव-संस्कृति या जीवनविषयक किसी भी ऐसे प्रचलित विचारकी अपेक्षा कुछ हीनता है जिसने ऐतिहासिक कालमें मनुष्यके मनपर अपना अधिकार जमाया हो। इसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह जीवन और उसके विकासको निरुत्साहित करती है अथवा उसे प्रवेग, उत्कर्ष और महत् प्रेरक-भावसे वंचित करती है। इसके विपरीत, इसमें समस्त मानवजीवनको उसकी पूरी विविधता, विस्तार और शक्तिके साथ पूर्ण और स्पष्ट रूपमें स्वीकार किया गया और परखा गया है, उसके यथायथ संचालनके लिये इसमें एक स्पष्ट, ज्ञानपूर्ण और उदात्त विचार है और है उसे ऊपरकी ओर इंगित करनेवाली आदर्श प्रवृत्ति तथा संभवनीय उच्चतम पूर्णता और महत्ताकी ओर भव्य पुकार। यही हैं संस्कृतिके गंभीर उपयोग, यही हैं वे चीजें जो मनुष्यके जीवनको असंस्कृत एवं आदिम बर्बरता से ऊपर उठाती हैं। यदि किसी सभ्यताके गुण-दोषकी परीक्षा उसके विचारोंकी शक्तिके द्वारा तथा इन महान् उपयोगोंके लिये उन विचारोंकी क्षमताके द्वारा करनी हो तो भारतीय सभ्यता किसीसे भी हीन नहीं थी। निश्चय ही वह पूर्ण, अंतिम या सर्वांगीण नहीं थी; क्योंकि यह तो किसी भी अतीत या वर्तमान सांस्कृतिक विचार या प्रणालीके विषयमें नहीं कहा जा सकता। मनुष्य अपनी अंतरतम आत्मामें एक अनंत सत्ता है, अपने मन और प्राणमें भी, वह चाहे कितने स्खलनों और दीर्घ पतनोंके भीतरसे क्यों न गुजर रहा हो, वह निरंतर विकसित हो रहा है, और वह विचारोंकी किसी एक ही प्रणाली या जीवनके किसी एक ही ढांचेमें सदाके लिये बंधा नहीं रह सकता। जिन ढांचोंमें वह निवास करता है वे अपूर्ण और सामयिक होते हैं; यहांतक कि जो अत्यंत व्यापक प्रतीत होते हैं वे भी अपनी टिकनेकी सामर्थ्य खो बैठते हैं और कालके द्वारा अपर्याप्तताके दोषी ठह-

राये जाते हैं तथा उन्हें पदच्युत या परिवर्तित करना पड़ता है। परंतु भारतीय विचारके संबंधमें कम-से-कम यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसने मनुष्यकी संपूर्ण सत्ताके मुख्य सत्यों और आवश्यकताओंको, उसके मन, प्राण और शरीरको, उसकी प्रकृतिके कलात्मक, नैतिक और बौद्धिक भागोंको, उसकी अंतरात्मा और अध्यात्म सत्ताको अद्‌भुत गहराई तथा व्यापकताके साथ हृदयंगम किया था, और उन्हें सूक्ष्म और उदार, गभीर तथा विशाल और उच्च एवं ज्ञानमय, सहानुभूतिपूर्ण और फिर भी उत्कृष्टतया आयासमय पथप्रदर्शन प्रदान किया था। किसी विगत या वर्तमान संस्कृतिके संबंधमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

परंतु पूर्णताको लक्ष्य बनानेवाली किसी भी संस्कृतिमें केवल महान् और उत्कृष्ट नियामक एवं प्रेरक विचार ही नहीं होने चाहियें बल्कि बाह्य रूपों और गतिच्छंदोंका सामंजस्य, तथा एक ऐसा सांचा भी होना चाहिये जिसमें विचार और जीवन प्रवाहित हो सकें तथा स्थिर रूप धारण कर सकें। इस क्षेत्रमें हमें न्यूनतर पूर्णता एवं महत्तर अपूर्णताके लिये भी तैयार रहना चाहिये। और इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा अपने विचारोंसे अधिक विशाल है उसी प्रकार विचार भी अपने बाह्य रूपों, सांचों और लयतालोंसे अधिक विशाल हैं। रूपमें एक विशेष निश्चितता होती है जो सीमा बांध देती है; कोई भी रूप अपनेको जन्म देनेवाले विचार या शक्तिकी क्षमताओंको निःशेष या पूर्णरूपमे व्यक्त नहीं कर सकता। न कोई विचार ही, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, और न शक्ति या रूपकी कोई सीमित क्रीड़ा ही अनंत आत्माको बांध सकती है: पृथ्वीकी परिवर्तन और विकासकी आवश्यकताका यही रहस्य है। विचार तो आत्माका केवल आंशिक प्रकाश होता है। यहांतक कि अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपनी दिशाओंमें भी उसे सदा अधिक नमनीय बनना चाहिये, अन्य विचारोंसे अपने-आपको परिपूर्ण करना, नये प्रयोगोंकी ओर उठना तथा फैलना चाहिये, और प्रायः ही अपने अर्थके उन उन्नायक रूपांतरोंमें अपनेको खो देना चाहिये जो उसके अर्थको विशालतर अर्थोंमें परिणत कर देते हैं या फिर उसे नये तथा अधिक समृद्ध समन्वयोंमें अपनेको घुला-मिला देना चाहिये। अतएव सभी महान् संस्कृतियोंके इतिहासमें हम देखते हैं कि उन्हें तीन कालोंमेंसे गुजरना पड़ा है, क्योंकि इन कालोंमेंसे गुजरना वस्तुओंके इस सत्यका एक आवश्यक परिणाम है। पहला काल होता है विस्तृत और शिथिल रचनाका; दूसरा काल वह होता हैं जिसमें हम रूपों, सांचों और छंदोंको निर्धारित होते देखते हैं; और अंतिम या संकटपूर्ण काल होता

है वार्धक्य, शक्तिक्षीणता और विघटनका। यह अंतिम अवस्था सभ्यताके जीवनमें अत्यंत संकटपूर्ण होती है; यदि वह अपना रूपांतर न कर पाये तो वह एक धीमे तथा लंबे कालतक चलनेवाले ह्रासकी अवस्थामें प्रवेश करती है अथवा वह उन शक्तियों या रचनाओंकी तीव्र टक्करसे उत्पन्न मृत्यु-वेदनाको भोगते हुए नष्ट हो जाती है जो अधिक प्रबल एवं अधिक प्रत्यक्षतः जीवंत होती हैं, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये शक्तियां अधिक महान् या अधिक सच्ची हों। परंतु यदि वह सीमित करनेवाले रूपोंको झाड़-फेंककर अपने-आपको उनसे मुक्त करने, अपने विचारोंको नया रूप देने और अपनी भावनाको नया क्षेत्र प्रदान करनेमें समर्थ हो, यदि वह नूतन प्रगतियों और आवश्यकताओंको समझने तथा अधिकृत एवं आत्मसात् करनेके लिये इच्छुक हो, तो उसका पुनर्जन्म हो जाता है, उसे जीवन और विस्तारका एक नया अधिकार प्राप्त हो जाता है, उसका सच्चा पुनर्जन्म हो जाता है।

भारतीय सभ्यता अपने बहुविध और धीर-स्थिर ढंगसे इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरी। इसकी पहली अवस्था एक महान् आध्यात्मिक विकासकी थी जिसमें कि आकार कोमल, लचकीले तथा इसकी मूल भावना-का स्वतंत्रतापूर्वक प्रत्युत्तर देनेवाले थे। वह तरल गति प्रबल बौद्धिकता-के युगमें परिणत हो गयी जिसमें सब चीजोंको विभिन्न, काफी जटिल, पर विशद रूपसे विवेचित और फिर भी नमनीय रूपों तथा लय-तालोंमें स्थिर कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप एक अत्यधिक घनी-भूत कठोरताका काल आया जिसमें वह कठोरता जटिल परिस्थितियोंके कारण डगमगा उठती थी और उन परिस्थितियोंका सामना कुछ अंशमें विचारोंके परिवर्तन तथा रूपोंके संशोधनके द्वारा किया जाता था। परंतु नियत आकारोंको कठोरतापूर्वक बांध देनेकी क्रिया अंतमें विजयी हुई और अनुप्रेरक भावनाका ह्रास, जीवंत शक्तिका गतिरोध और बाह्य रचनाका उत्तरोत्तर क्षय होने लगा। ह्रासके साथ ही अन्य संस्कृतियोंसे टक्कर हुई और उसके कारण कुछ समयके लिये उस ह्रासका वेग एकाएक रुक गया पर अंतमें वह फिर तीव्र हो उठा। आज हम एक प्रबल और निर्णायक संकटके बीच उपस्थित हैं जो पश्चिमके तथा जिन वस्तुओंका वह प्रतिनिधि है उन सबके भारतमें टूट पड़नेसे उत्पन्न हुआ है। इसके परिणामस्वरूप एक भारी उथल-पुथल हुई जिसने शुरू-शुरूमें हमारी संस्कृतिकी पूर्ण मृत्यु और अप्रतिकार्य विनाशकी धमकी दी; किंतु इसके विपरीत अब उसकी गतिधारा एक महान् पुनरुज्जीवन, परिवर्तन और नवजागरणकी बलवती आशाके द्वारा ऊपरकी ओर मुड़ गयी है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक अवस्था संस्कृतिके विद्यार्थी

के लिये अपना विशेष महत्त्व रखती है। यदि हम भारतीय सभ्यताकी मूल भावनाको समझना चाहें तो हमें इसके प्रथम रचनात्मक काल, इसके वेद और उपनिषदोंके आरंभिक युग, इसके वीरतापूर्ण सर्जनशील बीजकाल-की ओर लौटना होगा। यदि हम इसकी भावनाके निश्चित रूपोंका अध्ययन तथा उस वस्तुका अवलोकन करना चाहें जिसे इसने अपने जीवनकी आधार-भूत लयके रूपमें अंततः उपलब्ध किया तो हमें शास्त्रों और सर्वोत्तम साहित्यिक ग्रंथोंके परवर्ती मध्ययुगपर, अर्थात् दर्शन और विज्ञान, विधि-व्यवस्थापन और राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धांत तथा बहुमुखी आलो-चनात्मक चिंतन, धार्मिक विधि-विधान, शिल्प, मूर्त्तिकला, चित्रविद्या, वास्तु-कलाके युगपर खुली आंखोंसे दृष्टिपात करना होगा। यदि हम उन सीमाओं, उन स्थलोंको जानना चाहें जिनपर यह एकाएक रुक गयी और और अपनी संपूर्ण या सच्ची भावनाका विकास नहीं कर सकी, तो हमें इसके अवनति कालके दुःखदायी रहस्योंका सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करना होगा। अंतमें, यदि हम उन दिशाओंको मालूम करना चाहें जिनका अनुसरण यह संभवतः अपने रूपांतरके समय कर सकती है तो हमें, इसके पुनरुज्जीवनके संधिक्षणकी अभी विशृंखल गतियोंके नीचे विद्यमान तथ्योंकी तहमें जानेका यत्न करना होगा। वास्तवमें, इनमेंसे किन्हींको भी एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि किसी एक कालमें जो कुछ विकसित हुआ उसका पूर्वानुभव और सूत्रपात उससे पूर्ववर्ती युगमें हो गया था : किंतु फिर भी किसी व्यापक एवं अनिश्चित परिमाणमें हम ये भेद कर सकते हैं और एक सूक्ष्म-दर्शिनी विश्लेषक दृष्टिके लिये ये आवश्यक भी हैं। परंतु इस समय हमें उन विकसित रूपों तथा मुख्य लय-तालोंसे ही मतलब है जो इसके महत्तर युगोंमें निरंतर स्थिर रहे।

भारतीय संस्कृतिको जो समस्या हल करनी थी वह उस दृढ़ बाह्य आधारको प्राप्त करनेकी थी जिसपर वह अपने मूल भाव और जीवनसंबंधी अपने विचारके क्रियात्मक विकासको प्रतिष्ठित करे। मनुष्यके प्राकृत जीवनको हम किस रूपमें लें और, इसे पर्याप्त क्षेत्र, वैविध्य और स्वातंत्र्य प्रदान करते हुए भी, किस प्रकार एक विधान, नियम या धर्म — कर्तव्य-संबंधी धर्म, श्रेणीसंबंधी धर्म, प्रत्येक वास्तविक अनादर्श मानवप्रकृतिके धर्म और उच्चतम आदर्श भावनाके धर्मके अधीन भी रखें? और फिर कैसे उस धर्मको इस मार्गका निर्देश दें कि वह आध्यात्मिक जीवनकी सुरक्षित स्वा-धीनतामें अपने अनुशासनात्मक प्रयोजनको पूर्ण और समाप्त करके अपने-आपको अतिक्रम कर जाय? भारतीय संस्कृतिने, प्रारंभिक अवस्थासे ही

अपने मार्गदर्शनके लिये एक दोहरे विचारको अपनाया जिसे इसने समाजकी चौखटमें वैयक्तिक जीवनकी आधारभूत प्रणालीका रूप दे डाला। यह चार वर्णों और चार आश्रमोंकी दोहरी प्रणाली थी, — चार वर्ण समाजके चार क्रमबद्ध वर्ग और चार आश्रम विकसनशील मानवजीवनकी चार क्रमानुगत अवस्थाएं थे।

प्राचीन चातुवर्ण्यका मूल्य उसकी परवर्ती टूटी-फूटी पतनकी अवस्था और स्थूल निरर्थक व्यंग्य रूप अर्थात् जाति-प्रथाके द्वारा नहीं आंकना चाहिये। परंतु यह ठीक वह वर्ग-प्रणाली भी नहीं थी जिसे हम अन्य सभ्यताओंमें पाते हैं, पुरोहितवर्ग, कुलीन-वर्ग, व्यापारी-वर्ग और दास या श्रमिकगण। हो सकता है कि बाहरी तौरपर इसका आरंभ इसी प्रकार हुआ हो, पर इसे एक अत्यंत भिन्न और प्रकाशप्रद अर्थ दिया गया था। प्राचीन भारतीय विचार यह था कि मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार चार प्रकारके होते हैं। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोच्च है विद्या और चिंतन एवं ज्ञानसे संपन्न मनुष्य; दूसरा है, शक्तिशाली और कर्मप्रधान मनुष्य, शासक, योद्धा, नेता, प्रशासक; इस क्रममें तीसरा है, आर्थिक मनुष्य, उत्पादक और धनोपार्जक, व्यापारी, शिल्पी, कृषक: ये सब द्विज थे जिन्हें दीक्षा प्राप्त होती थी, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। अंतिम था कम विकसित श्रेणीका मनुष्य जो अभी सीढ़ीके इन सोपानोंपर आरोहण करनेके योग्य नहीं था, बुद्धिहीन और निःशक्त था, सृजन या कौशलपूर्ण उत्पादनमें असमर्थ था, कौशलहीन शारीरिक श्रम और निम्नकार्य के सेवा योग्य मनुष्य था अर्थात् शूद्र। समाजकी आर्थिक व्यवस्था इन चार श्रेणियोंके स्वरूप और क्रममें ढाली गयी थी। ब्राह्मण वर्गसे समाजको इसके पुरोहित, विचारक, विद्वान्, विधान-रचयिता, पंडित, धार्मिक नेता और मार्गदर्शक प्रदान करनेके लिये कहा जाता था। क्षत्रिय-वर्ग इसे इसके राजा, योद्धा, राज्यपाल और प्रशासक प्रदान करता था। वैश्य-वर्ण इसे इसके उत्पादक, कृषिविज्ञ, कारीगर, शिल्पी, वणिक् और व्यवसायी देता था। शूद्र-श्रेणी इसकी नौकर-चाकरोंकी आवश्यकताको पूरा करती थीं। यहांतक तो इस व्यवस्थामें इसकी असाधारण स्थायिताके सिवा और, शायद, इसके अंदर धर्म, चिंतन और ज्ञानकी सर्वोच्च स्थितिके सिवा और कोई विशेष बात नहीं थी, इनकी वह सर्वोच्च स्थिति केवल वर्ण-परंपराके शिखरपर ही नहीं थी — क्योंकि इसका दृष्टांत तो एक-दो अन्य सभ्यताओंसे भी दिया जा सकता है — बल्कि सभी वर्णोंके बीच एक प्रभुत्वपूर्ण शक्तिके रूपमें थी। भारतीय विचारने, अपने विशुद्ध रूपमें इस व्यवस्थाके अंतर्गत मनुष्यकी स्थिति जन्म-

के द्वारा नहीं, वरन् उसकी क्षमताओं और आंतरिक प्रकृतिके द्वारा निश्चित की थी, और यदि इस नियमका कठोरतापूर्वक पालन किया गया होता तो वह विशिष्टताकी एक अत्यंत स्पष्ट निशानी एवं एक अनुपम कोटिकी उत्कृष्टता होती। परंतु अच्छेसे अच्छा समाज भी सदैव कुछ अंशोंमें एक मशीन-सा होता है और वह भौतिक चिह्न और प्रतिमानकी ओर आकृष्ट होता है; और इस सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक आधारपर समाज-व्यवस्थाको सच्चे रूपमें प्रतिष्ठित करना उस युगमें एक दुष्कर और निरर्थक प्रयत्न होता। क्रियात्मक रूपमें हम देखते हैं कि जन्म ही वर्णका आधार बन गया। अतएव जिस प्रबल विशिष्ट गुणने इस समाज-रचनाको एक पृथक् तथा अपने ढंगकी अद्वितीय वस्तु बना डाला है, उसकी खोज हमें कहीं और ही करनी होगी।

निःसंदेह किसी भी समय एकदम पूर्ण रूपमें आर्थिक नियमका अनुसरण नहीं किया गया। प्राचीन युग पर्याप्त नमनीयताको प्रदर्शित करते हैं जो एक बंधा-बंधाया आकार धारण करनेकी जटिल प्रक्रियामें सर्वथा खो नहीं गयी थी। और, बाद की जाति-प्रथाकी अत्यधिक कठोरतामें भी व्यवहारतः आर्थिक कार्योंमें गड़बड़घोटाला हुआ है। एक बलशाली समाजकी जीवन-शक्ति, पग-पगपर, यांत्रीकारक मनके द्वारा निर्धारित नमूने और परंपराके संकेतोंका अनुसरण नहीं कर सकती। फिर, व्यवस्थाके आदर्श सिद्धांत और उसके स्थूलतर आदर्शच्युत व्यवहारमें सदा ही भेद था। कारण, किसी विचार या व्यवस्थाके भौतिक पहलूमें, उसके अच्छे-से-अच्छे युगमें भी, सदैव अपनी कुछ कमजोरियां होती हैं, और इस प्रकारकी सभी व्यवस्थाओंका अंतिम दोष यह होता है कि वे एक निश्चित क्रमपरंपराका कठोर रूप धारण कर लेते हैं जो अपनी पवित्रताको या अपनी उस उपयोगिताको जिसके लिये वह अभिप्रेत थी, स्थायी रूपसे सुरक्षित नहीं रख सकती। जब उस व्यवस्थाका औचित्य सिद्ध करनेवाले उसके उपयोग अब और अस्तित्वमें नहीं रहते तो वह एक आत्माहीन आकार बन जाती है और विकृति, अधोगति या अत्याचारपूर्ण अनुष्ठान-प्रियताकी अवस्थामें अपनेको बनाये रखती है। जब उसकी रीति-नीतिको मानवताकी प्रगतिकी विकसनशील आवश्यकताओंके साथ अब और सुसंगत नहीं बनाया जा सकता तब भी रूढ़िबद्ध व्यवस्था बनी रहती है और वह जीवनके सत्यको विकृत करती तथा प्रगतिमें बाधा डालती है। भारतीय समाज भी इस सर्वसामान्य नियमसे नहीं बचा; वह इन त्रुटियोंसे घिरकर वस्तुओंके उस असली अभिप्रायको खो बैठा जिसे लेकर वह अपनेको रूपायित करने चला

था और आत-पांतकी अस्तव्यस्ततामें जा गिरा तथा ऐसी बुराइयां पैदा कीं जिन्हें दूर करनेमें हमें आज इतनी परेशानी उठानी पड़ रही है। परंतु अपने समयमें यह एक सुचिंतित और आवश्यक योजना थी; इसने समाज-को एक दृढ़ और सुघटित स्थिरता प्रदान की जिसकी उसे अपने सांस्कृतिक विकासकी सुरक्षाके लिये जरूरत थी,—वह एक ऐसी स्थिरता थी जिस-का दृष्टांत किसी अन्य संस्कृतिमें शायद ही मिले। और, जैसी कि भार-तीय विद्वानोंने व्याख्या की है, यह उस निरे बाह्य आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक यंत्रसे कहीं महान् वस्तु बन गयी थी जिसका उद्देश्य सामूहिक जीवनकी आवश्यकताओं और सुविधाओंका प्रबंध करना होता है।

कारण, भारतीय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की वास्तविक महत्ता आर्थिक कर्तव्यों-के सुव्यवस्थित विभाजनमें नहीं थी; इसकी सच्ची मौलिकता और इसका स्थायी मूल्य तो उस नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वमें था जिसे समाजके विचारकों और निर्माताओंने इन रूपोंके अंदर ढाला था। यह आभ्यंतरिक तत्त्व इस विचारको लेकर चला था कि व्यक्तिका बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास ही मानवजातिकी प्रधान आवश्यकता है। स्वयं समाज भी इस विकासके लिये एक आवश्यक ढांचामात्र है; वह संबंधोंकी एक प्रणाली है जो इसे इसका अपेक्षित माध्यम, क्षेत्र, अवस्थाएं और सहायक प्रभावोंका एक केंद्र प्रदान करती है। समाजके अंदर व्यक्तिके लिये एक ऐसा सुरक्षित स्थान प्राप्त करना आवश्यक था जहांसे वह इन संबंधोंकी सेवा कर सके जो समाजको कायम रखने तथा इसे उसका कर्तव्य और सहयोगरूपी ऋण चुकानेमें सहायक होते हैं, और साथ ही सामाजिक जीवन-से संभवनीय सर्वोत्तम सहायता पाकर अपने आत्म-विकासकी ओर अग्रसर हो सके। व्यवहारमें जन्मको प्रथम स्थूल और स्वाभाविक संकेत माना जाता था; क्योंकि आनुवंशिकताको सदा ही भारतीय मन एक अत्यंत महत्त्व पूर्ण तथ्य मानता रहा है: यहांतक कि बादकी विचारधारामें इसे उस प्रकृतिका चिह्न और उन परिस्थितियोंका सूचक माना गया जिन्हें व्यक्ति अपने पिछले जन्मोंमें अपने विगत आंतरात्मिक विकासके द्वारा अपने लिये तैयार कर चुका है। परंतु जन्म वर्णकी एकमात्र कसौटी नहीं है और न हो ही सकता है। मनुष्यकी बौद्धिक क्षमता, उसके स्वभावका रुझान, उसकी नैतिक प्रकृति, उसकी आध्यात्मिक उच्चता—ये आवश्यक तत्त्व हैं। अतएव कौटुंबिक जीवनके एक नियम, वैयक्तिक धर्मानुष्ठान और आत्म-अनुशासनकी एक पद्धति, शिक्षण और पालन-पोषणकी एक शक्तिकी स्था-पना की गयी थी जो इन मूल तत्त्वोंको प्रकट और गठित करे। व्यक्तिको

उक्त क्षमताओं, अभ्यासों और गुणोंकी सावधानतापूर्वक शिक्षा दी जाती थी और सम्मान तथा कर्तव्यकी उस भावनाका अभ्यासी बनाया जाता था जो उसके निर्दिष्ट जीवन-कार्यकी पूर्त्तिके लिये आवश्यक थी। जो कार्य उसे करना होता था उसकी विद्या, 'अर्थ'के रूपमें उसमें सफल होने और अपने कार्योंके, वे चाहे आर्थिक, राजनीतिक, पुरोहितीय, साहित्यिक एवं शैक्षणिक हों और चाहे और कोई हों,—उच्चतम नियम, विधान और मान्य पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी सर्वोत्तम पद्धति उसे सतर्कताके साथ सिखायी जाती थी। यहांतक कि अत्यंत जघन्य धंधोंकी भी अपनी शिक्षा होती थी, उनका भी अपना नियम और विधान होता था, उनमें सफलता प्राप्त करनेकी अपनी महत्त्वाकांक्षा, उन्हें पूरा करने और सावधानीके साथ अच्छी तरह संपन्न करनेमें आत्मसम्मानकी एक अपनी भावना, तथा पूर्णताके एक नियत मापदंडका अपना गौरव होता था। और चूंकि उन धंधोंमें ये सब चीजें होती थीं इसीलिये नीच-से-नीच तथा कम-से-कम आकर्षक कार्य भी कुछ अंशमें आत्म-उपलब्धि और व्यवस्थित आत्म-तृप्तिका साधन बन सकता था। इस विशेष कार्य और शिक्षणके अतिरिक्त कुछ सर्व-सामान्य प्राप्तव्य चीजें, विद्याएं, कलाएं, जीवनकी श्री-सुषमाएं भी होती थीं जो मानवप्रकृतिकी बौद्धिक, सौंदर्य-बोधात्मक तथा सुखभोगवादी शक्तियों-को संतुष्ट करती हैं। प्राचीन भारतमें ये चीजें अनेक और नानाविध थीं; सूक्ष्मता, पूर्णता और यथायथताके साथ सिखायी जाती थीं और सभी सु-संस्कृत मनुष्योंके लिये सुलभ थीं।

परंतु जब कि इन सब चीजोंके लिये प्रबंध था और वह जीवन-भावना-की सजीव उदारता और व्यवस्थाकी उत्कृष्ट भावनाके साथ किया जाता था, तब भी भारतीय संस्कृतिकी आत्मा अन्य प्राचीन संस्कृतियोंकी भांति यहीं रुक नहीं गयी। उसने व्यक्तिसे कहा: "यह तो केवल नीचेका आधार है: निःसंदेह, यह अनिवार्य रूपसे महत्त्वपूर्ण है, पर फिर भी यह अंतिम और सबसे बड़ी वस्तु नहीं है। जब तुम समाजको अपना ऋण चुका देते हो, उसके जीवनमें अपने स्थानकी पूर्ति अच्छी तरह और सराहनीय रूपमें कर चुकते हो, उसके रक्षण और स्थायित्वमें सहयोग दे चुकते हो और उससे अपना न्याय्य तथा अभीष्ट सुख-संतोष प्राप्त कर लेते हो, तब भी सबसे महान् वस्तु बची ही रह जाती है। तब भी तुम्हारी अपनी आत्मा तुम्हारी आंतरिक सत्ता, तुम्हारी अंतरात्मा जो अनंतका एक आध्यात्मिक अंश है तथा अपने सारतत्त्वमें सनातन ब्रह्मके साथ एक है, अभी अप्राप्त ही रह जाती है। अपने अंदरकी इस सत्ताको, इस अंतरात्माको तुम्हें

प्राप्त करना होगा; इसीके लिये तुम इहलोकमें आये हो, और जीवनमें मैंने तुम्हें जो स्थान दिया है उससे तथा इस शिक्षा-दीक्षासे ही तुम इसे प्राप्त करना आरंभ कर सकते हो। क्योंकि, प्रत्येक वर्णको मैंने उसके उपयुक्त मनुष्यत्वका उच्चतम आदर्श प्रदान किया है, वह उच्चतम आदर्श मार्ग प्रदान किया है जिसका अनुसरण तुम्हारी प्रकृति कर सकती है। अपने जीवन और प्रकृतिको अपने 'स्वधर्म' के अनुसार उस पूर्णताकी ओर ले चलकर तुम केवल उस आदर्शकी ओर विकसित तथा विश्व-प्रकृतिके साथ सम-स्वर ही नहीं हो सकते, अपितु भगवान्‌की महत्तर प्रकृतिका सामीप्य और संस्पर्श भी लाभ कर सकते हो और साथ ही परात्परताकी ओर भी अग्रसर हो सकते हो। यही तुम्हारा सच्चा लक्ष्य है। तुम्हें मैं जो जीवन-आधार प्रदान करती हूं उससे तुम उस मुक्तिप्रद ज्ञानकी ओर उठ सकते हो जिससे आध्यात्मिक मोक्षकी प्राप्ति होती है। तब तुम इन सब सीमित अवस्थाओं-को अतिक्रांत कर सकते हो जिनके अंतर्गत तुम्हें शिक्षा दी जा रही है; तुम धर्मको पूरा करके और इसे पार करके अपनी आत्माकी नित्यतामें, अमर आत्माकी पूर्णता, स्वतंत्रता, महत्ता और आनंदमें विकसित हो सकते हो; क्योंकि अपनी प्रकृतिके पर्दोंके पीछे प्रत्येक मनुष्यका स्वरूप यही है। जब तुम यह सब कर लोगे तब तुम स्वतंत्र हो जाओगे। तब तुम सब धर्मोंके परे चले जाओगे; तब तुम विश्वमय आत्मा बन जाओगे, भूतमात्र-के साथ एक हो जाओगे, और तुम या तो उस दिव्य स्वातंत्र्यमें रहते हुए जीवमात्रके कल्याणके लिये कार्य कर सकोगे या फिर एकांतमें जाकर नित्यता और परात्परताके आनंदका उपभोग करनेकी चेष्टा कर सकोगे।" चतुर्वर्ण-पर आधारित संपूर्ण समाज-व्यवस्थाको अंतरात्मा, मन और प्राणकी उन्नति और विकासका एक ऐसा सुसमंजस साधन बना दिया गया था जिसके द्वारा ये अर्थ और कामकी स्वाभाविक खोजसे ऊपर पहले तो हमारी सत्ताके विधान, धर्म, की पूर्णताकी ओर और अंतमें उच्चतम आध्यात्मिक स्वतंत्रता-की ओर विकसित हो सकें। क्योंकि जीवनमें मनुष्यका सच्चा लक्ष्य सदैव अपनी अमर आत्माकी यह उपलब्धि, इसके अनंत एवं शाश्वत जीवनरूपी रहस्यमें यह प्रवेश ही होना चाहिये।

भारतीय प्रणालीने इस कठिन विकासको पूर्ण रूपसे व्यक्तिके अपने अकेले आंतरिक प्रयासपर ही नहीं छोड़ दिया था। इसने उसके लिये एक ढांचा प्रस्तुत किया था; इसने उसे उसके जीवनके लिये एक श्रेणी-परंपरा एवं स्तर-परंपरा प्रदान की थी जिसे उस विकासकी दृष्टिसे एक प्रकारकी चढ़ती हुई सीढ़ीका रूप दिया जा सकता था। यह उत्तम सुविधा प्रदान करना

ही चार आश्रमोंका उद्देश्य था। जीवन चार स्वाभाविक कालोंमें विभाजित था और उनमेंसे प्रत्येक काल जीवन-यापन-संबंधी इस सांस्कृतिक विचारको क्रियान्वित करनेकी एक अवस्थाको परिलक्षित करता था। पहला था विद्यार्थी-जीवनका काल, दूसरा, गृहस्थ-जीवनका काल, तीसरा एकांतसेवी या वानप्रस्थका काल और चौथा स्वतंत्र, समाजसे ऊपरके मनुष्य अर्थात् परिव्राजकका काल। विद्यार्थी-जीवनका गठन उस सबकी भित्ति स्थापित करनेके लिये किया गया था जो कुछ कि मनुष्यको जानना, करना और बनना होता था। यह आवश्यक कलाओं और विद्याओ तथा ज्ञानकी नाना शाखाओंकी पूर्ण शिक्षा प्रदान करता था, परंतु यह नैतिक प्रकृतिके अनुशासनपर और भी अधिक बल देता था तथा और भी प्राचीन युगमें आध्यात्मिक ज्ञानके वैदिक सूत्रकी सांगोपांग शिक्षा देना भी इसका एक अनिवार्य अंग था। पुरातन कालमें यह शिक्षा शहरोंके जीवनसे अत्यंत दूर, अनुकूल वातावरणमें दी जाती थी और शिक्षक ऐसा ही व्यक्ति होता था जो स्वयं जीवन-चक्रकी इस क्रमपरंपरासे गुजर चुका होता था और यहांतक कि प्रायः ही वह एक ऐसा व्यक्ति होता था जो आध्यात्मिक ज्ञानकी कोई विशिष्ट अनुभूति प्राप्त कर चुका होता था। परंतु आगे चलकर शिक्षा अधिक बौद्धिक और सांसारिक बन गयी; वह नगरों और विश्वविद्यालयोंमें दी जाने लगी और उसका लक्ष्य चरित्र तथा ज्ञानकी आंतरिक तैयारीकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिको जानकारियां और शिक्षा देना ही अधिक होता था। परंतु आरंभमें आर्यपुरुषको वस्तुतः अपने जीवनके चार महान् लक्ष्यों, अर्थ, काम, धर्म और मोक्षके लिये कुछ अंशमें तैयार किया जाता था। अपने ज्ञानको जीवनमें चरितार्थ करनेके लिये गृहस्थ आश्रममें प्रवेश कर वह वहां पहले तीन मानवीय लक्ष्योंको पूरा करनेमें समर्थ होता था; वह जीवनका सुख लेनेके लिये अपनी प्राकृत सत्ता और इसके स्वार्थों एवं इसकी कामनाको तृप्त करता था, वह समाज और इसकी मांगोंके प्रति अपना ऋण चुकाता था और जिस ढंगसे वह अपने जीवन-कर्तव्योंको संपन्न करता था उसके द्वारा वह अपनेको अपने जीवनके अंतिम और सबसे महान् लक्ष्यके लिये तैयार करता था। अपने जीवनकी तीसरी अवस्थामें वह वनमें जाकर एकांतवास करता और अपनी आत्माके सत्यको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करता था। वहां वह कठोरतर सामाजिक बंधनोंसे मुक्त होकर जीवन यापन करता था; किंतु यदि वह चाहता तो अपने चारों ओर युवकोंको एकत्र कर या जिज्ञासु और साधकका स्वागत कर एक शिक्षक या आध्यात्मिक गुरुके रूपमें अपना ज्ञान नयी उदीयमान पीढ़ीके लिये छोड़ सकता

था। जीवनकी अंतिम अवस्थामें वह इस बातके लिये स्वतंत्र होता था कि हर एक बचे-खुचे बंधनको उतार फेंके और सामाजिक जीवनकी समस्त रीति-नीतियोंमें नितांत आध्यात्मिक अनासक्ति रखता हुआ जगत्में भ्रमण करे, केवल अनिवार्यतम आवश्यकताओंको ही पूरा करता हुआ विश्वात्माके साथ अंतर्मिलन लाभ करे और अपनी आत्माको शाश्वतताकी प्राप्तिके लिये तैयार करे। यह चक्र सबके लिये अनिवार्य नहीं था। बहुत बड़ी संख्यामें लोग पहली दो अवस्थाओंके परे कभी नहीं जाते थे; बहुतसे लोग वानप्रस्थ-अवस्थामें ही स्वर्ग सिधार जाते थे। केवल इने-गिने विरले आदमी ही वह चरम-परम अभियान करते थे एवं परिव्राजक संन्यासीका जीवन अपनाते थे। परंतु गहराईके साथ स्थिर किया हुआ यह चक्र एक ऐसी योजना प्रस्तुत करता था जिसमें मानव-आत्माकी संपूर्ण विकासधाराको दृष्टिमें रखा गया था; सभी लोग अपने-अपने वास्तविक विकासके अनुसार इससे लाभ उठा सकते थे और जो लोग इस चक्रको पूर्ण करनेके लिये अपने वर्तमान जन्ममें पर्याप्त विकसित हो जाते थे वे इससे पूर्णतया लाभान्वित हो सकते थे।

इस प्रथम दृढ़ और श्रेष्ठ आधारपर भारतीय सभ्यता अपने परिपक्व रूपमें विकसित होकर एक समृद्ध, तेजस्वी और अद्वितीय वस्तु बन गयी थी। जहां उसने हमारी दृष्टिको एक परम आध्यात्मिक उत्कर्षके अंतिम उच्च दृश्यसे परिपूरित किया था, वहां उसने धरातलपरके जीवनकी भी उपेक्षा नहीं की थी। वह नगरके व्यस्त जीवन और ग्राम दोनोंके बीच, जंगलकी स्वाधीनता एवं निर्जनता और ऊपर छाये हुए अंतिम असीम आकाशके बीच निवास करती थी। जीवन और मृत्युके बीच दृढ़तापूर्वक विचरण करते हुए उसने इन दोनोंके परे दृष्टि डाली और अमरत्वकी ओर जानेवाले सैंकड़ों राजपथ बना दिये। वह बाह्य प्रकृतिको विकसित करके अंतरात्माकी ओर खींच ले जाती थी; वह जीवनको आत्मामें उठा ले जानेके लिये समृद्ध करती थी। ऐसे आधारपर प्रतिष्ठित और इस प्रकार प्रशिक्षित होकर प्राचीन भारत-जाति संस्कृति और सभ्यताके आश्चर्यजनक शिखरोंतक पहुंच गयी थी; उसने एक श्रेष्ठ, सुप्रतिष्ठित, विशाल और शक्तिशाली व्यवस्था और स्वतंत्रताके साथ जीवन यापन किया; उसने महान् साहित्यका, विद्याओं, कलाओं, शिल्पों और उद्योगोंका विकास किया; वह ज्ञान और संस्कृतिके, दुष्प्राप्य महत्ता और वीरताके, दया, उपकारशीलता, मानव-सहानुभूति और एकताके संभवनीय उच्चतम आदर्शों तथा उत्कृष्ट अभ्यासतक ऊपर उठी; उसने अद्भुत आध्यात्मिक दर्शनोंका एक अंतःप्रेरित आधार

स्थापित किया; उसने बाह्य प्रकृतिके रहस्योंकी छानबीन की और अंतः-सत्ताके निःसीम और आश्चर्यजनक सत्योंको ढूंढ़ निकाला तथा जीवनमें उतारा; उसने आत्माकी थाह ली तथा जगत्को समझा और अधिकृत किया। जैसे-जैसे उसकी सभ्यता समृद्ध और जटिल होती गयी वैसे-वैसे वह अवश्य ही अपनी आदिम व्यवस्थाकी प्रथम महान् सरलताको खोती गयी। बुद्धि उच्च और विशाल हो गयी, पर अंतर्ज्ञान क्षीण हो गया अथवा उसने संतों, सिद्धों और गुह्यवेत्ताओंके हृदयोंमें शरण ली। केवल प्राण और मनकी सब चीजोंमें ही नहीं बल्कि आत्माकी चीजोंमें भी वैज्ञानिक प्रणाली, यथार्थता और क्रम-व्यवस्थापर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाने लगा; अंतर्ज्ञानकी अबाध धाराको कटे-छंटे मार्गोंमें प्रवाहित होनेके लिये बाध्य किया गया। समाज अधिक कृत्रिम और जटिल बन गया, वह पहले जैसा स्वतंत्र और उदात्त नहीं रहा; वह व्यक्तिके लिये बंधनस्वरूप ही अधिक था और उसकी आध्यात्मिक क्षमताओंके विकासका क्षेत्र कम। पुराने उत्कृष्ट सर्वांगीण सामंजस्यके स्थानपर उसके मूल अवयवोंमेंसे किसी एक या दूसरेपर अतिरंजित बल दिया जाने लगा। अर्थ और कामको, कुछ दिशाओंमें, धर्मकी बलि देकर भी विकसित किया गया। धर्मकी रूपरेखाओंको इतनी कठोर बंधी-बंधायी चीजोंसे भर दिया गया और उनकी उसपर छाप डाल दी गयी कि वह आत्माकी स्वतंत्रताके मार्गमें रोड़ा बन गया। आध्यात्मिक मोक्षका अनुसरण जीवनके विरोधमें किया जाने लगा, न कि इसकी पूर्ण विकसित परिणति और उच्च शिखरके रूपमें। फिर भी भारतकी आत्माको अनुप्राणित एवं समस्वरित करने तथा जीवित रखनेके लिये प्राचीन ज्ञानका एक दृढ़ आधार बचा रहा। जब भ्रष्टता आयी और धीरे-धीरे ह्रास होने लगा, जब समाजका जीवन पथराकर जड़ीकृत अज्ञान और अस्त-व्यस्ततामें जा गिरा तब भी प्राचीन आध्यात्मिक लक्ष्य एवं परंपरा भारतवासियोंको उनके बुरे-से-बुरे दिनोंमें भी सरल और मृदुल बनाने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये बची रही। कारण, हम देखते हैं कि यह जीवनदायिनी शक्तिकी नयी तरंगों और उच्च विस्फोटोंके रूपमें जातिको पुनः-पुनः वेगपूर्वक आप्लावित करती रही या फिर आध्यात्मीकृत मन या हृदयकी प्रखर लपटोंके रूपमें फूटती रही जैसे कि आज भी यह एक महान् नवजागरणकी प्रेरणा देनेके लिये अपने पूरे बलके साथ एक बार फिर उठ रही है।

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पहला अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

मैंने भारतीय विचारधाराकी रूप-रेखाका वर्णन बौद्धिक समालोचनाके दृष्टिकोणसे ही किया है, क्योंकि यही दृष्टिकोण उन समालोचकोंका है जो इसका मूल्य घटानेकी चेष्टा करते हैं। मैंने यह दिखाया है कि इस विजातीय दृष्टिकोणसे भी हमें यह निर्णय करना होगा कि यह संस्कृति एक विशाल और उदात्त भावनाके द्वारा ही सृष्ट हुई है। अपनी सत्ताके अंतस्तलमें, एक उच्च सिद्धांतके द्वारा अनुप्राणित होकर, व्यष्टिगत मानवत्व, उसकी शक्तियों तथा उसकी संभवनीय एक पूर्णताकी हृदयग्राही और भावनासे आलोकित होकर तथा सामाजिक रचनाकी एक विस्तृत योजनाके साथ संलग्न होकर यह केवल प्रबल दार्शनिक, बौद्धिक और कलात्मक सर्जनशीलताके द्वारा ही नहीं, वरन् एक महान्, जीवनदायिनी और फलप्रद जीवनी शक्तिके द्वारा भी समृद्ध हुई। परंतु केवल वही बात इसकी सच्ची भावना या इसकी महानताको ठीक-ठीक नहीं प्रकट करती। इस दृष्टि-कोणसे तो हम यूनानी या रोमन सभ्यताका भी वर्णन कर सकते हैं और महत्त्वकी बात शायद ही कोई छूट सकेगी। परंतु भारतीय सभ्यता केवल एक महान् सांस्कृतिक प्रणाली ही नहीं थी, बल्कि वह तो मानवात्माका एक विराट् धार्मिक प्रयास भी थी।

भारतीय और यूरोपीय संस्कृतिमें जो भेद है उसकी सारी जड़ भारतीय सभ्यताके आध्यात्मिक उद्देश्यसे उत्पन्न होती है। यह उद्देश्य इस सभ्यताके सभी बाह्य रूपों और लय-तालोंकी समस्त समृद्ध और बहुविध विभिन्नताको जो एक मोड़ दे देता है वही मोड़ इसे इसकी अपनी विलक्षण विशेषता प्रदान करता है। क्योंकि जो चीज इसमें अन्य संस्कृतियोंकी जैसी है उसपर भी इस मोड़के कारण एक विशिष्ट मौलिकता तथा विरल महत्ताकी छाप पड़ जाती है। इस संस्कृतिकी प्रधान शक्ति, इसकी विचारधारा का सार-

तत्त्व, इसका प्रबल आवेग बस आध्यात्मिक अभीप्सा ही थी। इसने न केवल आध्यात्मिकताको जीवनका उच्चतम उद्देश्य माना, बल्कि मानवजाति-की भूतकालीन परिस्थितियोंमें जहांतक करना संभव था वहांतक, इसन समस्त जीवनको आध्यात्मिकताकी ओर मोड़ देनेका प्रयास भी किया। परंतु आध्यात्मिक प्रवृत्तिका मनुष्यके मनमें सबसे पहला, अपूर्ण ही सही पर स्वाभाविक रूप धर्म होता है और इसलिये आध्यात्मिक विचारकी प्रधानता होने तथा जीवनपर अपना अधिकार जमानेका इसका प्रयास होनेके कारण यह आवश्यक हो गया कि चिंतन और कर्मको धार्मिक सांचेमें ढाल दिया जाय और जीवनसंबंधी प्रत्येक बातको स्थायी रूपसे धार्मिक भावनासे भर दिया जाय; फिर इस कार्यको पूरा करनेके लिये एक व्यापक धर्म्य-दार्शनिक संस्कृतिकी आवश्यकता महसूस हुई। निःसंदेह, सर्वोच्च आध्यात्मिकता जिज्ञासाकी उस निम्नतर अवस्थासे, जो धार्मिक आचार और सिद्धांतसे परिचालित होती है, बहुत ऊपर एक मुक्त और विस्तृत वायु-मंडलमें विचरण करती है; वह उनकी सीमाओंको सहज ही अपने ऊपर नहीं लेती और जब उन्हें स्वीकार करती भी है तब भी वह उनको पार कर जाती है; वह एक ऐसे अनुभवमें निवास करती है जो अनुष्ठानप्रिय धार्मिक मनके लिये दुर्बोध होता है। परंतु उस उच्चतम आंतरिक उच्चतापर मनुष्य तुरत-फुरत नहीं जा पहुंचता और यदि उससे तुरत इसकी मांग की जाय तो वहां वह कभी नहीं पहुंचेगा। आरंभमें उसे आरोहणके निचले आधारों और अवस्थाओंकी आवश्यकता पड़ती है; वह सिद्धांत, पूजा, रूपक, संकेत, आकार या प्रतीक-रूपी किसी मचान की, मिश्रित अर्द्ध-प्राकृत प्रेरकभावकी किसी तुष्टि एवं अनुमतिकी अपेक्षा करता है जिसके आधारपर वह, अपने अंदर आत्माके मंदिरका निर्माण करते समय, स्थित हो सके। केवल मंदिरके पूरा बन जानेके बाद ही आधारोंको हटाया जा सकता है तथा मचानको दूर किया जा सकता है। जिस धार्मिक संस्कृतिको हम आज हिन्दुधर्मके नामसे पुकारते हैं उसने इस उद्देश्यको केवल पूरा ही नहीं किया अपितु, कई अन्य सांप्रदायिक धर्मोंके विपरीत, वह संस्कृति अपने उद्देश्यको जानती भी थी। उसने अपना कोई नाम नहीं रखा, क्योंकि उसने स्वयं कोई सांप्रदायिक सीमा नहीं बांधी; उसने सारे संसारको अपना अनुयायी बनानेका दावा नहीं किया, किसी एकमात्र निर्दोष सिद्धांतकी प्रस्थापना नहीं की, मुक्तिका कोई एक ही संकीर्ण पथ या द्वार निश्चित नहीं किया; वह कोई मत या पथकी अपेक्षा कहीं अधिक मानव आत्माके ईश्वरोन्मुख प्रयासकी एक सतत-विस्तारशील परंपरा थी।

आध्यात्मिक आत्म-निर्माण और आत्म-उपलब्धिके लिये एक बहुमुखी और बहु-अवस्थात्मिका विशाल व्यवस्था होनेके कारण उसे अपने विषयमें 'सनातन धर्म' के उस एकमात्र नामसे, जिसे वह जानती थी, चर्चा करनेका कुछ अधिकार था। यदि भारतीय धर्मके इस भाव और भावनाका हम समुचित और यथार्थ मूल्य आंक सकें तो ही हम भारतीय संस्कृतिके सच्चे भाव और भावनाको समझ सकते हैं।

अब, ठीक यहीं वह पहली चकरा देनेवाली कठिनाई उपस्थित होती है जिसपर यूरोपीय मन लड़खड़ा जाता है! क्योंकि वह हिंदूधर्मका तात्पर्य समझनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। वह पूछता है—कहां है इसकी आत्मा? कहां है इसका मन और स्थिर विचार और किधर है इसके शरीरका आकार? भला कोई ऐसा धर्म कैसे हो सकता है जिसके अंदर कोई ऐसे कठोर सिद्धांत न हों जो अनंत नरकवासकी यंत्रणा-पर विश्वास करनेकी मांग करते हों, जिसके अंदर कोई ऐसे धर्मतत्त्वसंबंधी स्वतःसिद्ध मंतव्य न हों, यहांतक कि कोई ऐसा निश्चित धर्म-शास्त्र एवं कोई धर्मविश्वास न हो जो उसे विरोधी या प्रतिस्पर्धी धर्मोंसे पृथक् करता हो? भला कोई ऐसा धर्म हो ही कैसे सकता है जिसका कोई पोप-सदृश अध्यक्ष न हो, कोई शासक धर्म-सघ न हो, कोई चर्च, उपासनालय या सभा-संगठन न हो, किसी प्रकारका अनिवार्य धार्मिक आचार न हो जिसका पालन उसके सभी अनुयायियोंके लिये आवश्यक हो, जिसमें कोई एक ही शासन-व्यवस्था और अनुशासन न हो? क्योंकि, हिन्दू पुरोहित तो केवल संस्कार करानेवाले कार्यकर्ता हैं जिनके पास न कोई धर्मसंबंधी अधिकार होता है और न अनुशासनात्मक सत्ता, और पंडित तो महज शास्त्रके व्याख्याता होते हैं, वे न तो धर्मके विधायक होते हैं और न इसके शासक। और फिर हिन्दूधर्मको धर्म कहा हो कैसे जा सकता है जब कि यह सभी विश्वासोंको स्वीकार करता है, यहांतक कि एक प्रकारके उच्चाकांक्षी नास्तिकतावाद और अज्ञेयवादको भी मान्यता देता है और सभी संभव आध्यात्मिक अनुभवोंके, सब प्रकारके धार्मिक अभियानोंको अंगीकार करता है। इसमें एकमात्र स्थिर, कठोर, स्पष्ट और सुनिश्चित वस्तु है सामाजिक विधान, और वह भी विभिन्न वर्णों, प्रदेशों और समाजों-में अलग-अलग होता है। यहां वर्णका शासन है, न कि चर्चका; परंतु वर्ण भी किसी मनुष्यको उसके विश्वासोंके लिये दंड नहीं दे सकता, न वह विधर्मितापर रोक लगा सकता है और न एक नये क्रांतिकारी सिद्धांत या नये आध्यात्मिक नेताका अनुसरण करनेसे उसे मना कर सकता है।

यदि वह ईसाई या मुसलमानको समाजसे बहिष्कृत करता है तो वह उसे धार्मिक विश्वास या आचारके कारण नहीं वरन् इसलिये बहिष्कृत करता है कि वे सामाजिक नियम और व्यवस्थाको अमान्य करते हैं। परिणामत:, यह बलपूर्वक कहा गया है कि 'हिन्दू-धर्म' नामकी कोई चीज ही नहीं है, है केवल एक हिन्दू समाज-व्यवस्था जो अपने साथ अत्यंत विभिन्न धार्मिक विश्वासों और प्रथाओंका गट्ठर लिये हुए है। संभवत: इस विषयमें छिछले पश्चिमी मतका अंतिम निर्णय यह बहुमूल्य सिद्धांत है कि हिन्दू-धर्म पौराणिक गाथाओंका एक स्तूप है जिसपर दार्शनिक रंगकी एक बेकार तह चढ़ी हुई है।

यह भ्रांति धर्मविषयक दृष्टिकोणके उस संपूर्ण भेदसे उत्पन्न होती है जो भारतीय मन और सामान्य पश्चिमी बुद्धिको विभक्त करता है। वह भेद इतना बड़ा है कि उसे एक नमनशील दार्शनिक शिक्षा या एक व्यापक आध्यात्मिक संस्कृतिके द्वारा दूर किया जा सकता है; परंतु पश्चिममें धर्मके जो रूप प्रचलित हैं तथा दार्शनिक चिंतनकी जिन कठोर पद्धतियोंका वहां अनुशीलन किया जाता है वे उक्त शिक्षा या संस्कृतिकी कोई व्यवस्था नहीं करतीं और न इसके लिये कोई अवसर ही प्रदान करती हैं। भारतीय मनके लिये किसी धर्मका सबसे कम आवश्यक भाग होता है उसके सिद्धांतको मानना, धार्मिक भावना ही महत्वकी वस्तु होती है, न कि धर्म-संबंधी मत-विश्वास। दूसरी ओर, पश्चिमी मनके लिये एक कटा-छंटा बौद्धिक विश्वास ही किसी धर्ममतका सबसे आवश्यक अंग होता है; वही इसके अर्थका मर्म होता है, वही वह चीज होता है जो इसे दूसरोंसे पृथक् करती है। क्योंकि, इसके बंधे-बंधाये विश्वास ही इसे, इस कसौटीके अनुसार कि यह आलोचकके मतविश्वासके साथ मेल खाता है या नहीं, सच्चा या झूठा धर्म बनाते हैं। यह धारणा चाहे कितनी ही मूर्खतापूर्ण और उथली क्यों न हो, पर यह उस पश्चिमी विचारका एक आवश्यक परिणाम है जो भूलसे यह समझता है कि बौद्धिक सत्य ही सर्वोच्च सत्य है और यहां-तक मानता है कि, दूसरा कोई सत्य है ही नहीं। भारतीय विचारक जानता है कि सभी उच्चतम सनातन सत्य आत्माके सत्य हैं। परम सत्य न तो न्यायशास्त्रीय तर्कणाके कठोर निष्कर्ष हैं और न विश्वासमूलक मंतव्योंकी स्थापनाएं, बल्कि वे तो अंतरात्माकी आंतरिक अनुभूतिके फल हैं। बौद्धिक सत्य तो मंदिरके बाहरी घेरेमें प्रवेश करनेके द्वारोंमेंसे केवल एक द्वार है। और, चूंकि 'अनंत' की ओर मुड़े हुए बौद्धिक सत्यको स्वभावत: ही बहुमुखी होना चाहिये, संकीर्ण रूपसे एक नहीं, इसलिये अत्यंत विभिन्न

बौद्धिक विश्वास भी समान रूपसे सत्य हो सकते हैं, क्योंकि वे अनंतके विभिन्न पार्श्वोंको प्रतिबिंबित करते हैं। बौद्धिक दृष्टिसे कितने ही दूर-दूर होते हुए भी वे बहुत-से छोटे-छोटे द्वारोंका काम करते हैं जिनके द्वारा मन परम ज्योतिसे आनेवाली किसी मंद रश्मिको प्राप्त कर सकता है। सच्चे और झूठे धर्म नहीं होते, बल्कि सच पूछो तो सभी धर्म अपने-अपने ढंगसे और अपनी-अपनी मात्रामें सच्चे हैं। प्रत्येक धर्म ही एकमेव सनातनकी ओर जानेवाले हजारों रास्तोंमेंसे एक रास्ता है।

भारतीय धर्मने मानवजीवनके सामने चार आवश्यक बातोंको रखा। सर्वप्रथम, इसने मनमें सत्ताकी एक ऐसी उच्चतम चेतना या अवस्थापर विश्वास रखनेपर बल दिया जो विश्वव्यापी और विश्वातीत है, जिससे सब कुछ प्रादुर्भूत होता है, जिसमें सब कुछ इसे बिना जाने ही रहता-सहता और चलता-फिरता है और जिसे एक दिन सब अवश्य जान लेंगे जब कि वे उस वस्तुकी ओर मुड़ेंगे जो पूर्ण, सनातन और अनंत है। दूसरे, इसने व्यष्टिजीवनके सामने विकास और अनुभवके द्वारा अपने-आपको तैयार करनेकी आवश्यकताको रखा जिससे कि अंतमें मनुष्य इस महत्तर सत्ताके सत्यमें सचेतन रूपसे विकसित होनेका प्रयत्न करनेके लिये प्रस्तुत हो जाय। तीसरे, इसने उसे ज्ञान और आध्यात्मिक या धार्मिक साधनाका एक सुप्रतिष्ठित, सुपरीक्षित, बहु-शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त और सदा विस्तृत होनेवाला मार्ग प्रदान किया। अंतमें, जो लोग अभी इन उच्चतर सोपानोंके लिये तैयार नहीं थे उनके लिये इसने वैयक्तिक और सामूहिक जीवनकी एक व्यवस्था, व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन और आचार-व्यवहारका, मानसिक, नैतिक और प्राणिक विकासका एक ढांचा प्रस्तुत किया जिसके द्वारा उनमेंसे प्रत्येक अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपनी प्रकृतिके अनुसार इस प्रकार प्रगति करनेमें समर्थ हो कि अंतमें महत्तर जीवनके लिये तैयार हो जाय। इनमेंसे पहली तीन बातें प्रत्येक धर्मके लिये अत्यंत अनिवार्य हैं, परंतु हिंदूधर्मने अंतिमको भी सदैव अत्यधिक महत्त्व दिया है; उसने जीवनके किसी भी अंगको एकदम लौकिक तथा धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनके लिये विजातीय वस्तु कहकर अपने क्षेत्रसे बाहर नहीं छोड़ा है। तथापि भारतीय धार्मिक परंपरा केवल एक धर्म्य सामाजिक प्रणालीका रूप-मात्र नहीं है जैसा कि अज्ञानी आलोचक व्यर्थ ही उसे समझता है। चाहे सामाजिक व्यतिक्रमके समय इसका महत्त्व कितना ही अधिक क्यों न हो, चाहे रूढ़िवादी धार्मिक मन समस्त सुस्पष्ट या प्रचंड परिवर्तनका कितने ही हठके साथ विरोध क्यों न करे, फिर भी हिंदूधर्मका सारमर्म आध्या-

त्मिक अनुशासन है, सामाजिक अनुशासन नहीं। सचमुच ही हम देखते हैं कि सिक्खधर्म जैसे धर्मोंको भी वैदिक परिवारमें गिना गया यद्यपि उन्होंने प्राचीन सामाजिक परंपराको तोड़कर एक नयी रीति-नीतिका आविष्कार किया; जब कि जैनों और बौद्धोंको परंपराकी दृष्टिसे धार्मिक घेरेके बाहर समझा गया यद्यपि वे हिन्दुओंकी सामाजिक आचार-नीतिका पालन करते थ और हिंदुओंके साथ विवाह आदि संबंध भी रखते थे, क्योंकि उनकी आध्यात्मिक प्रणाली एवं शिक्षा अपने मूलमें वेदके सत्यका निषेध और वैदिक क्रमपरंपराका व्यतिक्रम करती प्रतीत होती थी। हिंदूधर्मका निर्माण करनेवाले इन चारों अंगोंके विषयमें विभिन्न मतों, संप्रदायों, समाजों और जातियोंके हिंदुओंके बीच छोटे-बड़े भेद अवश्य हैं; किंतु फिर भी भावना, मूलभूत आदर्श और आचार तथा आध्यात्मिक मनोभावमें एक व्यापक एकता भी है जो इस विशाल तरलताके अंदर संयोगकी एक अपरिमित शक्ति तथा एकत्वके एक प्रबल सूत्रको उत्पन्न करती है।

समस्त भारतीय धर्मका मूल विचार एक ऐसा विचार है जो सर्वोच्च मानव चिंतनमें सर्वत्र समान रूपसे पाया जाता है। इहलोकमें जो कुछ भी है उस सबका परम सत्य है एक 'पुरुष' या एक 'सत्' जो, यहां हम जिन मानसिक और भौतिक रूपोंके संपर्कमें आते है उन सबसे परे है। मन, प्राण और शरीरसे परे एक अध्यात्मसत्ता एवं आत्मा है, जो सभी सांत वस्तुओंको और अनंतको अपने अंदर धारण किये हुए है, सभी सापेक्ष वस्तुओंसे अतीत है, एक परम निरपेक्ष सत्ता है जो सभी नश्वर पदार्थोंको उत्पन्न और धारण करती है, एकमेव सनातन है। एकमेव परात्पर, विश्वव्यापी, आदि और शाश्वत भगवान् या दिव्य सत्, चित्, शक्ति और आनंद ही वस्तुओंका आदि स्रोत, आधार और अंतर्वासी है। जीव, प्रकृति और जीवन इस आत्मसचेतन नित्य-सत्ता और इस चिन्मय सनातनकी एक अभिव्यक्ति या इसका एक आंशिक रूपमात्र है। परंतु सत्ताके इस सत्यको भारतीय मनने बुद्धिके द्वारा चिंतित केवल एक दार्शनिक कल्पना, धार्मिक सिद्धांत या अमूर्त तत्त्वके रूपमें ही नहीं ग्रहण किया था। यह कोई ऐसा विचार नहीं था जिसमें विचारक अपने अध्ययनके समय तो निरत रहे पर वैसे जीवनके साथ जिसका कोई क्रियात्मक संबंध न हो। यह कोई चेतनाका गुह्य उन्नयन नहीं था जिसकी जगत् और प्रकृतिके साथ मनुष्यके व्यवहारोंमें उपेक्षा की जा सकती हो। यह तो एक जीवंत आध्यात्मिक सत्य था, एक सत्ता, शक्ति एवं उपस्थिति थी जिसकी खोज सभी लोग अपनी क्षमताकी मात्राके अनुसार कर सकते थे और जिसे जीवनके द्वारा तथा जीवनके

परे सहस्रों मार्गोंसे आयत्त कर सकते थे। इस सत्यको जीवनमें चरितार्थ करना और यहांतक कि विचार, जीवन तथा कर्मको परिचालित करनेवाली प्रमुख भावना बनाना होता था। सब रूपोंके पीछे विद्यमान किसी परम वस्तु या परम पुरुषको इस प्रकार स्वीकार करना और खोजना ही भारतीय धर्मका एक मात्र सार्वजनीन मूलमंत्र रहा है, और यदि इसने सैकड़ों आकार ग्रहण कर लिये हैं तो इसका कारण ठीक यही है कि यह इतना अधिक जीवंत था। केवल अनंत ही सांतकी सत्ताकी सार्थकता सिद्ध करता है और सांत अपने-आपमें कोई पूर्णतः पृथक् मूल्य या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। जीवन, यदि यह कोई भ्रम नहीं है तो, एक दिव्य लीला है, अनंतकी महिमाकी एक अभिव्यक्ति है। अथवा यह एक साधन है जिससे अगणित रूपों और अनेक जीवनोंके द्वारा प्रकृतिके अंदर विकसित होता हुआ जीव प्रेम, ज्ञान, श्रद्धा, उपासना और कर्मगत ईश्वरोन्मुख संकल्पके बलपर इस परात्पर पुरुष और इस अनंत सत्ताके पास पहुंच सकता है, इसे स्पर्श और अनुभव कर सकता तथा इसके साथ एकत्व लाभ कर सकता है। यह दिव्य आत्मा या यह स्वयंभू पुरुष ही एकमात्र परम सद्वस्तु है, और अन्य सभी चीजें या तो प्रतीतियां मात्र हैं या उसपर आश्रित होनेके कारण ही वास्तविक हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धि ही जीवनधारी और विचारशील मनुष्यका महान् कार्य हैं। समस्त जीवन और विचार अंततोगत्वा आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धिकी ओर प्रगति करनेके साधन हैं।

भारतीय धर्मने परम-सत्यसंबंधी बौद्धिक या पारमार्थिक विचारोंको कभी एकमात्र केंद्रीय महत्त्वकी वस्तु नहीं समझा। किसी भी विचार या किसी भी आकारके रूपमें उस सत्यका अनुसरण करने, आंतरिक अनुभूतिके द्वारा उसे प्राप्त करने और चेतनामें उसके अंदर निवास करनेको ही वह एकमात्र आवश्यक वस्तु मानता था। एक मत या संप्रदाय मनुष्यकी वास्तविक आत्माको विश्वात्मा या परमात्माके साथ अविभाज्य रूपमें एक समझ सकता था। दूसरा मनुष्यको सारतत्त्वमें तो भगवान्‌के साथ एक पर प्रकृतिमें उससे भिन्न मान सकता था। तीसरा ईश्वर, प्रकृति और मनुष्यस्थ व्यष्टि-जीवको सत्ताकी तीन नित्य-भिन्न शक्तियोंके रूपमें स्वीकार कर सकता था। परंतु सबके लिये आत्माका सत्य एकसमान अचल-अटल था; क्योंकि भारतीय द्वैतवादीके लिये भी ईश्वर ही परम आत्मा और सद्वस्तु है जिसमें और जिसके द्वारा प्रकृति और मनुष्य रहते, चलते-फिरते और अस्तित्व रखते हैं और, यदि तुम वस्तुविषयक उसके दृष्टिकोणसे ईश्वर-

को बाहर निकाल दो तो उसके निकट प्रकृति और मनुष्यका कुछ भी अर्थ और महत्त्व नहीं रह जायगा। आत्मा, विश्व-प्रकृति (चाहे उसे माया कहा जाय अथवा प्रकृति या शक्ति) और जीवधारी प्राणियोंमें विद्यमान अंतरात्मा, अर्थात् जीव — ये तीन सत्य हैं जिन्हें भारतके सबके सब धार्मिक संप्रदाय और परस्परविरोधी धार्मिक दर्शन सर्वसामान्य रूपसे अंगीकार करते हैं। इस बातको भी सभी स्वीकार करते हैं कि मनुष्यकी आंतरिक अध्यात्म सत्ताकी, उसके अंदरकी दिव्य अंतरात्माकी प्राप्ति, और ईश्वर या परमात्मा या सनातन ब्रह्मके साथ मनुष्यकी अंतरात्माका किसी-न-किसी प्रकारका सजीव एवं ऐक्यसाधक संपर्क या पूर्ण एकत्व ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करनेकी शर्त्त है। यह मार्ग हमारे सामने खुला है कि हम भगवान्‌की कल्पना और अनुभूति निर्व्यक्तिक 'निरपेक्ष' एवं 'अनंत' के रूपमें करें। अथवा हम उनके पास एक विश्वातीत और विश्वव्यापी सनातन 'पुरुष' के रूपमें पहुंचे और इसी रूपमें उन्हें जानें तथा अनुभव करें: परंतु, उनके पास पहुंचनेका हमारा तरीका चाहे कोई भी क्यों न हो, आध्यात्मिक अनुभवका एकमात्र प्रधान सत्य यह है कि भगवान् भूतमात्रके हृदय और केंद्रमें विराजमान हैं और भूतमात्र उनके अंदर अवस्थित है और उन्हें प्राप्त करना ही महान् आत्म-उपलब्धि है। धर्ममत-संबंधी विश्वासोंके मतभेद भारतीय मनके लिये सबमें विद्यमान एक ही आत्मा और परमेश्वरको देखनेके अलग-अलग तरीकोंसे अधिक कुछ नहीं हैं। आत्म-साक्षात्कार ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है; अंतरस्थ परमात्माकी ओर खुलना, अनंतमें निवास करना, सनातनको खोजना और उपलब्ध करना, भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करना — यही धर्मका सर्वसामान्य विचार और लक्ष्य है, यही आध्यात्मिक मोक्षका अभिप्राय है, यही वह जीवंत सत्य है जो पूर्णता और मुक्ति प्रदान करता है। उच्चतम आध्यात्मिक सत्य और उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्यका यह क्रियात्मक अनुसरण ही भारतीय धर्मका एकीकारक सूत्र है और यही, उसके सहस्रों रूपोंके पीछे, उसका एक अभिन्न और सर्वसामान्य सारतत्त्व है।

यदि भारतजातिकी आध्यात्मिक प्रतिभाके, या आध्यात्मिक संस्कृतिके रूपमें अग्रपंक्तिमें स्थित होनेके भारतीय सभ्यताके दावेके समर्थनमें कहनेके लिये और कुछ न भी हो तो भी यह इस एक ही तथ्यसे काफी हदतक प्रतिपादित हो जायगा कि इस महत्तम और व्यापकतम आध्यात्मिक सत्यको भारतमें नितांत साहसपूर्ण विशालताके साथ सिर्फ देखा ही नहीं गया, अनुपम तीव्रताके साथ अनुभव और प्रकट ही नहीं किया गया तथा सब संभव पहलुओंसे केवल इसपर विचार ही नहीं किया गया, अपितु इसे सचेतन

रूपसे जीवनका एक महान् उन्नायक विचार, समस्त चिंतनका अंतःसार, समस्त धर्मका आधार और मानवजीवनका गुप्त आशय एवं घोषित चरम लक्ष्य भी बनाया गया। जिस सत्यकी घोषणा की गयी वह भारतीय चिंतनकी कोई निराली विशेषता नहीं है। सभी जगहके उच्चतम मनीषियों और महात्माओंने उसका साक्षात्कार और अनुसरण किया है। परंतु अन्यत्र वह केवल कुछ एक विचारकों या किन्हीं विरले गुह्यवेत्ताओं या असाधारण-शक्तिसंपन्न अध्यात्म-प्रकृति व्यक्तियोंका ही जीवंत मार्गदर्शक रहा है। जन-साधारणको इस 'परात्पर' कुछका कोई बोध या स्पष्ट अनुभव नहीं प्राप्त हुआ, इसकी किसी छायाकी झांकी भी नहीं मिली; वे धर्मके केवल निम्नतर सांप्रदायिक पहलूमें, देवता-विषयक हीनतर विचारोंमें या जीवनके बाह्य पार्थिव रूपोंमें ही निवास करते रहे। परंतु अन्य किसी संस्कृतिने जो कार्य नहीं किया है उसे करनेमें भारतीय संस्कृति अपनी दृष्टिकी तेजस्विता, अपने दृष्टिकोणकी व्यापकता, अपनी जिज्ञासाकी तीव्रताके कारण अवश्य सफल हुई। यह धर्मपर वास्तविक आध्यात्मिकताके मुख्य आदर्शकी छाप लगानेमें कृतकार्य हुई; यह धार्मिक क्षेत्रके प्रत्येक भागमें ठेठ उच्चतम आध्यात्मिक सत्यका कुछ सजीव प्रतिबिंब और उसके प्रभावकी कुछ प्राण-धारा अवश्य ले आयी। इस दावेसे बढ़कर असत्य और कोई बात नहीं हो सकती कि भारतके सामान्य धार्मिक मनने भारतीय धर्मके उच्चतर आध्या-त्मिक या दार्शनिक सत्योंको बिलकुल नहीं समझा है। यह कहना एकदम झूठ बोलना या जान-बूझकर भूल करना है कि वह सदा केवल रीति-रस्म, मत-विश्वास और प्रथा-परंपरा-रूपी बाह्याचारोंमें ही निवास करता रहा है। इसके विपरीत, भारतीय धार्मिक दर्शनके मुख्य दार्शनिक सत्य अपने विशाल भावनात्मक रूपोंमें या अपने गभीरतया काव्यमय एवं ओजस्वी वर्णनके रूपमें भारतवासियोंके साधारण मनपर अंकित हैं। माया, लीला एवं भगवान्‌के अंतर्यामित्वसे संबंध रखनेवाले विचार एक साधारण मनुष्य एवं मंदिरके पुजारीको भी उतने ही ज्ञात हैं जितने कि एकांतसेवी दार्शनिकको, मठ-वासी संन्यासी और कुटीवासी संतको। जिस आध्यात्मिक सत्यको वे प्रति-भासित करते हैं, जिस गभीर अनुभूतिकी ओर वे संकेत करते हैं वह संपूर्ण जातिके धर्म, साहित्य, कला और यहांतक कि प्रचलित धार्मिक गानोंमें भी व्यापी हुई है।

यह सच है कि इन चीजोंको सर्वसाधारण लोग चिंतनके अनथक प्रयत्न-की अपेक्षा कहीं अधिक भक्तिके उत्साहके द्वारा ही अधिक सहज रूपमें अनुभव करते हैं, परंतु यह तो वही है जो होना आवश्यक है और होना

ही चाहिये, क्योंकि मनुष्यकी बुद्धिकी अपेक्षा उसका हृदय सत्यके अधिक निकट है। यह भी सच है कि बाह्य अनुष्ठानोंपर अत्यधिक बल देनेकी प्रवृत्ति सभी कालोंमें विद्यमान रही है और इसने गंभीरतर आध्यात्मिक हेतुको आच्छन्न करनेकी चेष्टा की है; किंतु यह केवल भारतकी ही निजी विशेषता नहीं है, यह तो मानवप्रकृतिका एक सार्वभौम दोष है जो यूरोप-में एशियासे कम नहीं वरन् कहीं अधिक स्पष्ट रूपसे पाया जाता है। इसी कारण वास्तविक सत्यको सजीव बनाये रखने और आचार-अनुष्ठान, रीति-नीति और कर्मकांडके निर्जीव बनानेवाले बोझका प्रतिरोध करनेके लिये संतों और धार्मिक विचारकोंकी अविच्छिन्न परंपरा तथा आलोक-प्राप्त संन्यासियों-की शिक्षाकी आवश्यकता रही है। परंतु यह भी तथ्य है कि आत्माके इन संदेशवाहकोंका कभी अभाव नहीं रहा। और इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य भी विद्यमान है कि सर्वसाधारणके मनमें उनके संदेशको सुननेकी प्रसन्नतापूर्ण तत्परताकी भी कमी नहीं रही। सभी स्थानोंकी तरह भारतमें भी साधारण जड़भावापन्न आत्मा एवं बहिर्मुख मनवाले लोगोंकी ही अधिकता है। भला हमारी मानवताके इस विश्वव्यापी तथ्यको भुलाकर इसे भारतीय मनोभावका ही एक विशिष्ट चिह्न समझना इस उच्च यूरोपीय आलोचकके लिये कितना सहज है! परंतु कम-से-कम भारतके निवासियोंमें, यहांतक कि "अज्ञानी जनसाधारण" में भी यह विशेषता है कि सदियोंके शिक्षणके द्वारा वे और कहींकी साधारण जनता या सुसंस्कृत श्रेष्ठ जनोंकी भी अपेक्षा आंत-रिक सत्योंके अधिक निकट हैं, विश्वगत अविद्याके अपेक्षाकृत कम मोटे पदके द्वारा इन सत्योंसे विभक्त हैं और भगवान् एवं अध्यात्मसत्ता, आत्मा एवं नित्य-सत्ताकी जीवंत झांकी अधिक सुगमतासे पुनः प्राप्त कर लेते हैं। बुद्ध-की ऊंची, कठोर और कठिन शिक्षा भला और कहां सर्वसाधारणके मनपर इतनी तेजीसे अधिकार कर पाती? और कहां किसी तुकाराम, रामप्रसाद, कबीर तथा सिक्ख गुरुओंके गान, और प्रखर भक्ति पर साथ ही गहरे आध्या-त्मिक चिंतनसे युक्त तमिल संतोंके गीत इतने वेगसे गुंजायमान हो पाते तथा लोकप्रिय धार्मिक साहित्यका रूप ले पाते? आध्यात्मिक प्रवृत्तिका यह प्रबल संचार या घनिष्ठ सामीप्य, उच्चतम सत्योंकी ओर मुड़नेके लिये संपूर्ण राष्ट्रके मनकी यह तत्परता एक युग-युगव्यापी, वास्तविक और अभी-तक जीवित तथा परम आध्यात्मिक संस्कृतिका चिह्न और फल है।

भारतीय दर्शन और धर्मकी अंतहीन विविधता यूरोपीय मनको कभी न खत्म होनेवाली, चकरा देने और उकता देनेवाली तथा निरुपयोगी प्रतीत होती है; पेड़-पौधोंकी समृद्धि और बहुलताके ही कारण वह वनको देखनेमें

असमर्थ होता है; वह बाह्य रूपोंके बाहुल्यके कारण सर्वसामान्य आध्यात्मिक जीवनको नहीं देख पाता। परंतु, विवेकानंदने उचित ही कहा था, स्वयं यह अनंत विविधता ही एक उत्कृष्ट धार्मिक संस्कृतिका लक्षण है। भारतीय मनने सदा ही यह अनुभव किया है कि परमोच्च सत्ता अनंत है; उसने ठीक अपने आरंभिक वैदिक कालसे ही यह देखा है कि प्रकृतिगत आत्माके सम्मुख अनंतको सदा अनंततया विविध रूपोंमें ही प्रकट होना चाहिये। पश्चिमी मनने चिरकालसे इस उग्र एवं सर्वथा युक्तिहीन विचारका पोषण किया है कि समस्त मानवजातिके लिये एक ही धर्म होना चाहिये, एक ऐसा धर्म होना चाहिये जो अपनी संकीर्णताके ही कारण, एक ही सिद्धांत-समूह, एक ही पूजा-प्रणाली, एक ही क्रियापद्धति, एक ही विधि-निषेध-परंपरा, एक ही धार्मिक अध्यादेशके बलपर सार्वभौम सिद्ध हो। यह संकीर्ण मूढ़ता एक ऐसे एकमात्र सच्चे धर्मके रूपमें उछल-कूद मचाती है, जिसे, यहां मनुष्योंके द्वारा सताये जानेके डरसे और अन्य लोकोंमें ईश्वरके द्वारा आध्यात्मिक रूपमें त्याग दिये जाने या सदाके लिये भयानक दंड दिये जनेके भयसे सभी लोगोंको स्वीकार करना होगा। मानुषी तर्कहीनताकी यह भद्दी रचना, जो इतनी अधिक असहिष्णुता, क्रूरता, प्रगतिविरोधिता और उग्र धर्मांधताकी जननी है, भारतके स्वतंत्र और नमनशील मनपर कभी दृढ़ अधिकार नहीं जमा सकी। सर्वत्र ही मनुष्योंमें कुछ सामान्य मानव त्रुटियां होती हैं और असहिष्णुता एवं सकीर्णता, विशेषकर धर्मकार्योंके अनुष्ठानमें, भारतमें भी रही है और है। धार्मिक शास्त्रार्थका बहुत अधिक जोरजुल्म रहा है, संप्रदायोंके असंतोषपूर्ण कलह हुए हैं जिनमें प्रत्येकने अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता और अपने महत्तर ज्ञानका दावा किया है, और कभी-कभी तो, विशेषकर, एक समय दक्षिण भारतमें तीव्र धार्मिक मतभेदोंके युगमें, कहीं-कहीं छोटे-मोटे पारस्परिक अत्याचार-उपद्रव हुए और यहांतक कि हत्याएं भी हुईं। परंतु ये चीजें यहां उतने बड़े परिमाणमें कभी नहीं हुईं जितनेमें कि यूरोपमें हुईं। असहिष्णुता अधिकाशमें तार्किक आक्रमणके छोटे-मोटे रूपों या सामाजिक प्रतिबंध या जाति-बहिष्कारतक ही सीमित रही है; ये चीजें इस सीमाको पार करके निष्ठुर उत्पीड़नके उन बड़े-बड़े रूपोंतक तो शायद ही पहुंची हों जो यूरोपके धार्मिक इतिहासपर कलंकका एक लंबा, लाल और भद्दा धब्बा लगाते हैं। भारतमें सदा ही एक प्रकारकी उच्चतर और शुद्धतर आध्यात्मिक बुद्धिके रक्षक अनुभवने क्रीड़ा की है जिसका प्रभाव सामूहिक मनपर भी पड़ा है। भारतीय धर्मने सदैव यह अनुभव किया है कि चूंकि मनुष्यके मन, स्वभाव और बौद्धिक आकर्षणकी विविधताका कोई

अंत नहीं, अतएव अनंतके पास पहुंचनेके लिये व्यक्तिको विचार और पूजा-की पूर्ण स्वतंत्रता अवश्य देनी चाहिये।

भारतने आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञानकी प्रामाणिकता स्वीकार की, पर उसने इससे भी अधिक आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञानकी विविधताकी आवश्यकताको स्वीकार किया। पतनके दिनोंमें भी जब कि इस प्रामाणिक-ताका दावा बहुत अधिक दिशाओंमें कठोरता और अतिको पहुंच गया, उसने इसे बचाये रखनेवाली दृष्टिको फिर भी बनाये रखा कि प्रामाणिक शास्त्र एक ही नहीं हो सकता बल्कि वे अनेक होने चाहियें। एक नये प्रकाशको, जो पुरानी परंपराको व्यापक बनानेमें समर्थ हो, स्वीकार करनेकी सजग तत्परता सदा ही भारतके धार्मिक मनकी विशेषता रही है। भारतीय सभ्यताने अपनी प्राचीनतर राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रताओंको अंतिम तार्किक परिणामतक विकसित नहीं किया, — स्वतंत्रताकी यह महानता या परीक्षणका यह साहस पश्चिमकी संपदा है; परंतु धार्मिक आचारकी स्वा-धीनता और अन्य प्रत्येक विषयकी भांति धर्ममें भी विचारकी पूर्ण स्वतंत्रता सदैव ही इस सभ्यताकी अविच्छिन्न परंपराओंके अंग रही हैं। नास्तिक और बौद्ध और अज्ञेयवादी भारतमें उत्पीड़नसे मुक्त थे। जैन मतोंको अशास्त्रीय धर्म कहकर निंदित ठहराया जा सकता था, पर उन्हें शास्त्रीय धर्म-मतों और दर्शनोंके साथ-साथ स्वतंत्रतापूर्वक रहने दिया गया। सत्यकी अपनी आतुर जिज्ञासामें उसने उन्हें पूर्ण अवसर प्रदान किया, उनके सब मूल्योंकी परीक्षा की, और उनका जितना सत्य आत्मसात् करने योग्य था उतनेको अपने आध्यात्मिक अनुभवकी सामान्य और सदा विस्तारशील परंपराके भंडारमें ले लिया। उस अजरामर परंपराको सावधानताके साथ सुरक्षित रखा गया पर उसने अपने भीतर सभी दिशाओंसे प्रकाशको प्रवेश करने दिया। आगे चलकर, जो संत हिंदू और इस्लामी शिक्षाके किसी समन्वय-पर पहुंचे उन्हें निर्बाध रूपमें तथा तुरंत ही — यहांतक कि, कुछ एक दृष्टांतोंमें, जब उन्होंने मुस्लिम घरानेमें पैदा होकर तथा मुस्लिम दृष्टिकोण-को लेकर अपना कार्य आरंभ किया तब भी — हिंदूधर्मके नेता स्वीकार कर लिया गया। जो योगी योगके किसी नये मार्गका विकास करता था, जो धार्मिक गुरु किसी नये संप्रदायकी प्रतिष्ठा करता था, जो विचारक आध्यात्मिक सत्ताके बहुमुखी सत्यकी एक नवीन ढंगसे प्रस्थापना करता था उन्हें उनके साधनाभ्यास या प्रचारमें कोई बड़ी बाधा नहीं दी जाती थी। अधिकसे अधिक उन्हें स्वभावसे ही प्रत्येक परिवर्तनके विरोधी पुरोहित और पंडितके विरोधका सामना करना पड़ता था; परंतु इसे तो केवल झेलकर

ही पार करना आवश्यक था जिससे राष्ट्रीय धर्मके स्वतंत्र और सहजनम्य आकार तथा उसकी लचकीली व्यवस्थाके अंदर नये तत्त्वको ग्रहण किया जा सके।

एक सुदृढ़ आध्यात्मिक व्यवस्था और निर्बाध आध्यात्मिक स्वतंत्रताकी आवश्यकता सदा ही दृष्टिमें रखी गयी, परंतु इसकी व्यवस्था किसी एक रिवाजको पूरा करनेके बाहरी या कृत्रिम ढंगसे नहीं बल्कि नाना प्रकारसे की गयी थी। सर्वप्रथम इसकी नींव प्रामाणिक शास्त्रोंकी मान्यतापर रखी गयी थी जिनकी संख्या सदैव बढ़ती रहती थी। इन शास्त्रोंमेंसे गीता जैसे कुछ एक ग्रंथ व्यापक और सार्वजनीन रूपसे प्रामाणिक माने जाते थे, अन्य ग्रंथ विभिन्न मतों या संप्रदायोंके निजी शास्त्र थे: ऐसा समझा जाता था कि वेदों जैसे कुछ एक ग्रंथोंकी अवश्यमान्यता तो निरपेक्ष है और अन्योंकी सापेक्ष। परंतु इन सबकी व्याख्याके लिये अत्यंत व्यापक स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी और इसने इन प्रामाणिक ग्रंथोंमेंसे किसीको भी धार्मिक अत्याचार या मानव मन और आत्माकी स्वतंत्रताके खंडनका साधन नहीं बनने दिया। व्यवस्थाका एक अन्य साधन था पारिवारिक और सामाजिक परंपराकी शक्ति, कुलधर्म, जो दृढ़ तो होता था पर अपरिवर्तनीय नहीं। तीसरा था ब्राह्मणोंकी धार्मिक प्रामाणिकता; पुरोहितोंके रूपमें वे आचार-अनुष्ठानके संरक्षकोंकी भांति कार्य करते थे; पंडितोंके रूपमें वे, कार्यवाहक पुरोहित वर्ग जिस पदका दावा कर सकता था उसकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और सम्मानित पदके साथ कार्य करते थे,—क्योंकि पुरोहित-गिरीको भारतमें अधिक महत्त्व नहीं दिया गया था, वे धार्मिक परंपराके व्याख्याकारोंके पदपर अवस्थित थे और साथ ही परंपरा-रक्षक एक प्रबल शक्ति भी थे। अंतमें, और अत्यंत विलक्षण एवं अत्यंत प्रबल रूपमें व्यवस्थाकी सुरक्षा गुरुओं या आध्यात्मिक शिक्षकोंकी परंपराके द्वारा की जाती थी जो प्रत्येक आध्यात्मिक प्रणालीकी अविच्छिन्नताकी रक्षा करते थे और इसे एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीको सौंपते थे, पर पुरोहित और पंडितके विपरीत उन्हें इसके अर्थको स्वतंत्रतापूर्वक समृद्ध करने तथा इसकी साधनाको विकसित करनेका अधिकार भी प्राप्त था। कठोर नहीं, बल्कि सजीव और गतिशील परंपरा ही भारतके आंतर धार्मिक मनकी विशिष्ट प्रवृत्ति थी। अत्यंत प्राचीन कालसे वैष्णव धर्मका विकास, इसके संतों और गुरुओं-की परंपरा, क्रमशः रामानुज, मध्व, चैतन्य और वल्लभाचार्यके द्वारा किया गया इसका अद्भुत विकास और अवसाद तथा कुछ प्रस्तरीकरणके कालके पश्चात् सजीव हो उठनेकी इसकी हालकी हलचलें—ये सब युगव्यापी अविच्छिन्नता और स्थिर परंपराके इस दृढ़ संयोगका, जिसमें शक्तिशाली

एवं सजीव परिवतनकी स्वतंत्रता भी विद्यमान थी, एक अद्भुत उदाहरण हैं।

इससे भी अधिक विचित्र दृष्टांत था सिक्ख धर्मकी स्थापना, इसके गुरुओंकी लंबी परंपरा, और इसे खालसा संप्रदायकी जनतंत्रात्मक संस्थाके रूपमें गुरु गोविंदसिंहद्वारा दी गयी नयी दिशा और नया स्वरूप। बौद्ध संघ और उसकी परिषदें (संगीतियां), शंकराचार्यके द्वारा एक प्रकारकी विभक्त धर्माध्यक्षीय सत्ताका प्रवर्त्तन, ऐसी सत्ताका जो सहस्राधिक वर्षोंसे एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीको प्राप्त होती रही और जो आज भी पूर्णतः क्षीण नहीं हुई है, सिक्खोंका खालसा-पंथ, आधुनिक सुधारक संप्रदायोंद्वारा 'समाज' नामसे एक धर्मसभाका रूप ग्रहण किया जाना — ये सब एक ठोस एवं कठोर व्यवस्थाके प्रयत्नको द्योतित करते हैं। परंतु यह ध्यान देने योग्य है कि इन प्रयत्नोंमें भी भारतके धर्मप्रधान मनकी स्वतंत्रता, नमनीयता और जीवंत सरलताने इसे सदैव चर्चोंकी अत्यंत बढ़ी-चढ़ी उन क्रमपरंपराओं एवं स्वेच्छाचारी पोप-राज्यों जैसी किसी चीजका सूत्रपात करनेसे रोका जिन्होंने पश्चिममें मानवजातिकी आध्यात्मिक स्वाधीनतापर अपने प्रगतिविरोधी जुएका दुस्सह भार लादनेकी चेष्टा की है।

मानव कार्यकलापके किसी भी क्षेत्रमें एक साथ व्यवस्था और स्वतंत्रताके लिये सहजप्रवृत्तिका होना सदा ही उस क्षेत्रमें एक उच्च स्वाभाविक क्षमताका चिह्न होता है, और जो जाति एक सदा-व्यवस्थित धार्मिक विकासके साथ असीम धार्मिक स्वतंत्रताके ऐसे संयोगकी युक्ति निकाल सकती है उसे उच्च धार्मिक क्षमताका श्रेय देना ही होगा, जैसे कि उसे इसका अवश्यंभावी फल, एक महान् प्राचीन और अभीतक जीवित आध्यात्मिक संस्कृति-रूपी फल प्राप्त करनेसे भी वंचित नहीं रखा जा सकता। विचार और अनुभवकी यह पूर्ण स्वतंत्रता और एक ऐसे ढांचेकी व्यवस्था जो स्वतंत्रताको सुरक्षित रखनेके लिये काफी लचकीली एवं विविधतापूर्ण है और फिर भी एक स्थिर एवं शक्तिशाली विकासका साधन बननेके लिये पर्याप्त दृढ़ और सुनिश्चित है — इन्हीं चीजोंने भारतीय सभ्यताको यह आश्चर्यजनक और सनातन प्रतीत होनेवाला धर्म प्रदान किया है जिसके पास बहुमुखी दर्शनों, महान् शास्त्रों, गंभीर धार्मिक ग्रंथों, सनातनके पास उसके अनंत सत्यके प्रत्येक पार्श्वसे पहुंचनेवाले धर्मों, मानस-आध्यात्मिक साधना और आत्म-उपलब्धिकी यौगिक प्रणालियों तथा उन संकेतपूर्ण रीति-रस्मों, प्रतीकों और संस्कारोंका अद्भुत खजाना है जो ईश्वरोन्मुख प्रयासकी ओर विकसित होनेकी सभी अवस्थाओंमें मनको शिक्षित करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। इसकी सुदृढ़ भित्ति जो बिना किसी खतरेके एक व्यापक सहिष्णुता

एवं आत्मसात्कारी भावनाको आश्रय देनेमें समर्थ है, इसके अनुभवकी सजीवता, तीव्रता, गभीरता, और बहुविधता, पार्थिव ज्ञान-विज्ञान और धर्मके बीच यूरोपके द्वारा किये जानेवाले अस्वाभाविक प्रभेदसे इसकी मुक्तता, इसका बुद्धि और आत्माकी मांगोंका समन्वय, इसकी चिरस्थायिता और इसकी पुनरुज्जीवनकी अनंत क्षमता — ये सब आज इसे सभी धर्म-संस्थानों-के बीच एक अत्यंत विलक्षण, समृद्ध और जीवंत धर्मके रूपमें उपस्थित करते हैं। उन्नीसवीं सदीने इसे अपने निषेध और संदेहके द्वारा भीषण आघात पहुंचाया है किंतु वह इसके आध्यात्मिक ज्ञानकी सुनिश्चित जड़ों-को विनष्ट नहीं कर सकी। राष्ट्रकी जीवनशक्तिके अधिकतम ह्रासके समय इस आक्रमणके द्वारा अल्पकालके लिये कुछ क्षुब्ध होकर चकित और जरा विचलित होकर भारत, लगभग एकदम ही, फिरसे जाग उठा और उसने आध्यात्मिक कर्मण्यता, जिज्ञासा, सात्म्यकरण और रचनात्मक प्रयत्नके नये विस्फोटके द्वारा प्रत्युत्तर दिया। उसमें एक महान् नये जीवनकी, एक बड़े भारी रूपांतर, और भी आगेके एक ऊर्जस्वी विकास, तथा आध्यात्मिक अनुभवकी अखूट अनंतताओंकी ओर शक्तिशाली प्रगतिकी प्रत्यक्ष रूपसे तैयारी हो रही है।

भारतके धर्ममत एवं आध्यात्मिक अनुभवकी बहुमुखी नमनीयता इसके सत्य, इसकी सजीव वास्तविकता, इसकी खोज और उपलब्धिकी बंधनरहित सत्यताका स्वाभाविक चिह्न है; परंतु यह नमनीयता यूरोपीय मनके लिये एक सतत बाधा है। यूरोपका धार्मिक चिंतन कठोर दुर्बलताजनक परि-भाषाएं बनाने, वस्तुओंको कठोरतापूर्वक त्यागने तथा बाहरी विचार, संगठन और आकार निश्चित करनेमें सतत संलग्न रहनेका अभ्यासी है। तार्किक या शास्त्रीय बुद्धिके द्वारा निर्मित बंधा-बंधाया धर्म-मत, आचार-व्यवहारको स्थिर करनेके लिये एक कठोर और सुनिश्चित नैतिक विधान, आचार-अनुष्ठानों और उत्सव-समारोहोंका एक गट्ठर, एक दृढ़ पुरोहितीय या धर्म-सभात्मक संगठन — यही है पश्चिमी धर्म। एक बार जब आत्मा इन वस्तुओंमें सुरक्षित रूपसे बंध जाय और इन जंजीरोंसे जकड़ जाय तो भावोंकी कुछ उमंगों और यहांतक कि कुछ गुह्य जिज्ञासाको भी सहा जा सकता है — पर वह भी युक्तिसंगत सीमाओंके भीतर। परंतु, आखिरकार, इन खतरनाक मसालोंके बिना काम चलाना ही शायद अत्यंत सुरक्षित है। इन विचारोंकी शिक्षा पाकर यूरोपीय आलोचक भारत आता है और एक बहुदेवतावादी धर्म-मतकी, एकमेव अनंतमें विश्वास ही जिसका शिरोमुकुट है, अत्यधिक बृहत्ता और जटिलताको देखकर भौचक्का रह जाता है। इस विश्वासको वह भ्रमवश पश्चिमके प्रभावहीन और भावात्मक बौद्धिक विश्वे-

इश्वरवादसे अभिन्न समझ बैठता है। वह एक हठपूर्ण पूर्वधारणाके साथ अपनी चिंतनशैलीके विचारों और परिभाषाओंका प्रयोग करता है, और इस अन्याय्य विदेशीय अर्थने भारतीय आध्यात्मिक विचारोंके संबंधमें — दुर्भाग्यवश, "शिक्षित" भारतीयोंके मनमें भी — अनेक मिथ्या मूल्य स्थिर कर दिये हैं। परंतु जहां हमारा धर्म यूरोपीय आलोचकके निश्चित मान-दंडोंकी पहुंचसे परे रह जाता है वहां वह आलोचक तुरंत गलतफहमी, निंदा और अहंकारपूर्ण दोषारोपणकी शरण लेता है। उधर, भारतीय मन असहिष्णु मानसिक वर्जनोंका विरोधी है; क्योंकि संबोधि और आंतरिक अनुभवकी एक महान् शक्तिने इसे आरंभसे ही वह वस्तु दी थी जिसकी ओर पश्चिमका मन, केवल हालमें ही अंधोंकी तरह टटोल-टटोलकर और कठिनाईके साथ अग्रसर हो रहा है, — वह वस्तु है, विश्व-चेतना, विश्व-दृष्टि। जब वह अद्वितीय एकमेवको देखता है तब भी वह उसके आत्मा और प्रकृतिरूपी द्वैतको स्वीकार करता है; वह उसके अनेक त्रैतों तथा सहस्रों रूपोंके लिये अवकाश प्रदान करता है। जब वह भगवान्के एक ही सीमाकारी रूपपर अपनेको एकाग्र करता है तथा उसके सिवा और किसी भी चीजको देखता नहीं प्रतीत होता तब भी वह, सहज स्वभाववश, अपनी चेतनाके पीछे 'सर्व' की भावना और एकमेवके विचारको सुरक्षित रखता है। जब वह अपनी पूजाको अनेक पात्रोंमें विभक्त कर देता है तब भी वह, उसके साथ-साथ अपनी पूजाके पात्रोंद्वारा तथा अनेकानेक देवताओंके परे परम देवकी एकताको देखता है। यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति उन गुह्यविदों या इने-गिने विद्वानों या दार्शनिक चिंतकोंकी ही विशिष्ट प्रवृत्ति नहीं है जो वेद और वेदांतके उच्च शिखरोंपर लालित-पालित हुए हैं। यह उस आम जनताके मनमें भी व्याप्त है जो पुराण और तंत्रके विचारों, रूपकों, परंपराओं और सांस्कृतिक प्रतीकोंमें पली है; क्योंकि ये चीजें वैदिक ग्रंथोंके समन्वयात्मक अद्वैत, बहुमुखी एकेश्वरवाद और व्यापक, सार्वभौम एवं विश्वजनीन मुक्तिवादके साकार वर्णन या जीवंत रूपमात्र हैं।

भारतीय धर्मने अपनी नींव काल और नाम-रूपसे अतीत परम सत्की परिकल्पनापर प्रतिष्ठित की, परंतु नवीनतर जातियोंके संकीर्णतर और अज्ञ-तर एकेश्वरवादोंकी न्याईं इसने सनातन एवं अनंतके सभी मध्यवर्ती रूपों, नामों, शक्तियों और व्यक्तित्वोंका निषेध या उच्छेद करनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं अनुभव की। रंग-रूपहीन अद्वैतवाद या निस्तेज, अस्पष्ट विश्वातीत ईश्वरवाद इसका आदि, मध्य और अंत नहीं था। इसमें एकमेव परमेश्वर-की सर्वके रूपमें पूजा की जाती है, क्योंकि विश्वकी सभी चीजें वह परमे-

श्वर ही हैं या फिर वे उनकी सत्ता या प्रकृतिसे बनी हुई हैं। परंतु इसी कारण भारतीय धर्म विश्वेश्वरवाद नहीं बन जाता; क्योंकि इस विश्वमयतासे परे यह विश्वातीत सनातनको भी स्वीकार करता है। भारतीय बहुदेवतावाद प्राचीन यूरोपमें प्रचलित बहुदेवतावादके जैसा नहीं है; क्योंकि यहां अनेक देवताओंकी पूजा करनेवाला व्यक्ति उनकी पूजा करता हुआ भी यह जानता है कि उसके सभी देवता एकमेवके रूप, नाम, व्यक्तित्व एवं शक्तियां हैं; उसके सब देव एक ही 'पुरुष' से निकलते हैं, उसकी देवियां एक ही भागवत शक्तिकी अंश-शक्तियां हैं। भारतीय धर्म-मतके जो रूप एकेश्वरवादके प्रचलित रूपसे अत्यधिक मिलते-जुलते हैं वे इसके अतिरिक्त कुछ और चीज भी हैं, क्योंकि वे परमेश्वरके अनेक रूपोंको बहिष्कृत नहीं बल्कि स्वीकृत करते हैं। भारतीय मूर्तिपूजा बर्बर या अविकसित मनकी बुतपरस्ती नहीं है, क्योंकि अत्यंत अज्ञानी भारतीय भी यह जानते हैं कि मूर्ति एक प्रतीक एवं अवलंबन है और इसका उपयोग समाप्त होनेपर वे इसे फेंक सकते हैं। पीछेके धार्मिक रूप, जिन्होंने इस्लामी विचारके प्रभाव-को अत्यधिक अनुभव किया, जैसे, नानकको 'अकाल', अर्थात् कालातीत एकमेवकी पूजा, और आजके सुधारक मत जो पश्चिमके प्रभावसे जन्मे हैं, वे भी पश्चिमी या सेमिटिक (यहूदी, अरब आदि जातियोंके) एकेश्वरवादकी सीमाओंसे पृथक् रहते हैं। वे इन बचकाने विचारोंसे दुर्निवार रूपमें वेदांतके अगाध सत्यकी ओर मुड़ जाते हैं। भगवान्के दैवी व्यक्तित्वपर और मनुष्यके साथ उनके दैवी संबंधोंपर वैष्णव और शैव धर्मोंने एक अत्यंत क्रियाशील सत्यके रूपमें बहुत अधिक बल दिया है; परंतु इन धर्मोंका सर्वस्व इतना ही नहीं है, और यह दैवी व्यक्तित्व पश्चिमका सीमित, मानवका परि-वर्द्धित संस्करण-रूप साकार ईश्वर नहीं है। भारतीय धर्मका निरूपण पश्चिमी बुद्धिकी जानी हुई परिभाषाओंमेंसे किसीके भी द्वारा नहीं किया जा सकता। अपने समग्र रूपमें यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनु-भूतिका स्वतंत्र एवं सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्यको उसके अनेकों पार्श्वोंसे देखते हुए इसने किसी भी पार्श्वके लिये अपने द्वार बंद नहीं किये। इसने न तो अपनेको कोई विशेष नाम दिया और न अपनेको किसी सीमाकारी पार्थक्यसे आबद्ध ही किया। अपने अंगभूत मतों और विभागोंके लिये पृथक् नामोंको स्वीकार करता हुआ यह स्वयं अपनी चिरं-तन जिज्ञासाके विषय ब्रह्मकी न्याईं नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनंत ही बना रहा। अपने परंपरागत शास्त्रों, पूजापद्धतियों और प्रतीकोंके द्वारा अन्य मतविश्वासोंसे सुस्पष्टतया विभिन्न होता हुआ भी यह अपने मूल

स्वरूपमें कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिलकुल नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृतिकी एक विशाल, बहुमुखी, सदा एकत्व लानेवाली और सदा-प्रगति-परायण एवं आत्म-विस्तारशील प्रणाली है।'

भारतीय धार्मिक मनके इस समन्वयात्मक स्वरूप और सर्वसमावेशी एकत्वपर बल देना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा हम भारतीय जीवनके संपूर्ण अर्थ तथा भारतीय संस्कृतिके समस्त आशयको खो बैठेंगे। इस व्यापक और नमनीय स्वरूपको पहचान लेनेपर ही हम समाज और व्यक्तिके जीवनपर इसके संपूर्ण प्रभावको हृदयंगम कर सकते हैं। और यदि हमसे पूछा जाय, 'परंतु आखिरकार हिंदूधर्म है क्या, यह सिखाता क्या है, इसकी नित्यचर्या क्या है, इसके सर्वसम्मत अंग कौनसे हैं', तो इसका उत्तर हम यह दे सकते हैं कि भारतीय धर्म तीन आधारभूत विचारों या यूं कहें कि एक उच्चतम एवं विशालतम आध्यात्मिक अनुभवके तीन मूलतत्त्वोंपर प्रतिष्ठित है। पहला है वेदके उस 'एकं सत्' का विचार जिसे ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न नाम देते हैं, जो उपनिषदोंका एकमेवाद्वितीय है, जो यहां जो कुछ है वह 'सब' है, और इस सब कुछसे परे भी है, बौद्धोंके शाश्वत तत्त्वका, मायावादियोंके ब्रह्मका, ईश्वरवादियोंके उस परम ईश्वर या पुरुष-का जो जीव और प्रकृतिको अपनी शक्तिके अंदर धारण करता है,—एक शब्दमें सनातनका, अनंतका। यह पहला सर्वसम्मत आधार है; परंतु मानव बुद्धि इसे अनंत प्रकारके सूत्रोंमें प्रकट कर सकती है और करती है। इन शाश्वत, इन अनंत, इन सनातनको खोजना, इनके अत्यंत निकट पहुंचना तथा इनके साथ किसी प्रकारका या किसी मात्रामें एकत्व प्राप्त करना ही इसके आध्यात्मिक अनुभवका उच्चतम शिखर एवं चरम प्रयास है। यही भारतके धार्मिक मनका प्रथम सार्वजनीन 'विश्वास' (Credo) है।

इस आधारको किसी भी सूत्रके रूपमें स्वीकार करो, भारतमें माने जानेवाले सहस्रों पथोंमेंसे किसी एकके द्वारा या, यहांतक कि, उनसे निकलने-

---

'जिस एकमात्र धर्मको भारतने अंतमें प्रत्यक्षतः त्याग दिया है वह है बौद्ध धर्म; पर असलमें यह प्रत्यक्ष तथ्य एक ऐतिहासिक भ्रांति है। बौद्ध धर्म अपनी पृथक्कारी शक्ति खो बैठा, क्योंकि इसके विश्वासात्मक अंगोंके विपरीत इसका आध्यात्मिक सारतत्त्व हिंदू भारतके धार्मिक मनने आत्म-सात् कर लिया। फिर इसके होते हुए भी यह उत्तरमें जीवित रहा और इसका उन्मूलन शंकराचार्य या किसी अन्य आचार्यने नहीं वरन् इस्लामकी आक्रामक शक्तिने किया।

वाले किसी नये पथके द्वारा इस महान् आध्यात्मिक लक्ष्यका अनुसरण करो, तो तुम इस धर्मके मर्मपर पहुंच जाओगे। क्योंकि, इसका दूसरा मूलभूत विचार यह है कि सनातन एवं अनंतके पास मनुष्य नानाविध मार्गोंसे पहुंच सकता है। 'अनंत' अनेक अनंतताओंसे पूर्ण है और इन अनंतताओंमेंसे प्रत्येक, अपने-आपमें, वह सनातन ही है। और यहां सृष्टिकी सीमाओंके भीतर परमेश्वर अनेक मार्गोंसे अपने-आपको संसारमें व्यक्त और चरितार्थ करते हैं, परंतु प्रत्येक मार्ग उन सनातन ही का है। क्योंकि, प्रत्येक सांतमें हम अनंतको खोज सकते हैं और उनके आकारों एवं प्रतीकोंके रूपमें सभी चीजोंके द्वारा हम उनके पास पहुंच सकते हैं; सब वैश्व शक्तियां उस एकमेवकी अभिव्यक्तियां हैं, सब बल उसीके बल हैं। प्रकृति-के कार्य-व्यापारके पीछे विद्यमान देवताओंको एक ही देवाधिदेवकी शक्तियों, नामों और व्यक्तित्वोंके रूपमें देखना और पूजना होगा। एक ही अनंत चित्-शक्ति, कार्य-संचालक शक्ति, परम संकल्पबल या विधान, माया, प्रकृति, शक्ति या कर्म सभी घटनाओंके पीछे अवस्थित है चाहे वे हमें अच्छी लगें या बुरी, स्वीकार्य लगें या अस्वीकार्य, सौभाग्यपूर्ण लगें या दुर्भाग्यपूर्ण। वे 'अनंत' सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा कहलाते हैं; वे प्रतिपालन करते हैं और विष्णु कहलाते हैं; वे संसार करते हैं या अपने अंदर समेट लेते हैं और रुद्र या शिव कहलाते हैं। परमा शक्ति, जो स्थिति एवं रक्षाके कर्ममें दयाशील हैं, जगन्माता, लक्ष्मी या दुर्गा है या फिर वह इन रूपोंको धारण करती हैं। अथवा संहारके छद्मवेशमें भी दयाशील वे चंडी हैं या वे काली अर्थात् कृष्णवर्णा मां हैं। एकमेव परमेश्वर अपने-आपको अपने गुणोंके रूपमें नानाविध नामों और देवताओंमें प्रकट करते हैं। वैष्णवका दिव्य-प्रेममय ईश्वर और शाक्तका दिव्य-शक्तिमय ईश्वर दो विभिन्न देवता प्रतीत होते हैं; पर वास्तवमें वे विभिन्न रूपोंमें एक ही अनंत देव हैं।[1] मनुष्य नामों और रूपोंमेंसे किसीके भी द्वारा, ज्ञान-पूर्वक या अज्ञानावस्थामें, उन परमके पास पहुंच सकता है; क्योंकि इनके

---

[1]भारतीय बहुदेवतावादकी यह व्याख्या कोई ऐसा आधुनिक आविष्कार नहीं है जो पश्चिमकी निंदात्मक आलोचनाओंका सामना करनेके लिये किया गया हो; गीतामें इसका सुस्पष्ट वर्णन पाया जाता है; इससे अधिक प्राचीन रूपमें, उपनिषदोंका भी यही अभिप्राय है; आदि-पुरातन दिनोंमें वेदके "आदिम" कवियोंने (सच पूछो तो गभीर गुह्य-दर्शियोंने) कितनी ही पदावलियोंमें इसका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया था।

द्वारा और इनके परे हम अंततोगत्वा परमोच्च अनुभवकी ओर बढ़ सकते हैं।

परंतु एक बात ध्यानमें रखनेकी जरूरत है। वह यह कि जहां आधुनिकतामें रंगे हुए अनेक भारतीय धर्मवादी आधुनिक जड़पंथी युक्ति-वादके साथ एक बौद्धिक समझौतेके तौरपर इन चीजोंको प्रतीक कहकर उड़ा देनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, वहां प्राचीन भारतीय धार्मिक मन, इन्हें केवल प्रतीकोंके ही नहीं बल्कि जगत्-सत्योंके रूपमें देखता था,—भले ये माया-वादीके लिये केवल मायामय जगत्के ही सत्य क्यों न हों। क्योंकि, भारतके आध्यात्मिक और आंतरात्मिक ज्ञानने उच्चतम कल्पनातीत सत्ता और हमारी भौतिक जीवन-प्रणालीके बीच दो संबंधरहित विरोधी तत्त्वोंकी न्याई कोई खाई नहीं खोद डाली थी। वह चेतना और अनुभवके अन्य मनोवैज्ञानिक स्तरोंसे अभिज्ञ था और उसके लिये इन अतिभौतिक स्तरोंके सत्य जड़ जगत्के बाह्य सत्योंकी अपेक्षा कुछ कम वास्तविक नहीं थे। मनुष्य पहले-पहल अपनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति, और गंभीरतर अनुभवके लिये अपनी योग्यता, अर्थात् स्वभाव और अधिकारके अनुसार ही परमेश्वरके पास पहुंचता है। सत्यके किस स्तर एवं चेतनाकी किस भूमिकातक वह पहुंच सकता है यह उसके आंतरिक विकासकी अवस्थाके द्वारा निर्धारित होता है। उसीसे धर्म-संबंधी नाना मत-सिद्धांतोंका जन्म होता है, परंतु उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्व कोई काल्पनिक रचनाएं, पुरोहितों या कवियोंके आविष्कार नहीं होते, बल्कि वे भौतिक जगत्की चेतना और ब्रह्मकी अनिर्वच-नीय अतिचेतनाके बीचकी अतिभौतिक सत्ताके सत्य होते हैं।

भारतीय धर्मके मूलमें जो परम-महत्त्वपूर्ण विचार काम कर रहा है वह आंतर आध्यात्मिक जीवनके लिये अत्यंत शक्तिशाली है। वह यह है कि जहां परम 'तत्' या भगवान्को विश्व-चेतनामेंसे होकर और समस्त आंतर एवं बाह्य प्रकृतिको भेदकर तथा इन्हें पार करके प्राप्त किया जा सकता है, वहां प्रत्येक व्यष्टि-जीव अपने अंदर, अपनी ही सत्ताके आध्या-त्मिक भागके अंदर, उन 'तत्' या भगवानसे मिल सकता है क्योंकि उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो एकमेव भागवत सत्ताके साथ घनिष्ठतः एकीभूत या कम-से-कम घनिष्ठतः संबद्ध है। भारतीय धर्मका सार एक ऐसे विकास और जीवनको लक्ष्य बनाना है जिससे हम अज्ञानको, जो इस आत्मज्ञानको हमारे मन और प्राणसे छुपाये रखता है, अतिक्रम करके अपने अंतःस्थित भगवान्को जान सकें। ये ही तीनों चीजें एक साथ मिलकर हिंदूधर्मका सर्वस्व हैं, इसका मूल भाव हैं और, यदि किसी 'विश्वास' की जरूरत हो तो, ये ही इसका विश्वास भी हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दूसरा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

धर्म और आध्यात्मिकताका कार्य ईश्वर और मनुष्यमें, 'नित्य' एवं 'अनंत' और इस अनित्य पर सुदृढ़ सांतमें, यहां अव्यक्त या अभीतक अव्यक्त प्रकाशमय सत्य-चेतना और मनके अज्ञानके बीच मध्यस्थता करना है। परंतु प्राकृत मनुष्यको जो मानवजातिका एक बहुत बड़ा भाग है, आध्यात्मिक चेतनाकी महानता और उन्नायक शक्तिसे अवगत करानेसे बढ़कर कठिन काम और कोई नहीं है; क्योंकि उसका मन और इंद्रियां बाहरकी ओर, जीवन और इसके उद्देश्योंकी बाह्य पुकारोंकी ओर, मुड़ी रहती हैं और उनके पीछे अवस्थित सत्यकी ओर कभी अंतर्मुख नहीं होती। यह बाह्य दृष्टि एवं आकर्षण उस विश्वव्यापी अंधताजनक शक्तिका मूल रूप है जिसे भारतीय दर्शनमें 'अविद्या' का नाम दिया गया है। प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता स्वीकार करती थी कि मनुष्य अविद्यामें निवास करता है और उसे इसके अपूर्ण संकेतोंके द्वारा उच्चतम अंतर्तम ज्ञानकी ओर ले जाना होगा। हमारा जीवन दो लोकोंके बीच विचरण करता है, एक ओर हैं हमारी आंतरिक सत्ताकी गहराइयोंपर गहराइयां और दूसरी ओर हमारी बाह्य प्रकृतिका ऊपरी क्षेत्र। अधिकतर लोग जीवनका संपूर्ण बल बाह्य सत्तापर ही देते हैं और अपनी स्थूल चेतनामें तो अत्यंत प्रबल रूपसे, पर आंतरिक सत्तामें बहुत ही कम निवास करते हैं। यहांतक कि चिंतन और संस्कृतिके दबावके द्वारा सर्वसामान्य प्राणिक और भौतिक सांचेकी स्थूलतासे ऊपर उठी हुई, गिनीचुनी आत्माएं भी साधारणतः मनकी चीजोंमें ही दृढ़तापूर्वक संलग्न रहती हैं और उससे अधिक आगे नहीं जातीं। जिस उच्चतम ऊंचाईतक वे आत्माएं उड़ान भरती हैं वह स्थूल बाह्य जीवनकी अपेक्षा कहीं अधिक मन और हृद्भावोंमें निवास करनेकी अभिरुचि है। या फिर वे इस विद्रोही प्राण-तत्त्वको बौद्धिक सत्य या नैतिक बुद्धि एवं

इच्छाशक्ति या रसात्मक सौंदर्यके या एक साथ इन तीनोंके नियमके अधीन करनेका प्रयत्न करती हैं—और इन्हीं वस्तुओंको पश्चिम हमेशा आध्यात्मिकता समझनेकी भूल करता है। परंतु आध्यात्मिक ज्ञान देखता है कि हमारे अंदर एक इससे भी महान् वस्तु है; हमारी अंतरतम आत्मा, हमारी वास्तविक सत्ता बुद्धि नहीं है, न वह सौंदर्यात्मक, नैतिक या चिंतनात्मक मन ही है, वह तो अंतरमें बैठी हुई दिव्य सत्ता है, आत्मा है, और ये अन्य चीजें आत्माके यंत्रमात्र हैं। एक निरी बौद्धिक, नैतिक एवं सौंदर्यात्मक संस्कृति आत्माके अंतरतम सत्यतक नहीं जाती; वह एक अज्ञान अर्थात् अपूर्ण, बाह्य एवं स्थूल ज्ञानतक ही सीमित रह जाती है। हमारी गभीरतम सत्ता और गुप्त आध्यात्मिक प्रकृतिकी खोज करना किसी आध्यात्मिक संस्कृतिकी पहली आवश्यकता होती है और अंतरतम अध्यात्म-जीवन यापन करने को सत्ताके लक्ष्यके रूपमें प्रतिष्ठित करना उसका विशेष लक्षण होता है।

कुछ धर्मोंमें यह प्रयत्न एक आध्यात्मिक एकांगिताका रूप ग्रहण कर लेता है जो बाह्य जीवनके रूपांतरका यत्न करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उससे विद्रोह ही करती है। ईसाई साधनाकी मुख्य प्रवृत्ति केवल भौतिक और प्राणिक जीवन-प्रणालीको तुच्छ समझनेकी ही नहीं थी अपितु हमारी प्रकृतिकी बौद्धिक प्यासको तिरस्कृत एवं अवरुद्ध करने और सौंदर्यसंबंधी प्यासपर अविश्वास करने तथा उसे निरुत्साहित करनेकी भी थी। उनके विरोधमें इसने एक सीमित आध्यात्मिक भावप्रवणता और उसके तीव्र अनुभवोंपर ही एकमात्र आवश्यक वस्तुके रूपमें बल दिया; नैतिक भावनाकी अभिवृद्धि अध्यात्म-जीवनकी एकमात्र मानसिक आवश्यकता थी तथा उसे कार्यरूपमें परिणत करना ही इसकी एकमात्र अपरिहार्य अवस्था या परिणाम था। भारतीय आध्यात्मिकता इतनी व्यापक और बहुमुखी संस्कृतिपर प्रतिष्ठित थी कि वह इस संकीर्ण प्रवृत्तिको अपने आधारके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकती थी; परंतु अपने अधिक निभृत शिखरोंपर, कम-से-कम अपने बादके युगमें, यह एक आध्यात्मिक एकांगिताकी ओर झुक गयी जो अंतर्दृष्टिमें अधिक ऊंची, पर और भी अधिक अलंघ्य एवं बढ़ी-चढ़ी थी। इस प्रकारकी असहिष्णु ऊर्ध्वोन्मुखी आध्यात्मिकता चाहे कितनी ही ऊंचाईतक क्यों न उठ जाय तथा जीवनको शुद्ध करनेमें कितनी ही सहायक क्यों न हो अथवा किसी प्रकारके व्यक्तिगत मोक्षकी ओर क्यों न ले जाय पर वह पूर्ण वस्तु नहीं हो सकती। कारण, उसकी एकांगिता मानवजीवनकी समस्याओंके साथ सफलतापूर्वक निपटनेमें एक प्रकारकी

असमर्थता ही उसके मत्थे मढ़ देती है; वह उसे, उसकी सर्वांगीण पूर्णताकी ओर नहीं ले जा सकती, न उसकी उच्चतम ऊंचाइयोंको उसकी विशालतम विशालताके साथ मिला ही सकती है। एक अधिक व्यापक आध्यात्मिक संस्कृतिको यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा केवल उच्चतम और अंतरतम वस्तु ही नहीं है, बल्कि सब कुछ आत्माकी ही अभिव्यक्ति और सृष्टि है। उसकी दृष्टि अधिक विस्तृत होनी चाहिये, उसकी व्यवहार्यताका क्षेत्र अधिक सर्व-संग्राहक होना चाहिये और यहांतक कि उसके पुरुषार्थका लक्ष्य अधिक अभीप्साशील और उच्चाकांक्षी होना चाहिये। उसका लक्ष्य कुछ चुने हुए लोगोंको अगम ऊंचाइयोंतक उठा ले जाना ही नहीं होना चाहिये अपितु सब मनुष्योंको, समस्त जीवन और संपूर्ण-मानव सत्ताको ऊपरकी ओर खींच ले जाना, जीवनको आध्यात्मिक बनाना और अंतमें मानवप्रकृतिको दिव्य बनाना होना चाहिये। उसे इसकी गहनतम व्यक्तिगत सत्ताको अपने अधिकारमें करनेमें ही नहीं बल्कि इसके समष्टिगत जीवनको अनुप्राणित करनेमें भी समर्थ होना चाहिये। उसे एक आध्यात्मिक परिवर्तनके द्वारा इसके सब अज्ञानमय अंगोंको ज्ञानमय अंगोंमें परिणत कर देना चाहिये, मानवजीवनके सभी करणोंको उसे दिव्य जीवनके करणोंमें रूपांतरित कर देना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिकताकी संपूर्ण प्रवृत्ति इसी लक्ष्यकी ओर है; अपने विकासकी सभी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और उत्थान-पतनोंके होते हुए भी इसमें यह विशेषता बनी रही। परंतु अन्य संस्कृतियों-के समान यह सब समय तथा अपने सभी अंगों और चेष्टाओंमें अपने समग्र अर्थको सचेतन रूपसे नहीं जानती थी। यह व्यापक भावना कभी-कभी एक सचेतन समन्वयात्मक स्वच्छ दृष्टि जैसी चीजके रूपमें प्रकट होती थी, परंतु अधिकतर यह गहराइयोंमें रखी रहती थी और ऊपरी तलपर अनेकानेक गौण और विशिष्ट दृष्टिकोणोंके रूपमें छितरी रहती थी। तथापि, इसकी संपूर्ण धाराको समझ लेनेपर ही इसके प्रयत्न तथा इसकी शिक्षा एवं साधनाके अनेकविध पहलू और समृद्ध विभेद अपना पूर्ण समन्वयकारी ऐक्य लाभ कर सकते हैं तथा इसके अपने अत्यंत आभ्यंतरिक उद्देश्यके प्रकाशमें समझे जा सकते हैं।

भारतीय धर्म और आध्यात्मिक संस्कृतिकी भावना अपनी तेजस्विताके सुदीर्घ कालमें अचल-अटल रूपसे एकसमान ही रही है, पर इसका बाह्य रूप अद्भुत परिवर्तनोंमेंसे गुजरा है। फिर भी यदि हम ठीक केंद्रसे इन परिवर्तनोंके भीतर दृष्टि डालें तो यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि ये एक युक्ति-संगत एवं अवश्यंभावी विकासके परिणाम हैं जो ऊंचाइयोंकी ओर जानेवाले

मनुष्यके विकासकी प्रक्रियामें ही अंतर्निहित हैं। अपने प्राचीनतम रूपमें, अर्थात् अपनी प्रथम वैदिक प्रणालीमें इसने अपना बाह्य आधार देहप्रधान मनुष्यके मनपर रखा जिसकी स्वाभाविक श्रद्धा जड़ जगत्के भौतिक पदार्थोंमें इंद्रियगोचर एवं प्रत्यक्ष विषयों, उपस्थितियों और प्रतिमूर्तियों तथा बाह्य व्यापारों और लक्ष्योंमें होती है। जिन साधनों, प्रतीकों, विधियों और प्रतिरूपोंके द्वारा इसने आत्मा और सामान्य मानव मनके बीच मध्यस्थता करनेका यत्न किया वे इन अत्यंत बाह्य भौतिक पदार्थोंसे लिये गये थे। मनुष्यको भगवान्विषयक प्रथम और प्रारंभिक विचार बाह्य प्रकृतिके अवलोकनके द्वारा तथा उस उत्कृष्टतर शक्ति या शक्तियोंके बोधके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जो प्रकृतिके दृश्य रूपोंके पीछे छिपी हुई हैं, हमारी सत्ताके माता-पिता द्यौ और पृथिवीमें, तथा सूर्य, चांद और सितारों एवं उनके प्रकाशों और उनके नियामकोंमें, उषा, दिन, रात्रि, वर्षा, आंधी और तूफानमें, समुद्रों, नदियों और वनोंमें, प्रकृतिके कार्यक्षेत्रकी सभी घटनाओं और शक्तियोंमें तथा चारों ओरके उस समस्त विशाल और रहस्यमय जीवनमें प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं जिसके कि हम अंग हैं और जिसमें मानव प्राणीका प्राकृतिक हृदय और मन चाहे किन्हीं भी स्पष्ट या धूमिल या अस्तव्यस्त आकारोंके द्वारा सहज ही यह अनुभव करते हैं कि यहां कोई दिव्य 'बहुत्व' या फिर कोई शक्तिशाली अनंत है जो एक, बहुविध और रहस्यमय है और जो ये सब रूप धारण करता है तथा इन गतियोंमें अपनेको प्रकट करता है। वैदिक धर्मने देहप्रधान मनुष्यकी समझने और अनुभव करनेकी इन स्वाभाविक शक्तियोंको अपनाया; इसने उन विचारोंका प्रयोग किया जिन्हें ये जन्म देती थीं, और उनके द्वारा इसने मनुष्यको उसकी तथा जगत्की सत्ताको आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जानेका यत्न किया। इसने यह स्वीकार किया कि जब यह प्रकृतिके व्यक्त रूपोंके पीछे महान् सजीव शक्तियों और देवताओंको देखता है तो वह ठीक ही करता है,—भले ही वह उनके आंतरिक सत्यको न जानता हो,—और इसी प्रकार वह उनके प्रति अपनी पूजा-भक्ति और चढ़ावा अर्पित करने तथा प्रायश्चित्त करनेमें भी वह ठीक मार्गपर है। क्योंकि, अनिवार्यतः ही, यही वह आरंभिक ढंग है जिससे उसकी सक्रिय भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृतिको परमेश्वरके पास पहुंचनेकी अनुमति दी जाती है। उनकी प्रत्यक्ष बाह्य अभिव्यक्तियोंके द्वारा वह उन्हें इस रूपमें प्राप्त करता है कि वे एक ऐसी वस्तु हैं जो उसकी प्राकृत सत्तासे महान् है, कोई ऐसी एकात्मक या अनेकात्मक वस्तु है जो उसके

जीवनका मार्गदर्शन, धारण और परिचालन करती है, और अपने मानव-जीवनकी कामनाओं और कठिनाइयों तथा संकटों और संघर्षोंमें वह उन्हें सहायता और सहारेके लिये पुकारता है।[1] वैदिक धर्मने उस बाह्याचारको भी स्वीकार किया जिसके द्वारा सभी देशोंका आदिकालीन मनुष्य अपने और प्रकृतिके देवताओंके पारस्परिक संबंधके विषयमें अपने ज्ञानको प्रकट करता था; इसने अपने केंद्रीय प्रतीकके रूपमें भौतिक यज्ञरूपी कर्मकांड एवं क्रियाकलापको ग्रहण किया। यज्ञके साथ जुड़े हुए विचार कितने ही स्थूल क्यों न हों फिर भी यज्ञकी आवश्यकताकी यह भावना अस्तित्वके प्रारंभिक नियमको धुंधले रूपमें प्रकट अवश्य करती थी। क्योंकि, वह व्यक्तिके तथा ब्रह्मांडको विश्वव्यापी शक्तियोंके बीच होनेवाले सतत आदान-प्रदानके उस रहस्यपर प्रतिष्ठित था जो जीवनकी समस्त प्रक्रियाको गुप्त रूपमें धारण करता है तथा प्रकृतिके कार्य-व्यापारको विकसित करता है।

परंतु अपने बाह्य एवं सार्वजनिक पक्षमें भी वैदिक धर्मने अपने-आपको मनुष्यके प्राकृत भौतिक मनकी प्रथम धार्मिक धारणाओंकी इस स्वीकृति एवं उनके नियमनतक ही सीमित नहीं रखा। वैदिक ऋषियोंने लोगोंद्वारा पूजे जानेवाले देवताओंके एक आंतरात्मिक कार्यकी प्रस्थापना की; उन्होंने लोगोंको बतलाया कि एक उच्चतर सत्य, ऋत एवं 'धर्म' है जिसके कि देवता संरक्षक हैं; उन्होंने यह भी बताया कि एक अधिक सच्चे ज्ञानको प्राप्त करना तथा उक्त सत्य और ऋतके अनुसार एक अधिक व्यापक अंतर्जीवन यापन करना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि अमरताका एक धाम है जिसतक मनुष्यकी आत्मा सत्य और ऋत (सत्कर्म) की शक्तिके द्वारा आरोहण कर सकती है। इसमें संदेह नहीं कि लोगोंने इन विचारोंको इनके अत्यंत बाह्य अर्थमें ही लिया; परंतु इनके द्वारा उन्हें अपनी नैतिक प्रकृतिको विकसित करने, अपने चैत्य पुरुषके किसी आरंभिक विकासकी

---

[1]गीता मानती है कि भक्त एवं ईश्वरान्वेषक चार प्रकार या चार कोटियोंके होते हैं। प्रथम दो हैं अर्थार्थी और आर्त्त, अर्थात् वे जो कामना-की पूर्त्तिके लिये ईश्वरकी खोज करते हैं तथा वे जो जीवनके दुःख-कष्टमें दैवी सहायता पानेके लिये उनकी ओर मुड़ते हैं। उसके बाद आता है जिज्ञासु, ज्ञानकी खोज करनेवाला, जिज्ञासाशील व्यक्ति जो भगवान्‌को उनके सत्य स्वरूपमें खोजने तथा उसी स्वरूपमें उनसे मिलनेके लिये प्रेरित होता है; अंतिम एवं सबसे उच्च है ज्ञानी, जो सत्यके साथ संपर्क स्थापित कर चुका होता है तथा परमात्माके साथ 'युक्त' होकर रहनेमें समर्थ होता है।

ओर मुड़ने, भौतिक जीवनके ज्ञान और सत्यसे भिन्न किसी अन्य ज्ञान और सत्यके विचारको अपनी कल्पनामें लाने और यहांतक कि जो महत्तर आध्यात्मिक सद्वस्तु मानवकी पूजा या अभीप्साका अंतिम ध्येय है, उसकी प्रथम परिकल्पनाको स्वीकार करनेकी भी शिक्षा मिलती थी। यह धार्मिक एवं नैतिक शक्ति ही बाह्य धर्ममतकी ऊंचीसे ऊंची उड़ान थी और यही वह बड़ीसे-बड़ी चीज थी जिसे जनसाधारण समझ सकते थे या जिसका वे अनुसरण कर सकते थे।

इन चीजोंका गंभीरतर सत्य दीक्षितोंके लिये, अर्थात् उन लोगोंके लिये सुरक्षित था जो वेदोंके गुप्त आंतरिक आशय किंवा रहस्यमय अर्थको समझने और उसके अनुसार आचरण करनेके लिये तैयार थे। क्योंकि, वेद उन शब्दोंसे भरा पड़ा है जो, स्वयं ऋषियोंके कथनानुसार, रहस्यपूर्ण शब्द हैं और जो केवल द्रष्टाके प्रति ही अपना आंतरिक अर्थ प्रकट करते हैं, **कवये निवचनानि निण्यानि वचांसि।** यही प्राचीन पवित्र सूक्तोंकी एक विशेषता है जो पीछेके युगोंके लिये धुंधलीसी हो गयी; यह एक निर्जीव परंपरा बन गयी और वैदिक प्रतीकोंकी सांकेतिक भाषाको पढ़नेके अपने कष्टसाध्य प्रयत्नमें आधुनिक विद्वानोंने इसकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा की है। किंतु प्रायः सभी प्राचीन धर्मोंको ठीक प्रकारसे समझनेके लिये इसे समझना आवश्यक है; क्योंकि अधिकतर वे एक ऐसे गूढ़ तत्त्वके द्वारा अपने ऊर्ध्वमुख पथपर अग्रसर हुए जिसकी चाबी सबको नहीं दी जाती थी। सभी धर्मोंमें या अधिकतर धर्मोंमें साधारण भौतिक मनुष्यके लिये एक स्थूल पूजा-प्रणाली होती थी, क्योंकि उसे अभी आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक जीवनके तथा 'गुह्यतत्त्वों'के—उन 'गुह्यतत्त्वों' को ऐसे प्रतीकोंके द्वारा सावधानता-पूर्वक छिपाकर रख जाता था जिनका अभिप्राय केवल दीक्षितोंके लिये ही खोला जाता था—आभ्यंतरिक रहस्यके अयोग्य माना जाता था; आगे चलकर शूद्र और द्विजमें जो भेद किया गया उसका मूल कारण यही था—शूद्र, अर्थात् देहात्मबुद्धि अविकसित मनुष्य और द्विज, अर्थात् वे लोग जो दीक्षाके द्वारा दूसरे जन्ममें प्रवेश करनेमें समर्थ थे और जिनको ही बिना किसी खतरेके वैदिक शिक्षा दी जा सकती थी। इसी प्रकार पीछेके युगमें शूद्रके द्वारा वेदके किसी भी प्रकारके अध्ययन-अध्यापनकी जो मनाही की गयी उसका प्रेरक हेतु भी यही था। इस आंतरिक आशयने ही, बाह्य अर्थके पीछे छिपे हुए उच्चतर आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक सत्योंने ही इन सूक्तोंको वेद (अर्थात् ज्ञानका ग्रंथ) का नाम दिया जिस नामसे वे आज भी प्रसिद्ध हैं। इस पूजा-पद्धतिके गूढ़ अर्थमें प्रवेश करके ही हम

वैदिक धर्मके उस पूर्ण विस्तारको हृदयंगम कर सकते हैं जो हमें उपनिषदोंमें तथा भारतीय आध्यात्मिक खोज और अनुभूतिके परवर्ती सुदीर्घ विकासमें दिखायी देता है। क्योंकि, प्राचीन ऋषियोंके मंत्रोंमें यह सारेका सारा अपने ज्योतिर्मय बीजके रूपमें विद्यमान है, पहलेसे ही प्रतिबिंबित या यहांतक कि चित्रित है। हमारी जो दृढ़ धारणा प्रत्येक परिवर्तनके समय ऋषियोंको ही हमारी संपूर्ण संस्कृतिका मूल बताती थी, उसके काल्पनिक रूप एवं पौराणिक आरोपण चाहे जो हों, वह एक वास्तविक सत्यसे युक्त है और अपने अंदर एक यथार्थ ऐतिहासिक परंपराको छिपाये है। वह सच्चे प्रारंभको, एक सच्ची दीक्षाके, तथा हमारी ऐतिहासिक संस्कृतिके इस महान्, आदिकालीन अतीत तथा अधिक महान् तो नहीं पर अधिक परिपक्व आध्यात्मिक विकासके बीच एक अटूट शृंखलाको प्रदर्शित करती है।

इस आभ्यंतरिक वैदिक धर्मने, प्रारंभमें, विश्ववर्ती देवताओंके आंतरात्मिक अर्थका विस्तार किया। उसका प्रधान विचार यह था कि इस ब्रह्मांडमें लोकोंकी एक क्रमपरंपरा एवं सत्ताके स्तरोंकी एक चढ़ती हुई सोपान-शृंखला है। इसने देखा कि लोकोंकी एक ऊपर उठती हुई परंपरा है और उसके अनुरूप मनुष्यकी प्रकृतिमें भी चेतनाकी भूमिकाओं या क्रमों या स्तरोंकी एक वैसी ही आरोही परंपरा है। एक सत्य, ऋत एवं विधान (Law) प्रकृतिके इन सब स्तरोंका धारण और परिचालन करता है, सारतः एक होता हुआ भी वह उनमें विभिन्न पर सजातीय रूप ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, बाह्य भौतिक प्रकाशकी क्रमपरंपरा है, एक अन्य उच्चतर एवं आभ्यंतरिक प्रकाशकी क्रमधारा है जो मानसिक, प्राणिक और आंतरात्मिक चेतनाका वाहन है, तथा आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योतिके सर्वोच्च अंतरतम आलोककी क्रम-शृंखला है। सूर्य, अर्थात् सूर्य-देवता, भौतिक सूर्यका अधिपति था; पर साथ ही वेदके क्रांतदर्शी कविके लिये वह ज्ञानकी उन रश्मियोंका प्रदाता भी है जो मनको आलोकित करती हैं, और वह आध्यात्मिक ज्योतिकी आत्मा, शक्ति और देह भी है। और इन सब शक्तियोंमें वह एकमेव और अनंत देवाधिदेवका एक ज्योतिर्मय रूप है। सभी वैदिक देवताओंका यह बाह्य कार्य और यह आंतरिक एवं अंतरतम कार्य है, सभीके प्रचलित और गुप्त 'नाम' हैं। अपने बाह्य स्वरूपमें वे सब भौतिक प्रकृतिकी शक्तियां हैं; अपने आंतरिक अर्थमें उन सबका आंतरात्मिक कार्य है और सबको मनोवैज्ञानिक तथ्यों या घटनाओंका कारण माना जाता है; साथ ही सबके सब किसी एकमेव उच्चतम सद्वस्तु, एकं सत्, एकमेव अनंत सत्ताकी नाना शक्तियां हैं। इस अज्ञेयप्राय परम

सत्ताको वेदमें प्राय: "वह सत्य" या "वह एक", तत् सत्यम्, तदेकम् कहा गया है। वेदके देवताओंकी यह गहन विशिष्टता ऐसे जटिल स्वरूप ग्रहण करती है जिनको उन लोगोंने जो उन रूपोंपर उनका केवल बाह्य भौतिक अर्थ ही आरोपित करते है, बिलकुल गलत ढंगसे समझा है। इनमेंसे प्रत्येक देवता अपने-आपमें 'एकं सत्'का एक पूर्ण और स्वतंत्र वैश्व व्यक्तित्व है और अपनी शक्तियोंके संयोगमें वे पूर्ण विश्वव्यापी शक्ति, वैश्व समष्टि, वैश्वदेव्यम्, है। और फिर प्रत्येक अपने कार्यविशेषको पृथक् रखते हुए अन्य देवताओंके साथ एकमय है; प्रत्येक अपने अंदर विश्वव्यापी भगवत्ताको धारण किये है और प्रत्येक देवता सर्वदेवमय है। यह वैदिक शिक्षा और पूजाका वह स्वरूप है जिसके अभिप्रायको यूरोपके विद्वानोंने अपने यहांके धार्मिक अनुभवके धुंधले और हीन प्रकाशमें पढ़नेके कारण सर्वथा अशुद्ध रूपमें समझा है और इसलिये जिसे उसने एकदेवपरमतावाद [1](Henotheism) का आडंबरपूर्ण मिथ्या नाम दे डाला है। परंतु परात्पर अवस्थामें, त्रिदेवात्मक 'अनंत'में ये देवता अपनी उच्चतम प्रकृतिको धारण करते हैं और वहां ये नामातीत अनिर्वचनीय 'एक' के नाम है।

परंतु वैदिक शिक्षाकी सबसे महान् शक्ति, जिसने इसे सभी परवर्ती भारतीय दर्शनों, धर्मों और योगपद्धतियोंका मूलस्रोत बना दिया, इस बातमें थी कि उसे किस प्रकार मनुष्यके आंतरिक जीवनपर प्रयुक्त किया जाता था। इस स्थूल जगत्में मनुष्य मर्त्य जीवनके "भूरि अनृत" (अत्यधिक असत्य) के तथा मृत्युके अधीन होकर रहता है। इस मृत्युसे ऊपर उठनेके लिये, अमरोंकी पंक्तिमें बैठनेके लिये उसे असत्यसे सत्यकी ओर मुड़ना होता है; उसे प्रकाशकी ओर उन्मुख होना और अंधकारकी शक्तियोंसे जूझना तथा उन्हें जीतना पड़ता है। यह कार्य वह दिव्य शक्तियोंके साथ अपना संपर्क स्थापित करके और उनकी सहायता लेकर संपन्न करता है; इस सहायताको नीचे पुकार लानेका तरीका वैदिक गुह्यदर्शियोंका एक गुह्य विषय था। इसी उद्देश्यसे बाह्य यज्ञके प्रतीकोंको संपूर्ण जगत्के "गुह्यों" की ही भांति एक आंतरिक अर्थ प्रदान किया गया है; वे मनुष्यके अंदर देवताओंके आह्वान, संबंध जोड़नेवाले यज्ञ, एक घनिष्ठ आदान-प्रदान, पारस्परिक सहायता और अंतर्मिलनको सूचित करते हैं। मनुष्यके अंदर देवताओंकी शक्तियोंकी प्रतिष्ठा होती है और उसके साथ ही दैवी प्रकृतिकी विश्व-मयताका गठन भी। कारण, देवता सत्यके रक्षक और संवर्धक हैं, अमर

---

[1]अनेक देवोंमें से प्रत्येकको बारी-बारीसे सर्वोच्च सत्ता मानना। —अनुवादक

भगवान्‌की शक्तियां हैं, अनंत माता—'अदिति' के पुत्र हैं; अमरताका मार्ग देवताओंका ऊर्ध्वमुख मार्ग है, 'सत्य' का मार्ग है, एक यात्रा एवं आरोहण है जिसके द्वारा सत्यके विधान, **ऋतस्य पंथाः**, की ओर विकास होता है। मनुष्य अपनी भौतिक सत्ताकी ही नहीं बल्कि अपनी मानसिक और साधारण चैत्य प्रकृतिकी सीमाओंको लांघकर और सत्यके उच्चतम स्तर एवं परम व्योममें पहुंचकर अमरत्व प्राप्त करता है: क्योंकि वहीं अमृतत्वका आधार और त्रिविध 'अनंत' का मूल धाम है। इन विचारोंके आधारपर वैदिक तत्त्ववेत्ताओंने एक गहन मनोवैज्ञानिक एवं आंतरात्मिक साधनाका निर्माण किया जो अपनेसे परे एक उच्चतम आध्यात्मिकताकी ओर ले जाती थी और जिसमें बादके भारतीय योगका बीज निहित था। यहां हमें भारतीय आध्यात्मिकताके विशिष्टतम विचार अपने पूर्ण विस्तृत रूपमें न सही, पर बीजरूपमें प्राप्त होते हैं। एक एकमेव सत्ता, **एकं सत्** है जो व्यक्ति और जगत्‌के परे विश्वातीत है। एक परम देव है जो अपने देवत्वके अनेक रूप, नाम, शक्तियां और व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रदर्शित करता है। विद्या और अविद्यामें एक विभेद है,[1] मर्त्य जीवनके अत्यधिक असत्य या मिश्रित सत्यासत्यके विपरीत अमर जीवनका एक महत्तर सत्य है। मनुष्यके आंतरिक विकासके लिये एक साधना है जिसके द्वारा वह भौतिक जीवनसे आरंभ कर आंतरात्मिकमेंसे गुजरता हुआ आध्यात्मिक जीवनमें विकसित हो सकता है। मृत्युपर विजय, अमृतत्वका एक रहस्य और मानव आत्माकी उपलभ्य दिव्यताका एक बोध—यह सब भी है। एक ऐसे युगमें जिसकी ओर हम अपने बाह्य ज्ञानके घमंडमें मानवताके बचपन या, अधिकसे अधिक, एक शक्तिशाली बर्बरताके युगके रूपमें दृष्टि डालनेके अभ्यासी हैं, यह एक अंतःप्रेरित और बोधिमूलक आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा थी जिसके द्वारा मानवजातिके प्राचीन पूर्वजोंने, **पूर्वे पितरः मनुष्याः**, भारतमें एक महान् एवं गंभीर सभ्यताकी स्थापना की थी।

इस उच्च आरंभके परिणामोंकी सुरक्षा एक व्यापकतर उदात्त विकासके द्वारा की गयी। उपनिषदोंको भारतमें सदा ही वेदका मुकुट एवं पर्यवसान माना जाता रहा है; उनके सर्वसामान्य नाम 'वेदान्त' से यहीं बात सूचित होती है। और सचमुच ही वे वैदिक साधना और अनुभूतिका

---

[1] **चित्तिमचित्तिं चिनवद् विद्वान्**, अर्थात् "ज्ञानीको विद्या और अविद्यामें भेद करना चाहिये।"

एक विशाल और सर्वोच्च परिणाम हैं। जिस युगमें वेदांतिक सत्यका पूर्ण रूपसे साक्षात्कार किया गया और उपनिषदोंने आकार ग्रहण किया, वह असीम और श्रमसाध्य अन्वेषणका युग था, आत्माका एक घनीभूत और प्रचंड बीज-काल था, जैसा कि हम छांदोग्य और बृहदारण्यक आदिके अभिलेखोंसे देख सकते हैं। उस खोजका दबाव पड़नेपर दीक्षितोंके हाथोंमें सुरक्षित पर साधारण आदमियोंकी पहुंचसे परे गुप्त रखे हुए सत्योंने अपनी दीवारें तोड़ डालीं और राष्ट्रके उच्चतर मानसमेंसे वेगपूर्वक प्रवाहित होकर भारतीय संस्कृतिकी भूमिको आध्यात्मिक चेतना और अनुभूतिके अनवरत और सदा-वृद्धिशील विकासके लिये उर्वर बना दिया। परंतु यह प्रवृत्ति अभी सर्वजनीन नहीं हुई थी; मुख्य रूपसे उच्चतर वर्णोंके लोगोंने, वैदिक शिक्षा-प्रणालीके अनुसार शिक्षा पाये हुए क्षत्रियों और ब्राह्मणोंने ही, जो बाह्य सत्यसे तथा बाह्य यज्ञके क्रिया-कलापसे अब और संतुष्ट नहीं थे; एकमेवका ज्ञान रखनेवाले ऋषियोंसे सत्यप्रकाशक अनुभवके उच्चतम 'शब्द' को जानने-का सर्वत्र यत्न आरंभ किया। परंतु जिन लोगोंने ज्ञान प्राप्त किया और महान् गुरु बने उनमें हम नीच या संदिग्ध जन्मवाले लोगोंको भी पाते हैं, जैसे कि जनश्रुति जो एक धनाढ्य शूद्र था और सत्यकाम जाबालि जो एक दासीका पुत्र था और जिसे यह भी पता नहीं था कि उसका गोत्र क्या है, उसके पिताका गोत्र क्या है। इस कालमें जो काम किया गया वह आगेके युगोंमें भारतीय आध्यात्मिकताकी एक सुदृढ़ आधार-शिला बन गया और उससे आज भी शाश्वत और अमोघ अनुप्रेरणाके जीवनदायी स्रोत फूटते हैं। इसी युगने, इसी प्रवृत्ति एवं इसी महान् उपलब्धिने भारतीय सभ्यताका विकास और अन्य संस्कृतियोंकी सर्वथा भिन्न दिशा——इन दोनोंके समग्र भेदको जन्म दिया।

कारण, एक ऐसा समय आया जब मूल वैदिक प्रतीकोंका तात्पर्य अनिवार्य रूपसे लुप्त हो गया एवं एक ऐसे अंधकारमें निलीन हो गया जो पीछे दुर्भेद्य बन गया, जैसा कि अन्य देशोंमें भी 'गुह्य विद्याओं' की आंतरिक शिक्षाका हाल हुआ। संस्कृतिका जो प्राचीन संतुलन दो छोरोंके बीच अवस्थित था और जिसमें संतुलन-रेखाके एक ओर तो बाह्य भौतिक मनुष्य-की अनगढ़ या अनगढ़ी प्राकृतिकता थी और दूसरी ओर दीक्षितोंके लिये आभ्यंतरिक एवं रहस्यमय आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन था, जिन्हें मिलाने के लिये धार्मिक पूजाविधि एवं प्रतीकवाद सेतुका काम करता था, वह अब हमारी आध्यात्मिक उन्नतिके आधारके रूपमें पहलेकी तरह पर्याप्त नहीं हो सकता था। मानवजातिको अपनी सभ्यताके क्रमविकासमें एक सुदीर्घ

प्रगतिकी आवश्यकता थी; वह एक अधिकाधिक व्यापक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकासकी अपेक्षा करती थी जो उसे प्रकाशकी ओर बढ़नेमें सहायता दे सके। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी यह परिवर्तन आना आवश्यक था। परंतु भय यह था कि जो महत्तर आध्यात्मिक सत्य पहले प्राप्त हो चुका था वह कहीं तीव्र पर प्रकाशहीन बुद्धिके हीनतर स्व-विश्वासी अधूरे प्रकाशमें खो न जाय अथवा स्व-पर्याप्त तार्किक बुद्धिकी तंग सीमाओंके भीतर उसका दम न घुट जाय। पश्चिममें सचमुच यही हुआ और इसमें यूनान सबसे आगे था। पाइथागोरस एवं स्टोइकके अनुयायियोंने तथा प्लेटो और नये प्लेटोवादियोंने पुराने ज्ञानको कम अनुप्रेरित, कम क्रियाशील और अधिक बौद्धिक रूपमें बनाये रखा; परंतु उन सबके होते हुए भी और जो महज अर्द्ध-आलोकित आध्यात्मिक लहर एशियासे उठकर, पूरी तरह न समझी गयी ईसाइयतके रूपमें, यूरोपभरमें तीव्र वेगसे फैल गयी उसके होते हुए भी पश्चिमी सभ्यताकी समस्त वास्तविक प्रवृत्ति बौद्धिक, तार्किक, लौकिक और यहांतक कि जड़वादीतक रही है, और वह आजतक भी ऐसी ही है। इसका सर्वसामान्य लक्ष्य बौद्धिक रंगमें रंगे नीतिशास्त्र, सौंदर्य-विज्ञान और तर्कके बलपर प्राणप्रधान एवं देहप्रधान मनुष्यकी सबल या सुंदर संस्कृतिका निर्माण करना रहा है, न कि हमारे निम्नतर अंगोंको आत्माकी परम ज्योति और शक्तिकी ओर ऊपर ले जाना। भारतमें उपनिषद्युगके महत् प्रयासने प्राचीन अध्यात्म-ज्ञान और उससे उत्पन्न आध्यात्मिक प्रवृत्तिकी इस पतनसे रक्षा की। वैदांतिक ऋषियोंने वैदिक सत्यको उसके गूढ़ प्रतीकोंसे पृथक् करके और अंतर्ज्ञान तथा अंतरनुभवकी अत्यंत उच्च और अत्यंत स्पष्ट एवं शक्तिशाली भाषामें ढालकर उसे नया रूप प्रदान किया। वह बुद्धिकी भाषा नहीं थी, पर फिर भी उसका एक ऐसा रूप था जिसे बुद्धि अपने अधिकारमें करके अपनी अधिक साधारण परिभाषाओंमें परिणत कर सकती थी और जिसे वह नित विस्तृत और गहरे होनेवाले दार्शनिक चिंतनके लिये तथा मूल और चरम-परम सत्यके विषयमें तर्कबुद्धिकी सुदीर्घ खोजके लिये आरंभ-बिंदु बना सकती थी। पश्चिमकी न्याईं भारतमें भी एक उच्च विशाल एवं जटिल बौद्धिक, सौंदर्यात्मक नैतिक और सामाजिक संस्कृतिका महान् निर्माण हुआ था। परंतु यूरोपमें उसे उसके अपने ही साधन-वैभवपर छोड़ दिया गया और अस्पष्ट धार्मिक भावावेग तथा मत-सिद्धांतने उसकी सहायता करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका विरोध ही किया, जब कि भारतमें आध्यात्मिकताकी एक महान् रक्षक शक्तिने और ज्ञानके उच्चतम गगनसे

आनेवाली विशाल, प्रेरक और उदार ज्ञान-रश्मियोंने उसका मार्गदर्शन किया, उसे ऊंचा उठाया और अपने बल और ज्योतिसे अधिकाधिक संचारित एवं परिप्लुत कर दिया।

भारतीय सभ्यताके द्वितीय या उत्तर-वैदिक युगकी विशेषताएं थीं — महान् दर्शनोंका उदय; प्रचुर, प्राणवंत, अनेक-विचार-संपन्न, बहुमुखी काव्य-साहित्यका निर्माण, कला और विज्ञानका सूत्रपात, ऊर्जस्वी और जटिल समाजका विकास, बड़े-बड़े राज्यों और साम्राज्योंकी रचना, सब प्रकारकी विविध रचनात्मक प्रवृत्तियां और जीवन तथा चिंतनकी महान् प्रणालियां। यूनान, रोम, फारस और चीन आदि अन्य स्थानोंकी तरह ही यहां भी यह उस बुद्धिके महान् विस्फोटका युग था जो जीवन तथा मानसिक विषयोंपर उनके मूल कारण तथा उनकी समुचित प्रणालीको ढूंढ़ने और मानव-जीवनकी व्यापक एवं श्रेष्ठ पूर्णताको प्रकट करनेके लिये कार्य कर रही थी। परंतु भारतमें इस प्रयत्नने आध्यात्मिक उद्देश्यको कभी भी दृष्टिसे ओझल नहीं किया, वह धार्मिक भावका स्पर्श पानेसे कभी नहीं चूका। यह जिज्ञासा-शील बुद्धिके जन्म तथा यौवनका काल था और यूनानकी भांति यहां भी दर्शन वह मुख्य साधन था जिसके द्वारा इस बुद्धिने जीवन और जगत्‌की समस्याओंको सुलझानेकी चेष्टा की। विज्ञानका भी विकास हुआ पर उस-का स्थान गौण ही रहा, वह एक सहायक शक्तिके रूपमें ही आया। भारतीय मनीषाने गंभीर और सूक्ष्म दर्शनोंके ही द्वारा बुद्धि और तार्किक शक्तिकी सहायतासे उन विषयोंका विश्लेषण करनेका प्रयत्न किया—जिन्हें पहले अंतर्ज्ञान एवं आत्मानुभवके द्वारा कहीं अधिक जीवंत शक्तिके साथ प्राप्त किया जा चुका था। परंतु दार्शनिक मन उन स्वीकृत सत्योंको लेकर चला जिन्हें इन प्रबलतर शक्तियोंने खोज निकाला था और वह अपने उद्‌गमभूत प्रकाशके प्रति सच्चा रहा; वह सदा फिर-फिर किसी-न-किसी रूपमें उपनिषदोंके गंभीर सत्योंकी ओर वापस गया जिन उपनिषदोंने कि इन विषयोंमें उच्चतम प्रमाण-ग्रंथके रूपमें अपना स्थान सुरक्षित रखा। यह बराबर ही माना जाता रहा कि आध्यात्मिक अनुभव एक महत्तर वस्तु है और इसका प्रकाश तर्कशील बुद्धिकी स्पष्टताओंकी अपेक्षा अधिक अज्ञेय होनेपर भी, अधिक सच्चा मार्गदर्शक है।

भारतीय मन और भारतीय जीवनकी अन्य सब प्रवृत्तियोंपर भी इसी सर्वोपरि शक्तिका प्रभुत्व रहा। यहांका महाकाव्य-साहित्य एक सबल और स्वतंत्र बौद्धिक एवं नैतिक विचारधारासे अत्यधिक परिपूर्ण है, उसमें प्रज्ञा और नैतिक बुद्धिके द्वारा जीवनकी अनवरत आलोचना की गयी है, सभी

संभव क्षेत्रोंमें सत्यका आदर्श स्थिर करनेका आकर्षक कुतूहल, एक प्रबल आग्रह और कामना दिखायी देती है। परंतु पृष्ठभूमिमें एक अटूट धार्मिक भावना और साथ ही आध्यात्मिक सत्योंकी असंदिग्ध या प्रकट स्वीकृति भी देखनेमें आती है जो पुनः-पुनः सामनेकी ओर आती रही और तथा भारतीय संस्कृतिका एक अडिग आधार बनी रही। इन आध्यात्मिक सत्योंने लौकिक विचार और कर्मको अपने उच्चतर प्रकाशसे परिप्लावित कर दिया अथवा ये ऊपर स्थित होकर उन्हें स्मरण दिलाते रहे कि कि वे किसी लक्ष्यके सोपान मात्र हैं। भारतीय कलाने, प्रचलित धारणाके विपरीत, जीवनका अत्यधिक चित्रण किया; किंतु फिर भी उसकी सर्वोच्च सफलता सदैव धर्म्य दार्शनिक मनकी व्याख्याके क्षेत्रमें ही दिखायी दी, उसकी संपूर्ण शैली आध्यात्मिक एवं अनंतके संकेतोंसे रंगी रहती थी। भारतीय समाजने अपूर्व संगठन-शक्ति, स्थायी प्रभावशालिता और क्रियात्मक अंतर्दृष्टिके साथ अपने अर्थ और कामनावाले सांसारिक जीवनके सामाजिक सामंजस्यका विकास किया; उसने अपने कर्मका परिचालन सदा-सर्वदा और पद-पदपर नैतिक और धार्मिक विधान अर्थात् 'धर्म'के निर्देशके अनुसार किया : परंतु इस बातको उसने कभी आंखसे ओझल नहीं किया कि आध्यात्मिक मोक्ष ही हमारे जीवनके प्रयासका उच्चतम शिखर और अंतिम लक्ष्य है। पीछेके युगमें जब बौद्धिक संस्कृतिकी ऐहिक प्रवृत्तिने और अधिक जोर पकड़ा, लौकिक बुद्धिकी अपरिमित प्रगति हुई, राजनीतिक और सामाजिक विकास बहुत अधिक हुआ; सौंदर्यात्मक, ऐंद्रियक और सुखवादी अनुभवपर अत्यधिक बल दिया गया। परंतु इस प्रयासने भी अपनेको प्राचीन चौखटेके अंदर रखने और भारतके सांस्कृतिक विचारकी विशेष छापको न गंवानेकी बराबर ही चेष्टा की। ऐहिक प्रवृत्तिके बढ़नेसे जो क्षति हुई उसकी पूर्त्ति चैत्य धार्मिक अनुभवकी तीव्रताओंको और भी गभीर करके की गयी। नये धर्मों या गुह्य अनुष्ठानों एवं साधनाओंने मनुष्यकी अंतरात्मा और बुद्धिको ही नहीं बल्कि उसके हृद्भावों और इंद्रियोंको तथा उसकी प्राणिक और सौंदर्य-ग्राही प्रकृतिको भी अपने अधिकारमें करने तथा आध्यात्मिक जीवनका उपादान बनानेका यत्न किया। जीवनके ऐश्वर्य-वैभव, शक्ति-सामर्थ्य और सुखभोगपर बल देनेमें की गयी प्रत्येक अतिकी प्रतिक्रिया हुई और तब एक उच्चतर मार्गके रूपमें आध्यात्मिक वैराग्यपर सुखभोगके समान ही प्रभावपूर्ण बल देकर उस अतिको संतुलित किया गया। दोनों प्रवृत्तियां, एक ओर तो जीवनानुभवकी समृद्धिकी पराकाष्ठा, दूसरी ओर अध्यात्म जीवनकी पराकाष्ठा एवं शुद्ध कठोर तीव्रता, परस्पर ताल मिलाकर चलती थीं; उनकी

पारस्परिक क्रिया—प्राचीनतर गंभीर सामंजस्य एवं विशाल समन्वयकी चाहे कैसी भी हानि क्यों न हुई हो—उनके दोहरे आकर्षणके द्वारा भारतीय संस्कृतिके संतुलनकी कुछ अंशमें रक्षा करती थी।

भारतीय धर्मने इस विकासधाराका अनुसरण किया और अपने वैदिक तथा वैदांतिक उद्गमोंके साथ अपनी आंतरिक अविच्छिन्नताको सुरक्षित रखा; परंतु अपने मनके अंदरकी सामग्रियों और रंग-रूपको तथा अपने बाह्य आधारको उसने पूर्ण रूपसे परिवर्तित कर डाला। यह परिवर्तन उसने किसी विरोधात्मक विद्रोह या विप्लवके द्वारा या आक्रमण-कारी सुधारके किसी विचारके द्वारा संपन्न नहीं किया। इसका करणात्मक जीवन निरंतर ही विकसित होता रहा, एक स्वाभाविक रूपांतरने गुप्त उद्देश्योंको प्रकट किया या फिर पूर्व-प्रतिष्ठित प्रेरक-विचारोंको अधिक प्रमुख स्थान या प्रभावशाली रूप प्रदान किया। निःसंदेह एक समय ऐसा लगा मानों पुरानी चीजोंके भंग और एक तीव्र नये आरंभकी आवश्यकता हो और ऐसा होकर ही रहेगा। ऐसा मालूम हुआ कि बौद्ध धर्मने वैदिक धर्मके साथ संपूर्ण आध्यात्मिक संसर्गका त्याग कर दिया। परंतु अंततः यह संबंधविच्छेद ऊपर ही ऊपर अधिक था, वास्तवमें उतना नहीं था: निर्वाण-विषयक बौद्ध आदर्श वेदांतके उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवके एक तीव्र-निषेधात्मक एवं ऐकांतिक वर्णनके सिवा और कुछ नहीं था। मुक्तिके मार्गके रूपमें गृहीत बौद्धोंकी 'अष्टांग-पथ' की जो नैतिक प्रणाली थी वह अमरत्वके मार्ग, 'ऋतस्य पंथाः' के रूप में अनुसृत सत्य, ऋत और धर्म-विषयक वैदिक विचारका कठोर उन्नयन थी। बौद्ध धर्मके महायान-संप्रदायका सबलतम स्वर, सार्वभौम करुणा और सहानुभूतिपर इसका बल उस आध्यात्मिक एकत्वका ही नैतिक प्रयोग था जो वेदांतका मूलभूत विचार है।[1] उस नयी साधनाके अत्यंत विशिष्ट सिद्धांतों, निर्वाण और कर्मकी पुष्टि ब्राह्मणों और उपनिषदोंके वचनोंसे की जा सकती थी। बौद्धधर्म अपने मूलके वैदिक होनेका दावा सहजमें ही कर सकता था और इसका वह दावा सांख्य-दर्शन एवं साधनाभ्यासके, जिसके साथ कुछ बातोंमें इसका घनिष्ठ ऐक्य था, मूलकी वैदिकतासे कम प्रामाणिक न होता। परंतु जिस चीजने बौद्ध धर्मको हानि पहुंचायी और जो, अंतमें, इसके त्याग दिये

---

[1]ऐसा प्रतीत नहीं होता कि स्वयं बुद्धने अपने मतका प्रचार एक नये क्रांतिकारी धर्ममतके रूपमें किया हो, बल्कि उन्होंने तो उसका प्रचार प्राचीन आर्य मार्ग, सनातन धर्मके सच्चे आदर्शके रूपमें किया था।

जानेका निश्चयात्मक कारण बनी वह वेदको मूल या प्रामाणिक स्रोत माननेसे इसका इन्कार करना नहीं थी बल्कि इसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थापनाओंका एकतरफा तीखापन थी। स्पष्ट और कठोर तार्किक चिंतनपर आधारित एक तीव्र आध्यात्मिक जिज्ञासाके द्वारा ही इसका एक पृथक् धर्मके रूपमें जन्म हुआ था; इस प्रकार, अध्यात्मभावित मनके साथ तार्किक बुद्धिके सम्मिलनके तीव्र दबावका परिणाम होनेके कारण इसकी तीक्ष्ण स्थापनाओं और उनसे भी अधिक ऐकांतिक निषेधोंको भारतीय धार्मिक चेतनाकी स्वाभाविक नमनशीलता, बहुमुखी ग्रहण-सामर्थ्य और समृद्ध-समन्वयात्मक प्रवृत्तिके साथ पर्याप्त रूपसे संगत नहीं बनाया जा सकता था। यह एक उच्च मत अवश्य था पर लोगोंके हृदयोंपर अधिकार जमानेके लिये काफी नमनीय नहीं था। भारतीय धर्म बौद्ध-धर्मका जितना अंश हजम कर सकता था उतना उसने हजम कर लिया, पर इसकी एक-पक्षीय स्थापनाओंको उसने त्याग दिया और, प्राचीन वेदांतकी ओर मुड़कर अपनी अविच्छिन्नताकी संपूर्ण परंपराको सुरक्षित रखा।

परिवर्तनकी यह स्थायी धारा मूलतत्त्वके किसी प्रकारके विनाशके द्वारा नहीं बल्कि प्रमुख वैदिक अनुष्ठानोंके क्रमिक ह्रास तथा उनके स्थान-पर दूसरोंके आविर्भावके द्वारा अग्रसर हुई। प्रतीक, अनुष्ठान-पद्धति और याज्ञिक क्रियाओंका रूपांतर हुआ अथवा उनके स्थानपर उनसे मिलते-जुलते नये प्रतीकादिकोंको प्रतिष्ठित किया गया, ऐसी चीजें प्रकट हुईं जो मूल प्रणालीमें केवल संकेत-रूपमें ही विद्यमान थीं; मूल विचारधाराके बीजसे नये विचार-रूप विकसित हुए। और विशेष रूपसे, आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभव और भी अधिक विस्तृत और गहरा हो चला। वैदिक देवताओंका गंभीर मूल अर्थ शीघ्र ही विलुप्त हो गया। आरंभमें उन्होंने अपने बाह्य विश्वगत अर्थके द्वारा अपना आधिपत्य बनाये रखा किंतु ब्रह्मा-विष्णु-शिवकी महान् त्रिमूर्त्तिने उन्हें आच्छादित कर दिया, और पीछे तो वे बिलकुल ही लुप्त हो गये। एक नया देव-समूह प्रकट हुआ जो अपने बाह्य प्रतीकात्मक रूपोंमें धार्मिक अनुभवके एक गभीरतर सत्य एवं विस्तृततर क्षेत्रको, एक तीव्रतर अनुभूति एवं विशालतर भावनाको प्रकट करता था। वैदिक यज्ञ केवल टूटे-फूटे खंडोंके रूपमें ही शेष रह गया जो उत्तरोत्तर कम होते गये। 'अग्नि'-कुंडका स्थान मंदिरने ले लिया; यज्ञका कर्मकांड मंदिरमें की जानेवाली भक्तिकी क्रिया-पद्धतिमें रूपांतरित हो गया; मंत्रोंमें वैदिक देवताओंके जो अनिश्चित और परिवर्तनीय मानसिक रूप चित्रित हैं उन्होंने अपना स्थान दो महान् देवताओं, विष्णु और

शिव, के तथा उनकी शक्तियों एवं शाखा-प्रशाखाओंके अधिक सुनिश्चित प्रत्ययात्मक रूपोंको दे दिया। इन नये प्रत्ययों (Concepts) को भौतिक प्रतिमूर्तियोंका स्थिर रूप देकर आभ्यांतरिक उपासनाके लिये तथा यज्ञका स्थान लेनेवाली बाह्य पूजाके लिये आधार बना दिया गया। आंतरात्मिक और आध्यात्मिक गुह्य प्रयास, जो वेदके सूक्तोंका आंतरिक मर्म था, पौराणिक और तांत्रिक धर्म और योगके कम तीव्रतया प्रकाशमय पर अधिक विशाल, समृद्ध एवं गहन चैत्य-आध्यात्मिक अंतर्जीवनमें विलीन हो गया।

धर्मकी पौराण-तांत्रिक अवस्थाको एक समय यूरोपीय आलोचकों और भारतीय सुधारकोंने प्राचीनतर एवं शुद्धतर धर्मका हीन और अज्ञानपूर्ण पतन कहकर निंदित ठहराया था। पर सच पूछो तो यह लोगोंके सामान्य मनको आंतरिक सत्य और अनुभव तथा वेदनके उच्चतर एवं गभीरतर क्षेत्रकी ओर खोलनेका एक प्रयत्न था जो बहुत अंशमें सफल भी हुआ। किसी समय जो विरोधी आलोचना सुननेमें आती थी उसमेंसे अधिकांशका कारण इस पूजाके आशय और उद्देश्यको बिलकुल न जानना ही था। इस आलोचनाका अधिकतर भाग व्यर्थमें उन पगडंडियों और पथ-भ्रष्टताओंपर ही केंद्रित रहा है जिनसे बचना संस्कृतिके आधारको विस्तृत करनेके इस अतीव साहसपूर्ण परीक्षणमें शायद संभव ही नहीं था। क्योंकि, इसमें सब प्रकारके मनोंको तथा सब वर्गोंके लोगोंको आध्यात्मिक सत्यकी ओर आकृष्ट करनेका एक उदार प्रयत्न था। वैदिक ऋषियोंके गहन आंतरात्मिक ज्ञानका बहुत-सा भाग लुप्त हो गया, परंतु बहुत-से नये ज्ञानका विकास भी हुआ, कितने ही ऐसे मार्ग खुल गये जिनपर किसीके भी पैर नहीं पड़े थे और साथ ही अनंतमें प्रवेश करनेके सैंकड़ों द्वार ज्ञात हो गये। यदि हम इस विकासका मूल अभिप्राय और उद्देश्य तथा इसके बाह्य-रूपों, साधनों और प्रतीकोंका आभ्यंतरिक मूल्य जाननेका यत्न करें तो हमें पता चलेगा कि यह विकास बहुत कुछ इसी कारणसे प्राचीन वैदिक रूपके बादमें आया जिस कारणसे कि कैथोलिक ईसाइयतने प्राचीन 'पेगन' (मूर्त्तिपूजक) धर्मोंके गुप्त रहस्यों और यज्ञोंका स्थान लिया। क्योंकि, दोनों दृष्टांतोंमें आदिकालीन धर्मका बाह्य आधार लोगोंके बाह्य स्थूल मनको आकर्षित करता था और इसलिये उसने उसीको अपने आह्वानका आरंभ-बिंदु बनाया। परंतु नये विकासने सामान्य मनुष्यमें भी एक अधिक अंतरीय मनको जगाने, उसकी अंतरीय प्राणिक और भावप्रधान प्रकृतिको अपने अधिकारमें लाने, अंतरात्माको जगाकर सत्ताके सभी अंगोंको सहारा देने और इन चीजोंके द्वारा

उसे उच्चतम आध्यात्मिक सत्यकी ओर ले जानेका यत्न किया। वास्तवमें इसने सर्वसाधारणको आत्माके मंदिरके बाहरी अहातेमें न छोड़कर उसके भीतर प्रविष्ट करानेकी चेष्टा की। इसने मंदिरोंकी सुन्दर पूजा, नाना प्रकारकी विधियों तथा स्थूल मूर्त्तियोंके द्वारा जो एक सौंदर्यात्मक रूप ग्रहण किया उससे मनुष्यकी बहिर्मुख स्थूल इंद्रिय संतुष्ट हुई; परतु इन चीजोंको एक चैत्य-भावप्रधान अर्थ एवं दिशा प्रदान की गयी जो कुछ चुने हुए लोगोंकी गंभीरतर दृष्टि या दीक्षितोंकी कृच्छ्र तपस्याके लिये ही सुरक्षित नहीं थी, बल्कि साधारण मनुष्यके हृदय और कल्पनाशक्तिके लिये भी खुली हुई थी। गुप्त दीक्षाकी पद्धति बची रही पर अब वह बाह्य मनो-भावावेगात्मक एवं धार्मिक सत्य और अनुभवसे गभीरतर चैत्य-आध्यात्मिक सत्य और अनुभवकी ओर जानेके लिये एक अवस्थामात्र थी।

इस नये परिवर्तनसे किसी भी मुख्य वस्तुके मूल स्वरूपमें तनिक भी हेर-फेर नहीं हुआ; परंतु करणोंपकरणों तथा वातावरणमें और धार्मिक अनुभवके क्षेत्रमें पर्याप्त परिवर्तन आया। वैदिक-देवता अपने भक्त-समुदायके निकट ऐसी दिव्य शक्तियां थे जो स्थूल जगतके बाह्य जीवनकी कार्यावलिके ऊपर अधिष्ठान करती थीं; पौराणिक त्रिमूर्ति जनसाधारणके लिये भी प्रधान रूपसे एक मनो-धार्मिक और आध्यात्मिक अर्थ रखती थी। इसका अधिक बाह्य अर्थ, उदाहरणके लिये, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कार्य इन गहराइयोंका, मात्र जो ही इसके रहस्यके अंतस्तलको छूती थी, एक गौण सिरामात्र थे। केंद्रीय आध्यात्मिक सत्य दोनों प्रणालियोंमें एक ही रहा, और वह है अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त 'एकमेव' का सत्य। त्रिमूर्ति एक ही परम देव एवं ब्रह्मका त्रिविध रूप है; सभी शक्तियां उच्चतम भागवत सत्ताकी एक ही शक्तिके अंशभूत शक्तिया है। परंतु यह महत्तम धार्मिक सत्य, तब और, इने-गिने दीक्षितोके लिये ही सुरक्षित नहीं रह गया; बल्कि अब तो लोगोंके सामान्य मन और हृदयमें इसे प्रबल, विस्तृत और तीव्र रूपमें अधिकाधिक जमा दिया गया। वैदिक विचारका अंग माने जानेवाले तथाकथित एकदेवपरमतावाद (Henotheism) को भी विष्णु या शिवकी अधिक व्यापक और सरल पूजाके रूपमें विस्तारित और उन्नत किया गया; विष्णु या शिवको एक ऐसा विराट् और सर्वोच्च देवता मानकर पूजा जाने लगा जिसके कि अन्य सब देवता जीवंत रूप और शक्तियां ह। मनुष्यके अंदर भगवान्के विराजमान होनेके विचारको असाधारण रूपमें प्रचारित किया गया, केवल इस विचारको ही नही कि भगवान् कभी-कभी मानवतामें प्रकट होते हैं, जिसने कि अवतारोंकी पूजाकी स्थापना की, वरन्

इस विचारको भी कि प्रत्येक प्राणीके हृदयमें उनकी उपस्थितिको ढूंढ़ा जा सकता है। इसी एक सामान्य आधारपर योगकी प्रणालियां भी विकसित हुईं। वे सभी अनेक प्रकारकी मनोभौतिक, अंतःप्राणिक, अंतर्मानसिक और चैत्य-आध्यात्मिक विधियोंके द्वारा समस्त भारतीय आध्यात्मिकताके सर्व-सामान्य लक्ष्यकी ओर ले जाती थीं या ले जानेकी आशा करती थीं और वह लक्ष्य था एक महत्तर चेतनाकी तथा एकमेव और भगवान्के साथ न्यूनाधिक पूर्ण एकत्वकी प्राप्ति या फिर व्यष्टि-जीवका निरपेक्ष ब्रह्ममें निमज्जन। पौराण-तांत्रिक प्रणाली एक विशाल, सुनिश्चित और बहुमुख प्रयास थी, जो अपनी शक्ति, अंतर्दृष्टि और विस्तारमें अतुलनीय था; उसका उद्देश्य मानवजातिको एक ऐसे सामान्यीकृत मनोधार्मिक अनुभवका आधार प्रदान करना था जिससे मनुष्य ज्ञान, कर्म या प्रेमके द्वारा या अपनी प्रकृतिकी किसी अन्य मूलभूत शक्तिके द्वारा किसी सुस्थिर परम अनुभव एवं सर्वोच्च निरपेक्ष स्थितितक ऊंचा उठ सके।

यह महान् प्रयास एवं प्राप्ति जो वैदिक युगके बादसे लेकर बौद्धधर्मका पतन होनेतकके संपूर्ण कालमें जारी रही, भारतीय संस्कृतिके सामने खुले पड़े धार्मिक विकासकी अंतिम संभावना नहीं थी। भौतिक मनोवृत्तिवाले मनुष्यको दी गयी वैदिक शिक्षाने ही इस विकासको संभव बनाया। परंतु फिर धर्मके आधारको इस प्रकार आंतरिक मन, प्राण एवं आंतरात्मिक प्रकृतितक उठाकर और अंतःपुरुषको इस प्रकार शिक्षित करके और बाहर लाकर एक और भी व्यापक विकास संभव बनाना चाहिये तथा एक महत्तर आध्यात्मिक आंदोलनको जीवनकी प्रमुख शक्तिके रूपमें प्रश्रय देना चाहिये। इनमेंसे पहली अवस्था प्राकृतिक बहिर्मुख मानवको आध्यात्मिकताके लिये तैयार करना संभव बनाती है; दूसरी उसके बाह्य जीवनको एक अधिक गहरे मानसिक और आंतरात्मिक जीवनकी ओर ले जाती है और उसे उसके अंदर अवस्थित अध्यात्म सत्ता एवं भगवत्ताके अधिक सीधे संपर्कमें ले आती है; तीसरीको उसे उसके अपने संपूर्ण मानसिक, आंतरात्मिक एवं भौतिक जीवनको एक व्यापक अध्यात्म-जीवनके कम-से-कम प्रथम आरंभकी ओर उठा ले जानेके योग्य बना देना चाहिये। यह प्रयास भारतीय आध्यात्मिकताके विकासमें प्रकट हुआ है और बहुत पीछे जो दर्शनशास्त्र बने तथा संतों और भक्तोंके महान् आध्यात्मिक आंदोलन हुए और योगके विविध मार्गोंका अधिकाधिक अवलंबन किया गया उसका गूढ़ अर्थ भी यही है। परंतु दुर्भाग्यवश यह प्रयास जिन दिनों चल रहा था उन्हीं दिनों भारतीय संस्कृतिका ह्रास आरंभ हुआ और उसके सामान्य बल और ज्ञानका

उत्तरोत्तर क्षय होने लगा, और इन परिस्थितियोंमें यह अपना स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न नहीं कर सका; पर साथ ही इसने भविष्यमें ऐसी संभावना उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियोंको तैयार करनेके लिये बहुत कुछ किया है। यदि भारतीय संस्कृतिको जीवित रहना है और अपने आध्यात्मिक आधार तथा अपनी स्वभावगत विशेषताको सुरक्षित रखना है तो उसके विकासको केवल पौराणिक प्रणालीको फिरसे जीवित या प्रचलित करनेकी दिशामें नहीं, बल्कि उपर्युक्त दिशामें ही मुड़ना होगा और इस प्रकार उस वस्तुकी चरितार्थताकी ओर उठना होगा जिसे सहस्रों वर्ष पहले वैदिक ऋषियोंने मनुष्य और उसके जीवनके लक्ष्यके रूपमें देखा था तथा वेदांतिक ऋषियोंने अपने ज्योतिर्मय सत्य-दर्शनके स्पष्ट और अमर रूपोंमें ढाला था। मनुष्यकी प्रकृतिका चैत्य-भावमय भाग भी धार्मिक अनुभूतिका अंतरतम द्वार नहीं है और न उसका आंतर मन ही आध्यात्मिक अनुभवका उच्चतम साक्षी है। इनमेंसे चैत्य-भावमय भागके पीछे उस गहनतम हृदय-गुहामें, **हृदये गुहायाम्**, मनुष्यकी अंतरतम आत्मा विद्यमान है जिसमें प्राचीन ऋषियोंने स्वयं अंतर्वासी भगवान्‌का वास्तविक धाम देखा था और आंतर मनके ऊपर एक ज्योतिर्मय उच्चतम मन है और यह मन परम आत्माके उस सत्यकी ओर सीधे खुला हुआ है जिसकी झांकी मनुष्यकी सामान्य प्रकृतिको अभी केवल कभी-कभी और क्षणभरके लिये ही मिलती है। धार्मिक विकास और आध्यात्मिक अनुभव अपना सच्चा और स्वाभाविक मार्ग तभी प्राप्त कर सकते हैं जब वे इन गुप्त शक्तियोंकी ओर खुल जायें और एक स्थायी रूपांतर अर्थात् मानवजीवन और प्रकृतिके दिव्यीकरणके लिये इन्हें अपना अवलंबन बनावें। इस प्रकारका प्रयास ही भारतके विशाल धार्मिक विकास-चक्रोंके पिछले आंदोलनोंमेंसे अत्यंत प्रकाशमय एवं जीवंत आंदोलनके पीछे असली शक्तिके रूपमें कार्य कर रहा था। यही वैष्णव धर्म, तंत्र और योगकी अत्यंत शक्तिशाली प्रणालियोंका रहस्य है। हमारी अर्द्ध-पशु मानव-प्रकृतिसे अध्यात्म-चेतनाकी अभिनव पवित्रतामें आरोहण करनेके प्रयासके बाद मनुष्यके अंगोंमें आत्माकी ज्योति और शक्तिका अवतरण कराने तथा मानवीय प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें रूपांतरित करनेका प्रयत्न करना आवश्यक ही था जिससे कि आरोहण का प्रयास पूर्ण हो सके।

परंतु यह प्रयत्न अपना पूर्ण मार्ग या अपना फल नहीं प्राप्त कर सका क्योंकि इसीके समयमें भारतमें जीवनी-शक्तिका ह्रास हो गया और उसकी सार्वजनीन सभ्यता एवं संस्कृतिका बल और ज्ञान क्षीण होने लगे। तथापि उसके बचे रहने और नया जीवन प्राप्त करनेकी दैव-निर्दिष्ट शक्ति भी

इसीमें निहित है, उसके भविष्यका जीवंत अभिप्राय भी यही है। इस भूतल-पर जीवनको अत्यंत व्यापक और सर्वोच्च रूपमें आध्यात्मिक बनाना ही अंतरात्माके बाह्यतम और अंतरतम अनुभवके उस सब विशाल और अपूर्व सहस्रविध अनुसंधान एवं परीक्षणका, जो भारतके अतीतकी अनुपम विशेषता है, अंतिम दिव्य स्वप्न है; यही, अंततः वह ईश्वरप्रदत्त कार्य है जिसके लिये वह उत्पन्न हुआ था और यही उसके अस्तित्वका प्रयोजन है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तीसरा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

यदि हम भारतीय किंवा किसी भी सभ्यताका यथार्थ स्वरूप समझना चाहें तो यह आवश्यक है कि हम उसकी केंद्रीय, जीवित और सर्वोपरि वस्तुओंको ही अपने ध्यानमें रखें और दैवसंयोगों तथा छोटी-मोटी बातोंसे उत्पन्न भ्रांतिके कारण भटक न जायें। हमारी संस्कृतिके आलोचक इस सावधानीको बरतनेसे निरंतर ही इंकार करते हैं। सर्वप्रथम हमें किसी सभ्यता एवं संस्कृतिके मूल प्रेरक, आधारभूत, स्थायी और केंद्रीय उद्देश्योंको, उसके स्थिर सिद्धांतके मर्मको देखना होगा; अन्यथा हम इन आलोचकोंकी भांति संभवतः एक सूत्र-रहित भूलभुलैयांमें फंस जायेंगे और मिथ्या तथा आंशिक निष्कर्षोंके बीच ठोकरें खाते हुए विषयके असली सत्यसे पूर्णतया वंचित ही रहेंगे। इस भूलसे बचनेका महत्त्व उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम भारतकी धार्मिक संस्कृतिके मूल अभिप्रायकी खोज करते हैं। परंतु जब हम उसके क्रियाशील स्वरूप और जीवनपर पड़नेवाले उसके आध्यात्मिक आदर्शके प्रभावका अवलोकन करने जाते हैं तब भी हमें इसी पद्धतिको ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि आत्मा ही हमारी सत्ताका सत्य है और हमारा जीवन आत्माकी एक अभिवृद्धि और विकास है। वह सनातन, अनंत, परम एवं सर्वको देखती है; वह इसे सब कुछके निगूढ़ सर्वोच्च आत्माके रूपमें देखती है, वह इस सर्वोच्च आत्माको ही ईश्वर, शाश्वत, सद्वस्तुके नामसे पुकारती है, और मनुष्यको वह प्रकृतिगत परमात्माकी इस सत्ताकी अंशभूत आत्मा एवं शक्तिके रूपमें देखती है। इस आत्माकी ओर, इस परमेश्वर, विराट्, सनातन एवं अनंतकी ओर मनुष्यकी सांत चेतनाका अधिकाधिक विकास, एक शब्दमें, उसकी साधारण अज्ञ प्रकृतिगत सत्ताके एक ज्ञानदीप्त दिव्य प्रकृतिमें विकसित होनेके कारण उसका अध्यात्म-

चेतनाको प्राप्त होना — यही, भारतीय विचारधाराके निकट, जीवनका गूढ़ार्थ है और यही मानवजीवनका लक्ष्य है। आधुनिक यूरोपीय चिंतनमें जो भाग अत्यंत शक्तिशाली है और फलप्रद परिणामोंकी संभावनासे अत्यंत परिपूर्ण है उसका अधिकांश प्रकृति और जीवन-विषयक इसी अधिक गंभीर एवं अधिक आध्यात्मिक विचारकी ओर, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वेगके साथ, झुकता जा रहा है। संभव है कि यह झुकाव "बर्बरता" की ओर लौटना हो अथवा यह भी संभव है कि यह उसकी अपनी प्रगतिशील और परिपक्व संस्कृतिका एक उच्च स्वाभाविक परिणाम हो; यह तो एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान यूरोपको करना होगा। परंतु भारतके लिये सर्वदा ही आत्मा, ईश्वर, अध्यात्मसत्तासंबंधी यह आदर्श अंतःप्रेरणा या, सच पूछो तो, यह आध्यात्मिक अंतर्दर्शन, विश्व-चेतनाका यह सान्निध्य, एक वैश्व भावना एवं अनुभूति, एक वैश्व विचार, संकल्प, प्रेम, आनंद जिनके अंदर हम सीमित, अज्ञ, दुःखग्रस्त अहंको मुक्त कर सकते हैं, परात्पर, सनातन एवं आनंदकी ओर यह प्रवृत्ति, और मनुष्यको उस महत्तर सत्ताकी अंशभूत एक सचेतन आत्मा एवं शक्तिके रूपमें ढालना उसके दर्शनका तन्मयकारी उद्देश्य, उसके धर्मको धारण करनेवाली शक्ति, उसकी सभ्यता और संस्कृतिका मूल विचार रहे हैं।

मैं इस ओर संकेत कर चुका हूं कि इस संस्कृतिके प्रयासकी यथार्थ प्रवृत्ति एवं लयबद्ध रूपरेखाओंको यों देखना होगा कि वे दो बाह्य अवस्थाओं मेंसे गुजरी हैं जो कि अब पूरी हो चुकी हैं; और अब एक तीसरीने अपने आरंभिक कदम रख दिये हैं और वह उसके भविष्यकी नियति है। पहली अवस्था थी प्राचीन वैदिक : उस अवस्थामें धर्मने अपना बाह्य वैधिक आधार मनुष्यके स्थूल मनकी विश्वगत परमात्माकी ओर जानेकी स्वाभाविक गतिपर रखा, किंतु दीक्षितोंने बाह्य-विधिके पीछे विद्यमान महत्तर आध्यात्मिक सत्यकी यज्ञिय अग्निको सुरक्षित रखा। दूसरी अवस्था थी पौराण-तांत्रिक : तब धर्मने अपना बाह्य वैधिक आधार मनुष्यके आंतरिक मन और प्राणकी विश्वगत भगवान्‌की ओर जानेकी प्रारंभिक और गंभीर गतियोंपर रखा, परंतु एक महत्तर दीक्षाने एक अत्यधिक अंतरंग सत्यका मार्ग खोल दिया और आध्यात्मिक जीवनको, उसकी संपूर्ण गहरायीमें तथा एक चरम-परम अनुभवकी सभी असीम संभावनाओंके साथ आंतरिक रूपसे बितानेके लिये वेग प्रदान किया। एक तीसरी अवस्थाकी भी दीर्घकालसे तैयारी होती आ रही है जो भविष्यसे संबंध रखती है। उसके प्रेरणाप्रद विचारको प्रायः ही सीमित या व्यापक, प्रच्छन्न और मौन या साहसपूर्ण एवं आश्चर्यजनक

आध्यात्मिक आंदोलनों तथा शक्तिशाली नयी साधनाओं और नये धर्मोंके रूपमें ढाला गया है, परंतु यह अपना मार्ग ढूंढ़ने या मानवजीवनको नयी लीकोंपर चलनेके लिये बाध्य करनेमें अभीतक सफल नही हुई है। परिस्थितियां प्रतिकूल थीं और उसके लिये अभी समय भी नहीं आया था। भारतीय आध्यात्मिक मनकी इस महत्तम गतिविधिके पीछे एक दोहरी प्रवृत्ति काम कर रही है। उसका संकल्प मनुष्य-समाजको तथा सभी मनुष्योंको, प्रत्येकको अपनी सामर्थ्यके अनुसार, सर्वाधिक महान् प्रकाशमें निवास करने और अपना संपूर्ण जीवन परमात्माकी किसी पूर्ण-अभिव्यक्त शक्ति एवं महान् उन्नायक सत्यपर प्रतिष्ठित करनेके लिये आहूत करनेकी प्रवृत्ति रखता है। परंतु समय-समयपर उसे एक उच्चतम अंतर्दर्शन भी प्राप्त हुआ है जो सनातनकी ओर आरोहणकी ही नहीं बल्कि भगवच्चेतनाके अवरोहण तथा मानव-प्रकृतिके दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरकी भी संभावनाका साक्षात्कार करता है। मनुष्यके अंदर गुप्त रूपमें विद्यमान देवत्वकी अनुभूति इसकी सर्वोच्च शक्ति रही है। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो यूरोपीय धार्मिक सुधारक अथवा उसका अनुकरण करनेवालोंके विचारोंमें या उनकी भाषामें ठीक तरहसे समझमें नहीं आ सकती। यह वह चीज नहीं है जिसकी कल्पना शुद्धताका अत्यधिक ध्यान रखनेवाला बुद्धिवादी या अध्यात्मवादी करता है और उस अत्यंत उतावली कल्पनाके द्वारा अपने प्रयत्नमें असफल रहता है। इसकी निर्देशक दृष्टि एक ऐसे सत्यकी ओर अंगुलि-निर्देश कर रही है जो मानव-मनकी पहुंचसे परे है और यदि वह उसकी सत्ताके अंगोंमें जरा भी चरितार्थ हो जाय तो वह मानव-जीवनको एक दिव्य अति-जीवनमें परिणत कर देगा। और जबतक आध्यात्मिक विकासकी यह तीसरी विशालतम गति अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर लेती तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय सभ्यता अपना मिशन पूरा कर चुकी है, अपना अंतिम संदेश दे चुकी है, और मनुष्यके जीवन तथा आत्माके बीच मध्यस्थता करनेके अपने कार्यको सफलतापूर्वक संपन्न करके कर्तव्यभारसे मुक्त हो गयी है।

अतीतमें भारतीय धर्मने मानवजीवनके साथ जो व्यवहार किया उसे उसके विकासकी अवस्थाओंके अनुसार जांचना होगा; उसकी प्रगतिके प्रत्येक युगपर उसके अपने ही आधारके अनुसार विचार करना होगा। परंतु सभी युगोंमें दो अनुभवोंपर वह समान रूपसे दृढ़ रहा जिन्होंने उसकी महान् व्यावहारिक बुद्धि एवं सूक्ष्म आध्यात्मिक कुशलता प्रदर्शित की। सर्वप्रथम, उसने देखा कि सभी व्यक्ति या संपूर्ण मानव-समाज आत्माको एकाएक,

आसानीसे और तुरत ही नहीं प्राप्त कर सकता; आम तौरसे या कम-से-कम पहले-पहल यह प्राप्ति एक क्रमिक अनुशीलन, शिक्षण एवं विकासके द्वारा ही साधित हो सकती है। प्राकृत जीवनको विस्तारित करना होगा और इसके साथ ही उसके सभी उद्देश्योंको उन्नत करना होगा; उच्चतर बौद्धिक, आंतरात्मिक और नैतिक शक्तियोंको उसे (जीवनको) अधिकाधिक अपने अधिकारमें लाना होगा और इस प्रकार उसे तैयार करके एक उच्चतर आध्यात्मिक विधानकी ओर ले जाना होगा। पर इसके साथ ही भारतीय धार्मिक मननने यह भी देखा कि यदि उसके महत्तर लक्ष्यको सफल होना हो तथा उसकी संस्कृतिके स्वरूपको अलंघ्य बनना हो तो उसमें सर्वत्र तथा प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उद्देश्यपर किसी-न-किसी प्रकारका आग्रह रहना ही चाहिये। और जनसाधारणके लिये इसका अर्थ है सदैव किसी-न-किसी प्रकारका धार्मिक प्रभाव। इस प्रकार व्यापक रूपसे बल देना आवश्यक ही था ताकि आरंभसे ही सार्वभौम आंतरिक सत्यकी कोई शक्ति, हमारी सत्ताके वास्तविक सत्यसे निकलनेवाली कोई किरण मनुष्यके प्राकृत जीवनपर अपनी ज्योति या, कमसे-कम, अपना गोचर प्रभाव — सूक्ष्म ही सही — डाल सके। मनुष्य-जीवनको, एक प्रकारसे नैसर्गिक रूपमें, पर साथ ही बुद्धिमत्तापूर्ण देखरेख और कौशलके द्वारा, अपने गंभीरतर आध्यात्मिक अर्थमें फूलने-फलनेके लिये प्रेरित करना होगा। भारतीय संस्कृतिने दो सुसंबद्ध, एक-दूसरेको प्रोत्साहित करनेवाली और एक-दूसरेके साथ सदा गुंथी हुई क्रियाओंके द्वारा अपना काम किया है, जिसका सिद्धांत उक्त दो अनुभवोंमें पाया जाता है। प्रथम, इसने समाजमें व्यक्तिके जीवनको जीवन-कर्मोंकी एक स्वाभाविक शृंखलाके द्वारा ऊपरकी ओर ले जाने तथा विस्तृत करनेका प्रयास किया है जिससे कि अंतमें वह आध्यात्मिक स्तरोंके लिये तैयार हो जाय। परंतु साथ ही इसने उस उच्चतम लक्ष्यको प्रत्येक अवस्थामें मनके सम्मुख रखने और मनुष्यके आंतर तथा बाह्य जीवनकी प्रत्येक घटना और क्रियापर उसका प्रभाव डालनेकी भी चेष्टा की है।

अपने प्रथम लक्ष्यकी योजनामें यह मानवजातिकी अन्य देशोंमें पायी जानेवाली उच्चतम प्राचीन संस्कृतिके अधिक निकट पहुंच गयी थी, पर एक ऐसे रूपसे तथा ऐसे उद्देश्यके साथ जो पूर्ण रूपसे इसके अपने थे। इसकी प्रणालीका ढांचा एक त्रिविध चौपदीसे गठित था। इसका प्रथम वृत्त जीवनके चार प्रकारके लक्ष्योंका समन्वय और क्रम था, प्राणिक कामना और सुखोपभोग, वैयक्तिक और सामाजिक हित, नैतिक अधिकार तथा नियम, और आध्यात्मिक मोक्ष। इसका दूसरा वृत्त था समाजकी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो

सावधानीके साथ क्रमबद्ध की गयी थी तथा अपने निर्दिष्ट आर्थिक कर्तव्योंसे संपन्न थी और गंभीरतर सांस्कृतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थ रखती थी। इसका तीसरा, अत्यंत मौलिक वृत्त और, सचमुच ही, इसके सर्वसमावेशी जीवनादर्शोंमें अद्वितीय आदर्श था—जीवनकी आनुक्रमिक अवस्थाओंका चतुर्विध स्तर-विभाग एवं परंपरा, विद्यार्थी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और स्वतंत्र समाजातीत मनुष्य। यह ढांचा, व्यापक और उदात्त जीवन-शिक्षणकी ये प्रणालियां इस सभ्यताके परवर्ती वैदिक एवं वीरत्वपूर्ण युगमें अपनी शुद्ध अवस्थामें, कठोरता और सुविधाके अपने महान् स्वाभाविक संतुलनके साथ और अपने सुंदर-सफल रूपमें बराबर जीवित रहीं: इसके बाद ये धीमे-धीमे ढहने लगीं अथवा अपनी पूर्णता एवं क्रमबद्धता खो बैठीं। परंतु परंपरा एवं मूल विचार, अपनी शक्तिके किसी व्यापक प्रभाव तथा अपनी प्रणालियोंके किसी रूपके साथ, सांस्कृतिक ओजस्विताके संपूर्ण युगमें स्थायी रूपसे बना रहा। अपने सच्चे रूप और भावसे वह चाहे कितना भी दूर क्यों न हट गया हो, क्षत-विक्षत और जटिल होकर चाहे कितना ही निकृष्ट क्यों न हो गया हो, फिर भी उसकी प्रेरणा और शक्तिकी कुछ उपस्थिति सदा ही बनी रही। केवल ह्रासके समय ही हम मंथर पतन, लोकाचारोंका एक हीन और अस्तव्यस्त समूह देखते हैं जो अभीतक प्राचीन और उदात्त आर्य प्रणालीका प्रतिनिधित्व करनेका प्रयास करता है, पर चमक-दमक और सौंदर्यके स्मृति-चिह्नोंके होते हुए भी, आध्यात्मिक संकेतके जीवित रहते हुए भी और प्राचीन उच्च शिक्षणका अवशेष बचा रहनेपर भी वह एक घिसी-पिटी वस्तुसे या फिर अस्तव्यस्त ध्वंसावशेषोंके ढेरसे कोई अच्छी चीज नहीं है। किंतु इस पतनकी स्थितिमें भी प्राचीन सौंदर्य, आकर्षण और जीवन-रक्षाकी सामर्थ्यके विलक्षण अवशेषको सुरक्षित रखनेके लिये मूल गुण काफी मात्रामें बचा हुआ है।

परंतु इस संस्कृतिकी एक अन्य एवं अधिक सीधी आध्यात्मिक क्रियाको जो मोड़ दिया गया है वह और भी अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि, उसीने सदा जीवित रहकर भारतीय मन और जीवनको स्थायी रूपसे रंगे रखा है। रूपोंके प्रत्येक परिवर्तनके पीछे वह सदा ही ज्योंका त्यों बना रहा है और सभ्यताके सभी युगोंमें उसने अपनी प्रभावशालिताको फिर-फिर ताजा किया है और अपने क्षेत्रपर अधिकार बनाये रखा है। सांस्कृतिक प्रयासके इस दूसरे पहलूने सारेके सारे जीवनको धार्मिक सांचेमें ढालनेके प्रयत्नका रूप ग्रहण किया; इसने ऐसे-ऐसे साधनों और उपायोंको बढ़ाया जो अपने आग्रहपूर्ण सुझाव और सुयोग तथा अपने बड़े भारी प्रभावके द्वारा संपूर्ण

जीवनपर ईश्वरोन्मुख प्रवृत्तिकी छाप लगानेमें सहायक हों। भारतीय संस्कृति जीवन-संबंधी एक धार्मिक विचारपर प्रतिष्ठित थी और व्यक्ति तथा समाज दोनोंने ही प्रतिक्षण इसके प्रभावामृतका पान किया। प्रशिक्षण और शिक्षा-पद्धतिके द्वारा उनपर इसकी छाप लगायी जाती थी: जीवनका संपूर्ण वायुमंडल, समाजकी समस्त परिस्थितियां इससे ओतप्रोत थीं; यह संस्कृतिके संपूर्ण मौलिक विधि-विधान और क्रमबद्ध स्वरूपमें अपनी शक्ति फूंकता था। बराबर ही आध्यात्मिक जीवनके अंतरंग विचार और उसकी प्रधानताको अन्य सबसे अधिक ऊंचे एक आदर्शके रूपमें अनुभव किया जाता था; इस विचारका प्रबल प्रभाव सभी जगह व्याप्त था कि यह जगत् भागवत शक्तियोंकी अभिव्यक्ति है तथा भगवान्की उपस्थितिसे परिपूर्ण एक व्यापार है। स्वयं मनुष्यको कोई निरा तर्कशील प्राणी नहीं बल्कि एक अंतरात्मा माना जाता था जिसका ईश्वर तथा दिव्य वैश्व-शक्तियोंके साथ अटूट संबंध बना रहता है। अंतरात्माके अविच्छिन्न अस्तित्वको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें होनेवाला चक्राकार या ऊर्ध्वमुख विकास माना जाता था; मानव-जीवन एक ऐसे विकासका शिखर था जिसकी समाप्ति चिन्मय आत्मामें होती थी, इस जीवनकी प्रत्येक अवस्थाको विकासात्मक यात्राका एक-एक पग माना जाता था। मनुष्यका हरएक काम भावी जन्मोंमें या भौतिक जीवनसे परेके लोकोंमें मिलनेवाले अपने फलके लिये महत्त्व रखता था।

परंतु भारतीय धर्म इन विचारोंके सामान्य दबाव, अर्थात् शिक्षण, वातावरण तथा संस्कृतिपर पड़नेवाली छापसे ही संतुष्ट नहीं हो गया। उसने मनपर प्रतिक्षण और प्रत्येक ब्योरेमें धार्मिक प्रभाव अंकित करनेका अनवरत प्रयत्न किया। और एक सजीव एवं क्रियात्मक सामंजस्य-संपादनके द्वारा अधिक प्रभावशाली ढंगसे यह कार्य करनेके लिये उसने किसी व्यक्तिसे उसकी शक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक या बहुत कम मांग नहीं की बल्कि मनुष्यकी विभिन्न स्वाभाविक क्षमता, अर्थात् अधिकार, के संबंधमें अपने अनुभवको अपना मार्गदर्शक विचार बनाया। उसने अपनी प्रणालीमें ऐसे साधन प्रस्तुत किये जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य, वह चाहे उच्च हो या नीच, ज्ञानी हो या अज्ञानी, असामान्य हो या सामान्य, अपनी प्रकृति और विकासावस्थाके उपयुक्त तरीकेसे पुकार, दबाव एवं प्रभावको अनुभव कर सके। जो धर्म प्रत्येक मनुष्यपर उसकी प्रकृतिकी संभावनाओंकी कुछ भी परवा न कर एक ही कट्टर एवं अपरिवर्तनीय नियमको लाद देते हैं उनकी भूलसे बचते हुए उसने उसे धीमे-धीमे ऊपरकी ओर उठा ले जाने तथा धार्मिक

एवं आध्यात्मिक अनुभवमें दृढ़तापूर्वक विकसित होनेके लिये सहायता देनेका यत्न किया। मानव-प्रकृतिके प्रत्येक भाग तथा उसकी प्रत्येक विशिष्ट कार्य-धाराको इस प्रणालीमें स्थान दिया गया था; प्रत्येक भाग एवं कार्य-धारा आध्यात्मिक विचार और धार्मिक प्रभावसे उपयुक्त रूपमें परिवेष्टित थी, प्रत्येकको ऐसे सोपान प्रदान किये गये थे जिनके द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक संभावना और आध्यात्मिक अर्थको प्राप्त हो सके। मानव-प्रकृतिकी प्रत्येक विकसनशील शक्तिके शिखरोंपर जीवनके उच्चतम आध्यात्मिक तात्पर्यकी स्थापना की गयी थी। बुद्धिको परम ज्ञानकी ओर आहूत किया गया था, ऊर्जस्वी, सक्रिय और सृजनशील शक्तियोंको असीम और विश्वव्यापी संकल्प-की ओर उन्मुख रहने तथा उसके साथ एक होनेके लिये संकेत दिया गया था; हृदय और इंद्रियोंको दिव्य प्रेम, हर्ष और सौंदर्यके संपर्कमें लाया गया था। परंतु यह उच्चतम अर्थ सभी जगह, जीवन-यापनकी संपूर्ण प्रणालीके पीछे, यहांतक कि उसकी बारीकियोंके पीछे भी संकेतों या प्रतीकोंके रूपमें भी रखा गया था, जिससे कि इसका प्रभाव किसी-न-किसी मात्रामें जीवनपर पड़े, उसपर अधिकाधिक फैलता चला जाय और अंतमें जीवनकी बागडोर पूर्ण रूपसे अपने हाथमें ले ले। यही था लक्ष्य और, यदि हम अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताओं और इस प्रयासकी कठिनाईका विचार करें तो हम कह सकते हैं कि इसे असाधारण मात्रामें सफलता प्राप्त हुई। कुछ अंशमें यह सच ही कहा गया है कि भारतवासियोंके लिये सारेका सारा जीवन ही धर्म है। भारतीय जीवनके आदर्शके प्रति सच्ची होती हुई यह बात कुछ हदतक और किसी अर्थमें उसके कार्य और अभ्यासके बारेमें भी सत्य है। किसी भी भारतीयको उसके आध्यात्मिक अस्तित्वका स्मरण कराये बिना उसके आंतर या बाह्य जीवनमें कुछ भी नहीं किया जा सकता। सभी जगह वह किसी ऐसी वस्तुकी समीपता अनुभव करता था या कम-से-कम उसका चिह्न देखता था जो उसके प्राकृत जीवनसे, वर्तमान मुहूर्त्तसे, उसके व्यक्तिगत अहंसे परे है, उसकी प्राणिक और भौतिक प्रकृतिकी रुचियों और आवश्यकताओंसे भिन्न है। उस वस्तुपर दिया गया यह बल उसके विचार, कर्म और अनुभूतिपर अपना रंग और प्रभाव डालता था; यह आध्यात्मिक पुकारके प्रति उस सूक्ष्मतर संवेदनशीलता तथा आध्यात्मिक प्रयासकी ओर मुड़नेके लिये उस महत्तर तत्परताको जन्म देता था जो आज भी भारतीय स्वभावके विशेष लक्षण हैं। यही वह तत्परता एवं संवेदनशीलता है जो, जब हम भारत-जातिकी स्वभावगत आध्यात्मिकताकी चर्चा करते हैं तब हमें उचित ठहराती है।

यदि हम भारतीय धर्मके अनूठे स्वरूपको समझना चाहें तो हमें अधिकारकी प्राचीन धारणापर ध्यानपूर्वक विचार करना होगा। अन्य अधिकतर धर्म-प्रणालियोंमें हम एक उदात्त आध्यात्मिक पुकार और एक कठिन एवं कठोर नैतिक मानदंड पाते हैं जो मनुष्यकी अर्द्धविकसित, दोषयुक्त एवं अपूर्ण प्रकृतिकी संभावनाओंसे बहुत ही परेका होता है। इस मानदंड एवं इस पुकारको इस प्रकार उद्‌घोषित किया जाता है मानों ये सभीके लिये अपरिहार्य हों; किंतु यह स्पष्ट ही ह कि बहुत ही कम लोग इनका पर्याप्त रूपमें प्रत्युत्तर दे सकते हैं। जीवनका संपूर्ण चित्र खड़ा करनेके लिये हमारी दृष्टिके सम्मुख दो छोर उपस्थित किये जाते हैं जो एक-दूसरेसे स्पष्टतया भिन्न होते हैं; संत और संसारी, धार्मिक और अधार्मिक, भले और बुरे, पुण्यात्मा और पापी, स्वीकृत आत्माएं और परित्यक्त आत्माएं, सज्जन और दुर्जन, रक्षित और दंडित, आस्तिक और नास्तिक—ये दो श्रेणियां हैं जो निरंतर हमारे सामने उपस्थित की जाती हैं। इन दोनोंके बीचमें है बस केवल अस्तव्यस्तता, रस्साकशी एवं अनिश्चित संतुलन। यही स्थूल और संक्षिप्त वर्गीकरण नित्य स्वर्ग और नित्य नरकरूपी क्रिश्चियन धर्मप्रणालीका मूल आधार है; अच्छेसे अच्छे रूपमें भी, कैथलिक धर्म दयापूर्वक नौ-दशमांशसे भी अधिक मानवजातिके लिये उस सुखद और इस भीषण विकल्पके बीच अधरमें झूलनेवाला एक अनिश्चित अवसर, एक दुःखदायी पापमोचनालयकी संभावना उपस्थित करता है। भारतीय धर्मने अपने शिखरोंपर एक और भी उत्तुंग आध्यात्मिक पुकार स्थापित की, आचार-व्यवहारका एक और भी पूर्ण एवं अखंड मानदंड स्थापित किया; परंतु उसने इस सरसरी और विचारशून्य अज्ञानके साथ अपना कार्य करनेका प्रयत्न नहीं किया। भारतीय मनके लिये सभी जीव भगवान्‌के अंश हैं, विकासपरायण अंतरात्माएं, हैं और अंतमें आत्माके भीतर संसारसे छुटकारा और मोक्ष प्राप्त करना निश्चित है। ज्यों-ज्यों मनुष्योंमें विद्यमान 'शुभ'-तत्त्व विकसित होता जायगा या, अधिक ठीक रूपमें, ज्यों-ज्यों उनका अंतरस्थित देवत्व अपने-आपको प्राप्त करता और सचेतन होता जायगा त्यों-त्यों सब लोग अपनी उच्चतम सत्ताका चरम स्पर्श और उसकी पुकार अवश्य अनुभव करेंगे और उस पुकारके द्वारा सनातन एवं भगवान्‌की ओर आकर्षण भी। परंतु वस्तुतः जीवनमें मनुष्य-मनुष्यके बीच अनंत भेद हैं: कुछ लोग तो आंतरिक रूपसे अधिक विकसित हैं और दूसरे कम परिपक्व हैं, अधिकतर नहीं तो बहुत-से लोग अध्यात्म-दृष्टिसे शिशु हैं जो बड़े कदम उठाने और कठिन प्रयत्न करनेके लिये अयोग्य हैं। प्रत्येकके साथ उसकी

प्रकृति और उसकी आत्मिक उच्चताके अनुसार बरताव करनेकी आवश्यकता होती है। पर उन तीन मुख्य श्रेणियोंमें एक सामान्य भेद किया जा सकता है जो आध्यात्मिक पुकार या धार्मिक प्रभाव या आवेगकी ओर अपनी उन्मुखतामें एक-दूसरेसे भिन्न हैं। इस भेदका अर्थ विकसित होती हुई मानव-चेतनाकी तीन अवस्थाओंका क्रम ही है। पहली श्रेणीका मनुष्य स्थूल, अनगढ़, अभीतक बहिर्मुख और अभीतक प्राण-प्रधान एवं देहप्रधान मनवाला होता है और उसे अपने अज्ञानके उपयुक्त उपायोंसे ही परिचालित किया जा सकता है। दूसरी श्रेणीका मनुष्य अत्यधिक प्रबल एवं गभीर चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवके योग्य होता है और मनुष्यत्वका एक ऐसा परिपक्वतर रूप प्रस्तुत करता है जो अधिक सचेतन बुद्धि और विस्तृततर प्राणिक या सौंदर्योन्मुख उद्घाटनसे तथा प्रकृतिकी एक बलवत्तर नैतिक शक्तिसे संपन्न होता है। तीसरी श्रेणीका, अर्थात् सर्वाधिक परिपक्व एवं विकसित मनुष्य आध्यात्मिक ऊंचाइयोंतक पहुंचनेके लिये तैयार होता है, परमेश्वरके और अपनी सत्ताके उच्चात्युच्च चरम सत्यको ग्रहण करने या उस ओर आरोहण करने तथा दिव्य अनुभवके शिखरोंपर पग रखनेके योग्य होता है।[1]

इनमेंसे प्रथम प्रकार या स्तरकी मांगको पूरी करनेके लिये ही भारतीय धर्मने संकेतपूर्ण संस्कार-समारोह और प्रभावशाली क्रियाकांड तथा कठोर बाह्य नियम एवं आदेशके उस संघातको तथा आकर्षक एवं विवशकारी प्रतीकके उस समस्त समारोहको जन्म दिया था जिसके द्वारा यह धर्म-प्रणाली इतने समृद्ध रूपसे संपन्न या विपुल रूपसे विभूषित है। ये संस्कार आदि, अधिकांशमें, निर्माणकारी और सांकेतिक वस्तुएं हैं जो मनपर उसकी सचेतन और अवचेतन अवस्थामें क्रिया करती हैं और उसे इन वस्तुओंके पीछे अवस्थित महत्तर शाश्वत वस्तुओंका मर्म समझनेके लिये तैयार करती हैं।

---

[1] तंत्रके अनुसार यह भेद इस प्रकार है, पशुवृत्ति मनुष्य, वीर मनुष्य और दिव्य मनुष्य, पशु, वीर, देव। अथवा हम इस भेद-क्रमका वर्णन तीन गुणोंके अनुसार भी कर सकते हैं,—पहला, तामसिक या राजस-तामसिक मनुष्य जो अज्ञ और जड़ होता है या फिर केवल एक क्षुद्र प्रकाशमें ही छोटी-छोटी चालक शक्तियोंसे प्रेरित होता है; दूसरा, राजसिक या सात्त्विक-राजसिक मनुष्य जो जागरित मन और संकल्पद्वारा आत्मविकास या आत्मख्यापनके लिये संघर्ष करता है; और तीसरा, सात्त्विक मनुष्य जो अपने मन, हृदय और इच्छाशक्तिमें प्रकाशकी ओर खुला होता है, सीढ़ीके अंतिम सोपानपर खड़ा हुआ उसे पार करनेके योग्य होता है।

और इस श्रेणीके लिये ही, इसके प्राणिक मन और इच्छाशक्तिके लिये ही, धर्मका वह सब भाग अभिप्रेत है जो मनुष्यको उसकी कामनाओं और स्वार्थोंकी उचित — न्याय और नियम, अर्थात् धर्मके अधीन होनेके कारण उचित — पूर्तिके हित भागवत शक्ति या दैवी शक्तियोंकी ओर मुड़नेके लिये आदेश देता है। वैदिक कालमें बाह्य आनुष्ठानिक यज्ञ और बादके युगमें वे सभी धार्मिक आचार और विचार जो मंदिरकी पूजाकी रीतियों और प्रतिमाओं तथा नित्य होनेवाले पर्व-उत्सव और संस्कार, एवं बाह्य आराधनाके दैनिक कर्मके चारों ओर प्रत्यक्ष रूपमें जमा हो गये थे, इस श्रेणी या इस आत्मिक स्थितिकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिये ही अभिप्रेत थे। इनमेंसे बहुत-सी चीजें विकसित मनवाले व्यक्तिको अज्ञानपूर्ण एवं अर्ध-प्रबुद्ध धर्मभावसे संबद्ध प्रतीत हो सकती हैं; परंतु इनके अंदर भी इनका अपना एक गुप्त सत्य निहित है तथा इनका अपना आंतरात्मिक मूल्य भी है और जड़ प्रकृतिके अज्ञानमें ढकी हुई अंतरात्माके विकास और कठिन जागरणके लिये ये इस अवस्थामें अनिवार्य भी हैं।

बीचका स्तर, दूसरा प्रकार भी इन्हीं चीजोंसे आरंभ करता है, पर वह इनकी तहमें भी जाता है; वह उन आंतरात्मिक सत्यों, बौद्धिक परिकल्पनाओं, सौंदर्यबोधात्मक संकेतों, नैतिक मूल्यों तथा बीचमें आनेवाली अन्य सभी दिशाओंको अधिक स्पष्ट और सचेतन रूपसे समझनेमें समर्थ होता है जिन्हें भारतीय धर्मने बड़ी सावधानीके साथ अपने प्रतीकोंके पीछे रखा था। ये बीचके सत्य इस धर्मप्रणालीके बाह्य आचारोंमें जीवनका संचार करते हैं और जो लोग इन्हें पकड़ पाते हैं वे इन मानसिक संकेतोंके द्वारा मनके परेकी चीजोंकी ओर जा सकते हैं तथा आत्माके गंभीरतर सत्योंके निकट पहुंच सकते हैं। क्योंकि, इस अवस्थामें कोई ऐसी चीज जाग चुकी होती है जो भीतर अधिक गहरे चैत्य-धार्मिक अनुभवकी ओर जा सकती है। मन, हृदय और इच्छाशक्ति आत्मा और जीवनके बीचके संबंधोंकी कठिनाइयोंका सामना करनेके लिये कुछ सामर्थ्य प्राप्त कर चुके होते हैं, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिक प्रकृतिको अधिक प्रकाशपूर्ण या अधिक आभ्यंतरिक रूपमे तृप्त करने और ऊपर उनकी अपनी उच्चतम ऊंचाइयोंकी ओर ले जानेके लिये कुछ आवेग भी वे आयत्त कर चुकते हैं; अब मनुष्य मन और अंतरात्माको आध्यात्मिक चेतनाकी ओर जाने तथा आध्यात्मिक जीवनके प्रति खुलनेके लिये शिक्षित करना आरंभ कर सकता है। मानवताकी यह ऊपर उठनेवाली श्रेणी अपने उपयोगके लिये दार्शनिक, चैत्य-आध्यात्मिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक और भावमय धार्मिक

अन्वेषणके उस समस्त विशाल एवं समृद्ध मध्य स्तरकी मांग करती है जो भारतीय संस्कृतिके ऐश्वर्यका अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी अवस्थामें विचारकोंके दर्शन-शास्त्रों, सूक्ष्म प्रकाशप्रद तर्क-वितर्कों और अनु-संधानोंका उदय होता है; इसीमें भक्तिकी अधिक उदात्त या अधिक प्रगाढ़ भूमिकाएं होती हैं, यहीं 'धर्म'के उच्चतर, बृहत्तर या कठोरतर आदर्शोंकी प्रस्थापना की जाती है; यहीं सनातन एवं अनंतके आंतरात्मिक निर्देश एवं प्रथम सुनिश्चित प्रेरणाएं फूट निकलती हैं जो अपनी पुकार और आश्वासनके द्वारा मनुष्योंको योगाभ्यासकी ओर आकृष्ट करती हैं।

परंतु ये चीजें महान् होनेपर भी अंतिम या सर्वोच्च नहीं थीं : ये आध्यात्मिक सत्यके ज्योतिर्मय वैभवोंकी ओर उद्घाटन थीं, उनकी ओर आरोहणके सोपान थीं, परंतु उस सत्यकी साधनाको मनुष्यकी तीसरी एवं सबसे महान् श्रेणी, आध्यात्मिक विकासकी तीसरी उच्चतम अवस्थाके लिये प्रस्तुत रखा जाता था और उसकी प्राप्तिके साधन भी उसे प्रदान किये जाते थे। आध्यात्मिक ज्ञानकी पूर्ण ज्योति जो उस समय प्रकट होती है जब वह ज्ञान आवरण और समझौतेकी अवस्थासे बाहर निकलकर समस्त प्रतीकों और मध्यवर्ती अर्थोंसे परे चला जाता है, पूर्ण और सार्वभौम दिव्य प्रेम, सर्व-सुन्दरकी सुन्दरता, सर्व भूतोंके साथ एकताका श्रेष्ठतम धर्म, विश्व-जनीन करुणा और हितैषिता जो आत्माकी पूर्ण पवित्रतामें प्रशांत और मधुर हों, चैत्य सत्ताका आध्यात्मिक हर्षावेशमें हिलोरें खाना, — ये दिव्यतम वस्तुएं देवत्वके लिये तैयार हुए मनुष्यकी विरासत थीं और इनका मार्ग और आह्वान ही भारतीय धर्म और योगके परमोच्च अर्थ थे। इनके द्वारा वह अपने पूर्ण आध्यात्मिक विकासके फल अर्थात् आत्मा एवं अध्यात्मसत्ताके साथ तादात्म्य, भगवान्में या उनके साथ निवास, अपनी सत्ताका दिव्य विधान, आध्यात्मिक विश्वात्मभाव, अंतर्मिलन और परात्पर स्थिति प्राप्त करता था।

परंतु भेदोंकी रेखाएं ऐसी होती हैं जिन्हें मानव-प्रकृतिकी अनंत जटिल-तामें सदा ही पार किया जा सकता है, और वास्तवमें वहां कोई ऐसा तीव्र भेद नहीं था जिसे दूर न किया जा सके, वह तो केवल एक क्रम था, क्योंकि ये तीनों शक्तियां सभी मनुष्योंके अंदर अपने प्रकृत या संभाव्य रूपमें एक साथ ही रहती हैं। मध्यवर्ती और उच्चतम अर्थ दोनों ही निकट और उपस्थित थे तथा संपूर्ण प्रणालीमें व्यापे हुए थे, और कुछ प्रतिबंधोंके होते हुए भी उच्चतम स्थितितक पहुंचनेके मार्ग किसी भी मनुष्यके लिये पूर्ण रूपसे बंद नहीं किये गये थे : व्यवहारमें ये प्रतिबंध टूट जाते थे या फिर जो मनुष्य पुकार अनुभव करता था उसके निकलनेके लिये मार्ग छोड़ देते

थे; स्वयं पुकार ही चुनावका चिह्न होती थी। उसे केवल मार्ग और गुरुकी खोज करनी होती थी। परंतु मार्ग सीधा होनेपर भी अधिकार, अर्थात् विभिन्न क्षमता, और नानाविध प्रकृति, अर्थात् स्वभावका सिद्धांत सूक्ष्म रूपोंमें स्वीकार किया जाता था जिनका वर्णन करना मेरे वर्तमान उद्देश्यके बाहर है। उदाहरणके तौरपर हम भारतके इष्ट-देवतासंबंधी अर्थ-पूर्ण विचारको ले सकते हैं; इष्ट देवताका मतलब है भगवान्‌का कोई विशेष नाम, रूप एवं भावना जिसे प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिमें विद्यमान आकर्षण, और अपनी आध्यात्मिक बुद्धिकी सामर्थ्यके अनुसार अपने पूजन और अंतर्-मिलनके लिये चुन सकता और पानेकी चेष्टा कर सकता है। और भग-वान्‌के ऐसे रूपोंमेंसे प्रत्येक रूप उपासकके लिये अपने बाह्य प्रारंभिक संपर्क और संकेत रखता है, उसकी बुद्धिके प्रति तथा उसकी प्रकृतिकी आंतरात्मिक, सौंदर्यग्राही और भाविक शक्तिके प्रति अपना एक आकर्षण और इसके साथ ही अपना एक सर्वोच्च आध्यात्मिक अर्थ रखता है जो देवाधिदेवके किसी एक सत्यके द्वारा आध्यात्मिकताके सारतत्त्वके भीतर ले जाता है। हम इस बातको भी ध्यानमें रख सकते हैं कि योगकी साधनामें शिष्यको उसकी प्रकृतिके द्वारा तथा उसकी क्षमताके अनुसार ही ले चलना होता है और आध्यात्मिक गुरु एवं मार्गदर्शकसे यह आशा की जाती है कि वह अपनी सहायता एवं मार्ग-निर्देश देते समय आवश्यक स्तरोंको और वैयक्तिक आवश्यकता तथा सामर्थ्यको देखेगा और उन्हें ध्यानमें रखेगा। इस विशाल और नमनशील प्रणालीकी वास्तविक कार्यशैलीकी अनेक वस्तुओंपर आपत्ति की जा सकती है और उनपर मैं उस समय कुछ दृष्टिपात करूंगा जब मुझे इस संस्कृतिकी दुर्बलताओं या इसके निंदात्मक पक्षपर विचार करना होगा जिसपर प्रतिपक्षी आलोचक भ्रामक अतिरंजनके साथ अपने वार करता है। परंतु इस प्रणालीका मूल सिद्धांत और इसके प्रयोगकी मुख्य रूप-रेखाएं ऐसी विलक्षण बुद्धिमत्ता, मानव-प्रकृतिके ऐसे ज्ञान तथा सतर्क निरीक्षणका और आत्मिक विषयोंमें पैठनेवाली ऐसी असंदिग्ध अंतर्दृष्टिका मूर्त्त रूप हैं जिसपर ऐसा कोई भी व्यक्ति संदेह नहीं कर सकता जिसने इन कठिन विषयोंपर गहराईके साथ और दुराग्रहके बिना विचार किया है अथवा हमारी प्रकृतिकी उन बाधाओं और संभाव्यताओंका घनिष्ठ अनुभव प्राप्त किया है जो गुप्त आध्यात्मिक सद्वस्तुकी ओर जाते समय इसके मार्गमें प्रकट होती हैं।

धार्मिक विकास और आध्यात्मिक उत्क्रांतिकी इस सावधानतया क्रमबद्ध एवं जटिल प्रणालीको एक सर्वत्र फैलनेवाले घनिष्ठ संबंधकी प्रक्रियाके द्वारा

मनुष्यके जीवन तथा उसकी क्षमताओंकी उस सामान्य अभिवृद्धिके साथ जोड़ दिया गया था जिसे ऐसी प्रत्येक सभ्यताका जो अपने नामकी अधिकारिणी है, प्रथम ध्येय होना चहिये। मानव-विकासके इस कार्यका अत्यंत कोमल एवं कठिन भाग मनुष्यकी चिंतनशील सत्ता, अर्थात् उसके तर्कशील एवं ज्ञानात्मक मनसे संबंध रखता है। किसी भी प्राचीन संस्कृतिने, जिसकी हमें जानकारी है, यहां तक कि यूनानी सभ्यताने भी नहीं, इसे भारतीय संस्कृतिकी अपेक्षा अधिक महत्त्व नही दिया और न इसके उत्कर्षके लिये उससे अधिक प्रयत्न ही किया। प्राचीन ऋषिका काम केवल परमेश्वरको जानना ही नहीं बल्कि जगत् और जीवनको जानना तथा ज्ञानके द्वारा इन्हें एक ऐसी सुविज्ञात एवं आयत्त वस्तु बना देना भी था जिसके साथ मनुष्यकी तर्कबुद्धि और इच्छाशक्ति एक सुनिश्चित रूपरेखाके अनुसार और एक ज्ञानपूर्ण विधि एवं व्यवस्थाके सुरक्षित आधारपर बरताव कर सकें। इस प्रयासका परिपक्व फल था शास्त्र। आजकल जब हम शास्त्रका नामोल्लेख करते हैं तो प्रायः ही हमारा अभिप्राय विधि-विधानोंकी उस मध्ययुगीन धर्म्य-सामाजिक प्रणालीसे ही होता है जिसे पौराणिक कथाओंके द्वारा मनु, पराशर तथा अन्य वैदिक ऋषियोंसे संबद्ध बतलाकर अत्यंत पवित्र रूप दे दिया जाता है। परंतु प्राचीनतर भारतमें 'शास्त्र' शब्दका अर्थ था कोई भी प्रणालीबद्ध शिक्षा एवं विज्ञान; जीवनके प्रत्येक विभाग, कार्य-कलापकी प्रत्येक शाखा तथा ज्ञानके प्रत्येक विषयका अपना विज्ञान या शास्त्र होता था। इस प्रयासका उद्देश्य यह था कि इनमेंसे प्रत्येकको एक ऐसी सैद्धांतिक और व्यावहारिक परिपाटीमें परिणत कर दिया जाय जो पुंखानुपुंख निरीक्षण, यथार्थ सामान्यीकरण, पूर्ण अनुभव और अंतर्ज्ञानमूलक, तार्किक एवं परीक्षणात्मक विश्लेषण और संश्लेषणपर आधारित हो जिससे कि मनुष्य सदा ही इन्हें जीवनके लिये समुचित उपयोगिताके साथ जान सके और फिर यथार्थ ज्ञान-मूलक सुनिश्चितताके साथ कार्य भी कर सके। छोटी-से छोटी और बड़ीसे बड़ी चीजोंकी छानबीन एक जैसी सतर्कता और सावधानताके साथ करके प्रत्येककी अपनी कला एवं विद्या प्रस्तुत की जाती थी। यहांतक कि उच्चतम अध्यात्म ज्ञानको भी, जब कभी उसका प्रतिपादन उपनिषदोंकी भांति अंतर्ज्ञानात्मक अनुभव और सत्य-प्रकाशक ज्ञानकी राशिके रूपमें नहीं वरन् बुद्धिसे समझनेके लिये एक नियम और क्रमके साथ किया जाता था, शास्त्रके नामसे ही पुकारा जाता था,—और इसी अर्थमें गीता अपनी गहन आध्यात्मिक शिक्षाको अत्यंत गुह्य विज्ञान, गुह्यतमं शास्त्रम् का नाम देनेमें समर्थ हुई है। इस उच्च वैज्ञानिक एवं दार्शनिक भावनाको

प्राचीन भारतीय संस्कृतिने अपनी सभी कार्य-प्रवृत्तियोंमें संचारित किया था। कोई भी भारतीय धर्म अपनी प्रारंभिक अभ्यासकी बाह्य प्रणाली, अपने आधारभूत दर्शन और अपने योग या आंतरिक साधना-पद्धति, या अध्यात्म-जीवन यापन करनेकी कलाके बिना पूर्ण नहीं होता; उसके अंदर जो कुछ प्रथम दृष्टिमें अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है उसका भी अधिकांश अपना दार्शनिक रूप और अर्थ रखता है। इसी पूर्ण बोध एवं दार्शनिक स्वरूपने भारतमें धर्मको इसकी स्थायी सुरक्षा और अमित जीवन-शक्ति प्रदान की है और इसे आधुनिक संदेहवादी छानबीनकी तेजाब-सी द्रावक शक्तिका प्रतिरोध करनेमें समर्थ बनाया है; जो चीज अनुभव और तर्कबुद्धिपर सम्यक् प्रतिष्ठित नहीं है उसीको वह शक्ति गला सकती है न कि इन महान् शिक्षाओंके मर्म और विचारको। परंतु जो चीज हमें अपेक्षाकृत विशेष रूपसे देखनी है वह यह है कि यद्यपि भारतीय संस्कृतिने परा और अपरा विद्या, वस्तुओंके ज्ञान तथा आत्माके ज्ञानमें भेद किया था, तथापि उसने कुछ धर्मोंकी न्याई उनके बीच खाई नहीं तैयार की थी, बल्कि जगत् और वस्तुओंके ज्ञानको उसने आत्मा और ईश्वरके ज्ञानका एक आरंभिक सोपान तथा उस ओर मार्ग निर्देश करनेवाला पथ माना था। सभी शास्त्रोंपर ऋषियोंके नामोंकी छाप लगायी जाती थी, जो ऋषि कि आरंभमें केवल आध्यात्मिक सत्य और दर्शनके ही नहीं बल्कि कलाओं, सामाजिक, राज-नीतिक, सामरिक, भौतिक और आंतरात्मिक विज्ञानोंके भी गुरु होते थे और प्रत्येक शिक्षक अपनी-अपनी मात्रामें गुरु या आचार्य, अर्थात् मानव आत्माके मार्गदर्शक या उपदेष्टाके रूपमें सम्मानित होता था, — और यह बात ध्यान देने योग्य है कि समस्त भारतीय दर्शनका, यहांतक कि न्यायशास्त्रके तर्क और वैशेषिकोंके अणु-सिद्धांतका भी उच्चतम मूर्धन्य स्वर एवं अंतिम लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान और मोक्ष ही है। सभी ज्ञानोंको बुनकर एक बना दिया गया था और उन्हें क्रमशः एकमात्र उच्चतम ज्ञानतक पहुंचाया गया था।

इस ज्ञानपर प्रतिष्ठित जीवनका संपूर्ण समुचित व्यवहार भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिमें 'धर्म' कहलाता था, अर्थात् आत्म-विकासके, जगत् और जीवन-संबंधी ज्ञान तथा उस ज्ञानकी अवस्थामें किये गये कर्मके यथार्थ बोध (ज्ञान) और समुचित दृष्टिके अनुसार जीवन-यापन कहलाता था। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य, वर्ग, जाति और उपजातिका तथा अंतरात्मा, मन, प्राण एवं शरीर-की प्रत्येक क्रियाका अपना धर्म होता है। परंतु धर्मका सबसे बड़ा या कम-से-कम अत्यंत आवश्यक और अत्यधिक आवश्यक भाग मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिको समुन्नत और सुव्यवस्थित करना ही माना जाता था। जीवनका

नैतिक अंग, एक प्रकारके आलोचकोंके आश्चर्यजनक अज्ञानपूर्ण मंतव्यके विपरीत, उन भारतीय विचारों और कृतियोंका ध्यान काफी विपुल परिमाणमें आकृष्ट करता था एवं उनका एक बहुत बड़ा भाग होता था जो शुद्ध ज्ञान और आत्माके विषयोंकी चर्चा नहीं करती थीं और उसे इतनी दूरतक ले जाया जाता था कि ऐसी कोई नैतिक धारणा या आदर्श नहीं जो इसमें अपनी परिकल्पनाके उच्चतम शिखरपर एवं आदर्श आचरणकी एक प्रकारकी दैवी चरम सीमापर न पहुंच जाय। भारतीय विचार मनुष्यकी नैतिक प्रकृति और जगत्के नैतिक नियमको सत्यके रूपमें स्वीकार करता था,—यद्यपि कुछ इससे उलटी विचित्र कल्पनाएं भी की गयी हैं। वास्तवमें, भारतीय विचार यह मानता था कि अपनी कामनाओंको तृप्त करना मनुष्यके लिये उचित है, क्योंकि यह जीवनकी तुष्टि और इसके विस्तारके लिये आवश्यक है, किंतु अपनी सत्ताके विधानके रूपमें कामनाके आदेशोंका पालन करना उसके लिये उचित नहीं; क्योंकि सभी चीजोंमें एक महत्तर विधान है, प्रत्येकका केवल अपना स्वार्थ ('अर्थ') और कामनाका पहलू ही नहीं है बल्कि अपने यथार्थ व्यवहार, यथार्थ तुष्टि, विस्तार और व्यवस्थाका एक धर्म या नियम भी है। अतएव शास्त्रमें ज्ञानियोंके द्वारा नियत किया हुआ धर्म आचरण करनेके लिये यथार्थ विधान है, कर्मका सच्चा नियम है। धर्मके जटिल जालमें सबसे पहले आता है सामाजिक विधान; क्योंकि मनुष्यका जीवन केवल प्रारंभिक रूपमें ही उसके अपने प्राणिक, वैयक्तिक, विशिष्ट 'स्व' के लिये है, पर कहीं अधिक अनिवार्य रूपमें तो वह समष्टिके ही लिये है, यद्यपि, सर्वाधिक अनिवार्य-रूपमें, वह उसके तथा सब भूतोंके अंदर विद्यमान एक ही महत्तम आत्माके लिये है, ईश्वर एवं परमात्माके लिये है। अतएव सबसे पहले व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने-आपको समाज-सत्ताके अधीन कर दे, यद्यपि वह किसी भी प्रकार उसमें अपने-आपको पूर्ण रूपसे मिटा देनेके लिये बाध्य नहीं है जैसा कि समाजवादी विचारके चरम समर्थक समझते हैं। उसे अपनी प्रकृतिके विधानको अपने सामाजिक वर्ण एवं श्रेणीके विधानके साथ समस्वर करके राष्ट्रके लिये जीवन यापन करना चाहिये और अपनी सत्ताके उच्चतर स्तरमें मानवजातिके हितार्थ जीवन बिताना चाहिये, जिसपर बौद्धोंने अत्यधिक बल दिया था। इस प्रकार जीवन यापन और कर्म करता हुआ वह धर्मके सामाजिक मानदंडको अतिक्रम करना सीख सकता है और जीवनके आधारको आघात पहुंचाये बिना आदर्श मानदंडका अनुसरण करता हुआ अंतमें आत्माकी स्वतंत्रतामें विकसित हो सकता है, जब कि नियम और कर्तव्य बंधनरूप नहीं होंगे

क्योंकि तब वह दिव्य प्रकृतिके उच्चतम स्वतंत्र और अमर धर्ममें विचरेगा और कर्म करेगा। धर्मके ये सब रूप एक विकसनशील एकताके सूत्रमें एक दूसरेके साथ घनिष्ठ रूपसे जुड़े हुए थे। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, चारों वर्णोंमेंसे प्रत्येकका अपना सामाजिक कार्य और आचार-नियम होता था, पर साथ ही शुद्ध नैतिक सत्ताके विकासके लिये एक आदर्श नियम भी होता था, और प्रत्येक मनुष्य अपने धर्मका पालन करके तथा अपने कर्मको भगवान्‌की ओर मोड़कर उसके परे आध्यात्मिक स्वातंत्र्यकी ओर विकसित हो सकता था। परंतु समस्त धर्म और नैतिकताके पीछे, रक्षा-साधनके रूपमें ही नहीं वरन् प्रकाशके रूपमें भी, धार्मिक प्रमाणकी स्थापना की जाती थी और जीवन-प्रवाहकी अविच्छिन्नता, मनुष्यकी अनेक-जन्म-व्यापी लंबी तीर्थयात्रा और देवताओं, परेके लोकों तथा भगवान्‌के अस्तित्वका स्मरण कराया जाता था और, इन सबसे बढ़कर, पूर्ण ज्ञान और एकत्व तथा दिव्य परात्परताकी अंतिम अवस्थाकी झांकी प्रस्तुत की जाती थी।

प्राचीन मनकी उदारताके कारण विशाल रूप धारण करके भारतीय नीतिशास्त्रने, वैराग्यकी बढ़ती हुई प्रवृत्ति और पराकाष्ठाको पहुंची हुई एक प्रकारकी उच्च तपस्याके होते हुए भी, मनुष्यकी सौंदर्यप्रिय या यहांतक कि सुखभोगवादी सत्तापर भी कोई रुकावट नहीं लगायी और न प्रबल रूपमें उसे निरुत्साहित ही किया। सब प्रकारकी और सब कोटियोंकी सौंदर्य-विषयक तृप्ति संस्कृतिका आवश्यक अंग थी। काव्य, नाटक, गीत, नृत्य और संगीतको, बड़ी और छोटी सभी कलाओंको ऋषियोंके द्वारा प्रमाणित रूपमें प्रस्तुत किया गया था और आत्माके उत्कर्षके साधनोंका रूप दिया गया था। एक न्यायसंगत सिद्धांत उन्हें प्राथमिक रूपमें शुद्ध रसात्मक तृप्तिके साधन मानता था और प्रत्येक अपने आधारभूत नियम और विधान-पर प्रतिष्ठित थी, किंतु फिर भी उस आधारपर और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए प्रत्येकको इतना ऊंचा उठा दिया गया था कि वह सत्ताकी बौद्धिक, नैतिक और धार्मिक उन्नतिमें सहायक हो सके। यह ध्यान देने योग्य बात है कि दो बृहत् भारतीय महाकाव्योंको उतना ही धर्मशास्त्र भी माना गया है जितना कि महान् 'इतिहास' अर्थात् ऐतिहासिक-पौराणिक काव्यात्मक गाथा। तात्पर्य यह कि वे जीवनके श्रेष्ठ, सजीव और शक्ति-शाली चित्र हैं, किंतु उनमें आदिसे अंततक जीवनगत महान् और उच्च नैतिक एवं धार्मिक भावनाके नियम और आदर्शका उद्‌गार एवं उच्छ्‌वास भरा पड़ा है और अपने उच्चतम आशयके रूपमें वे भगवान्-संबंधी विचार-को और जगत्‌के कर्ममें संलग्न आरोहणशील अंतरात्माके मार्गको ही अपना

लक्ष्य बनाते हैं। भारतीय चित्रकला, मूर्तिविद्या और स्थापत्यने मनुष्यके सामाजिक, नागरिक और वैयक्तिक जीवनकी रसात्मक तृप्ति और व्याख्या-की सेवा करनेसे इन्कार नही किया; जैसा कि सभी प्रमाणोंसे प्रकट है, ये चीज़ें उनके सृजन-संबंधी उद्देश्योंका बड़ा भाग थीं, किंतु फिर भी उनका सर्वोच्च कार्य संस्कृतिके महत्तम आध्यात्मिक पहलूके लिये सुरक्षित था और हम देखते हैं कि वे सर्वत्र भारतीय मनके द्वारा किये गये अंतरात्मा, परमेश्वर, अध्यात्म-सत्ता एवं अनंतके गंभीर चिंतनके दबावसे अधिकृत और ओतप्रोत हैं। और हमें इस बातपर भी ध्यान देना होगा कि सौंदर्यप्रेमी एवं सुख-भोगवादी सत्ताको धर्म और आध्यात्मिकताका सहायक साधन बनाकर इस प्रयोजनके लिये उसका खुलकर उपयोग ही नहीं किया गया था बल्कि उसे परमात्माकी ओर मनुष्यकी यात्राका एक मुख्य द्वार भी बना दिया गया था। विशेषकर वैष्णव धर्म प्रेम और सौंदर्यका तथा भगवान्के अंदर मनुष्यकी संपूर्ण आनंदात्मक सत्ताकी परितृप्तिका धर्म है और यहांतक कि इसके अंत-र्दर्शनने इंद्रियभोग्य जीवनकी कामनाओं और प्रतिमूर्तियोंको भी दिव्य आत्मानु-भवके रूपकोंमें परिणत कर दिया था। विरले ही धर्म इस अपरिमित उदारतातक पहुंच पाये हैं अथवा संपूर्ण प्रकृतिको अध्यात्म-सत्ता एवं अनंतकी ओर उसकी व्यापक, शक्तिशाली और बहुमुखी पहुंचमें इतनी ऊंचाईतक ले गये हैं।

अंतमें आता है मनुष्यका बाह्यतम प्राणिक जीवन, उसका साधारण क्रियाशील, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व। इसे भी भार-तीय संस्कृतिने अत्यंत साहसके साथ अपने हाथमें लिया और इसके संपूर्ण स्वरूपपर अपने आदर्शों और विचारोंका दबाव डाला। उसकी पद्धति सामा-जिक जीवन, कर्तव्य और उपभोग, सामरिक और राजनीतिक नियम और आचार तथा आर्थिक सुख-समृद्धिके महान् शास्त्र बनानेकी थी। इन शास्त्रोंका निर्माण एक ओर तो इन प्रवृत्तियोंकी सफलता, विस्तार और समृद्धि तथा इनके यथार्थ कौशल और संबंधको लक्ष्यमें रखकर किया गया था, परंतु इन लक्ष्योंपर, जिनकी प्राणप्रधान मनुष्यका निज स्वभाव और उसके कर्मका वास्तविक स्वरूप मांग करते हैं, धर्मके विधान अर्थात् कठोर सामाजिक और नैतिक आदर्श एवं नियमको तथा धार्मिक कर्तव्यकी निरंतर याद दिलानेवाले विधानको लागू किया गया था, — इस प्रकार प्रभुत्व और उत्तरदायित्व रखनेवाली प्रमुख सत्ताके रूपमें राजाका संपूर्ण जीवन हर एक घंटे और अपने हर एक कार्यमें धर्मके द्वारा ही नियंत्रित होता था। बाद-के युगमें राजकौशलसंबंधी माकियावेलीके-से कूट सिद्धांतने, जिसका अनुसरण सरकारें और कूटनीतिज्ञ सदासे करते आये हैं और आज भी करते हैं, इस

श्रेष्ठतर प्रणालीपर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। परंतु भारतीय चिंतनके सर्वोत्कृष्ट युगमें इस कलुषित नीतिको थोड़े ही समयके लिये सफल होनेवाली, पर क्षुद्रतर, हीन और निकृष्ट प्रकारकी नीति कहकर इसकी निंदा की जाती थी। संस्कृतिका महान् नियम यह था कि मनुष्यका पद और अधिकार जितना ही अधिक ऊंचा हो, उसके कर्तव्यका क्षेत्र तथा उसके कार्यों एवं दृष्टांतका प्रभाव जितना ही अधिक विस्तृत हो, उसपर धर्मका दावा उतना ही अधिक बड़ा होना चाहिये। समाजके संपूर्ण विधान और आचारके ऊपर ऋषियों और देवताओंके नामकी मुहर लगा दी गयी थी, उसे महान् व्यक्तियों और बलशालियोंके अत्याचारसे सुरक्षित रखा गया था, सामाजिक धार्मिक स्वरूप प्रदान किया गया था और स्वयं राजाको धर्मके संरक्षक और सेवकके रूपमें जीवन यापन करने तथा शासन करनेका भाग सौंपा जाता था, पर उसे केवल समाजके ऊपर साधनिक अधिकार प्राप्त था जो तभीतक व्यवहार्य समझा जाता था जबतक वह निष्ठाके साथ धर्मका पालन करता था। जीवनका यह प्राणिक पहलू एक ऐसा पहलू है जो हमें बिलकुल आसानीसे आंतरिक सत्तासे और जीवन यापनके दिव्यतर उद्देश्यसे दूर हटाकर बाहरकी ओर घसीट ले जाता है, अतएव इसे पग-पगपर अत्यंत यत्नपूर्वक धार्मिक विचारके साथ ऐसे ढंगसे संबद्ध कर दिया गया था जिसे प्राणप्रधान मनुष्य खूब अच्छी तरह समझ सकता है, वैदिक कालमें तो यह संबंध प्रत्येक सामाजिक और नागरिक कार्यके पीछे यज्ञका पुनः-पुनः स्मरण कराके स्थापित किया जाता था और बादके युगमें धार्मिक रीति-नीतियों, संस्कारों, पूजा और अपने अंदर देवोंके आवाहनके द्वारा तथा कर्मोंके भावी फलों या पारलौकिक लक्ष्यपर बल देकर। इस कार्यमें इतना अधिक मनोयोग दिया जाता था कि जहां आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा अन्य क्षेत्रोंमें चिंतन, कर्म और सृजनके लिये पर्याप्त या पूर्ण स्वाधीनता दी जाती थी, वहां इस क्षेत्रमें कठोर विधान और शास्त्रप्रमाणको लागू करनेकी प्रवृत्ति थी जो अंतमें इतनी अतिरंजित हो गयी कि उसने समाजको युग-भावना किंवा युगधर्मकी आवश्यकताके अधिक अनुकूल नये आकारोंमें अपनेको विस्तारित करनेसे रोक दिया। समाजके लिये तो परिवर्तित आचार-व्यवहारकी सहज-स्वाभाविक स्वीकृतिकी व्यवस्था करके और व्यक्तिके लिये बंधनकारी नियम और आदेशके साधारण सामाजिक ताने-बानेसे बाहर, उच्चतर अनुशासन या स्वातंत्र्यसे युक्त धार्मिक जीवनको अपनानेकी छूट देकर स्वाधीनताका द्वार खुला रखा गया। सामाजिक विधानका कठोर पालन और अनुशासन, धर्मके आदर्श पक्षसे संबद्ध विशालतर एवं उत्कृष्टतर अनुशासन और स्वतंत्रतर आत्मविकास,

धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनकी व्यापक स्वतंत्रता भारतीय धर्मप्रणालीकी तीन शक्तियां बन गयी थीं। इन शक्तियोंके द्वारा विस्तारशील मानव-आत्मा ऊपर पग बढ़ाती हुई अपनी पूर्णताकी ओर आरोहण करती थी।

इस प्रकार भारतीय आदर्शोंको जीवनपर लागू करनेका संपूर्ण सामान्य स्वरूप आदिसे अंततक इस एक ही बुनावटका बन गया था, अर्थात् वह मनुष्यकी अंतरात्माकी उसके आध्यात्मिक जीवनके लिये एक सतत, सूक्ष्मतः क्रमबद्ध, सूक्ष्मतः समस्वर तैयारीके ताने-बानेसे बुना हुआ था। सर्वप्रथम, मनुष्यकी उस प्राथमिक प्राकृत सत्ताकी नियमबद्ध तुष्टि जो धर्मके विधान तथा नैतिक विचारके अधीन होती है तथा प्रतिक्षण मत-मजहबके सुझावोंसे घिरी रहती है, वह मत-महजब पहले तो उसके अधिक बाह्य अविकसित मनको आकर्षित करता है, पर अपने प्रत्येक बाह्य प्रतीक और परिस्थितिमें एक गंभीरतर अर्थकी ओर खुलता है, अपनी सार्थकताके रूपमें गंभीरतम आध्यात्मिक और आदर्श अर्थके संकेतसे लैस होता है। उसके बाद आते हैं उस विकसित बुद्धि और उन आंतरात्मिक, नैतिक तथा सौंदर्यात्मक शक्तियोंके उच्चतर सोपान जो परस्पर घनिष्ठ रूपसे ओतप्रोत है तथा उक्त प्रकारके उद्‌घाटनके द्वारा अपनेसे परे अपने आध्यात्मिक लक्ष्य और संभाव्यताके शिखरोंतक उठा ले जायी जाती हैं। अंतमें, मनुष्यके अंदरकी इन विकसनशील शक्तियोंमेंसे प्रत्येकको इसकी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार उसकी दिव्य और आध्यात्मिक सत्तामें प्रवेश करनेका एक द्वार बना दिया गया था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विचारशील बुद्धिप्रधान मनुष्यके स्व-अतिक्रमणके लिये ज्ञानयोग, कर्मठ, शक्तिमय और नैतिक मनुष्यके स्व-अतिक्रमणके लिये कर्मयोग और भावुक, सौंदर्यप्रेमी एवं सुखभोगवादी मनुष्यके स्व-अतिक्रमणके लिये प्रेम तथा भक्तिके योगकी रचना की गयी थी जिनकी सहायतासे प्रत्येक मनुष्य अपनी विशिष्ट शक्तिका आत्म-उन्मुख, आध्यात्मिक एवं ईश्वरोन्मुख प्रयोग करके पूर्णताको प्राप्त करता था, इसी प्रकार चैत्य सत्ताकी शक्ति और यहांतक कि देहगत प्राणकी शक्तिके द्वारा भी अपने-आपको अतिक्रांत करनेके यौगिक मार्गका निर्माण किया गया था,—ये योग इस प्रकारके थे कि इनका अनुसरण पृथक्-पृथक् या फिर इन्हें किसी प्रकारके समन्वयमें लाकर किया जा सकता था। परंतु स्व-अतिक्रमणके ये सब साधन उच्चतम आत्म-अभिव्यक्तिकी ओर ले जाते थे। विश्वव्यापी सत्ता और सर्वभूतोंके साथ एक होना, आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके साथ एक होना एवं परमेश्वरके साथ युक्त होना ही मानवविकासकी पराकाष्ठा और मनुष्यके आत्मोत्कर्षकी अंतिम भूमिका थे।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

भारतीय धर्मके मूल तत्त्वों, इसके विकासके अभिप्राय तथा इसकी पद्धतिकी मूल भावनाका मैंने कुछ विस्तारसे विवेचन किया है, — यद्यपि अभीतक यह वर्णन बहुत अधूरा ही है, — क्योंकि इन चीजोंकी निरंतर उपेक्षा की जा रही है और इस धर्मका समर्थन तथा विरोध करनेवाले लोग ब्योरों, विशिष्ट परिणामों और गौण विषयोंपर ही लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इन बातोंका भी अपना महत्त्व तो है क्योंकि ये क्रियात्मक अनुशीलनके, अर्थात् संस्कृतिको जीवनमें कार्यान्वित करनेके अंग हैं; किंतु इनका सही मूल्यांकन तबतक नहीं किया जा सकता जबतक हम उस मूल भावनाको भलीभांति हृदयंगम न कर लें जो उस क्रियात्मक अनुशीलनके पीछे विद्यमान थी। और सबसे पहली बात जो हम देखते हैं वह यह है कि भारतीय संस्कृतिका मूलतत्त्व एवं सारभूत भाव असाधारण रूपसे उच्च, महत्त्वाकांक्षापूर्ण और श्रेष्ठ था, सच पूछो तो वह एक उच्चतम तत्त्व और भाव था जिसकी मानव आत्मा कल्पना कर सकती है। कारण, जीवनके विषयमें उससे महान् विचार और क्या हो सकता है जो इसे मानवात्माके अत्यंत विशाल रहस्य तथा उसकी उच्च संभावनाओंतक होनेवाले उसके एक विकासका रूप दे देता है, — उससे महान् संस्कृति और क्या हो सकती है जो जीवनको कालमें कालातीतकी, व्यक्तिमें विराट्की, सान्तमें अनन्तकी एवं मनुष्यमें भगवान्की क्रिया समझती है, अथवा जो यह मानती है कि मनुष्य सनातन और अनंतको केवल जान ही नहीं सकता बल्कि उसकी शक्तिमें निवास भी कर सकता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने-आपको विश्वमय, आध्यात्मिक और दिव्य भी बना सकता है? मनुष्यके जीवनके लिये इससे बढ़कर महान् लक्ष्य और क्या हो सकते हैं कि वह आंतर और बाह्य अनुभवके द्वारा अपना तबतक विकास-साधन करे जबतक कि वह परमेश्वरमें निवास करने, अपनी

अध्यात्मसत्ताको अनुभव करने, अपनी उच्चतम सत्ताके ज्ञान, संकल्प और आनंदमें पहुंचकर दिव्य बननेमें समर्थ न हो जाय? वास्तवमें भारतीय संस्कृतिके प्रयासका संपूर्ण आशय यही है।

यह कहना आसान है कि ये विचार मिथ्या, काल्पनिक और अव्यवहार्य हैं, वास्तवमें न तो कोई आत्मा है न सनातन सत्ता और न कोई दिव्य वस्तु ही, और यदि मनुष्य धर्म और दर्शनशास्त्रके साथ खेल न कर अपने क्षणिक एवं तुच्छ जीवन और शरीरका यथासंभव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे तो यह उसके लिये कहीं अच्छा होगा। यह एक एसा निषेध है जो प्राणिक और भौतिक मनके लिये प्रायः स्वाभाविक ही है, पर यह इस धारणापर आश्रित है कि मनुष्य केवल वही बन सकता है जो कि वह इस क्षण है और उसमें ऐसी कोई महत्तर वस्तु नहीं है जिसे विकसित करना उसका कर्तव्य है; ऐसे निषेधका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। किसी महान् संस्कृतिका संपूर्ण लक्ष्य यह होता है कि वह मनुष्यको किसी ऐसी स्थिति-तक उठा ले जाय जो वह आरंभमें नहीं होता, उसे ज्ञानकी ओर ले चले यद्यपि वह अथाह अज्ञानसे ही अपनी यात्रा शुरू करता है, उसे उसके विवेकके द्वारा जीवन बिताना सिखाये यद्यपि वास्तवमें वह, कहीं अधिक, अपने अविवेकके द्वारा ही जीवन यापन करता है, शुभ और एकत्वके विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि आज वह अशुभ और वैषम्यसे ही भरा हुआ है, सुन्दरता और समस्वरताके विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि उसका यथार्थ जीवन कुरूपता और कलहरत बर्बरताओंका घृणाजनक घोटाला ही है, उसे उसकी आत्माके किसी उच्च विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि इस समय वह अहंभावपूर्ण भौतिक एवं अनाध्यात्मिक है और अपनी स्थूल सत्ताकी आवश्यकताओं और कामनाओंमें ही ग्रस्त है। यदि किसी सभ्यताका इनमेंसे कोई भी लक्ष्य न हो, तो कदाचित् यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी कोई संस्कृति है और निश्चय ही यह तो किसी भी अर्थमें नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक महान् और श्रेष्ठ संस्कृति है। परंतु इनमेंसे अंतिम लक्ष्य, अपने उस रूपमें जिसकी कल्पना प्राचीन भारतने की थी, सब लक्ष्योंसे ऊंचा है क्योंकि वह अन्य सभीको अपने अंदर लिये हुए है और साथ ही उन सबसे श्रेष्ठ भी है। इस प्रयत्नको संपन्न करना जातिके जीवनको श्रेष्ठ बनाना है; इसमें असफल होना इसके लिये कभी बिलकुल ही प्रयत्न न करनेसे कहीं अच्छा है; इसमें थोड़ी-सी भी सफलता प्राप्त करना मनुष्यकी भावी संभावनाओंके पूरा होनेमें महान् सहायता प्रदान करना है।

भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली एक और ही वस्तु है। प्रणाली, स्व-रूपतः ही, मूलभावको क्रियान्वित करनेवाली और साथ ही सीमित करने-वाली होती है; और फिर भी हमारे पास जीवनकी एक विद्या एवं कला, अर्थात् जीवन-यापनकी एक प्रणाली अवश्य होनी चाहिये। जरूरत केवल इस बातकी है कि जो भी रूप-रेखाएं निर्धारित की जायं वे व्यापक और उदात्त हों, विकसित होनेकी क्षमता रखती हों जिससे कि मूल भावना अपने-आपको जीवनमें अधिकाधिक प्रकट कर सके, अपनी दृढ़ताके होते हुए भी नमनशील हों ताकि वह नयी चीजोंको अपने अंदर आत्मसात् और समन्वित कर सके तथा अपनी एकता खोये बिना अपनी विविधता और समृद्धताको विस्तारित कर सके। भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली अपने सिद्धांत रूपमें और एक विशेष सीमा तथा विशेष समयतक अपने क्रियात्मक रूपमें भी यह सब कुछ थी। यह सर्वथा सत्य है कि अंतमें उसपर एक ऐसे ह्रासका और प्रगतिके एक इस प्रकारके अवरोधका आक्रमण हुआ जो बिलकुल चरम ढंगका तो नहीं था पर उसके जीवन तथा भविष्यके लिये अत्यंत गंभीर और संकटपूर्ण अवश्य था, और हमें यह पता लगाना होगा कि आया इस-का कारण इस संस्कृतिका मज्जागत स्वभाव था, या इसकी कोई विकृति थी अथवा जीवनी-शक्तिका कोई क्षणिक ह्रास था और यदि ह्रास ही कारण था तो वह ह्रास आया कैसे। इस समय मैं केवल सरसरी तौरपर एक बातकी चर्चा करूंगा जो अपना कुछ महत्त्व रखती है। हमारा आलोचक भारतके दुर्भाग्योंका राग अलापते कभी नहीं थकता और उन सबका कारण वह हमारी सभ्यताकी असाध्य बुराई तथा सच्ची और स्वस्थ संस्कृति-के नितांत अभावको मानता है। परंतु, न तो दुर्भाग्य संस्कृतिके अभावका प्रमाण होता है और न सौभाग्य उद्धारका चिह्न। यूनान एक अभागा देश था; वह आंतरिक कलहों और गृह-युद्धोंसे उतना ही क्षत-विक्षत था जितना भारत, वह अंतमें एकतापर पहुंचने या स्वतंत्रताको सुरक्षित रखनेमें असमर्थ हुआ; तथापि यूरोप अपनी आधी सभ्यताके लिये यूनानके उन लड़ाकू और विभक्त क्षुद्र लोगोंका ही ऋणी है। इटली निश्चय ही काफी अभागा था, तथापि बहुत ही कम राष्ट्रोंने यूरोपीय संस्कृतिको अयोग्य और अभागे इटलीसे अधिक अंशदान दिया है। भारतके दुर्भाग्योंको, कम-से-कम उनके प्रभावक्षेत्रकी दृष्टिसे, बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है, पर उन्हें उनके बुरे-से-बुरे रूपमें ही लो और मान लो कि भारतसे अधिक किसीपर मुसीबतें नहीं आयीं। परंतु इस सबका कारण यदि हमारी सभ्यताकी खराबी ही हो, तो दुर्भाग्योंके इस बोझके नीचे भारत और उसकी

संस्कृति एवं सभ्यताके दृढ़तापूर्वक बचे रहनेके विलक्षण तथ्यका अथवा उस शक्तिका भला क्या कारण है जो इस क्षण भी उसे यूरोपसे आनेवाली बाढ़के, जिसने अन्य जातियोंको लगभग डुबा ही दिया है, भीषण आघातके विरुद्ध अपने अस्तित्व तथा अपनी भावनाका प्रबल समर्थन करनेकी क्षमता प्रदान करती है जिसे देखकर उसके आलोचक क्रोधसे भर उठते है? यदि उसके दुर्भाग्योंका कारण उसके सास्कृतिक दोष हों तो क्या इसी प्रकारके तर्कके बलपर यह नही कहा जा सकता कि इस असाधारण जीवन-शक्तिका कारण उसके अदर विद्यमान कोई महान् शक्ति, उसकी भावनाके अदर विद्यमान कोई स्थायी सत्यता-रूपी गुण अवश्य होगा? कोई कोरा झूठ और पागलपन जीवित नही रह सकता; उसका बने रहना एक ऐसा रोग है जो निःसदेह शीघ्र ही मृत्युकी ओर ले जायगा; वह किसी अविनश्वर जीवनका स्रोत नही हो सकता। कही स्वस्थताका कोई ऐसा केद्र, कोई ऐसा रक्षक सत्य अवश्य होना चाहिये जिसने इस जातिको जीवित रखा है और जो आज भी इसे अपना सिर ऊचा करने तथा अपने बने रहनेके सकल्पको और अपने जीवन-कार्यके प्रति अपनी श्रद्धाको दृढ़तापूर्वक प्रस्थापित करनेके लिये सामर्थ्य प्रदान करता है।

परतु, अतमे, हमे इस संस्कृतिके मूलभाव और मूलतत्त्वको ही नहीं, इसकी प्रणालीमे निहित इसके उद्देश्यके आदर्श विचार और क्षेत्रको ही नही बल्कि जीवनके मूल्योंमे इसके यथार्थ क्रिया-व्यापार और प्रभावको भी देखना होगा। यहां हमें इसकी भारी सीमाओ और भारी त्रुटियोको स्वीकार करना होगा। ऐसी कोई संस्कृति नही, कोई सभ्यता नही, भले वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, जो अपनी प्रणालीमे मनुष्यकी पूर्णताकी मागके लिये पूर्ण रूपसे संतोषजनक रही हो; ऐसी एक भी सस्कृति व सभ्यता नही जिसकी क्रिया-प्रक्रिया काफी अधिक सीमाओ और त्रुटियोके द्वारा कुठित न हो गयी हो। और किसी सस्कृतिका लक्ष्य जितना अधिक महान् होगा, किसी सभ्यताका आकार जितना अधिक विशाल होगा, उसमे ये दोष दृष्टिको उतना ही अधिक अभिभूत करनेवाले हो सकते है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति अपने गुणोंकी सीमाओं या त्रुटियोसे आक्रांत रहती है और इसके निश्चितप्राय परिणामके रूपमें, अपने गुणोकी अतियोसे भी पीड़ित होती है। उसकी प्रवृत्ति कुछ प्रमुख विचारोपर ध्यान एकाग्र करने और दूसरोंको दृष्टिसे ओझल करने या अनुचित रूपसे दबानेकी रहती है; संतुलनका यह अभाव एकांगी प्रवृत्तियोंको जन्म देता है जिन्हे ठीक तरहसे काबूमें नहीं रखा जाता और न उचित स्थान दिया जाता है और जो अस्वास्थ्य-

कर अतियोंको पैदा करती हैं। परंतु जबतक सभ्यतामें तेज बना रहता है तबतक जीवन अपनेको उसके अनुकूल बनाता रहता है और क्षतिपूरक शक्तियोंसे अधिसे अधिक लाभ उठाता है तथा सब स्खलनों, बुराइयों और विपत्तियोंके रहते हुए भी कुछ महान् कार्य संपन्न हो जाता है; परंतु अवनतिके समयमें किसी एक विशेष गुणकी त्रुटि अति प्रबल हो जाती है, एक बीमारीका रूप धारण कर लेती है, व्यापक रूपमें हानि पहुंचाती है और यदि उसे रोका न जाय तो क्षय और मृत्युकी ओर ले जा सकती है। फिर, यह भी हो सकता है कि आदर्श महान् हो, यहांतक कि उसमें एक प्रकारकी सामयिक पूर्णता भी हो जैसी कि भारतीय संस्कृतिमें उसके सर्वश्रेष्ठ कालमें थी, उसने एक व्यापक सामंजस्यके लिये आरंभिक प्रयत्न भी किया हो, परंतु आदर्श और जीवनके वास्तविक व्यवहारके बीच सदैव ही एक बड़ी भारी खाई होती है। उस खाईपर पुल बांधना या कम-से-कम उसे यथासंभव छोटी बनाना मानव प्रयासका सबसे कठिन अंश है। अंतमें, हमारी मानवजातिका विकास जो युगोंके आरपार दृष्टि डालने पर काफी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, सब कुछ कहे जानेके बाद भी, एक मंद और बाधाग्रस्त प्रगति है। प्रत्येक युग, प्रत्येक सभ्यता हमारी त्रुटियोंके भारी बोझको वहन करती है, बादमें आनेवाला प्रत्येक युग बोझके कुछ भागको उतार फेंकता है, पर अतीतके गुणका कुछ अंश भी खो बैठता है, अन्य खाइयां पैदा कर लेता है और नये पदस्खलनोंके द्वारा अपनेको परेशान करता है। हमें लाभ-हानिकी तुलना करनी होगी, वस्तुओंको उनके समग्र रूपमें देखना होगा, यह देखना होगा कि हम किस ओर जा रहे हैं, और एक विशाल लौकिक दृष्टिका उपयोग करना होगा; अन्यथा मनुष्यजातिकी भवितव्यताओंमें अविचल श्रद्धा बनाये रखना कठिन हो जायगा। कारण, अंततः, अबतक सर्वश्रेष्ठ युगमें भी हमने मुख्य रूपसे जो कुछ संपन्न किया है वह है बर्बरताके एक बहुत बड़े स्तूपको परिवर्तित करनेके लिये थोड़ी-सीं कुछ बुद्धि, संस्कृति और आध्यात्मिकताको लाना। मनुष्यजाति अबतक भी अर्द्धसभ्यसे अधिक नहीं है और अपने वर्तमान विकासचक्रके अभिलिखित इतिहासमें वह इसके सिवाय और कभी कुछ नहीं रही।

और इसलिये प्रत्येक सभ्यता अपने बाह्य रूपमें मिश्रित और विशृंखल दिखायी देती है और एक द्वेषपूर्ण या सहानुभूतिहीन आलोचनाके द्वारा, जो इसके दोषोंको तो देखती और बढ़ा-चढ़ाकर दिखाती है पर इसके सच्चे भाव एवं गुणोंकी उपेक्षा करती है, अंधकारमय पहलुओंका तो एक ढेर खड़ा कर देती है पर प्रकाशमय पहलुओंको एक किनारे कर देती है, इसे

बर्बरताके एक स्तूपमें, प्रायः खूब गहरे अंधकार और असफलताके एक चित्र-के रूपमें परिणत किया जा सकता है, जिसपर कि उन लोगोंको उचित ही आश्चर्य होता और क्रोध आता है जिन्हें इसके मूल-भाव महान् और यथार्थ मूल्यसे युक्त प्रतीत होते हैं। क्योंकि, प्रत्येक सभ्यताने मानवताके लिये, इसके सर्वसामान्य सांस्कृतिक कार्यके अंतर्गत, कोई-न-कोई विशेष मूल्यवाली वस्तु उपलब्ध की है, हमारी प्रकृतिकी किसी-न-किसी शक्यताको बहुत बड़ी मात्रामें प्रकट किया है और इसकी भावी पूर्णताके लिये एक आरंभिक विस्तृत आधार प्रदान किया है। यूनानने बौद्धिक तर्कको तथा आकार और सुसमंजस सौंदर्यसंबंधी बोधको एक ऊंचे परिमाणमें विकसित किया; रोमने बल-सामर्थ्य, देशभक्ति और विधि-व्यवस्थाकी सुदृढ़ स्थापना की; आधुनिक यूरोपने व्यावहारिक बुद्धि, विज्ञान, कार्यदक्षता और आर्थिक क्षमताको विपुल परिमाणमें उन्नत किया; भारतने मनुष्यकी अन्य शक्तियों-पर क्रिया करने तथा उन्हें अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक मन, अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि, धार्मिक भावसे अनुप्राणित 'धर्म' के दार्शनिक सामंजस्य तथा सनातन एवं अनंतके बोधका विकास किया। भविष्यको इन वस्तुओंकी एक अधिक महान् और अधिक पूर्ण रूपसे व्यापक प्रगतिकी ओर अग्रसर होना है और नयी शक्तियोंका विकास करना है, किंतु यह कार्य हम अहंकारपूर्ण असहि-ष्णुताके भावके साथ अतीतकी या अपनी संस्कृतिसे भिन्न अन्य संस्कृतियों-की निंदा करके ठीक-ठीक रूपमें नहीं कर सकते। हमें केवल शांत आलोचनाकी भावनाकी ही नहीं बल्कि सहानुभूतिमय अंतर्ज्ञानकी एक दृष्टि-की भी आवश्यकता है ताकि हम मानवताके अतीत और वर्तमान प्रयासमेंसे उत्तम वस्तुओंका आहरण कर सकें और अपनी भावी उन्नतिके लिये उनका अच्छेसे अच्छा उपयोग कर सकें।

ऐसा होनेपर भी, यदि हमारा आलोचक आग्रह करे कि भारतकी अतीत संस्कृति अर्द्ध-बर्बर ढंगकी थी तो इसपर मुझे तबतक कुछ भी आपत्ति न होगी जबतक यूरोपीय ढंगकी संस्कृतिकी जिसे वह उसकी जगह धूर्तता-पूर्वक हमारे ऊपर लादना चाहता है, इसी प्रकारकी, उचित या अनुचित, आलोचना करनेकी मुझे भी स्वतंत्रता प्राप्त रहे। यूरोपीय सभ्यता इस प्रकारके मुंहतोड़ जवाबके लिये जो अवसर देती है मिस्टर आर्चर भी उन्हें अनुभव करते हैं और वे गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करते हैं कि ऐसा जवाब न दिया जाय; वे इस घिसी हुई उक्तिकी शरण लेते हैं कि यह कहना कि 'तुम अपना चेहरा तो देख आओ' — Tu quoque! — कोई युक्ति नहीं है। निःसंदेह, यदि यह केवल भारतीय संस्कृतिकी निष्पक्ष आलोचनाका

प्रश्न होता जिसमें धृष्टतापूर्ण तुलनाएं और आक्रमणात्मक दावे न होते तो ऐसा जवाब असंगत होता। परंतु जब आलोचक एक दलमें शामिल हो जाता और यूरोपकी श्रेष्ठताके नामपर भारतीय भावना और सभ्यताके सभी दावोंको पैरों तले कुचल डालनेकी चेष्टा करता है तो यह जवाब एक सर्वथा उपयुक्त और प्रभावशाली तर्क बन जाता है। जब वह आग्रह करता है कि अनुगत शिष्योंकी तरह पश्चिमका अनुसरण और अनुकरण करनेके लिये हमें अपने 'स्वभाव' और संस्कृतिका परित्याग कर देना चाहिये और इसके लिये युक्ति यह देता है कि भारत सांस्कृतिक पूर्णताको या स्वस्थ सभ्यताके आदर्शको प्राप्त करनेमें असफल रहा है, तो हमें भी यह दिखलानेका अधिकार है कि यूरोपके खातेमें भी कम-से-कम इतनी ही भद्दी असफलता जमा है और उसकी असफलताके मूल कारण भी वही हैं जो कि भारतकी असफलताके हैं। विज्ञान, व्यावहारिक बुद्धि और कार्य-कुशलता एवं अनियंत्रित आर्थिक उत्पादन ही जो मनुष्यको उसके तन और प्राणका दास, एक विशाल यंत्रका एक पहिया, एक कमानी या कंटिया अथवा आर्थिक व्यवस्था-रूपी शरीरका एक कोष बना देता है, और बांबी तथा मधुमक्खियोंके छत्तेके आदर्शको मानवीय भाषामें परिवर्त्तित करता है, तो हमें भी यह पूछनेका अधिकार है कि क्या यही हमारी सत्ताका संपूर्ण सत्य है और सभ्यताका स्वस्थ या संपूर्ण आदर्श है! इस यूरोपीय संस्कृति-का आदर्श, अपनी सब विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी, कम-से-कम कोई अनुचित रूपमें बढ़ाया हुआ लक्ष्य नहीं है और उसे चरितार्थ करना प्राचीन भारतके कठिन आध्यात्मिक आदर्शकी अपेक्षा अधिक सुगम होना चाहिये। परंतु भला यूरोपीय मन और जीवनका कितना-सा अंश सचमुचमें बुद्धिके द्वारा नियंत्रित होता है और इस व्यावहारिक बुद्धि और कार्यदक्षताका अंतमें क्या परिणाम होता है? मानव मन, अंतरात्मा और जीवनको इसने किस पूर्णतातक पहुंचाया है? आधुनिक यूरोपीय जीवनकी उग्र कुरूपता, इसकी दार्शनिक बुद्धि, रसात्मक सुन्दरता और धार्मिक अभीप्साकी न्यूनता, इसकी सतत चचंलता, इसका कठोर और उत्पीड़क यांत्रिक बोध, आंतरिक स्वा-धीनताका अभाव, इसका हाल ही का महासंकट, भीषण वर्ग-युद्ध — ये सब ऐसी चीजें हैं जिनपर दृष्टि डालनेका हमें अधिकार है। आर्चरके साथ स्वर मिलाते हुए इन्हीं पहलुओंका राग अलापना और आधुनिक आदर्शोंके अधिक उज्ज्वल पहलूकी उपेक्षा करना निश्चय ही अन्यायपूर्ण होगा। निःसंदेह, बहुत बरस पहले एक ऐसा समय था जब यूरोपकी अतीत सांस्कृ-तिक उपलब्धिकी सराहना करते हुए, उसका वर्तमान व्यावसायिक रूप मुझे

एक ऐसी बुद्धिप्रधान आसुरिक बर्बरता प्रतीत होता था जिसका कि जर्मनी एक अत्यंत प्रशंसित प्रतिरूप और सफल नायक था। जगत्में परमात्माकी कार्य-शैलियोंको देखनेवाली एक अधिक व्यापक दृष्टि इस धारणाकी एक-पक्षीयतामें संशोधन करती है, पर फिर भी इसमें एक सत्य निहित है जिसे यूरोपने अपनी तीव्र वेदनाकी घड़ीमें स्वीकार किया था, यद्यपि इस समय वह अपने क्षणिक आलोकको बिलकुल सहजमें ही भूला हुआ-सा प्रतीत होता है। मि. आर्चर तर्क करते हैं कि कम-से-कम पश्चिम अपनी बर्बरताके साथ संघर्ष करके उसमेंसे बाहर निकल आनेका यत्न कर रहा है जब कि भारत अपनी त्रुटियोंमें ही जड़वत् बने रहनेमें संतुष्ट रहा है। यह आसन्न भूतकालका एक तथ्य हो सकता है; पर उससे हुआ क्या? यह प्रश्न तो अब भी बना हुआ है कि क्या यूरोप ही उस एकमात्र, पूर्ण या सर्वोत्तम मार्गको अपना रहा है जो मानव प्रयासके लिये खुला हुआ है और क्या भारतके लिये यही ठीक नहीं है कि वह पश्चिमके अनुभवसे शिक्षा भले ही ग्रहण करे पर यूरोपका अनुकरण न कर अपनी मूल भावना और संस्कृतिके सबसे श्रेष्ठ और अत्यंत मौलिक तत्त्वोंको विकसित करे और इस प्रकार अपनी जड़तासे बार निकल आये।

इस दिशामें भारतका सही और स्वाभाविक पथ इतने स्पष्ट रूपसे हमारे सामने खुला पड़ा है कि इसका मूलोच्छेद करनेके लिये मि. आर्चर-को छिद्रान्वेषकके अपने चुने हुए पेशेमें पग-पगपर सत्यको विकृत करना पड़ता है और एड़ी-चोटीका जोर लगाकर व्यर्थमें ही सम्मोहक सुझावका इंद्रजाल फिर-फिर फैलाना पड़ता है। वह इंद्रजाल अब सदाके लिये छिन्न-भिन्न हो चुका है, दीर्घ कालतक उसने हममेंसे बहुतोंको अपनी तथा अपने अतीतकी पूर्ण रूपसे निंदा करने और यह कल्पना करनेके लिये प्रेरित किया था कि जीवनमें भारतीयका बंधा संपूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह सभ्य बनानेवाले अंग्रेजकी डोरमें हुआ एक अनुकरण-शील बंदर बनकर उसके ढोलकी आवाजपर नाचा करे। भारतीय संस्कृतिके बचे रहनेके दावेका विरोध, सर्वप्रथम और अत्यंत मौलिक रूपमें, उसके उन मूल विचारों और उसकी उन ऊंची चीजोंके मूल्यको चुनौती देकर ही किया जा सकता है जो उसके आदर्श तथा स्वभाव-के लिये और जगत्को देखनेके उसके तरीकेके लिये अत्यंत स्वाभाविक हैं। इसका एक तरीका है—आध्यात्मिकताके, सनातन एवं अनंतकी अनुभूति, आंतर आध्यात्मिक-अनुभव, दार्शनिक मन और भावना, धार्मिक लक्ष्य और अनुभूति, अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि और विश्वात्मभाव तथा आध्यात्मिक

एकताके विचारके सत्य या मूल्यसे ही इन्कार कर देना, और हमारे इस आलोचककी असली मनोवृत्ति यही है जो उसकी तीव्र निंदामें पुनःपुनः प्रकट हो उठती है। परंतु इसे वह संगत रूपमें आद्योपांत नहीं निभा सकता, क्योंकि यह उसे ऐसे विचारों और बोधोंके संघर्षमें ला खड़ा करती है जिन्हें मानव मनमेंसे जड़-मूलसे नहीं उखाड़ा जा सकता। यह विचार यूरोपमें भी कुछ कालके अज्ञानान्धकारके पश्चात् फिरसे समर्थन प्राप्त करने लगे है। अतएव वह अपने-आपको बचाता है और यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है कि भारतमें हमें, उसके शानदार अतीत और उसकी अच्छीसे-अच्छी अवस्थामें भी, कोई आध्यात्मिकता, कोई वास्तविक दर्शन, कोई सच्चा या ऊंचा धार्मिक भाव एवं बोधि-प्रज्ञाका कोई प्रकाश नही दीखता, उन महान् वस्तुओंमेंसे एक भी नहीं दीखती जिन्हें उसने अपनी अत्यंत उत्कट अभीप्सा-का लक्ष्य बनाया है। यह स्थापना काफी मूर्खतापूर्ण, स्व-विरोधात्मक और उन लोगोंकी स्पष्ट साक्षीके विपरीत है जो इन विषयोंपर प्रामाणिक सम्मति प्रकट करनेके लिये उत्कृष्ट रूपसे योग्य और अधिकारी है। अतएव वह तीसरे मोर्चेकी स्थापना करता है जो कि दो असंगत और परस्पर-विरुद्ध कथनोंके मेलसे बना है; उनमेंसे प्रथम यह है कि उस उच्चतर हिन्दू-धर्मका जो इन महत्तर वस्तुओंसे गठित है, भारतपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और दूसरा यह है कि, इसके विपरीत, उसका एक अत्यंत सर्वतोव्यापी, अत्यंत अनिष्टजनक और पंगूकारक, आत्मनाशी और प्राणनाशी प्रभाव पड़ा है। अपने इस दोषारोपणको वह एक प्रभावशाली रूप देनेका यत्न करता है और इसके लिये वह आक्रमणकी इन सब असंगत दिशाओंको एकत्र जुटाकर इन सबसे एक ही निष्कर्ष निकालता है कि भारतकी संस्कृति सिद्धात और व्यवहार दोनोंमें ही गलत, निकम्मी और मानवजीवनके सच्चे लक्ष्यके लिये हानिकारक है।

यह जो अंतिम स्थापना उसने की है केवल इसीपर अब हमें विचार करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि भारतीय संस्कृतिके मूल विचारोंका मूल्य नष्ट नही किया जा सकता और उनसे इन्कार करना भी निरर्थक है। जिन चीजोंका वे प्रतिनिधित्व करते है वे मनुष्य तथा उसकी प्रकृतिकी उच्चतम और गभीरतम गतिविधियोंमें किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान हैं और वहां धुंधले या स्पष्ट रूपमें अपना स्वरूप उपलब्ध करनेकी चेष्टा कर रही हैं। भारतीय संस्कृतिकी विलक्षणता केवल इस विशेषतामें निहित है कि जो चीज अन्य अधिकतर संस्कृतियोंमें अस्पष्ट या अस्तव्यस्त है या अपूर्ण रूपसे प्रकट की गयी है उसे इसने वस्तुतः अधिक स्पष्ट करने, उसकी सभी

संभावनाओंकी थाह लेने, उसके पहलुओं और दिशाओंको निर्धारित करने तथा उसे मनुष्यजातिके लिये एक सच्चे, सुनिश्चित, व्यापक और व्यवहार्य आदर्शके रूपमें प्रस्थापित करनेका यत्न किया है। हो सकता है कि उसका रूप सर्वथा पूर्ण न हो; हो सकता है कि उस रूपको अभी और अधिक व्यापक बनाने, सुधारने तथा किसी और ढंगसे गढ़नेकी जरूरत हो, छूटी हुई वस्तुओं-को प्रकट करने, रूपरेखाओं और आकारोंमें हेर-फेर करने, बल देने और दिशा-निर्देश करनेकी भूलोंको सुधारनेकी आवश्यकता हो; किंतु एक दृढ़, एक व्यापक आधारकी स्थापना सिद्धांत-रूपमें ही नहीं बल्कि ठोस क्रियात्मक रूपमें भी की जा चुकी है। यदि सचमुच जीवनमें पूर्ण असफलता ही इसके हाथ लगी हो—और यही एक बात विचारनेको रह गयी है,—तो इसका कारण इन दोमेंसे कोई एक हो सकता है; या तो जीवन जैसा है इसके तथ्योंपर आदर्शको लागू करनेमें कोई बड़ी भारी मौलिक भूल हुई है, या फिर जीवनके तथ्योंको माननेसे ही एकदम इन्कार किया गया है। तब, शायद, दूसरे शब्दोंमें, जो कुछ हम हैं उससे, पहले, अधिकसे अधिक लाभ उठाये बिना उस चीजपर आग्रह किया गया है जो कि हम अपनी सत्ताकी किसी दुष्प्राप्य ऊंचाईपर बन सकते हैं। अनंततक हम केवल तभी पहुंच सकते हैं जब पहले हम सांतमें विकसित हो लें, कालमें विकसित होकर ही मनुष्य कालातीतको हृदयंगम कर सकता है, पहले अपने शरीर, प्राण और मनकी पूर्णता प्राप्त करके ही मनुष्य अध्यात्म-सत्ताको पूर्ण बना सकता है। यदि इस आवश्यकताकी उपेक्षा की गयी है, तब हम न्यायतः ही यह तर्क कर सकते हैं कि भारतीय संस्कृतिके प्रधान विचारमें एक मोटी, व्यवहार-विरोधी और अक्षम्य भूल हुई है। परंतु वास्तवमें ऐसी कोई भूल नहीं हुई है। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य क्या था, उसकी भावना और प्रणाली क्या थीं ओर उनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि उसकी प्रणालीमें जीवनके मूल्य और जीवन-संबंधी शिक्षणको यथेष्ट मान्यता दी गयी थी और इन्हें इनका उचित स्थान भी दिया गया था। यहांतक कि अत्यंत ऐकांतिक दर्शनों और धर्मों, बौद्धमत और मायावादने भी जो जीवनको एक ऐसी अनित्य या अविद्यात्मक वस्तु मानते थे जिसे अवश्य ही अतिक्रम करना और त्याग देना चाहिये, इस सत्यको दृष्टिसे ओझल नहीं किया कि पहले मनुष्यको इस वर्तमान अज्ञान या अनित्यताकी अवस्थाओंमें अपना विकास करना होगा और तब कहीं वह ज्ञान तथा उस नित्य तत्त्वको प्राप्त कर सकता है जो कालगत सत्ताका निषेध-रूप है। बौद्धधर्म केवल निर्वाण, शून्यता एवं लयका धूमिल उदासीकरण

ही नहीं था, न वह कर्मकी क्रूर निःसारता ही था; इसने हमें मनुष्यके ऐहलौकिक जीवनके लिये एक महान् और शक्तिशाली साधना प्रदान की। समाज और आचारशास्त्रपर अनेक प्रकारसे इसका जो बड़ा भारी भावात्मक प्रभाव पड़ा और कला एवं चिन्तनको तथा कुछ कम मात्रामें साहित्यको इसने जो सृजनकी प्रेरणा प्रदान की वे इसकी प्रणालीकी प्रबल जीवनी-शक्तिका पर्याप्त प्रमाण हैं। यदि सत्ताका निषेध करनेवाले इस अत्यंत ऐकांतिक दर्शनमें यह भावात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी तो भारतीय संस्कृतिके समग्र स्वरूपमें यह कहीं अधिक व्यापक रूपमें उपस्थित थी।

निःसंदेह, भारतीय मानसमें प्राचीन कालसे ही उस दिशामें एक उदात्त और कठोर अतिकी ओर विशेष रुझान एवं प्रवृत्ति रही है जिसे बौद्धधर्म और मायावादने ग्रहण किया था। मानवमन जो कुछ है उसके रहते यह अति अनिवार्य ही थी; बल्कि इसकी अपनी आवश्यकता एवं अपना मूल्य भी था। हमारा मन संपूर्ण सत्यको सहजमें तथा एक ही सर्वग्राही प्रयत्नके द्वारा नही प्राप्त कर लेता; दुःसाध्य खोज ही इसकी प्राप्तिकी शर्त है। मन सत्यके विभिन्न पहलुओंको एक दूसरेके विरोधमें खड़ा करता है, प्रत्येक पहलूका उसकी चरम संभावनातक अनुशीलन करता है, यहांतक कि कुछ समयके लिये उसके साथ एक अनन्य सत्यके रूपमें बर्ताव करता है, अधूरे समझौते करता है, नाना प्रकारके समायोजनों और अंधान्वेषणोंके द्वारा सच्चे संबंधोंके अधिक निकट पहुंचता है। भारतीय मनने इस पद्धतिका अनुसरण किया; जहांतक बन पड़ा, इसने संपूर्ण क्षेत्रको अपने अंदर समाविष्ट किया, प्रत्येक स्थितिका परीक्षण किया, प्रत्येक दृष्टिकोणसे सत्यका अवलोकन किया अनेक चरमावस्थाओं और अनेक समन्वयोंतक पहुंचनेका प्रयास किया। परंतु यूरोपीय आलोचक बहुत सामान्य तरीकेसे इस विचारमें ग्रस्त रहता है कि जीवनका निषेध करनेकी दिशामें यह जो अति है वही वास्तवमें भारतीय विचार और भावनाका सर्वस्व थी या फिर यही इस संस्कृतिका एकमात्र निर्विवाद सर्वोपरि विचार थी। इससे बढ़कर झूठी और गलत बात और कोई नहीं हो सकती। प्राचीन वैदिक धर्मने जीवनसे इन्कार नहीं किया बल्कि उसपर पूरा-पूरा बल दिया। उपनिषदोंने जीवनसे इन्कार नहीं किया, वरन् वे तो यह मानती थीं कि जगत् शाश्वत सत्ताकी, ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, यहां जो कुछ भी है वह सब ही ब्रह्म है, सब कुछ ही आत्मामें अवस्थित है और आत्मा सबमें अवस्थित है, स्वयंभू आत्मा ही ये सब पदार्थ और जीव बना है; प्राण भी ब्रह्म है, प्राण-शक्ति ही हमारे जीवनका असली आधार है, प्राण-देवता, वायु व्यक्त एवं प्रत्यक्ष ब्रह्म है,

प्रत्यक्षं ब्रह्म। परंतु उपनिषद्‌ने यह भी बलपूर्वक कहा कि मनुष्यकी वर्तमान जीवन-प्रणाली ही उच्चतम या पूर्ण नहीं है; उसका बाह्य मन और प्राण ही उसकी संपूर्ण सत्ता नहीं है; सिद्ध और पूर्ण होनेके लिये उसे अपने भौतिक और मानसिक अज्ञानको अतिक्रम कर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञानमें वर्धित होना होगा।

बौद्धधर्म इसके बाद आया और उसने इन प्राचीन शिक्षाओंके एक ही पहलूको ग्रहण कर जीवनकी अनित्यता और सनातनकी नित्यताके बीच एक तीव्र आध्यात्मिक और बौद्धिक विरोधकी सृष्टि की जिसने वैराग्यवादीय अतिको पराकाष्ठातक पहुंचा दिया और उसे एक सिद्धांतका रूप दे डाला। परंतु समन्वयशील हिन्दू मनने इस निषेधके विरुद्ध संघर्ष किया और अंतमें बौद्धधर्मको बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि इस दिशामें उसे एक बढ़ी हुई प्रवृत्ति मोल लेनी पड़ी। वह प्रवृत्ति शंकरके दर्शनमें, उनके मायाके उस सिद्धांतमें अपनी चरम सीमापर पहुंच गयी जिसने भारतीय मनपर अत्यंत गहरी छाप डाली और हिन्दू-जातिकी समूची जीवनी-शक्तिके उत्तरोत्तर ह्रासके समयमें ही आनेके कारण, अवश्य ही कुछ समयके लिये पार्थिव जीवनके निराशावादी और निषेधात्मक दृष्टिकोणको स्थिर करने और विशालतर भारतीय आदर्शको विकृत करनेकी चेष्टा की। परंतु उसका सिद्धांत महान् वैदांतिक शास्त्रों—उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीतासे निकलनेवाला कोई अनिवार्य परिणाम बिलकुल नहीं है, और अन्य वैदांतिक दर्शनों एवं धर्मोंने जो इन शास्त्रों तथा आध्यात्मिक अनुभवकी सहायतासे अत्यंत भिन्न परिणामोंपर पहुंचे, इस सिद्धांतका सदा ही खंडन किया। वर्तमान समयमें, शांकर दर्शनके अल्पकालीन उत्कर्षके होते हुए भी, भारतीय चिंतन और धर्मकी अत्यंत प्राणवंत प्रवृत्तियां फिरसे अध्यात्म और जीवनके समन्वयकी ओर ही बढ़ रही हैं जो कि प्राचीन भारतीय आदर्शका एक आवश्यक अंग था। अतएव मि. आर्चरका यह तर्क कि जीवन, सृजन और कर्मके क्षेत्रमें भारतने जो कुछ भी प्राप्त किया है वह अपनी संस्कृतिके प्रभुत्वपूर्ण विचारोंके विपरीत ही प्राप्त किया है, क्योंकि तार्किक दृष्टिसे उसे जीवन, सृजन और कर्मका परित्याग ही करना चाहिये था, उतना ही अयुक्तियुक्त है जितना कि अस्वाभाविक और भद्दा। मनुष्यकी बौद्धिक, क्रियाशील और संकल्पात्मक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक तथा आर्थिक सत्ताको पूर्ण रूपसे विकसित करना भारतीय सभ्यताका एक आवश्यक अंग था,—यदि और किसी चीजके लिये नहीं तो, कम-से-कम, आध्यात्मिक पूर्णता और स्वतंत्रताके एक अनिवार्य आरंभिक साधनके रूपमें तो आवश्यक था ही। चिंतन, कला, साहित्य और समाजमें भारतकी

सर्वश्रेष्ठ प्राप्तियां उसकी धर्मप्रधान दार्शनिक संस्कृतिका युक्तिसंगत परिणाम थीं।

किंतु फिर भी यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धांत चाहे जो भी रहा हो, उक्त अति तो विद्यमान थी ही और व्यवहारमें इसने जीवन और कर्मको निरुत्साहित किया। मि. आर्चरकी आलोचनाका, जब कि इसके अन्य असत्योंको दूर कर दिया जाता है, अंतमें यही अर्थ होता है; वह समझता है कि आत्मा, सनातन, विराट्, निर्व्यक्तिक एवं अनंतपर दिये गये बलने जीवन, संकल्प, व्यक्तित्व और मानव कर्मको निरुत्साहित किया तथा एक मिथ्या एवं जीवन-घाती वैराग्यवादको जन्म दिया। भारतको कोई महत्व-पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई, उसने कोई महान् व्यक्ति नहीं उत्पन्न किया, वह संकल्प और पुरुषार्थमें अक्षम था, उसका साहित्य और उसकी कला एक बर्बर, अस्वाभाविक और निःसार रचना है जो यूरोपकी तीसरे दर्जेकी कृतिके भी समान नहीं हैं, उसकी जीवन-कथा अयोग्यता और असफलताका एक लंबा और विषादजनक विवरण है। असंगतिकी, वह कम हो या अधिक, इस आलोचकको कोई परवा नहीं और अतएव उसी एक सांसमें वह यह भी कहता है कि ठीक वही भारत, जिसे उसने अन्यत्र सदा-दुर्बल, अनुर्वर या अद्‌भुत विफलताओंकी जननी कहकर वर्णित किया है, जगत्के अत्यंत मजे-दार देशोंमेंसे एक है, इसकी कला एक प्रभावशाली एवं आकर्षक जादू डालती है और उसकी सुषमा असंख्य प्रकारकी है, इसकी बर्बरताएं भी अपूर्व हैं और सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात यह है कि इसकी प्राचीन सुविरचित कुलीनवर्गीय संस्कृतिके सदनोंमें समासीन इसके कुछ महापुरुषोंके समक्ष एक यूरोपवासी अपनेको स्वभावतः ही एक अर्द्धबर्बर आगंतुक-सा अनुभव करने लगता है! परंतु इन अनुग्रह-चिह्नोंको जो मि. आर्चरकी मनोदशाके अंध-कार और विषादके आरपार कभी-कभी झलकनेवाली प्रकाशकी क्षीण रेखा-मात्र हैं, हम एक ओर छोड़ दें। हमें देखना यह है कि इस आलोचनाका सारतत्त्व कहांतक किसी आधारपर स्थित है। भारतीय जीवन, संकल्प, व्यक्तित्व, उपलब्धि और सृजनका, उन चीजोंका जिन्हें भारत अपनी गौरव-पूर्ण वस्तुएं मानता है, पर जिनसे, उसका आलोचक उसे बताता है कि उन्हें अपने लिये अपमानजनक समझकर उसे थरथर कांपना चाहिये, — वास्तविक मूल्य क्या था? बस, अब यही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बच गया है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पांचवां अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

क्रियात्मक परिणामोंकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिपर अधिकतर जो दोष लगाया जाता है उसका निराकरण बिना किसी विशेष कठिनाईके किया जा सकता है। जिस आलोचकसे मुझे निपटना है उसने, असलमें, अपनी उन्माद-पूर्ण अतिरंजनाकी भावनाके द्वारा जिसके आवेशमें वह लिखता है, अपना पक्ष बिगाड़ डाला है। यह कहना कि भारतमें जीवनकी कोई महान् या सजीव क्रियाशीलता नहीं रही है, बुद्धके काल्पनिक व्यक्तित्व और दूसरे, अशोकके निष्प्रभ व्यक्तित्वको छोड़कर भारतमें कोई और महान् व्यक्ति नहीं हुए हैं, भारतने कभी कोई संकल्पशक्ति नहीं प्रदर्शित की और कभी कोई महान् कार्य नहीं किया, — इतिहासके सारे तथ्योंके इतना विपरीत है कि केवल कोई पेशेवर छिद्रान्वेषी ही मामलेकी खोजमें इस कथनको प्रस्तुत कर सकता है या इसे ऐसे भद्दे जोशके साथ पेश कर सकता है। भारत जीवित रहा है और महानताके साथ जीवित रहा है, भले ही उसके विचारों और संस्थाओं पर हम कोई भी मत क्यों न प्रकाशित करें। क्योंकि, आखिर जीवनका अर्थ ही क्या है और हम अत्यंत पूर्ण और महान् रूपसे जीना किसे कहते हैं? जीवन, निश्चय ही, मनुष्यकी आत्मा, उसकी शक्तियों और क्षमताओं-की एक कृति एवं सक्रिय आत्म-अभिव्यक्तिके सिवा, रहने, विचार, सृजन, प्रेम और कर्म करने तथा सफलता प्राप्त करनेके उसके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है। जब किसीमें इस चीजका अभाव हो अथवा, इसका नितांत अभाव चूंकि हो ही नहीं सकता अतः यूं कहना चाहिये कि जब आंतरिक या बाह्य कारणोंसे यह दबी हुई, अवरुद्ध, निरुत्साहित या जड़ बनी हुई पड़ी हो तब हम कह सकते हैं कि उसमें जीवनका अभाव है। जीवन, अपने व्यापकतम अर्थमें, हमारे आंतरिक और बाह्य कर्मका एक महान् जाल है, शक्तिका खेल, कर्मका खेल है; धर्म, दर्शन, चिंतन, विज्ञान, काव्य और

शिल्प, नाटक, संगीत, नृत्य और अभिनय, राजनीति और समाज, उद्योग, वाणिज्य और व्यापार, साहसिक कार्य और यात्रा, युद्ध और शांति, संघर्ष और एकता, विजय और पराजय, अभीप्साएं और उतार-चढ़ाव, विचार और भावावेग, वचन और कर्म तथा हर्ष और शोक ही मनुष्यजीवनका गठन करते हैं। अधिक संकुचित अर्थमें कभी-कभी यह कहा जाता है कि जीवन एक अधिक प्रत्यक्ष एवं बाह्य प्राणिक व्यापार है, ऐसी चीज है जो भारी-भरकम बौद्धिकता या वैराग्यात्मक आध्यात्मिकताद्वारा दबायी जा सकती है, विचारकी मद्धिम आभा या संसार-विरक्तिकी और भी मद्धिम आभासे मरियलसी बनायी जा सकती है अथवा समाजकी नियमबद्ध परंपरानुयायी या अत्यंत कठोर प्रणालीके कारण निर्जीव, नीरस एवं अप्रिय बनायी जा सकती है। और फिर, संभव है कि समाजके एक छोटे तथा विशेषाधिकार-संपन्न भागका जीवन तो अत्यंत क्रियाशील तथा वैचित्र्यपूर्ण हो, पर सर्वसाधारणका जीवन स्फूर्तिहीन, सूना और दुःखभरा हो। अथवा, अंतमें, यह भी संभव है कि कोरे जीवन-यापनके सभी साधारण करणोपकरण और परिस्थितियां विद्यमान हों, पर यदि जीवन महान् आशाओं, अभीप्साओं और आदर्शोंके द्वारा ऊंचा न उठा हो तो हम सहज ही यह कह सकते हैं कि समाज वास्तवमें जीवित नहीं है; उसमें मानव आत्माकी स्वभावगत महानताकी कमी है।

भारतके प्राचीन और मध्ययुगीन जीवनमें उन चीजोंमेंसे किसीकी भी कमी नहीं थी जो मानवजीवनकी जीवंत एवं रोचक क्रियाशीलताका गठन करती है। बल्कि, वह रस-रंग और आकर्षणसे असाधारण रूपमें भरपूर था। इस संबंधमें मि. आर्चरकी आलोचना अज्ञानसे आकंठ भरी हुई है और वह इस विषयकी एक कोरी कपोल-कल्पनाके द्वारा ही गढ़ी हुई है कि प्रधानतया वैराग्यवादके सिद्धांतको मानने और जगत्के मिथ्यात्वमें विश्वास करनेपर तर्कतः वस्तुस्थिति कैसी होनी चाहिये थी, पर जिस किसीने भी तथ्योंका निकटसे अध्ययन किया है वह इस आलोचनाका समर्थन नहीं करता और न कर ही सकता है। यह ठीक है कि जहां अनेक यूरोपीय लेखकोंने जिन्होंने इस देश और जातिके इतिहासका अनुशीलन किया है, वर्तमान कालसे पहलेके भारतीय जीवनकी सजीवता, आकर्षक समृद्धि, रंग-रूप और सुषमाका ओजस्वी भाषामें गुणगान किया है — यह दुर्भाग्यकी बात है कि वह सब आज केवल इतिहास और साहित्यके पन्नों और अतीतके टूटे-फूटे या ढहते हुए खंडहरोंके रूपमें ही शेष रह गया है, — वहां जो लोग केवल दूरसे ही देखते हैं या केवल एक ही पहलूपर अपनी दृष्टि गड़ाते हैं वे बहुधा यही कहते हैं कि यह तत्त्वज्ञान, दर्शनशास्त्रों, स्वप्नों और चिंतापरायण

कल्पनाओंका देश है, और कुछ एक कलाकार तथा लेखक एक ऐसी शैलीमें लिखनेकी प्रवृत्ति रखते हैं मानों यह 'अलफ लैला' (Arabian Nights) का देश हो, विचित्र रंगों, कल्पनाओं और आश्चर्योंकी चमचमाहट मात्र हो। परंतु इसके विपरीत भारत भी सभ्यताके अन्य किसी भी महान् केंद्रके समान ही गंभीर और ठोस वास्तविकताओंका, चिंतन और जीवनकी समस्याओंके साथ कठोर संघर्षका, मर्यादाबद्ध और बुद्धिमत्तापूर्ण संगठन तथा महत् कर्मका आगार रहा है। ये अनुभव जिन अतिभिन्न विचारोंको व्यक्त करते हैं वे केवल भारतके जीवनकी बहुमुखी उज्ज्वलता और समृद्धताके ही द्योतक हैं। रंग-रूप और श्री-शोभा ही उसका सौंदर्यात्मक पहलू रहे हैं; उसने बड़े-बड़े स्वप्न देखे और उच्च एवं ओजस्वी कल्पनाएं की हैं, क्योंकि हमारे जीवनकी पूर्णताके लिये इस चीजकी भी जरूरत है; पर इसके साथ ही उसमें गंभीर दार्शनिक और धार्मिक चिंतन, जीवनकी व्यापक और अनुसंधानपूर्ण आलोचना, महान् राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था, प्रबल नैतिक स्वर और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनका अटल तेज-प्रताप—ये सब चीजें भी रही हैं। यह एक ऐसा सुसंयोग है जिसका मतलब है संपूर्ण वैभवसे युक्त जीवन, भले वह कुछ असाधारण दृष्टांतोंको छोड़कर, उन अधिक उग्र अहंकारमय विकृतियों और अतियोंसे रहित हो जिन्हें कुछ विचारक जीवनके उच्चतम बल-उत्साहका प्रमाण समझते दीखते हों।

भला किस क्षेत्रमें भारतने प्रयास, उपलब्धि एवं सृजन नहीं किया है, और सभीमें एक विस्तृत परिमाणमें, ब्योरेकी पूर्णताकी ओर अत्यधिक ध्यान देते हुए। उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक उपलब्धिके विषयमें तो असलमें कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। वे यहां उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार, कालिदासके शब्दोंमें, हिमालय इस भूतलपर "पृथ्वीके मानदंडके रूपमें अवस्थित है, **पृथिव्या इव मानदण्डः**" वे आजतक भी द्यौ और पृथिवीके बीच मध्यस्थता करती हैं; सांतको नापती, अपने मापक यंत्रको अनंतके अंदर दूरतक फेंकती हैं, अपने छोरोंको अतिचेतन और प्रच्छन्नचेतन सत्ता, आध्यात्मिक और प्राकृत सत्ताके ऊर्ध्व और निम्न समुद्रोंमें निमज्जित करती हैं। परंतु, यदि उसके दर्शनशास्त्र, उसके धार्मिक साधनाभ्यास, उसके अनेकानेक महान आध्यात्मिक व्यक्ति, विचारक, संस्थापक और संत उसकी महत्तम गरिमा हैं,—जैसा कि उसकी प्रकृति और प्रधान भावनाके लिये स्वाभाविक ही था,—तो भी ये चीजें उसकी एकमात्र गरिमा कदापि नहीं हैं और न इनकी उत्कृष्टताके कारण अन्य चीजें क्षुद्र ही हो जाती हैं। यह अब सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान युगसे पहले

उसने सायंसमें अन्य किसी भी देशकी अपेक्षा अधिक प्रगति की थी, और यहां तक कि यूरोप अपने भौतिक विज्ञानके आरंभके लिये यूनानके समान ही भारतका भी ऋणी है, यद्यपि सीधे तौरपर नहीं पर अरबोंके माध्यमके द्वारा। और चाहे उसने अन्य देशोंके समान ही प्रगति की होती तो भी एक प्राचीन संस्कृतिमें यह एक प्रबल बौद्धिक जीवनका पर्याप्त प्रमाण होता। विशेषकर, प्राचीन विज्ञानके मुख्य अंगों, गणित, ज्योतिष और रसायनमें उसने बहुत काफी तथा सम्यक् रूपसे खोज की और सिद्धांत स्थिर किये तथा तर्क या परीक्षणके बलपर कुछ एक वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारोंकी भविष्यवाणी की जिनपर यूरोप पहले-पहल बहुत देर बाद ही पहुंचा, पर जिन्हें वह अपनी नयी और पूर्णतर विधिके द्वारा एक अधिक दृढ़ आधारपर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ हुआ। शल्यतंत्रमें वह करणोंपकरणोंसे सुसंपन्न था और उसकी चिकित्सा-पद्धति आज भी जीवित है तथा अभीतक अपना महत्त्व बनाये हुए है, यद्यपि बीचमें ज्ञानतः इसका ह्रास हो गया था और केवल वर्तमान समयमें ही यह अपनी जीवन-शक्तिको फिरसे प्राप्त कर रही है।

साहित्यमें, मन-बुद्धिके जीवनमें, भारतने महान् रूपमें जीवन यापन किया और निर्माण किया। इतना ही नहीं कि उसके पास वेद, उपनिषदें और गीता हैं, — इस क्षेत्रकी उन अपेक्षाकृत कम महान् पर फिर भी ओजस्वी या मनोरम कृतियोंकी हम चर्चा नहीं करते जो धार्मिक और दार्शनिक काव्यके अतुलनीय स्मारक हैं, और जिनकी कोटिकी कोई भी बड़ी और विशेष मूल्यवान् रचना करनेमें यूरोप कभी भी समर्थ नही हुआ है, अपितु उसके पास वह बृहत् राष्ट्रीय कृति, महाभारत, भी है जो अपनी परिधिमें काव्यसाहित्यको संगृहीत करता है और एक सुदीर्घ निर्माणकारी युगके जीवनको इतनी पूर्णतासे अभिव्यक्त करता है कि एक प्रसिद्ध उक्तिमें, जिसमें एक अति उपयुक्त सुभाषितकी अतिरंजनाके साथ-साथ कुछ औचित्य भी है, इसके संबंधमें यह कहा गया है कि "जो कुछ इस भारत (महाभारत) में नहीं है वह भारतवर्षमें भी नहीं है", और इसके अतिरिक्त उसके पास रामायण भी है जो अपने ढंगकी सर्वाधिक महान् और विलक्षण कविता है, वह नैतिक आदर्शवाद और वीरतापूर्ण अर्द्ध-दिव्य मानव-जीवनका अत्यंत उदात्त और सुन्दर महाकाव्य है, अपिच उसके पास अतीव सुसंस्कृत विचार, ऐन्द्रिय उपभोग, कल्पना, कर्म और साहसिक कार्यके काव्य और उपन्यासकी आश्चर्यजनक समृद्धि, पूर्णता और रंगीनी भी है जो उसके अत्युत्कृष्ट युगके उपन्यास-साहित्यका गठन करती है। और न सृजनका यह सुदीर्घ अनवरत उत्साह संस्कृत भाषाकी जीवनी-शक्तिके नष्ट होनेके

साथ समाप्त ही हो गया, बल्कि उसकी अन्य भाषाओंमें, पहले तो पाली और प्राकृत, — दुर्भाग्यवश वह बहुत कुछ लुप्त हो गयी है,[1]—तथा तमिलमें और आगे चलकर हिंदी, बंगाली, मराठी एवं अन्य भाषाओंमें महान् या सुन्दर कृतियोंका पुंज तैयार करनेमें वैसा ही उत्साह बना रहा और कार्य करता रहा। भारतकी स्थापत्य-कला, मूर्त्ति-कला और चित्रकारीकी सुदीर्घ परंपरा, तूफानी सदियोंके समस्त विध्वंसके बाद जो कुछ बचा है उसमें भी, अपनी कहानी आप ही कह रही है: पश्चिमी सौंदर्य-विज्ञानका संकीर्ण-तर संप्रदाय उसके विषयमें कोई भी सम्मति क्यों न स्थिर करे, — और कम-से-कम उसकी कार्यान्विति तथा कारीगरीकी सूक्ष्मतासे तथा भारतीय मनको अभिव्यक्त करनेकी उसकी क्षमतासे इंकार नहीं किया जा सकता — फिर भी वह कम-से-कम एक अनवरत सृजन-संबंधी क्रियाशीलताकी साक्षी देती है। और सृजन जीवनका प्रमाण है और महान् सृजन जीवनकी महानताका।

परंतु यह कहा जा सकता है कि ये सब चीजें मनकी हैं, और भारत-की बुद्धि, कल्पनाशक्ति और सौंदर्यप्रिय मन सृजनशील रूपसे सक्रिय रहे होंगे पर फिर भी उसका बाह्य जीवन तो उत्साहहीन, निस्तेज, दीन-हीन, वैराग्यके रंगोंसे धूमिल, संकल्पबल और व्यक्तित्वसे शून्य, निष्प्रभाव और निष्फल ही रहा। इस स्थापनाको गलेके नीचे उतारना कठिन होगा; क्योंकि, साहित्य, कला और विज्ञान जीवनकी शून्यतामें नहीं फूलते-फलते। पर यहां भी तथ्य क्या हैं? भारतमें केवल महान् संतों, ऋषियों, विचारकों, धर्म-संस्थापकों, कवियों, स्रष्टाओं, वैज्ञानिकों, पंडितों, विधिज्ञोंकी ही लंबी तालिका नहीं रही है; उसमें महान् शासक, व्यवस्थापक, सैनिक, विजेता, महारथी, प्रबल सक्रिय संकल्प, योजनाकुशल मन और रचनाकारी द्रष्टृ-शक्तिसे संपन्न व्यक्ति भी हुए हैं। उसने लड़ाइयां लड़ी हैं और शासन भी किया है, व्यापार किया, उपनिवेश बसाये और अपनी सभ्यता-का प्रसार किया है, शासन-पद्धतियोंका निर्माण किया और जातियों तथा समाजोंका संगठन किया है, वह सब कुछ किया है जो कि महान् जातियों-की बाह्य कर्मशीलताका गठन करता है। कोई भी राष्ट्र कर्मके उसी क्षेत्रमें अपने अत्यंत सजीव आदर्श व्यक्तियोंको आविर्भूत करनेकी प्रवृत्ति रखता है जो उसके स्वभावके अत्यंत अनुकूल हो और उसके प्रमुख विचारको

---

[1]उदाहरणार्थ, पैशाची प्राकृतकी एक कृति जो किसी समय खूब प्रसिद्ध थी और जिसका कि 'कथासरित्सागर' एक निम्न कोटिका रूपांतर है।

प्रकट करता हो, और भारतमें महान् संत तथा धार्मिक पुरुष ही मूर्धन्य पदपर अवस्थित रहे हैं तथा महानताकी अत्यंत हृदयस्पर्शी और अविच्छिन्न नाम-परंपराको प्रस्तुत करते आये हैं, जैसे कि रोम अपने योद्धाओं, राजनीतिज्ञों और शासकोंके द्वारा ही सबसे अधिक जीवंत रहा। प्राचीन भारतमें ऋषि सर्वप्रमुख व्यक्ति होता था जिसके ठीक पीछे योद्धाका स्थान था जब कि बादके युगकी सबसे अधिक ज्वलंत विशेषता है — बुद्ध और महावीरसे लेकर रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास और तुकारामतक और इनसे भी आगे रामकृष्ण, विवेकानंद और दयानंदतक आध्यात्मिक पुरुषोंकी ही एक लंबी अविच्छिन्न शृंखला। पर साथ ही, प्रामाणिक इतिहासकी प्रथम उषासे लेकर जो चंद्रगुप्त, चाणक्य, अशोक एवं गुप्तवंशी सम्राटोंके प्रभावशाली व्यक्तित्वोंसे आरंभ होती है और मध्य युगके अनेकानेक, प्रसिद्ध हिन्दू और मुस्लिम व्यक्तित्वोंमेंसे होती हुई बिलकुल आधुनिक युगतक पहुंचती है, राजनीतिज्ञों और शासकोंके रूपमें भी अद्भुत सफलताएं प्राप्त हुई हैं। प्राचीन भारतमें गणतंत्रों, अल्प-जन-राज्यों, जनतंत्रों तथा छोटे-छोटे राज्योंका जीवन था जिनका कोई भी ऐतिहासिक ब्योरा अब शेष नहीं है; उनके बाद हम देखते हैं साम्राज्य-निर्माणका दीर्घकालीन प्रयत्न, सीलोन और समुद्री द्वीपसमूहोंका उपनिवेशीकरण, पठान और मुगल राजवंशोंके उत्थान और पतनसे संलग्न तीव्र संघर्ष, दक्षिणमें जीवित रहनेके लिये हिंदुओंका संघर्ष, राजपूती वीरताका आश्चर्यजनक इतिवृत्त, महाराष्ट्रमें समाजके निम्नतम स्तरोंतक व्यापी हुई राष्ट्रीय जीवनकी भारी उथल-पुथल, सिक्खोंके खालसा संप्रदायकी विलक्षण गाथा। उस बाह्य जीवनका यथोचित चित्रण करना अभी बाकी है; एक बार चित्रित कर दिये जानेपर वह अनेक मिथ्या कल्पनाओंका अंत कर देगा। यह सब विपुल कार्य-कलाप किन्हीं ऐसे आदमियोंके द्वारा नहीं संपन्न किया गया था जो मन, संकल्प और जीवन-शक्तिसे रहित थे, मानवताकी ऐसी निस्तेज छायाओंके द्वारा नहीं किया गया था जिनमें ऊर्जस्वी मनुष्यत्वको विषादमय और सर्व-विनाशक वैराग्यवादके बोझके नीचे कुचल डाला गया था, न ही यह स्वप्नविलासियोंकी एक ऐसी जातिका चिह्न प्रतीत होता है जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो और जो जीवन तथा कर्मका विरोध करती हो। वे कोई घास-फूसके पुतले या निर्जीव एवं संकल्पशून्य मिट्टीके घोंघे या निःशक्त स्वप्नविलासी नहीं थे जिन्होंने इस प्रकार कर्म किया, योजनायें बनायीं, विजयें प्राप्त कीं, प्रशासनकी महान् प्रणालियोंका निर्माण किया, राज्य और साम्राज्य स्थापित किये, काव्य, कला और स्थापत्यके महान् आदर्शोंके रूपमें विख्यात हुए अथवा,

आगे चलकर, वीरताके साथ विजातीय राज्यसत्ताका सामना किया और जाति या राष्ट्रकी स्वतंत्रताके लिये युद्ध किया। और न वह कोई जीवन-रहित राष्ट्र ही था जिसने अपनी सत्ता और संस्कृतिको सुरक्षित रखा और अबतक जीवित बना रहा तथा निरंतर विरोधी परिस्थितियोंके नित बढ़ते हुए दबावके कारण सर्वदा नया-नया जीवन प्राप्त करता रहा। भारतका वर्तमान धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक पुनरुज्जीवन जिसे अब कभी-कभी नवजागरण कहा जाता है और जो उसके आलोचकोंके मनको इतना व्याकुल और व्यथित करता है, परिवर्तित अवस्थाओंमें, उपयुक्त रूपमें, अभीतक कम सजीव पर महत्तर क्रियासमूहमें, उसी चीजकी पुनरावृत्ति मात्र है जो भारतीय इतिहासमें एक सहस्र वर्षतक पुनःपुनः घटित होती रही है।

और यह स्मरण रखना होगा कि अपनी संस्कृति और प्रणालीके बलपर सारेके सारे राष्ट्रने सार्वजनीन जीवनमें भाग लिया। निःसंदेह, अतीतमें सभी देशोंमें जनसाधारणने कुछ अल्पसंख्यक लोगोंकी अपेक्षा कम सक्रिय और कम जीवंत शक्तिके साथ, — यहांतक कि कभी-कभी तो पूर्ण समृद्धिके किसी आरंभिक प्रकारके आरंभके साथ भी नहीं, बल्कि जीवनके केवल प्राथमिक उपादानोंके साथ, — जीवन यापन किया है; और आधुनिक सभ्यता भी इस विषमतासे अभीतक छुटकारा नहीं पा सकी है, यद्यपि उसने मौलिक जीवन, चिंतन और ज्ञानके लाभों या कम-से-कम आरंभिक अवसरोंको एक अधिक बड़े जनसमुदायके लिये सुलभ कर दिया है। परंतु प्राचीन भारतमें, यद्यपि उच्चतर वर्ग ही नेतृत्व करते थे और जीवनके शक्ति-सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य-वैभवका बहुत बड़ा भाग उन्हींके अधिकारमें था, तथापि आम लोग भी इधर कुछ समय पहलेतक कुछ छोटे परिमाणमें ही सही पर सबल रूपमें और एक अधिक विस्तृत पर कम केंद्रीभूत शक्तिके साथ जीवन यापन करते थे। उनका धार्मिक जीवन किसी अन्य देशके धार्मिक जीवनकी अपेक्षा अधिक गंभीर था; दार्शनिकोंके विचारों और संतोंके प्रभावका रसास्वादन वे अद्भुत सुगमताके साथ करते थे; उन्होंने बुद्धके तथा उनके बाद जो बहुतसे महापुरुष आये उनके उपदेशका श्रवण और अनुसरण किया; उन्होंने संन्यासियोंसे शिक्षा ग्रहण की और वे भक्तों तथा बाउलों (bouls)[1] के गाने गाते थे और इस प्रकार कभी भी रचित अत्यंत कोमल और कमनीय काव्य-साहित्यकी कुछ संपदा उनके पास थी; हमारे धर्मके महत्तम व्यक्तियोंमेंसे अनेक उन्हींकी देन थे, और शूद्रोंमेंसे भी संत प्रकट हुए जिनका सम्मान

---

[1]बंगालके बाऊल संप्रदायके भक्त एवं कीर्तनकार बाउल कहलाते थे। अनु.

सारा समाज करता था। प्राचीन हिंदू युगमें उन्हें राजनीतिक जीवन और शक्तिका अपना हिस्सा प्राप्त था; वे ही जनसाधारण थे, वेदमें वर्णित 'विशः' थे, जिनके कि राजागण नेता होते थे और उनसे तथा पवित्र या राजकीय वंशोंसे ऋषियोंका जन्म हुआ था; वे अपने ग्रामोंको छोटे-छोटे स्व-शासित गणराज्योंके रूपमें अपने अधिकारमें रखते थे; महान् राज्यों और साम्राज्योंके युगमें वे नगरपालिकाओं और पौर-परिषदोंके सदस्य होते थे और राजनीति-विज्ञानके ग्रंथोंमें जिस विशिष्ट राज-परिषद्का वर्णन मिलता है उसका बहुत बड़ा भाग सर्वसाधारण लोगों, वैश्योंसे ही गठित था, ब्राह्मण पंडितों और अभिजात क्षत्रियोंसे नहीं; दीर्घकालतक वे, किसी लंबे संघर्षकी जरूरत पड़े बिना, एक ही बार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करके अपने राजाओंपर अपनी इच्छा लादनेमें समर्थ रहे। जबतक हिंदू राज्योंका अस्तित्व रहा, ये सभी चीजें कुछ अंशमें जीवित रहीं, और निरंकुश स्वेच्छाचारी शासनके मध्य-एशियाई रूपोंके, जो भारतकी स्वदेशीय उपज कदापि नहीं थे, भारतमें प्रविष्ट होनेपर भी उस पुरानी व्यवस्थाका कुछ अंश बचा रहा। कला और काव्यमें भी जन साधारण भाग लेते थे, ये उनके ऐसे साधन थे जिनके द्वारा भारतीय संस्कृतिका सार संपूर्ण जनतामें प्रसारित होता था, प्राचीन समयके महान् विश्वविद्यालयोंके अतिरिक्त प्रारंभिक शिक्षाकी उनकी अपनी एक प्रणाली थी, लोकप्रिय नाट्य-प्रदर्शनका अपना एक ढंग था जो देशके कुछ भागोंमें अभी कलतक जीवित था; उन्होंने भारतको उसके कलाकार और स्थापत्यवेत्ता तथा जनभाषाओंके अनेक प्रसिद्ध कवि प्रदान किये; उन्होंने अपनी अतीत चिरंतन संस्कृतिके बलपर एक स्वभावगत सौंदर्यात्मक भावना और क्षमताको सुरक्षित रखा जिसका कि भारतीय कारीगरका कार्य एक अविच्छिन्न और प्रभावशाली प्रमाण रहा जबतक कि वह रसात्मक भावना और सौंदर्यके भद्दे बन जाने और क्षीण होनेके कारण विनष्ट या विकृत ही नहीं हो गया जो कि आधुनिक सभ्यताका एक अन्यतम परिणाम हुआ है। और न भारतका जीवन वैराग्य, निराशा या विषादसे भरा हुआ था, जैसा कि आलोचक अति तर्कशील मन इसे मानना चाहेगा। इसका बाह्य रूप अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक शांत है, इसमें परदेसियोंके सामने एक विशेष प्रकारकी गंभीरता और संयम देखा जाता है जो विदेशी पर्यवेक्षकको धोखेमें डालता है, और हालके युगमें इसपर वैराग्य, दारिद्र्य, तथा अतिनैतिक प्रवृत्तिकी बुद्धिका प्रभाव पड़ा है; परंतु देशके साहित्यमें चित्रित जीवन प्रसन्न और प्राणवंत है, और यहांतक कि आज भी स्वभावकी कुछ विविधताओं और विशाद उत्पन्न करनेवाली अनेकों

शक्तियोंके होते हुए भी, जीवनके उतार-चढ़ावोंमें हास-परिहास, विनम्र नमनीयता और समचित्तता भारतीय चारित्र्यके अत्यंत स्पष्ट लक्षण हैं।

अतएव यह सारा सिद्धांत ही कि भारत जातिमें अपनी संस्कृतिके परिणामस्वरूप जीवन, इच्छाशक्ति और क्रियाशीलताका अभाव है, एक कल्पना है। जिन परिस्थितियोंने पीछेके युगमें इसपर अपना कुछ रंग चढ़ाया है उनका अपने उपयुक्त प्रसंगमें उल्लेख किया जायगा; पर वे ह्रास-कालका एक अंग हैं, और उस अवस्थामें भी उन्हें काफी देख-भालकर ही ग्रहण करना होगा, परंतु इसकी अतीत महानताका कहीं अधिक लंबा इतिहास एक बिलकुल दूसरी ही कहानी सुनाता है। वह इतिहास यूरोपीय ढंगसे लिपिबद्ध नहीं किया गया है; कारण, यद्यपि भारतमें इतिहास और जीवन-चरितकी कलाकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की गयी पर इसका विकास भी पूर्ण रूपसे कभी नहीं किया गया, न कभी इसका पर्याप्त रूपसे अनुशीलन ही किया गया, और न काश्मीरके एक अकेले दृष्टांतको छोड़कर और कहीं भी मुस्लिम राजवंशोंसे पहलेके राजाओं, महापुरुषों और प्रजाजनोंके कार्य-कलापका कोई स्थिर अभिलेख ही बचा हुआ है। यह निश्चय ही एक त्रुटि है और इसके कारण एक बहुत गहरी खाई बन गयी है। भारतने बहुल रूपमें जीवन यापन तो किया है, पर वह अपने जीवनके इतिहासको लेख-बद्ध करने नहीं बैठा। उसकी आत्मा और मन अपने महान् स्मारक छोड़ गये हैं, परंतु उसकी शेष चीजों, अधिक बाह्य चीजोंके बारेमें हम जितना कुछ जानते हैं—और आखिर वह कम नहीं है—वह उसकी अपनी लापर-वाहीके बावजूद भी जैसे-तैसे बचा रह गया है या हालमें ही प्रकट हो उठा है; जो सही अभिलेख उसके पास थे उन्हें उसने जीर्ण-शीर्ण होकर विस्मृत या विलुप्त हो जाने दिया है। मि. आर्चर जब हमें बताते हैं कि हमारे इतिहासमें कोई भी महान् व्यक्ति देखनेमें नहीं आते तब शायद असलमें उनका मतलब यह होता है कि वे उनकी समझमें नहीं आते क्योंकि उनके कथन और कार्यकलाप पश्चिमी शैलीकी न्याईं सूक्ष्मताके साथ लेखबद्ध नहीं मिलते; उनका व्यक्तित्व, संकल्प-बल एवं सृजनशक्ति केवल उनके कार्य या सांकेतिक परंपरा और उपाख्यानमें अथवा अपूर्ण अभिलेखोंमें ही प्रकट होती है। और एक अत्यंत विचित्र एवं मनमानी बात यह है कि इस दोषका कारण जीवनके प्रति रुचिके वैराग्यमूलक अभावको माना गया है; ऐसा माना जाता है कि भारत 'सनातन' में इतना अधिक तल्लीन था कि उसने समयकी जानबूझकर उपेक्षा और अवहेलना की, वैराग्यपूर्ण चिंतना तथा निवृत्तिमार्गीय शांतिके अनुसरणमें इतना गंभीर रूपसे एकाग्र था कि

उसने कर्मकी स्मृतिको तुच्छताकी दृष्टिसे देखा और उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। यह एक और मिथ्या गाथा है। सुरक्षित और सुविचारित अभिलेखके अभावकी ऐसी ही बात अन्य प्राचीन संस्कृतियोंमें भी दृष्टिगोचर होती है, परंतु कोई भी आदमी यह नहीं कहता कि भारतकी भांति और वैसे ही कारणसे पुरातत्त्वविदोंको हमारे लिये मिस्र, असीरिया या फारसका पुनर्निर्माण करना होगा। यूनानके प्रतिभाशाली विद्वानोंने, उसकी कर्मपरता के पिछले युगमें ही सही, इतिहासकी कलाका विकास किया, और यूरोपने उस कलाको पाला-पोसा और सुरक्षित रखा है; भारत तथा अन्य प्राचीन सभ्यताएं इसतक नहीं पहुंचीं या फिर उन्होंने इसके पूर्ण विकासकी उपेक्षा की। यह एक दोष अवश्य है, पर इस बातका कोई कारण नहीं कि इस एक मामलेके कारण ही हम अपना रास्ता छोड़कर यह मानने लगें कि किसी निश्चित उद्देश्यसे या जीवनके प्रति दिलचस्पीका किसी प्रकारका अभाव होनेके कारण ही ऐसा किया गया। और इस दोषके होते हुए भी, भारतके अतीतका अनुसंधान अद्यावधि-उपलभ्य सामग्रीकी बृहत् राशिको जितना ही अधिक अनावृत करता है उतना ही अधिक उसके अतीत जीवनकी महानता एवं कर्मठता स्वयमेव प्रकट हो उठती है तथा कहीं अधिक उभरकर हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

परंतु इसपर भी हमारा आलोचक यह कहना चाहेगा कि भारतने मानों अपने स्वभावके विरुद्ध जीवन यापन किया और इस सब प्रचुर कर्मके अंदर वैयक्तिक संकल्पको खर्व करने तथा किसी महान् विशिष्ट व्यक्तित्वके अभावका पुष्कल प्रमाण विद्यमान है। इस परिणामपर वह उन तरीकोंसे पहुंचता है जिनमें आलोचककी 'निष्पक्ष मनोवृत्तिके बजाय पत्रकार या पैम्फिलटबाजकी चतुराईकी गंध पायी जाती है। उदाहरणार्थ, वह हमें बताता है कि भारतने विश्वके महान् पुरुषोंके दलमें केवल एक या अधिक-से-अधिक दो ही महान् नाम प्रदान किये हैं। निश्चय ही, इससे उसका अभिप्राय यूरोपके महान् व्यक्तियोंके दलसे है, या विश्वके महान् व्यक्तियोंके ऐसे दलसे है जिसकी परिकल्पना यूरोपके मनने की है और जिसमें वह अपने प्रिय एवं सुपरिचित, पश्चिमी इतिहास और कृतित्वसे संबंध रखनेवाले विख्यात व्यक्तियोंके नाम ठूंस-ठूंसकर भर देता है और सुदूरपूर्वके अधिक विराट्-विशाल नामोंमेंसे बहुत थोड़ोंको ही स्वीकार करता है जिनकी उपेक्षा करना उसे अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। यहां हमें उस सूचीकी याद हो आती है जिसे एक महान् फ्रेंच कविने साहित्यके क्षेत्रमें तैयार की थी जिसमें फ्रेंच नामोंकी एक अंतहीन तालिका शेष यूरोपके सभी कवियोंकी

नामावलिके बराबर ही या उससे भी अधिक लंबी थी! यदि कोई भारतीय उसी भावनाके साथ उस कार्यमें प्रवृत्त हो तो निःसंदेह वह उसी प्रकार भारतीय नामोंकी एक अंत-रहित सूची बना डालेगा जिसमें यूरोप और अमरीका, अरब, फारस, चीन और जापानके कुछ महान् साहित्यकारोंके नाम इस विशाल प्रायद्वीपीय शरीरकी छोटी-सी दुमकी तरह लटक रहे होंगे। पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तिकी इन कसरतोंका कोई मल्य नहीं। और यह पता लगाना कठिन है कि जब मि. आर्चर, अन्य महान् भारतीय नामोंको द्वितीय श्रेणीमें फेंककर, केवल तीन या चार नामोंको ही स्थान देते हैं और वहां भी उन्हें उनके समकक्ष अमर यूरोपीय नामोंकी तुलनामें नीचा दिखाते हैं तो वे मूल्योंके किस मानदंडका प्रयोग करते हैं। शिवाजी, जिनका जीवन एवं चरित्र प्राणवंत और मनोरंजक था और जिन्होंने केवल एक राज्यकी स्थापना ही नहीं की बल्कि एक जातिको संगठित भी किया, किस बातमें क्रामवेल (Cromwell) से हीन हैं अथवा शंकर, जिनकी महान् आत्माने अपने मर्त्य जीवनके कुछ ही वर्षोंमें सारे भारतकी दिग्विजय कर डाली और उसके निवासियोंके समस्त धार्मिक जीवनका पुनर्निर्माण कर डाला, एक व्यक्तित्वके रूपमें किस बातमें लूथरसे कम हैं? क्यों चाणक्य और चंद्रगुप्त, जिन्होंने भारतमें साम्राज्य-निर्माणका रूप निर्धारित किया और जिनकी महान् प्रशासनिक पद्धति कुछ परिवर्तनोंके साथ—बहुधा उसे विकृत करनेवाले परिवर्तनोंके साथ—आधुनिक युगतक जीवित रही, यूरोपीय इतिहासके शासकों और राजनीतिज्ञोंसे हीन व्यक्ति हैं? संभव है कि भारत अपने जीवनके किसी वैसे व्यस्त समयका इतिहासबद्ध विवरण न प्रस्तुत कर सके जैसे कि एथेन्सके कुछ एक वर्ष थे जिनकी मि. आर्चर दुहाई देते हैं; संभव है कि, बहुतसे मनोरंजक, पर प्रायः ही उपद्रवजनक और अविश्वसनीय, यहांतक कि दुर्वृत्त और विद्रोही व्यक्तियोंका जो दल नवजागरणके समयके इटलीके नगरोंकी कहानीको अलंकृत और कलुषित करता है, उसकी तुलनाके व्यक्ति भारतके पास न हों, यद्यपि उसके भी अपने अत्यंत व्यस्त समय रहे हैं जिनमें एक भिन्न श्रेणीके व्यक्तियोंकी भरमार थी। परंतु उसमें अनेक शासक, राजनीतिज्ञ और कलाके प्रोत्साहक हुए हैं जो अपने ढंगसे वैसे ही महान् थे जैसे पेरिक्लीज या लोरेंजो दि मेदिसी; उसके ख्यातनामा कवियोंके व्यक्तित्व कालके कुहासेमेंसे अधिक धुंधले रूपमें ही प्रकट होते हैं, पर वे ऐसे संकेतोंको लिये हुए हैं जो एक उच्च आत्मा या एक ऐसी महान् मानवताकी ओर निर्देश करते हैं जैसी एसकिलस या यूरिपिडीजकी थी अथवा एक ऐसी जीवन-कथाकी ओर संकेत

करते हैं जो वैसी ही मानवीय और मनोरंजक थी जैसी इटलीके ख्याति-प्राप्त कवियोंकी। और यदि इस एक ही देशकी सारे यूरोपके साथ तुलना की जाय जैसा कि मि. आर्चर आग्रह करते हैं,—मख्यतः इस आधारपर कि स्वयं भारतवासी जब अपने देशके विस्तार और इसकी अनेक जातियोंकी तथा उस कठिनाईकी चर्चा करते हैं जो उन्हें भारतकी एकताको संगठित करनेमें इतने दीर्घकालतक अनुभव हुई है, तो वे भी ऐसी ही तुलना करते हैं,—तब संभव है कि राजनीतिक और सामरिक कार्यके क्षेत्रमें यूरोप चिरकालसे अग्रणी दिखायी दे, पर महान् आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी उस अतुल बहुलताका क्या होगा जिसमें भारत अग्रगण्य है? और फिर, मि. आर्चर सर्जनशील भारतीय मनके द्वारा सृष्ट महत्त्वपूर्ण पात्रोंके बारेमें जिनसे कि उसका साहित्य और उसके नाटक भरे हुए हैं, उद्धततापूर्ण निंदाके साथ चर्चा करते हैं। यहां भी उनकी बातको समझ पाना या मूल्यों-संबंधी उनके मानदंडको स्वीकार करना हमारे लिये कठिन है। कम-से-कम पूर्वीय मनके लिये राम और रावण वैसे ही सजीव, महान् और वास्तविक पात्र हैं जैसे कि होमर और शेक्सपीयरके पात्र, सीता और द्रौपदी निश्चय ही हेलेन और क्लिओपाट्रासे कम जीवंत नहीं हैं, दमयंती और शकुंतला तथा स्त्रीजातिकी आदर्शभूत अन्य देवियां ऐलसेस्टिस या डेसडेमोनासे जरा भी कम मधुर, कमनीय एवं सजीव नहीं हैं। मैं यहां उनकी किसी प्रकारकी उत्कृष्टताकी स्थापना नहीं कर रहा हूं, पर यह आलोचक जिस अतल असमानता और हीनताकी स्थापना करता है वह यथार्थ रूपमें नहीं, बल्कि केवल उसकी कल्पना या उसके देखनेके तरीकेमें ही विद्यमान है।

शायद यही है एकमात्र महत्वपूर्ण चीज, एकमात्र वस्तु जो वास्तवमें ध्यान देने योग्य है, अर्थात् मनोवृत्तिका यह भेद जो इन तुलनाओंके मूलमें वर्तमान है। सचमुचमें देखा जाय तो, जीवन या शक्तिकी या क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाले संकल्पकी कोई भी हीनता विद्यमान नहीं है, बल्कि मानव प्रकृतिकी समानतामें जहांतक गुंजाइश है वहांतक नमूने, स्वभाव, और व्यक्तित्वका विभेद है, अथवा यूं कहें कि विभिन्न और लगभग उलटी दिशाओंपर एक प्रकारका अधिक बल दिया गया है। भारतमें संकल्पशक्ति और व्यक्तित्वका अभाव नहीं रहा है, वरन् वह दिशा जो इन्हें अधिक वांछनीय रूपमें प्रदान की गयी है तथा जिस नमूनेकी सर्वाधिक सराहना की गयी है वे भिन्न प्रकारके हैं। औसत यूरोपीय मन एक अहंकारमय या आत्म-स्थापक संकल्पको जो प्रबल या साहसपूर्ण तथा उग्र, यहांतक कि कभी-कभी भीषण आग्रहके साथ अपने अस्तित्वपर बल देता है, महत्त्व प्रदान करने या कम-से-कम

उसमें अधिक दिलचस्पी लेनेकी प्रवृत्ति रखता है; भारतीय मानस शांत, अपने-आपको वशमें करनेवाले अथवा यहांतक कि अपने-आपको मिटा देनेवाले व्यक्तित्वको नैतिक दृष्टिबिंदुसे, जो कि सर्वत्र पाया जाता है,— केवल अधिक मूल्यवान् ही नहीं मानता बल्कि उसमें अधिक जीवंत रुचि भी रखता है; क्योंकि अहंको मिटाना उसे सच्चे व्यक्तित्व और इसकी महानताके मूल्य एवं शक्तिको मिटाना नहीं वरन् बढ़ाना प्रतीत होता है। मि. आर्चरको अशोक निस्तेज और वैशिष्टयहीन मालूम होते हैं; भारतीय मनके लिये वे अत्यंत सतेज और आकर्षक हैं। शार्लमाञ या, यह कहें कि कान्स्टैन्टाईन की तुलनामें अशोकको निस्तेज क्यों कहना चाहिये? क्या इसका कारण यह है कि उन्होंने केवल अपनी रक्तपातपूर्ण कलिंगविजयकी ही चर्चा की है ताकि वह अपने पश्चाताप तथा अपनी आत्माके परिवर्तनकी बात कह सकें, जो एक ऐसी भावना है जिसे शार्लमाञ, अच्छा ईसाई बनानेके लिये सैक्सनोंका संहार करता हुआ जरा भी न समझ सकता, और न शायद उसे अभिषिक्त करनेवाले पोप ही उससे कुछ अधिक समझ सकता? कान्स्टैन्टाइनने ईसाई धर्मको विजय दिलायी, पर उसके व्यक्तित्वमें ईसाईपन जरा भी नहीं है; अशोकने बौद्धधर्मको केवल सिंहासनपर प्रतिष्ठित ही नहीं किया, अपितु बुद्धके द्वारा प्रतिपादित मार्गका अनुसरण करनेका भी यत्न किया, यद्यपि इसमें वह पूर्ण रूपसे सफल नहीं हुए। और भारतीय मन उन्हें कान्स्टैन्टाइन या शार्लमाञकी अपेक्षा केवल एक श्रेष्ठतर-संकल्प-शाली पुरुषके रूपमें ही नहीं बल्कि एक अधिक महान् और आकर्षक व्यक्तित्वके रूपमें भी आदृत करेगा। भारत चाणक्यमें रुचि अवश्य रखता है, पर उससे कहीं अधिक रुचि चैतन्य महाप्रभुमें रखता है।

और यथार्थ जीवनकी ही तरह साहित्यमें भी उसकी ऐसी ही प्रवृत्ति है। यह यूरोपीय मन राम और सीताको अरुचिकर और अवास्तविक अनुभव करता है, क्योंकि वे अति धर्मात्मा, अति आदर्शमय, अति उज्ज्वल चरित्र-वाले हैं; परंतु भारतीय मनके लिये, समस्त धार्मिक भावनाको एक ओर रख देनेपर भी, वे एक अत्यंत आकर्षक सद्वस्तुकी साकार मूर्त्तियां हैं जो हमारी सत्ताके अंतरतम तंतुओंको आकर्षित करती हैं। एक यूरोपीय विद्वान् महाभारतकी आलोचना करता हुआ उस महान् काव्यमें बलशाली और उग्र भीमको ही एकमात्र सच्चा पात्र अनुभव करता है; इसके विपरीत, भारतीय मन अर्जुनकी शांत-स्थिर वीरतामें, युधिष्ठिरके उत्तम नैतिक स्वभावमें, कुरुक्षेत्रके दिव्य सारथिमें जो अपने अधिकारके लिये नहीं बल्कि धर्म और न्यायके राज्य की स्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं, एक अधिक महान् पात्रके दर्शन करता है तथा

एक अधिक मार्मिक आकर्षण अनुभव करता है। जो उग्र या अहंख्यापक अथवा अपनी वासनाओंकी आंधीके साथ उड़नेवाले पात्र यूरोपीय महाकाव्य और नाटकके मुख्यतः रुचिकर विषय हैं उन्हें वह या तो दूसरी श्रेणीमें डाल देगा अथवा, यदि वह उन्हें एक विशाल आकार-प्रकारमें प्रस्तुत करेगा भी तो वह उन्हें इस प्रकार स्थान देगा कि अधिक उच्च कोटिके व्यक्तित्वकी महानता उभरकर सामने आ जाय, जैसे कि रावण रामके विपरीत गुणोंका प्रदर्शन करता है तथा उसे अधिक आकर्षक बना देता है। जीवनविषयक सौंदर्य-विज्ञानमें इनमेंसे एक प्रकारका मन तड़क-भड़कवाले व्यक्तित्वकी सराहना करता है और दूसरे प्रकारका मन तेजस्वी व्यक्तित्वकी। अथवा, स्वयं भारतीय मन इनमें जो भेद करता है उसकी परिभाषामें कहें तो, एक प्रकारके मनकी रुचि राजसिक संकल्प और चरित्रमें अधिक केंद्रित रहती है और दूसरेकी सात्त्विक संकल्प और चरित्रमें।

आया यह भेद भारतीय जीवन और सृजन-संबंधी सौंदर्य-विज्ञानपर हीनताको थोपता है या नहीं इस बातका निर्णय हर एकको अपने-आप करना होगा, परंतु इतना निश्चित है कि इस विषयमें भारतीय विचार अधिक विक-सित एवं अधिक आध्यात्मिक है। भारतीय मनका विश्वास है कि सत्ताके राजसिक या अधिक रंजित अहंकारी स्तरसे सात्त्विक और अधिक प्रकाशमय स्तरकी ओर बढ़नेसे संकल्प और व्यक्तित्व हीन नहीं बल्कि उन्नत होते हैं। आखिरकार, क्या स्थिरता, आत्म-प्रभुत्व, और उच्च संतुलन संकल्पबलके निरे आत्म-प्रस्थापन या आवेगोंकी उग्र प्रताड़नाकी अपेक्षा चरित्रकी अधिक महान् एवं अधिक वास्तविक शक्तिके चिह्न नहीं हैं? इन गुणोंके होनेका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यको अपना कार्य एक हीनतर या कम सबल संकल्पके साथ करना होगा बल्कि केवल एक अधिक यथार्थ, स्थिर-शांत संकल्पके साथ करना होगा। और यह सोचना गलत है कि स्वयं वैराग्यवादको यदि ठीक तरहसे समझा जाय, उसका ठीक तरहसे अनुसरण किया जाय तो उसका अर्थ संकल्प-शक्तिको मिटा देना ही होता है; सच पूछो तो वह संकल्पबलकी एक अधिक महान् एकाग्रताको जन्म देता है। यही भारतीय दृष्टिकोण और अनुभव है और महाकाव्योंकी उन प्राचीन पौराणिक कथाओंका अर्थ भी यही है,— जिनपर मि. आर्चर, उनके पीछे निहित विचारको गलत रूपमें समझनेके कारण, तीव्र आक्षेप करते हैं, पर जो यह बतलाती हैं कि वैराग्यपूर्ण आत्म-प्रभुत्व अर्थात् तपस्याके द्वारा प्राप्त बलमें, जब कि उसका दुरुपयोग भी किया गया तब भी, बहुत बड़ी सामर्थ्य निहित है। भारतीय मनका विश्वास था और अब भी है कि आत्मबल अधिक बाह्य एवं भौतिक

रूपमें कार्य करनेवाली संकल्पशक्तिकी अपेक्षा महत्तर वस्तु है, वह संकल्पके एक बलवत्तर केंद्रसे कार्य करता है और उसके परिणाम भी अधिक महान् होते हैं। परंतु यहां यह कहा जा सकता है कि भारतने निर्व्यक्तिकको अत्यधिक मूल्य प्रदान किया है और यह चीज, स्पष्टत: ही, व्यक्तित्वको निरुत्साहित करती है। परंतु इसमें भी,—समाधिमें या सनातनकी नीरवतामें अपने-आपको खोनेके अभावात्मक आदर्शको छोड़कर, जो कि इस विषयका असली सार नहीं है,—एक भ्रांत धारणा निहित है। यह बात चाहे कितनी ही विरोधाभासी क्यों न प्रतीत हो, मनुष्य सचमुचमें अनुभव करता है कि अपनी सत्ता और कर्मके पीछे सनातन एवं निर्व्यक्तिकको स्वीकार करना और उसके साथ एकत्वके लिये प्रयत्न करना ही ठीक वह चीज है जो व्यक्तिको उसकी विशालतम महानता और शक्तितक ले जाती है। क्योंकि, यह निर्व्यक्तिकता सत्ताका अभाव नहीं वरन् उसकी सागर-सम समग्रता है। पूर्णताप्राप्त मनुष्य, सिद्ध कहिये या बुद्ध, विश्वमय हो जाता है, वह सहानुभूति और एकताके भावमें भूतमात्रका आलिंगन करता है, अपनी ही तरह दूसरोंमें भी अपने-आपको अनुभव करता है और साथ ही, ऐसा करके वह विश्व-शक्तिकी अनंत सामर्थ्यका कुछ अंश अपने अंदर आहरण कर लेता है। यही भारतीय संस्कृतिका भावात्मक आदर्श है। और जब यह विरोधी आलोचक इस "सु-रचित कुलीनवंशीय" संस्कृतिसे प्रादुर्भूत कुछ एक महान् व्यक्तियोंकी श्रेष्ठताका सम्मान करनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव करता है तो वह वास्तवमें राजसिक मनुष्यकी अपेक्षा सात्त्विक, तथा सीमित एवं अहंभावपूर्ण मनुष्यकी अपेक्षा विश्वमय मानवकी इस पसंदगीके कुछ एक परिणामोंकी ही स्तुति कर रहा होता है। साधारण मनुष्य, अर्थात् असंस्कृत, प्राकृत या अर्द्ध-विकसित मनुष्य न बने रहना ही, सचमुचमें इस प्राचीन प्रयासका अर्थ था और इस अर्थमें इसे एक कुलीनवंशीय संस्कृति कहा जा सकता है। परंतु इसके आत्म-अनुशासनका लक्ष्य सामान्य बाह्य नहीं वरन् आध्यात्मिक कुलीनता था। भारतीय जीवन, व्यक्तित्व, कला और साहित्यको इसी प्रकाशमें परखना होगा और उन्हें भारतीय संस्कृतिके वास्तविक अर्थमें एवं उसकी ठीक समझके साथ देखकर ही उनकी प्रशंसा या निंदा करनी होगी।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पहला अध्याय

भारतीय कला

भूतकालमें पश्चिमने भारतीय सभ्यताकी, अधिकतर इसके सौंदर्यात्मक पक्षकी, विद्वेषपूर्ण और सहानुभूतिरहित आलोचना की है और उस आलोचनाने इसकी ललित कलाओं, स्थापत्य, मूर्त्तिकला और चित्रकलाकी घृणापूर्ण या तीव्र निंदाका रूप ग्रहण किया है। एक महान् साहित्यकी संपूर्ण रूपमें और अविवेकपूर्वक निंदा करनेमें मि. आर्चरको कोई अधिक समर्थन नहीं मिलेगा, परंतु यहां भी यदि उसने प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं किया है तो इसे समझनेमें वह अत्यधिक असफल अवश्य हुआ है: पर भारतीय कलापर किये गये आक्रमणमें उसकी आवाज अनेक विरोधपूर्ण आवाजोंमेंसे अंतिम तथा सबसे उग्र है। किसी जातिकी संस्कृतिका यह सौंदर्यात्मक पहलू परम महत्त्व रखता है और अपने मूल्याकंनके संबंधमें लगभग उतनी ही सूक्ष्म परीक्षा और सतर्कताकी अपेक्षा करता है जितनी कि दर्शन, धर्म और केंद्रीय रचनात्मक विचार जो कि भारतीय जीवनके आधार रहे हैं और जिनकी कि अधिकांश कला एवं साहित्य अर्थपूर्ण सौंदर्यात्मक रूपोंमें एक सचेतन अभिव्यक्ति है। सौभाग्यवश, भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकलासंबंधी भ्रांति दूर करनेके लिये बहुत-सा काम पहले ही किया जा चुका है और, यदि वही काफी होता तो, मैं मि. हावेल (Havell) और डा. कुमारस्वामीके ग्रंथोंका या जिन अन्य लोगोंपर पूर्वीय कृतिके पक्षमें पहलेसे अनुकूल मत रखनेका आरोप नहीं लगाया जा सकता, उनकी काफी समझदारीके साथ लिखी हुई पर जानकारी और पैठमें अपेक्षाकृत कम गहरी आलोचनाओंका हवाला दे करके ही संतुष्ट हो जाता। किंतु भारतीय संस्कृतिके मूल प्रेरक-भावोंके विषयमें कोई भी पूर्ण विचार बनानेके लिये प्राथमिक तत्त्वोंका एक अधिक व्यापक और अनुसंधानपूर्ण विवेचन करना आवश्यक है। मैं मुख्यतया भारतके उन नयी विचारधाराके लोगोंसे अपील कर रहा हूं जो दीर्घ काल-

तक विदेशी शिक्षा, दृष्टिकोण और प्रभावके कारण पथभ्रांत रहनेके बाद अपने अतीत और भविष्यके संबंधमें फिरसे स्वस्थ और सच्चे विचारकी ओर मुड़ रहे हैं; परंतु इस क्षेत्रमें उनका यह परिवर्तन जैसा व्यापक, पूर्ण या प्रकाशमय होना चाहिये वैसा होनेमें अभी बहुत कसर है। अतएव पहले मैं अपनेको भ्रांतिके कारणोंके विवेचनतक ही सीमित रखूंगा और उसके बाद भारतीय सौंदर्यात्मक सृजन-कार्यके सच्चे सांस्कृतिक अर्थपर विचार करूंगा।

मि. आर्चरने अपनी अंध आग्रहपूर्ण नीतिका अनुसरण करते हुए इस विषयपर एक पूरेका-पूरा अध्याय लिख मारा है। यह अध्याय बहुत व्यापक निंदाकी एक बाढ़ जैसा है। परंतु उसके आक्रमणको एक गंभीर आलोचना समझना और सब बातोंका विस्तारपूर्वक उत्तर देना समय गंवाना होगा। भारतीय कलाके समर्थकों और प्रशंसकोंको उसने जो जवाब दिया है वह अद्‌भुत रूपसे छिछला और क्षुद्र है, अधिकांशमें, वह तुच्छ, दुर्बल और कहीं-कहीं तो असंगत बातों, बड़े-बड़े निर्लज्जतापूर्ण विशेषणों और प्रबल रूपमें निरर्थक पदावलियोंसे गठित है, बाकी बातोंमें वह भ्रांतिपर या आध्यात्मिक अनुभवों और दार्शनिक विचारोंका अर्थ समझनेमें उसकी एक ऐसी निपट असमर्थतापर आधारित है जो कि धार्मिक भावना और दार्शनिक मनोवृत्तिके नितांत अभावकी द्योतक है। निःसंदेह मि. आर्चर युक्तिवादी और दर्शनके निंदक हैं और उन्हें इन त्रुटियोंका अधिकार है; पर जिन चीजोंके मर्ममें मनुष्य पैठ ही नहीं सकता उनपर निर्णय देनेका वह भला यत्न ही क्यों करे और रंगोंपर व्याख्यान देनेवाले अंधे आदमीका-सा दृश्य ही क्यों उपस्थित करे? मैं एक-दो उदाहरण दूंगा जिनसे यह पता चल जायगा कि उनकी आलोचना किस किस्मकी है और वे ठीक जिन बातोंपर जोर देनेका यत्न करते हैं उन्हें कोई निश्चयात्मक मूल्य प्रदान करनेसे इंकार करनेकी बात भी काफी हदतक उचित सिद्ध हो जायगी, हां, उन बातोंका इतना मूल्य अवश्य है कि वे आक्षेपकर्ताओंके मनोविज्ञानपर प्रकाश डालती हैं।

पहले मैं एक ऐसा उदाहरण दूंगा जिसकी निरर्थकतापर अत्यंत आश्चर्य होता है। पुरुष-शरीरकी आकृतिके संबंधमें जो भारतीय आदर्श है वह अनेक विशेषताओंके बीच दोपर विशेष आग्रह करता है, कंधोंका विशेष चौड़ापन और मध्यभागका पतलापन। हां, तो, कमरके घेरेकी चौड़ाई और पेटकी विशालतापर — जिनकी छूट केवल वहीं दी जाती है जहां वे उपयुक्त होती हैं जैसे गणेश या यक्षोंकी मूर्तियोंमें — जो आपत्ति की जाती

है वह भारतीय सौंदर्यात्मक भावनाकी ही कोई निजी विशेषता नहीं है; इनके विरोधी गुणोंपर बल देना, यहांतक कि स्पष्ट रूपमें बल देना एक सौंदर्यात्मक परंपराके रूपमें, निश्चय ही, समझमें आने लायक बात है, भले कुछ लोगोंको मानव आकृतिका एक अधिक यथार्थवादी एवं समृद्धिशाली चित्रण ही अधिक पसंद हो। परंतु भारतीय कवियों और अधिकारी कलाकारोंने इस संबंधमें सिंहकी उपमा दी है, और मजा देखिये तो सही, मि. आर्चर इस रूपकपर गंभीरतापूर्वक व्याख्यान झाड़ते हैं कि यह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि भारतके लोग अर्द्ध-जंगली अवस्थासे अभी-अभी बाहर निकले थे! यह तो बस बिलकुल ही स्पष्ट है कि उन्होंने वीरतापूर्ण पुरुषत्वका आदर्श अपने आदि निवासस्थान जंगलसे, थिरिओलेट्री अर्थात् जंगली पशुओंकी पूजासे लिया था!! मैं समझता हूं इसी सिद्धांतके अनुसार और इसी प्रकारकी स्तंभित करनेवाली बुद्धिमत्ताके साथ वह सीताके नेत्रोंकी आभा और गहराईके लिये कंबनद्वारा दिये गये समुद्रके रूपकमें और भी अधिक आदिम जंगलीपन तथा जड़ प्रकृतिकी बर्बर पूजाकी स्पष्ट साक्षी देखेगा, अथवा बाल्मीकिके द्वारा किये गये अपनी नायिकाकी 'मदिरा-सी आंखों', **मदिरेक्षणा**, के वर्णनमें भारतीय कवि-मानसकी पुरानी मदोन्मत्तता और अर्द्ध-मत्त स्फुरणाका प्रमाण पायगा। मि. आर्चरकी अत्यंत हृदयग्राही यक्तियोंका यह केवल एक उदाहरण है। यह कोई अनूठा नमूना नहीं है यद्यपि यह चरम कोटिका है, और इस विशेष युक्तिकी मर्खता ही इस प्रकारकी आलोचनाकी तुच्छताको प्रकट कर देती है। यह उस सामान्य आपत्तिसे मिलती-जुलती है जो बंगाली चित्रकारोंको प्रिय लगनेवाले दुबले-पतले हाथ-पांवोंपर की जाती है और जिसे कि हम कभी-कभी उनकी कृतिकी सबल निंदाके रूपमें प्रस्तुत किये जाते हुए सुनते हैं। एक औसत मनुष्यमें जिससे कि आधुनिक संस्कृतिके उच्च विधानके अधीन यह आशा नहीं की जाती कि कलाके विषयमें उसे कोई ज्ञानपूर्ण धारणा होगी, इस बातको क्षम्य समझा जा सकता है,—उसकी स्वाभाविक गुणग्राहिताको तो पहले ही निर्विघ्न रूपसे मार डाला और दफनाया जा चुका है। परंतु एक माने हुए आलोचकके बारेमें हम क्या कहेंगे जो उन सब चीजोंका इस प्रकारका अर्थ देनेके लिये गभीरतर उद्देश्योंकी उपेक्षा करके ब्योरोंपर ही दृष्टि गड़ाता है?

परंतु इस आलोचनामें अधिक गंभीर और महत्त्वपूर्ण आक्षेप भी हैं; क्योंकि मि. आर्चर कलाके दर्शनपर विचार करनेमें भी प्रवृत्त होते हैं। भारतीय कलात्मक सृजनका संपूर्ण आधार जो कि पूर्णतया सचेतन और

शास्त्रसम्मत है, प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक और अंतर्ज्ञानात्मक है। मि. हावेल, इस मूल विशेषतापर ठीक ही बल देते हैं और प्रसंगवश बुद्धिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभवकी पद्धतिकी अनंत उत्कृष्टताका उल्लेख करते हैं; यह एक ऐसी स्थापना है जो युक्तिवादी मनको स्वभावतः ही चोट पहुंचानेवाली है, यद्यपि प्रमुख पश्चिमी विचारक अब इसका अधिकाधिक समर्थन कर रहे हैं। मि. आर्चर तुरंत ही एक अत्यंत भुथरे गंडासेसे इसपर आघात शुरू करते हैं। इस मार्मिक विषयपर वे किस ढंगसे विचार करते हैं? एक ऐसे ढंगसे जो असली बातको तो सर्वथा छोड़ देता है और कलाके दर्शनसे जिसका कुछ भी संबंध नहीं है। मि. हावेलने बुद्धके सर्वश्रेष्ठ अंतर्ज्ञानका न्यूटनके महान् अंतर्ज्ञानके साथ जो संबंध जोड़ा है, मि. आर्चर उसपर अपनी दृष्टि गड़ाते हैं और इनके साम्यपर आक्षेप करते हैं क्योंकि ये दोनों उपलब्धियां ज्ञानकी दो विभिन्न श्रेणियोंसे संबंध रखती हैं, एक तो अपने स्वरूपमें वैज्ञानिक एवं भौतिक है और दूसरी मानसिक या चैत्य, आध्यात्मिक या दार्शनिक। वे अपनी (आक्षेपोंकी) घुड़सालसे उसी पुराने आक्षेपका घोड़ा दौड़ाते हैं कि न्यूटनका अंतर्ज्ञान एक लंबी बौद्धिक प्रक्रिया-का ही अंतिम पगमात्र था जब कि इस प्रत्यक्षवादी मनोविज्ञानी और दार्श-निक आलोचकके अनुसार बुद्ध तथा अन्य भारतीय ज्ञानियोंके अंतर्ज्ञान किसी भी प्रकारकी बौद्धिक प्रक्रिया या किसी भी परखे जा सकनेवाले अनुभव-पर आधारित नहीं थे। परंतु इसके विपरीत, यह एक सीधा-सा तथ्य है जो इस विषयका कुछ भी ज्ञान रखनेवालोंको भलीभांति विदित है कि बुद्ध तथा अन्य भारतीय दार्शनिकोंके निष्कर्ष (इस समय मैं उपनिषदोंके उस अंतःप्रेरित विचारकी बात नहीं कर रहा हूं जो अंतर्ज्ञान तथा विज्ञानसे आलोकित शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव था) संबद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्योंकी अत्यंत सूक्ष्म छानबीन तथा एक ऐसी तार्किक प्रक्रियाके बाद निकाले गये थे, जो, निश्चय ही, युक्तिवादीय तो नहीं थी पर चिंतनकी किसी भी अन्य प्रणालीकी तरह ही बुद्धिसंगत थी। अपने खंडनको वे इस बुद्धिमत्तापूर्ण टिप्पणीके द्वारा संपुष्ट करते हैं कि ये अंतर्ज्ञान जिन्हें वे कल्पनाएं कहना पसंद करते हैं एक-दूसरेके विरोधी हैं और अतएव, ऐसा जान पड़ता है कि अपनी निरर्थक दार्शनिक सूक्ष्मताको छोड़कर और किसी प्रकारका मूल्य नहीं रखते। क्या हम यह परिणाम निकालें कि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके द्वारा किया गया स्थूल विषयोंका धैर्यपूर्ण अध्ययन, उनके सावधानतापूर्ण बौद्धिक तर्क और निष्कर्ष जिन्हें कठिनाईके साथ सत्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्हीं भी विपरीत या परस्पर-विरोधी परिणामोंपर नहीं पहुंचे हैं? इस

मापदंडके अनुसार कोई यह कल्पना कभी नहीं कर सकता कि आनुवंशिकता-का ज्ञान विरोधी "कल्पनाओं" से जर्जरित हो रहा है अथवा 'देश' तथा उसपर पड़नेवाली आकर्षण-शक्तिके प्रभावके विषयमें न्यूटनकी "कल्पनाओं" को आज उसी क्षेत्रकी आइन्स्टीन की "कल्पनाओं" के द्वारा उलट दिये जानेका खतरा है। यह तो एक गौण बात है कि मि. आर्चर बुद्धके अंतर्ज्ञान-संबंधी अपने विचारमें गलतीपर हैं जब कि वे कहते हैं कि बुद्ध एक विशेष प्रकारके वैदांतिक अंतर्ज्ञानको अस्वीकार कर देते, क्योंकि बुद्धने चरम-परम कारणको न तो स्वीकार किया न अस्वीकार, बल्कि केवल उसपर विचार करनेसे ही सर्वथा इंकार कर दिया। उनका अंतर्ज्ञान दुःखका कारण, वस्तुओंकी अनित्यता और अहं, कामना तथा संस्कारके लयके द्वारा मुक्ति — इन सत्योंतक ही सीमित था, और जहांतक उन्होंने जाना पसंद किया, वहां-तक उनका यह लय, अर्थात् निर्वाणसंबंधी अंतर्ज्ञान और वेदांतका परम एकत्व-विषयक अंतर्ज्ञान दोनों आध्यात्मिक अनुभवके एक ही सत्यका दर्शन थे। इसमें संदेह नहीं कि वे दृष्टिके विभिन्न कोणोंसे देखे गये थे तथा विभिन्न बौद्धिक रूपोंमें प्रकट किये गये थे, पर उनका अंतर्ज्ञानात्मक सार-तत्त्व एक ही था। शेष सब बुद्धके कठोर रूपसे व्यावहारिक उद्देश्यके लिये विजातीय था। यह सब हमें हमारे विषयके क्षेत्रसे बहुत दूर ले जाता है, परंतु हमारे आलोचकका मन अद्भुत रूपसे उलझा हुआ है और उनका अनु-सरण करना पथभ्रष्ट होनेका दोषी बनना है।

यहांतक तो हुई अंतर्ज्ञानके विषयमें मि. आर्चरकी बात। कलाके प्रथम मूलतत्त्वोंपर उसकी समालोचनाका स्वरूप यही है। क्या यह बताना वस्तुतः आवश्यक है कि यह हो सकता है कि मन या आत्माकी शक्ति तो एक ही हो और वह विभिन्न क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कार्य करे? अथवा, एक प्रकारके अंतर्ज्ञानकी तैयारी लंबे बौद्धिक शिक्षणके द्वारा संपन्न हो सकती है, पर वह इसे बौद्धिक प्रक्रियाका अंतिम पग नहीं बना देती, जैसे कि इंद्रियों-की क्रिया पहले होनेके कारण वह बौद्धिक तर्कणाको इंद्रियानुभूतिका अंतिम पग नहीं बना देती? तर्कबुद्धि इंद्रियोंको अतिक्रम कर जाती है और हमें सत्यके अन्य एवं सूक्ष्मतर स्तरोंमें प्रवेश प्रदान करती है; इसी प्रकार अंतर्ज्ञान तर्कबुद्धिको अतिक्रम कर जाता है और हमें सत्यकी अधिक साक्षात् एवं ज्योतिर्मय शक्तिमें प्रवेश प्रदान करता है। परंतु यह अत्यंत स्पष्ट है कि अंतर्ज्ञानके प्रयोगमें कवि और कलाकार ठीक उसी प्रकारकी कार्य-धाराका अवलंबन नहीं कर सकते जिस प्रकार कि वैज्ञानिक या दार्शनिक। लिओनार्दो दा वैंसी (Leonardo da Vinci) के सायंस-संबंधी अद्भुत अंतर्ज्ञान और

कला-विषयक सर्जनशील अंतर्ज्ञान एक ही शक्तिसे निकले, किंतु उनके चारों ओरकी या अवांतर मानसिक क्रियाएं भिन्न गुण-धर्म और भिन्न रंग-रूपकी थीं। स्वयं कलामें भी भिन्न-भिन्न प्रकारके अंतर्ज्ञान होते हैं। शेक्सपीयर-का जीवन-परिदर्शन अपने स्वरूप और साधनोंमें बालजाक या इब्सनके पर्यवेक्षणसे भिन्न है, परंतु देखनेकी प्रक्रियाका सारभूत भाग जो इसे अंतर्ज्ञानात्मक रूप देता है, एक ही है। वस्तुओंका बौद्ध एवं वैदांतिक अवलोकन कलात्मक सृजनके लिये एकसमान शक्तिशाली आरंभबिंदु हो सकते हैं, वे एकको बुद्धकी शांतिकी ओर या दूसरेको शिवके आनंदनृत्य या उनकी महिमाशाली निश्चलताकी ओर ले जा सकते हैं, और कलाके उद्देश्योंके लिये इसका कुछ महत्त्व नहीं कि इनमेंसे किसको तार्किक दृष्टिसे महत्त्व देनेकी ओर दार्शनिकका झुकाव हो सकता है। ये सब आरंभिक विचार हैं। और इसमें कोई आश्चर्य नहीं जो इनकी उपेक्षा करनेवाला आदमी भारतकी सूक्ष्म और ओजस्वी कलात्मक कृतियोंको गलत ढंगसे समझे।

मि. आर्चरके आक्रमणकी दुर्बलता, इसकी व्यर्थकी हुल्लड़बाजी और उग्रता तथा इसके लक्ष्य पदार्थकी क्षुद्रताके कारण हमें उस मानसिक दृष्टि-कोणके जिससे कि भारतीय कलाके संबंधमें उनकी घृणा उत्पन्न होती है, अत्यंत वास्तविक महत्त्वके प्रति अंधे नहीं बन जाना चाहिये। क्योंकि, उस दृष्टिकोण और उससे उत्पन्न होनेवाली घृणाकी जड़ उनसे अधिक गहरी और किसी चीजमें है, अर्थात् संपूर्ण सांस्कृतिक शिक्षण और जन्मजात या उपार्जित स्वभावमें तथा जीवनके प्रति मूल मनोवृत्तिमें है और, यदि अपरि-मेयको भी मापा जा सकता हो तो, वह दृष्टिकोण उस खाईकी चौड़ाई मापता है जो अभी हालतक पूर्वी और पश्चिमी मनको तथा, सबसे अधिक, वस्तुओंको देखनेके यूरोपीय और भारतीय ढंगको पृथक् करती थी। भार-तीय कलाके प्रेरक-भावों और उसकी पद्धतियोंको समझनेमें असमर्थता और उससे घृणा या अरुचि कलतक यूरोपके मनमें प्रायः सर्वत्र देखनेमें आती थी। इस विषयमें अपनी प्रथम चिरप्रचलित धारणाओंसे बंधे हुए सामान्य मनुष्य और संस्कृतिके विभिन्न रूपोंका मूल्यांकन करनेकी शिक्षा पाये हुए योग्य आलोचकके बीच भेद नहींके बराबर था। खाई इतनी अधिक चौड़ी थी कि तबतक बना हुआ कोई भी सांस्कृतिक सेतु उसे पाट नहीं सकता था। यूरोपीय मनके लिये भारतीय कला एक बर्बर, परिपक्व, एवं विकराल वस्तु थी, मानवजातिके आदिम जंगलीपन और अक्षम शैशवसे उठी हुई एक अवरुद्ध प्रगति थी। यदि अब कुछ परिवर्तन हुआ है तो उसका कारण यह है कि यूरोपीय संस्कृतिका क्षितिज एवं दृष्टिकोण अद्भुत रूपसे

एकाएक विस्तृत हो गया है, यहांतक कि वह अपनी दृष्टिमें आनेवाली वस्तुओंको जिस दृष्टिबिंदुसे देखने और परखनेकी आदी थी उसमें भी कुछ परिवर्तन आ गया है। कलाके विषयोंमें पश्चिमी मन दीर्घकालतक यूनानी और नवजागरण-कालीन परंपराके अंदर मानो एक कारागारमें ही बंद रहा, बादकी मनोवृत्तिने उस परंपरासे मुक्त होनेके लिये कल्पनाप्रधान और यथार्थवादी प्रेरक-भावोंके केवल दो पार्श्व-कक्ष बनाकर उसे कुछ संशोधित किया, परंतु ये उसी इमारतके पार्श्वमात्र थे; क्योंकि आधार वही था और एक ही मूल नियम इनके विभेदोंको संयुक्त करता था। यह परंपरागत अंधविश्वास कि प्रकृतिका अनुकरण ही कलाका पहला विधान या सीमाकारी नियम है, स्वतंत्रसे स्वतंत्र कृतिको भी नियंत्रित करता था और कलात्मक तथा आलोचनात्मक बुद्धिको अपना पुट देता था। पाश्चात्य कलात्मक सृजनके नियमोंको एकमात्र सही कसौटियां माना जाता था और अन्य प्रत्येक वस्तुको आदिम एवं अर्ध-विकसित या फिर विचित्र एवं काल्पनिक और केवल अपनी विचित्रताके कारण ही मनोरंजक समझा जाता था। परंतु एक अद्‌भुत परिवर्तन आरंभ हो गया है, यद्यपि अभीतक अधिकांशमें पुराने विचारोंका ही प्रभुत्व है। कारागृह यदि टूटा नहीं है तो उसमें, कम-से-कम, एक चौड़ी दरार जरूर हो गयी है; एक अधिक नमनीय दृष्टि एवं अधिक गभीर कल्पनाने पुरानी, मज्जागत मनोवृत्तिपर अपने-आपको स्थापित करना आरंभ कर दिया है। इसके परिणामके रूपमें, और इस परिवर्तनमें सहायता करनेवाले प्रभावके रूपमें, पूर्वीय या कम-से-कम चीनी एवं जापानी कला पर्याप्त मान्यता-सी प्राप्त करने लगी है।

परंतु यह परिवर्तन अभी इतनी दूरतक नहीं गया है कि भारतीय कृतिकी गभीरतम और अत्यंत विशिष्ट भावना और अनुप्रेरणाका पूर्ण मूल्यांकन हो सके। मि. हॉवेलकी-सी दृष्टि या उनका-सा प्रयत्न अभी विरले ही देखनेमें आता है। अधिकांशमें अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण आलोचना भी कला-शिल्पकी सराहना और कल्पनाके प्रति सहानुभूतिपर ही रुक जाती है जो बाहरसे समझनेकी कोशिश करती है और कलात्मक संकेतके केवल उतने ही अंशके भीतर पैठती है जितना कि एक अधिक योग्यतासंपन्न और सुनम्य आलोचक मनकी नयी विस्तृततर दृष्टिके द्वारा तुरंत ग्रहण किया जा सकता है। परंतु भारतीय कलात्मक सृजनके वास्तविक मूल स्रोत और आध्यात्मिक उद्‌गमको समझनेका चिह्न नहींके समान है। इसलिये मतभेदकी गहराइयों और उसके कारणोंकी थाह लेना अभी भी उपयोगी है। स्वयं भारतीय मनके लिये यह विशेष रूपसे आवश्यक है, क्योंकि

विरोधी दृष्टिकोणके द्वारा प्रेरित मूल्यांकनसे वह अपने-आपको अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा और विशेषकर इस बातको अधिक अच्छी तरह पकड़ पायगा कि भारतीय कलामें सारभूत वस्तु कौन-सी है जिसपर भविष्यमें दृढ़ रहना होगा और कौन-सी चीज विकासकी एक प्रासंगिक घटना या एक अवस्थामात्र है जिसे नये सृजनकी ओर बढ़ते हुए त्यागा जा सकता है। यह वास्तवमें उन लोगोंका कार्य है जिनमें स्वयं एक ही साथ सर्जनशील अंतर्दृष्टि, कलाकारिताकी योग्यता और दृष्टिसंपन्न समीक्षक आंख तीनों हों। परंतु जिस किसी भी व्यक्तिमें जरा भी भारतीय भाव-भावना है वह कम-से-से-कम उन मुख्य एवं केंद्रीय वस्तुओंका कुछ वर्णन कर सकता है जो उसके लिये भारतीय चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्यको आकर्षक बनाती हैं। मैं बस इतना ही करनेका यत्न करूंगा, क्योंकि यह अपने-आपमें भारतीय संस्कृतिके सौंदर्यात्मक महत्त्वके पहलूका सर्वोत्तम समर्थन और औचित्य होगा।

कलाकी आलोचना जब उस भाव, लक्ष्य एवं मूल हेतुकी उपेक्षा करती है जिससे कि किसी विशेष प्रकारकी कलात्मक कृतिका जन्म होता है और जब वह एक सर्वथा भिन्न भाव, लक्ष्य और हेतुके प्रकाशमें केवल बाह्य ब्योरों-के द्वारा ही गुण-दोषकी परीक्षा करती है तो वह एक व्यर्थ एवं निर्जीव वस्तु बन जाती है। एक बार जब हम मूल वस्तुओंको हृदयंगम कर लेते हैं, विशिष्ट प्रणाली और भावनामें पैठ जाते हैं, उस भीतरी केंद्रसे रूप और उसकी कार्यान्विति (execution) की व्याख्या करनेमें समर्थ हो जाते हैं, तब हम देख सकते हैं कि अन्य दृष्टिबिंदुओंके एवं तुलनात्मक मनके प्रकाशमें वह कैसी दिखायी देती है। तुलनात्मक आलोचनाकी भी अपनी उप-योगिता है पर यदि उसे वस्तुतः मूल्यवान् बनना हो तो उससे पहले आलोच्य वस्तुके मूल तत्त्वको समझ लेना आवश्यक है। परंतु जहां साहित्यकी विस्तृततर एवं अधिक नमनीय धारामें यह अपेक्षाकृत सरल है, वहां मेरी समझमें अन्य कलाओंमें यह अधिक कठिन है जहां कि भावनाका भेद गहरा होता है, क्योंकि वहां मध्यस्थता करनेवाले शब्दका अभाव, भावनासे सीधे रेखा और रूपकी ओर बढ़नेकी आवश्यकता लक्ष्यकी विशेष तीव्रता और अनन्य एकाग्रताको तथा कार्यान्वितिके दबावको ले आती है। जो वस्तु रचनाकी प्रेरणा देती है उसकी तीव्रता अधिक स्पष्ट शक्तिके साथ प्रकट की जाती है, परंतु अपने दबाव और अपनी प्रत्यक्षताके ही कारण वह आवश्यक चीजों और एक साथ रहनेवाली आकर्षक विविधताओंके लिये बहुत कम अवकाश देती है। जो वस्तु अभिप्रेत होनी है और जो निर्मित की जाती है वे आत्मा या कल्पनात्मक मनमें गहरा प्रभाव डालती हैं, परंतु

वे इसकी बहुत थोड़ी-सी सतहको ही स्पर्श करती हैं और संपर्कके बिंदुओंकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। किंतु कारण चाहे जो हो, भिन्न प्रकारके मनके लिये इसका मूल्य समझना अपेक्षाकृत कम ही सुगम होता है।

भारतीय मन अपनी स्वाभाविक स्थितिमें यूरोपकी कलाओंको वास्तविक रूपमें अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे समझनेमें लगभग वैसी ही या बिलकुल वैसी ही कठिनाई अनुभव करता है जैसी कि साधारण यूरोपीय मनको भारतीय चित्रकला और भास्करकलाकी भावनामें प्रवेश करनेमें अनुभव होती है। मैंने नारीके एक भारतीय चित्र और यूनानकी प्रेमकी देवीके चित्रमें की गयी एक तुलना देखी है जो इस कठिनाईका एक चरम ढंगका दृष्टांत उपस्थित करती है। आलोचक मुझे बताता है कि भारतीय चित्र प्रबल आध्यात्मिक भावसे भरा होता है — यहां तो वह भक्तिके, अवर्णनीय भक्तिके वास्तविक उच्छ्वास और अस्तित्वसे परिपूर्ण है, और यह बात सच है, यह एक ऐसा संकेत या यहांतक कि एक ऐसा सत्योन्मेष है जो बाह्य कृतिपर निर्भर रहनेके बजाय रूपमेंसे प्रकट हो उठता या उमड़ पड़ता है, — परंतु यूनानी कृति केवल उदात्तीकृत शारीरिक या ऐंद्रिय आनंदको ही जागृत कर सकती है। अब, क्योंकि मैं यूनानी मूर्तिकलाके भावके अंतस्तलमें कुछ-कुछ प्रवेश कर चुका हूं, इसलिये मैं देख सकता हूं कि यह इस विषयका गलत वर्णन है। वह आलोचक भारतीय कृतिके वास्तविक भावमें तो पैठ गया है, पर यूनानी कृतिके वास्तविक भावमें नहीं; इसीसे तुलनात्मक मूल्यांकनके रूपमें उसकी आलोचनाका मूल्य एकदम जाता रहा। इसमें संदेह नहीं कि यूनानी चित्र बाहरी रूपपर बल देता है, पर इसके द्वारा वह एक कल्पनात्मक दृष्टिसंपन्न अंतःप्रेरणाकी ओर ध्यान आकर्षित करता है जिसका लक्ष्य सौंदर्यकी किसी दिव्य शक्तिको प्रकट करना होता है और इसलिये वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करता है जो सौंदर्यबोधात्मक निरे इंद्रिय-सुखसे कहीं अधिक होती है। यदि कलाकारने यह कार्य पूर्णताके साथ किया है तो कृतिका लक्ष्य पूरा हो गया है और वह एक सर्वोत्तम कृतिके रूपमें स्थान प्राप्त करती है। भारतीय मूर्तिकार रूपके पीछे अवस्थित किसी वस्तुपर बल देता है, एक ऐसी वस्तुपर जो स्थूल कल्पनासे तो अधिक दूर पर आत्माके अधिक निकट होती है, और वह भौतिक रूपको उस वस्तुके मुकाबले गौण स्थान प्रदान करता है। यदि वह केवल आंशिक रूपमें ही सफल हुआ है या यदि उसने इसे शक्तिके साथ तो संपन्न किया है पर कार्यान्वितिमें कोई चीज दोषपूर्ण रह गयी है तो उसकी कृति कम महान् होती है,

चाहे इसके उद्देश्यमें अधिक महान् भावना ही क्यों न विद्यमान हो : परंतु जब वह पूर्ण रूपसे सफल होता है तब उसकी कृति भी एक अत्युत्कृष्ट रचना होती है, और हम इसे शुद्ध हृदयसे पसंद कर सकते हैं, यदि हम कलासे आध्यात्मिक किंवा उच्चतर अंतर्ज्ञानमय दृष्टिकी ही सर्वाधिक मांग करते हैं। परंतु इस बातका दोनों प्रकारकी कृतियोंके, उनकी अपनी श्रेणीके अंतर्गत, मूल्यांकनमें हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं।

परंतु यूरोपकी अन्य बहुत-सी अति सुप्रसिद्ध कृतियोंका निरीक्षण करते समय मैंने स्वयं अपनेको आध्यात्मिक सहानुभूति दिखानेमें असमर्थ पाया है। उदाहरणार्थ, मैं टिन्टोरेट्टो (Tintoretto) के कुछ एक अत्यंत विख्यात चित्र देखता हूं,— मानव प्रतिकृतियां नहीं, क्योंकि वे मनुष्यकी अंतरात्माको (सक्रिय या चारित्रिक आत्माको ही सही) व्यक्त करती हैं, वरन् मान लो कि 'आदम और हौवा (Adam and Eve)', 'अजगरका वध करते हुए सेंट जार्ज', 'वेनिस नगर की मंत्रिसभाके सदस्योंके सम्मुख ईसाका आविर्भाव' — इन कृतियोंको देखता हूं, और अपनी सत्ताके किसी कोनेमें प्रत्युत्तर न देनेवाली शून्यताके कारण मैं अपने-आपको स्तब्ध और विस्मित-सा अनुभव करता हूं। मैं रंग-कौशल और परिकल्पनाकी सुन्दरता एवं शक्तिको देख सकता हूं, मैं बहिर्मुख कल्पनाकी या क्रियाके उत्साहपूर्ण आकर्षक प्रदर्शनकी क्षमताको देख सकता हूं, परंतु ऊपरी तलके नीचे विद्यमान या रूपकी महानताके तुल्य किसी अर्थको ढूंढ़ निकालनेकी मेरी चेष्टा व्यर्थ हो जाती है। हां, शायद कहीं-कहीं कोई प्रासंगिक गौण संकेत मुझे मिल जाता है और वह मेरे लिये पर्याप्त नहीं होता। जब मैं अपनी इस असफलताका विश्लेषण करनेका यत्न करता हूं तो पहले मुझे कुछ ऐसी परिकल्पनाएं दिखायी देती हैं जो मेरी आशासे या देखनेके मेरे अपने ढंगसे मेल नहीं खातीं। यह बलिष्ठ आदम, इस हौवाका इंद्रिय-सुलभ सौंदर्य मुझे मानवजातिकी माता या पिताका दर्शन नहीं कराते, यह अजगर मुझे केवल एक उग्र अशुभसूचक पशु प्रतीत होता है जो वध किये जानेके महासंकटमें ग्रस्त है, यह एक भीषण अशुभकी सर्जनशील मूर्ति नहीं दिखायी देता, ये भारी-भरकम शरीरवाले और दयापूर्ण एवं दार्शनिक चेहरेवाले ईसा प्रायः मुझे कष्ट ही पहुंचाते हैं, ये किसी भी तरह वे ईसा तो नहीं हैं जिन्हें मैं जानता हूं। परंतु आखिर ये अवांतर बातें हैं; वास्तविक बात यह है कि मैं इस कलाके पास पहलेसे ही एक प्रकारकी अंतर्दृष्टि, कल्पना, भावावेग और गूढ़ार्थकी मांग लेकर आता हूं जिन्हें यह मुझे प्रदान नहीं कर सकती। और चूंकि मैं इतना आत्मविश्वासी नहीं हूं कि यह सोचूं कि जिस चीजको बड़े-बड़े

आलोचकों और कलाकारोंकी सराहना प्राप्त होती है वह सराहनीय नहीं है, अतएव इस कलाको देखकर मैं बस मि. आर्चरके द्वारा की हुई किसी भारतीय कृतिकी आलोचनाको ही इसपर लागू करनेकी ओर झुक जा सकता हूं और यह कह सकता हूं कि इसका केवल ऊपरी कार्य ही सुंदर या अद्‌भुत है पर इसमें कल्पनाका नाम-निशान नहीं, ऊपरी तलपर जो कुछ है उससे परे कोई भी चीज नहीं। मैं यह समझ सकता हूं कि जिस चीजका अभाव है वह असलमें उस प्रकारकी कल्पना है जिसकी मैं व्यक्तिगत रूपमें मांग करता हूं; पर यद्यपि मेरा उपार्जित संस्कृत मन मुझे यह बात समझा देता है और बौद्धिक रूपमें शायद वह इससे अधिक किसी वस्तुको पकड़ भी पाये तो भी मेरी मूल सत्ता संतुष्ट नहीं होगी, प्राण और मांसकी, जीवनकी शक्ति और हलचलकी इस विजयसे मैं ऊंचा नहीं उठता बल्कि दब-सा जाता हूं,— यह नहीं कि स्वयं इन चीजोंपर अथवा इंद्रिय-संबंधी या यहांतक कि इंद्रिय-भोगसंबंधी विषयोंके ऊपर, जिनका कि भारतीय कृतिमें भी नितांत अभाव नहीं है, दिये गये अत्यधिक बलपर मुझे कोई आपत्ति है, इसपर मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं यदि मैं उस अधिक गहरी वस्तुका जिसे मैं इसके पीछे देखना चाहता हूं, कम-से-कम कुछ भी अंश प्राप्त कर सकूं,— और मैं अपने-आपको इटलीके एक अत्यंत महान् कलाविद्‌की कृतिसे विमुख होता हुआ पाता हूं जिसमें कि मैं किसी "बर्बर" भारतीय चित्र या मूर्तिसे, किसी शांत गहन-गभीर बुद्ध, कांसेकी मूर्ति शिव या असुरोंका वध करती हुई अठारह भुजाओंवाली दुर्गासे अपने-आपको संतुष्ट कर सकूं। परंतु मेरी असफलताका कारण यह है कि मैं एक ऐसी चीज ढूंढ़ रहा हूं जो इस कलाकी भावनामें अभिप्रेत नहीं थी और जिसकी मुझे इसकी विशिष्ट कृतिसे आशा नहीं करनी चाहिये। और यदि मैं मूल यूनानी भावनाकी भांति इस पुनरुज्जीवनकालीन मनोवृत्तिमें अपनेको निमज्जित करता तो मैं अपने आंतरिक अनुभवमें कुछ वृद्धि करके एक अधिक उदार और विश्वव्यापी सौंदर्य-भावनाको अधिगत कर पाता।

इस मनोवैज्ञानिक भ्रांति या नासमझीपर मैं इसलिये बल देता हूं कि यह भारतीय कलाकी महान् कृतियोंके प्रति सामान्य यूरोपीय मनकी मनोवृत्तिकी व्याख्या करती है और इसे इसका ठीक मूल्य प्रदान करती है। यह मन केवल उसी चीजको पकड़ पाता है जो यूरोपीय प्रयत्नसे मिलती-जुलती है और उसे भी घटिया समझता है, और यह स्वाभाविक तथा सर्वथा ठीक भी है क्योंकि वही चीज पश्चिमी कृतिमें शक्तिके एक अधिक सहज स्रोतसे अधिक सच्चाई और पूर्णताके साथ संपन्न की जाती है। यही कारण

है कि मि. आर्चरसे अधिक जानकार आलोचक गांधारकी कृत्रिम मूर्तिकलाको उस महान् और सच्ची कृतिकी अपेक्षा जो अपने एकत्वमें मौलिक और यथार्थ है, आश्चर्यजनक रूपसे अधिक पसंद करते हैं,—गांधारकी उस मूर्ति-कलाको जो कि दो असंगत उद्देश्योंका एक असंतोषजनक एवं प्रायः शक्तिहीन संयोग है, वे उद्देश्य, कम-से-कम, असंगत ही हैं यदि उनमेंसे एक दूसरेमें घुल-मिल न जाय जैसा कि यहां वह निश्चय ही दूसरेके साथ घुलमिलकर एक नहीं हो गया है,—अथवा यही कारण है कि यरोपीय मन कुछ एक दूसरे या तीसरे दर्जेकी रचनाओंकी प्रशंसा करता है जो कि अन्यथा समझमें नहीं आ सकतीं, और वह कुछ अन्य रचनाओंसे जो उदात्त और गंभीर तो हैं पर उसकी धारणाओंकी दृष्टिसे विचित्र हैं, मुंह मोड़ लेता है। या फिर वह हिन्दू-मुस्लिम कृति जैसी कृतिको जो चाहे पश्चिमी नमूनोंसे किसी प्रकार भी नहीं मिलती-जुलती पर किन्हीं-किन्हीं स्थलोंपर इसकी सौंदर्यात्मक धारणाओंके वृत्तकी बाहरी सीमाओंमें प्रविष्ट होनेकी सामर्थ्य रखती है, सराहना करते हुए ग्रहण करता है—पर क्या वह वास्तवमें गहराईके साथ समझकर की गयी एक पूर्ण सराहना होती है? वह, यहांतक कि, ताजमहल-से इतना अधिक प्रभावित होता है कि यह माननेकी चेष्टा करता है कि यह इटलीके किसी मूर्तिकारकी रचना है जो निःसंदेह एक विस्मयजनक प्रतिभासे संपन्न था और जिसने एकमात्र सफलताकी इस एक घड़ीमें अपने-आपको अद्भुत रूपमें भारतीय बना लिया था,—क्योंकि भारत चमत्कारोंका देश है,—और जो संभवतः इसी प्रयासके मारे मृत्युके मुखमें चला गया, क्योंकि वह हमारी सराहनाके लिये और कोई भी कृति नहीं छोड़ गया है। और फिर कम-से-कम मि. आर्चरके अंदर वह (यूरोपीय मन) जावाकी कृति-की उसकी मानवीयताके कारण स्तुति करता है और यहांतक कि उससे यह परिणाम निकालता है कि वह भारतीय नहीं है। शैलीकी विभिन्नताके पीछे भारतीय कृतिके साथ उसकी मूलगत एकता इस मनको नहीं दिखायी देती क्योंकि भारतीय कृतिका मूलभाव एवं आभ्यंतरिक अर्थ इस मनकी दृष्टिके प्रति शून्यवत् हैं और यह केवल बाह्य रूपको, अर्थात् अर्थके केवल एक संकेतको ही देखता है जिसे वह, इसी कारण, नहीं समझ पाता और नापसंद करता है। ठीक इसी तरह कोई यह भी कह सकता है कि बड़े अक्षरोंवाली देवनागरी लिपिमें लिखी हुई गीता एक बर्बर भीषण या निरर्थक वस्तु है, परंतु घसीटकी लिपिमें मानवीय और बुद्धिगम्य हो जाती है, अतः भारतीय नहीं रहती।

परंतु, साधारणतया, यदि इस मनको कलासंबंधी किसी प्राचीन, हिंदू,

बौद्ध या वैदांतिक वस्तुके सामने उपस्थित किया जाय तो यह उसकी ओर एक शून्य या रोषपूर्ण दुर्बोधताके भावमें दृष्टिपात करेगा। यह उसका अर्थ ढूंढ़ता है पर इसे कोई भी अर्थ नहीं दिखायी देता, और इसका कारण या तो यह है कि इसे अपने-आपमें कोई अनुभव नहीं है और इस कलाका वास्तविक अर्थ क्या है तथा यह किस भावको प्रकट करती है इसकी कल्पना करना ही इसे कठिन प्रतीत होता है और इसे अनुभव करना तो और भी अधिक कठिन, अथवा इसका कारण यह है कि यह उस चीजको ढूंढ़नेका आग्रह करता है जिसे यह अपने यहांकी कलामें देखनेका अभ्यस्त है और, उसे न पानेपर इसे निश्चय हो जाता है कि इसमें देखने योग्य या मूल्यवान् वस्तु कोई भी नहीं है। अथवा यदि इसमें कोई ऐसी चीज है भी जिसे यह समझ सकता है तो भी यह उसे समझता नहीं है क्योंकि वह भारतीय रूपमें और भारतीय ढंगसे व्यक्त की हुई है। यह पद्धति एवं आकारको देखता है और उसे अपरिचित तथा अपने नियमोंके विपरीत पाता है तो विद्रोह, घृणा और जुगुप्सा अनुभव करता है, उसे एक भीषण, बर्बर, कुरूप या निरर्थक वस्तु कहकर उसकी चर्चा करता है, तीव्र घृणा या अवज्ञाके भावमें आगे बढ़ जाता है। अथवा यदि यह महानता या शक्तिके विश्लेषण न करने योग्य सौंदर्यके किसी बोधसे अभिभूत हो जाता है तो भी यह एक भव्य बर्बरताकी ही बात करता है। क्या तुम समझके इस खोखलेपनका प्रकाशप्रद दृष्टांत चाहते हो? मि. आर्चर ध्यानी बुद्धको देखते हैं जिनमें अपनी परम, अगाध और अनंत आध्यात्मिक शांति है जिसे प्रत्येक सुसंस्कृत प्राच्य मन तुरंत अनुभव कर सकता है तथा अपनी सत्ताकी गहराइयोंमें जिसका प्रत्युत्तर भी दे सकता है, और उन्हें देखकर वे कहते हैं कि उनमें कुछ भी नहीं है,—हैं केवल झुकी हुई पलकें, अचल आसन और निस्तेज चेहरा, मेरी समझमें इससे उनका मतलब है शांत और निर्लिप्त चेहरा।[1] सांत्वनाके लिये वे गांधार-शैलीकी बुद्ध-प्रतिमाके भावांकनकी यूनानी

---

[1]एक टिप्पणीमें मि. आर्चर इन बुद्ध मूर्तियोंके विषयमें दिये जानेवाले एक मूर्खतापूर्ण समर्थनकी चर्चा करते हैं और, बहुत ठीक ही, इसका निराकरण भी करते हैं कि इनकी महानता और आध्यात्मिकता रचनामें बिलकुल नहीं है; बल्कि कलाकारकी भक्तिमें है! यदि कलाकार उस वस्तुको जो उसके अपने अंदर थी अपनी कृतिमें प्रकट नहीं कर सकता—और यहां जो चीज प्रकट की गयी है वह भक्ति नहीं है,—तो उसकी कृति एक व्यर्थकी, अपरिपक्व वस्तु है। परंतु यदि उसने उस चीजको जो उसने

श्रेष्ठताकी ओर, या जीवित-जागृत रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी ओर मुड़ते हैं जो पेशावरसे कामाकुरा (Kamakura) तकके किसी भी बुद्धसे अधिक आध्यात्मिक हैं, यह तुलना-पद्धतिका अनुचित दुरुपयोग है जिसका विरोध करनेवालोंमें, मैं समझता हूं, स्वयं वे महाकवि ही, सर्वप्रथम होंगे। यहां हम उसके मनमें देखते हैं पूर्ण नासमझी, अंधकारपूर्ण खिड़की, बंद दरवाजा और यहीं हम यह भी देखते हैं कि क्यों सामान्य पश्चिमी मन भारतीय कलाके पास उससे भिन्न चीजकी मांग लेकर आता है जिसे कि इसका विशिष्ट भाव और उद्देश्य हमें प्रदान करना चाहते हैं, और उसकी मांग करते हुए वह अन्य प्रकारकी आध्यात्मिक अनुभूतिमें तथा सर्जनशील दृष्टि, कल्पना-शक्ति और आत्माभिव्यक्तिकी शैलीके अन्य स्तरमें प्रवेश करनेके लिये तैयार नहीं होता।

एक बार यह बात समझमें आ जानेपर हम कलात्मक सृजनकी मूल भावना और प्रणालीके उस भेदकी ओर मुड़ सकते हैं जिसने पारस्परिक नासमझीको जन्म दिया है; क्योंकि वह हमें इस विषयके भावात्मक पक्षकी ओर ले आयगा। समस्त महान् कलात्मक कृति अंतर्ज्ञानकी एक क्रियासे, वस्तुतः किसी बौद्धिक विचार या उज्ज्वल कल्पनासे नहीं,—ये तो केवल मानसिक रूपांतर हैं,—बल्कि जीवन या सत्ताके किसी सत्यके सीधे अंतर्ज्ञानसे, उस सत्यके किसी अर्थपूर्ण रूपसे, मनुष्यके मनमें हुए उसके किसी विकाससे उद्भूत होती है। और इस विषयमें महान् यूरोपीय और महान् भारतीय रचनामें कोई भेद नहीं है। तो फिर वह विपुल भेद कहांसे आरंभ होता है? वह अन्य हरएक चीजमें विद्यमान है, अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टिके विषय और क्षेत्रमें, दृष्टि या संकेतको कार्यान्वित करनेकी पद्धतिमें, कार्यान्वितिमें बाह्य रूप और शिल्प-प्रणालीके द्वारा लिये गये भागमें, मानव मनके प्रति प्रकट करनेके सारे तरीकेमें, यहांतक कि हमारी सत्ताके उस केंद्रमें भी जिसे वह रचना आकर्षित करती है। यूरोपीय कलाकार अपनी अंतःस्फुरणा जीवन और प्रकृतिमें विद्यमान किसी बाह्य रूपसे मिलनेवाले संकेतके द्वारा प्राप्त करता है अथवा, यदि यह उसकी अपनी अंतरात्माकी किसी वस्तुसे उद्भूत होती है तो, तुरंत ही वह इसका संबंध एक बाह्य अवलंबनके साथ जोड़ देता है। उस अंतःस्फुरणाको वह अपने सामान्य मनमें उतार लाता है और बौद्धिक विचार एवं बुद्धिगत कल्पनाको उसे उस मानसिक उपादानका

अनुभव की है, प्रकट कर दिया है, तो जो मन उसकी कृतिको देखता है उसमें भी इसे अनुभव करनेकी सामर्थ्य अवश्य होनी चाहिये।

जामा पहनानेके काममें लगा देता है जो प्रेरित बुद्धि, भावावेश और सौंदर्य-बोधको अपने ही रूपमें परिणत कर डालेगा। तब वह अपनी आंख और हाथको उसे उन रूपोंमें क्रियान्वित करनेमें नियुक्त कर देता है जो जीवन और प्रकृतिके आपात-सुन्दर "अनुकरण" से आरंभ करते हैं—और साधारण हाथोंमें अधिकांशतः यहीं समाप्त हो जाते हैं—ताकि वे उस व्याख्यातक पहुंच सकें जो उसे सचमुच ही एक ऐसी वस्तुकी प्रतिमूर्तिमें बदल देती है जो हमारी अपनी सत्ता या वैश्व सत्ताकी कोई बाह्य वस्तु नहीं बल्कि जो साक्षात् की गयी वास्तविक वस्तु थी। और किसी कृतिपर दृष्टिपात करते हुए हमें रंग, रेखा एवं विन्यासके द्वारा या और किसी भी ऐसी चीजके द्वारा जो बाह्य साधनोंका अंग हो, उस वास्तविक वस्तुकी ओर, इन बाह्य वस्तुओंके मानसिक संकेतोंकी ओर लौटना होगा और इनके द्वारा संपूर्ण विषयकी आत्माकी ओर जाना होगा। आकर्षण सीधे गभीरतम आत्मा एवं अंतःस्थित अध्यात्म-सत्ताकी दृष्टिको नहीं होता बल्कि ऐंद्रिय, प्राणिक, भावमय, बौद्धिक और कल्पनाक्षम सत्ताके प्रबल जागरणके द्वारा बाह्य अंतःकरणको ही होता है, और आध्यात्मिक सत्ताका तो हम उतना ही अधिक या उतना ही कम अंश प्राप्त करते हैं जितना कि बाह्य मनुष्यके अनुकूल हो सकता है और उसके द्वारा अपनेको प्रकट कर सकता है। जीवन, कर्म, मनोवेग, भावावेश, विचार, विश्वप्रकृति जो स्वयं अपने लिये तथा अपने अंदर विद्यमान सौंदर्यात्मक आनंदके लिये देखे गये हों—ये ही इस सर्जनशील अंतर्ज्ञानका विषय और क्षेत्र हैं। इससे अधिक कोई वस्तु जिसे भारतीय मन इन चीजोंके पीछे अवस्थित जानता है, यदि झांकती भी है तो अनेक पर्दोंके पीछेसे ही। अनंत और उसके देवताओंकी साक्षात् और अनावृत उपस्थितिका आवाहन नहीं किया जाता और न इसे महत्तर महानता एवं उच्चतम पूर्णताके लिये आवश्यक ही समझा जाता है।

प्राचीन भारतीय कलाके महत्तम स्वरूपका सिद्धांत—और वह महत्तम स्वरूप ही शेष सारी कलाको उसका आकार-प्रकार प्रदान करता है तथा कुछ अंशमें उसपर अपनी छाप और प्रभाव भी डालता है—एक और ही प्रकारका है। उसका सबसे उच्च कार्य है—अंतरात्माकी दृष्टिके सम्मुख परम आत्मा, अनंत एवं भगवान्के कुछ अंशको प्रकट करना, परम आत्माको उसकी अभिव्यक्तियोंके द्वारा, अनंतको उसके सजीव सांत प्रतीकोंके द्वारा और भगवान्को उनकी शक्तियोंके द्वारा प्रकट करना। या फिर उसे अंतरात्माकी बोध-शक्ति या भक्ति-भावना या, कम-से-कम, अध्यात्ममय या धर्ममय रसात्मक भावावेगके सामने देवताओंको प्रकट करना, प्रकाशमय रूपमें उनकी व्याख्या करना या

किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है। जब यह पवित्र कला इन ऊंचाइयोंसे उतरकर हमारे लोकोंके पीछे अवस्थित मध्यवर्ती लोकोंतक, हीनतर देवताओं या जिनोंतक पहुंचती है, तब भी यह ऊपरसे किसी शक्ति या किसी संकेतको उनमें ले आती है। और जब यह बिलकुल नीचे जड़ जगत्‌तक और मनुष्यके जीवन तथा बाह्य प्रकृतिकी वस्तुओंतक पहुंचती है तो भी यह महत्तर अंतर्दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा रहित नहीं हो जाती, और अधिकांश उत्तम कृतियोंमें—विश्रामके और गोचर पदार्थके साथ विनोदपूर्ण या सजीव क्रीड़ाके क्षणोंको छोड़कर—सदा ही कोई और चीज भी होती है जिसमें जीवनका जीवंत चित्रण ऐसे तैरता रहता है जैसे कि एक अभौतिक वातावरणमें। जीवनको आत्मामें या अनंतके या परेकी किसी वस्तुके एक संकेतमें देखा जाता है अथवा वहां कम-से-कम इन वस्तुओंका एक स्पर्श एवं प्रभाव होता है जो उस चित्रणको रूप देनेमें सहायक होता है। यह बात नहीं है कि समस्त भारतीय कृतियां इस आदर्शको चरितार्थ करती हैं; निःसंदेह उनमें ऐसी भी बहुत-सी हैं जो इस ऊंचाईतक नहीं पहुंचतीं, नीचे रह जाती हैं, निष्प्रभाव या यहांतक कि विकृत होती हैं, परंतु सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यंत विशिष्ट प्रभाव एवं कार्यान्विति ही किसी कलाको अपनी रंगत देती है और इन्हींके द्वारा हमें निर्णय करना चाहिये। सच पूछो तो भारतीय कलाका भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूलतत्त्व वही है जो शेष भारतीय संस्कृतिका है।

अतएव आत्माके अंदर देखना ही भारतीय कलाकारका अपना विशेष तरीका हो जाता है और यही कला-संबंधी शास्त्रका उसके लिये विधान है। उसे जिस चीजको व्यक्त करना हो उसका सत्य पहले उसे अपनी आध्यात्मिक सत्तामें देखना होगा और अपने संबोधिमनमें उसका रूप गढ़ना होगा; अपने आदर्शके लिये, अपनी प्रामाणिकता, अपने नियम और शिक्षकके लिये या अपने प्रेरणा-स्रोतोंके लिये वह पहले बाह्य जीवन और प्रकृतिपर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य नहीं है। जो चीज उसे व्यक्त करनी है वह जब एक सर्वथा आंतरिक वस्तु है तो वह बाहर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य हो भी क्यों? अपने प्रेरणाप्रद साधनोंके रूपमें उसे जिन चीजोंपर निर्भर करना है वे बुद्धिगत विचार, मानसिक कल्पना एवं बाह्य भावावेश नहीं बल्कि आत्माका विचार, उसकी कल्पना और उसका भावावेश हैं, और मानसिक प्रतिरूप तो प्रेषण-कार्यमें सहायता करनेके लिये गौण साधनमात्र हैं और केवल कुछ अंशमें ही रंग तथा रूप प्रदान करते हैं। स्थूल रूप, रंग, रेखा और योजना उसके अभिव्यंजनाके भौतिक साधन हैं, परंतु उनका

प्रयोग करते समय वह प्रकृतिका अनुकरण करनेके लिये बाध्य नहीं है, बल्कि उसे रूप तथा अन्य सभी चीजोंको इस प्रकार बनाना होगा कि वे उसकी अंतर्दृष्टिको प्रकाशित करें, और यदि यह कार्य केवल किसी ऐसे सुधार, किसी ऐसी भावभंगिमा, किसी ऐसे स्पर्श या प्रतीकात्मक परिवर्तनके द्वारा ही किया जा सकता हो या सुचारु रूपसे किया जा सकता हो जो भौतिक प्रकृतिमें उपलब्ध नहीं हैं, तो उसका प्रयोग करनेके लिये वह पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है, क्योंकि उसकी अंतर्दृष्टिके सामने प्रकट होनेवाला सत्य ही, जिस चीजको वह देख रहा और प्रकट कर रहा है उसका एकत्व ही उसका एकमात्र विषय है। रेखा और रंग आदि वस्तुएं उसका पहला नहीं बल्कि सबसे पिछला कार्य है, क्योंकि उन्हें अपने ऊपर उन अगणित वस्तुओंका भार वहन करना है जो उसके मनमें पहलेसे ही आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर चुकी हैं। उदाहरणार्थ, उसे हमारे लिये बुद्धके मानवीय चेहरे और शरीरका या उनके जीवनकी किसी एक प्रबल अभिलाषा या घटनाका पुनः चित्रण नहीं करना है, बल्कि बुद्धकी प्रतिमूर्तिके द्वारा निर्वाणकी शांतिको अभिव्यक्त करना है, और इसके लिये उसे प्रत्येक ब्योरे तथा सहायक वस्तुको अपने उद्देश्यके साधन या सहायकके रूपमें परिणत करना होगा। और जब उसे किसी मानवीय अभिलाषा या घटनाका चित्रण करना होता है तब भी प्रायः यह केवल यही चीज नहीं होती बल्कि अंतरात्माके अंदरकी कोई और चीज भी होती है या वह अंदरकी चीज ही अधिक मात्रामें होती है जिसकी ओर यह केवल इंगित करती है या जिससे यह उद्भूत होती है अथवा उस कार्यके पीछे अवस्थित कोई शक्ति होती है जिसे उसकी योजनाकी भावनामें प्रवेश करना होता है और जो प्रायः ही एक वस्तुतः प्रधान वस्तु होती है। और जो आंख उसकी कृतिको देखती है उसके द्वारा उसे केवल बाह्य सत्ताकी उत्तेजनाको ही नहीं वरन् अंतरात्माको भी आकर्षित करना है। कोई भली-भांति यह कह सकता है कि यदि हमें भारतीय कलात्मक कृतिके संपूर्ण अर्थमें प्रवेश करना हो तो उस सौंदर्यात्मक सहजप्रेरणाके जो कला-विषयक समस्त मूल्यांकनके लिये आवश्यक है, साधारण विकासके परे हमारे अंदर एक आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि या संस्कृतिका होना आवश्यक है, अन्यथा हम केवल ऊपरी सतहकी बाह्य वस्तुओं या, अधिकसे अधिक, ऊपरी सतहसे ठीक नीचेकी वस्तुओंतक ही पहुंच पायेंगे। यह एक अंतर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक कला है और इसे अंतर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक आंखसे ही देखना होगा।

यही भारतीय कलाका विशिष्ट स्वरूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे

बिलकुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अंत:प्रेरणामें भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृतिकी केंद्रीय वस्तुओंके साथ घनिष्ठतः एक ही नहीं हैं बल्कि वे इनके गूढ़ार्थकी विशेष रूपसे तीव्र अभिव्यक्ति भी हैं। साहित्यमें तो ऐसा बहुत कुछ है जिसका मूल्यांकन इन चीजोंमें अधिक गहरा प्रवेश किये बिना काफी अच्छी तरहसे किया जा सकता है, परंतु अन्य कलाओंका, वे हिंदू हों या बौद्ध, जो अवशेष बच रहा है उसका अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़ा भाग ऐसा है जिसके बारेमें यह बात कही जा सकती हो। वे एक बहुत बड़ी हदतक भारतके आध्यात्मिक, चिंतनात्मक और धार्मिक अनुभवकी पवित्र सौंदर्यपूर्ण लिपि रही हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दूसरा अध्याय

भारतीय कला

वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला वे तीन महान् कलाएं हैं जो आंखके द्वारा आत्माको आकर्षित करती हैं, और इसलिये ये वे चीजें भी हैं जिनमें 'गोचर' और 'अगोचर' अपने ऊपर अधिकतम बल देते हुए भी एक दूसरेकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव करते हुए परस्पर संयुक्त होते हैं। यहां अपने प्रधान-प्रधान अंगों, अनुपातों, रेखाओं और रंगोंसे युक्त आकार इन्हें केवल इनकी उस सेवाके द्वारा ही उचित ठहरा सकता है जो ये किसी ऐसी अगोचर वस्तुकी करती हैं जिसकी अभिव्यक्ति आकारको करनी होती है; आत्मा आंखके द्वारा अपने प्रति अपने-आपको प्रकट करनेके लिये स्थूल रूपकी समस्त संभव सहायताकी अपेक्षा करती है, फिर भी वह इससे मांग करती है कि यह अपने महत्तर अर्थका यथासंभव अधिकसे अधिक पारदर्शक पर्दा हो। पूर्वकी कला और पश्चिमकी कला — प्रत्येक अपनी विशिष्ट या मध्यम अवस्थामें, क्योंकि अपवाद तो सदा ही होते हैं, — इन दो परस्पर गुंथी हुई शक्तियोंकी समस्याको सर्वथा भिन्न प्रकारसे हल करती हैं। पश्चिमी मन रूपसे आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है, उसीपर रुका रहता है और उसके मोहक आकर्षणसे परे नहीं जा सकता, उसके अपने सौंदर्यके लिये ही उससे प्रेम करता है, उसकी अत्यंत प्रत्यक्ष भाषासे सीधे ही जो भावमय, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक सुझाव उत्पन्न होते हैं उन्हींपर निर्भर रहता है, आत्माको देहमें कैद कर देता है; प्रायः यहांतक कहा जा सकता है कि इस मनके लिये रूप आत्माकी सृष्टि करता है, आत्मा अपनी सत्ताके लिये और उसे जो कुछ कहना होता है उस सबके लिये रूपपर निर्भर करती है। इस विषयमें भारतीय मनोभाव इस विचारके सर्वथा विपरीत है। भारतीय मनके लिये रूप आत्माकी एक सृष्टिके रूपमें ही अस्तित्व रखता है, और किसी रूपमें नहीं, और वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मासे ही आहरण करता है। प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकारकी

व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक भौतिक संकेत, — वे चाहे अनेक, बहुल और समृद्ध ही क्यों न हों, — प्रथमतः और अंततः एक निर्देश एवं संकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापारमें एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्तिका आधार होता है, वह भावावेग आदि फिर अपनेसे परे उस आत्माके कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूपमें गोचर सत्यकी ओर जाते हैं जिसने सौंदर्यात्मक मनमें इन गतिविधियोंको उद्दीपित किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारोंमें परिणत हो गया है।

भारतके चिंतनात्मक और सर्जनशील मनकी यह विशिष्ट वृत्ति इस बातको आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियोंके विषयमें विचार करते समय हम उन कृतियोंसे परे एकदम उस सत्यके आंतरिक मूल भावतक पहुंचनेका यत्न करें जिसे कि भारतीय मन अभिव्यक्त करता है और बाहरसे नहीं बल्कि उसी सत्यपरसे उन्हें देखनेकी कोशिश करें। और सच पूछो तो भौतिक ब्योरों तथा उनके समन्वयसे आरंभ करना मुझे भारतीय कला-कृतिको देखनेका बिलकुल गलत तरीका मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी आलोचनाकी रूढ़िगत शैलीका मतलब है — शिल्प और रूपका तथा रूपकी प्रत्यक्ष कहानीका विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विचार करना और फिर सुन्दर या प्रभावशाली भावावेग और परिकल्पनाके किसी प्रकारके मूल्यांकनपर पहुंचना। कुछ एक गंभीरतर तथा अधिक संवेदनशील मनवाले आलोचकोंमें ही हम इस गहराईसे परे अधिक गभीर वस्तुओंको देख पाते हैं। भारतीय कलापर यदि इस प्रकारकी आलोचना-शैलीका प्रयोग किया जाय तो यह उसे निष्फल या अर्थहीन कह डालती है। यहां एकमात्र ठीक तरीका यह है कि एक पूर्ण अंतर्ज्ञानात्मक या ईश्वर-प्रेरित प्रतीतिके द्वारा अथवा समग्र वस्तुकी किसी समाहित एकाग्रताके द्वारा, जिसे भारतीय परिभाषामें 'ध्यान' कहते हैं, तुरंत ही आध्यात्मिक अर्थ और वातावरणतक पहुंचा जाय, अपने-आपको उसके साथ यथासंभव पूर्ण रूपसे एक कर दिया जाय, और केवल तभी शेष सब चीजोंका सहायक अर्थ एवं मूल्य पूर्ण और सत्य-प्रदर्शक बलके साथ प्रकट होगा। क्योंकि, यहां आत्मा ही रूपको वहन करती है, जब कि अधिकांश पश्चिमी कलामें रूप ही, आत्मा-का जो कुछ भी अंश वहां विद्यमान हो उसे वहन करता है। यहां एपिक्टीटस (Apictetus) की एक चमत्कारक उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें वह मनुष्यका "शवको उठाये हुई एक छोटी-सी आत्मा" के रूपमें वर्णन करता है। पर अधिक सामान्य पश्चिमी दृष्टि संजीव जड़तत्त्वपर

जमी हुई है जो अपने जीवनमें आत्माके एक जरासे अंशको वहन करता है। किंतु भारतीय मन और भारतीय कलाकी दृष्टि उस बृहत्, असीम आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता, महान् आत्मा, की दृष्टि है जो अपनी उपस्थितिके समुद्रमें हमारे सामने अपनी जीवंत आकृतिको ले आती है; वह आकृति उसकी अपनी अनंतताकी तुलनामें चाहे छोटी ही होती है किंतु फिर भी जो शक्ति इस प्रतीकको अनुप्राणित करती है उसके द्वारा उस अनंतकी आत्म-अभिव्यक्तिके किसी रूपको आश्रय देनेके लिये वह पर्याप्त होती है। अतएव यह आवश्यक है कि यहां हम केवल तर्कबुद्धि और सौंदर्यात्मक कल्पनाके द्वारा अनुप्राणित स्थूल आंखसे ही न देखें बल्कि स्थूल अवलोकनको आंतरिक आध्यात्मिक आंखके खुलने और अंतरात्माके साथ आनंदपूर्ण अंतःसंपर्क प्राप्त करनेका मार्ग बनायें। एक महान् पूर्वीय कलाकृति उस मनुष्यके सामने अपना रहस्य सहजमें प्रकट नहीं करती जो इसके पास केवल सौंदर्य-विषयक कुतूहलके भावमें या विवेचनशील समीक्षात्मक बाह्य मनको लेकर आता है, और उस मनुष्यके सम्मुख तो यह अपना रहस्य और भी कम प्रकट करती है जो इसके पास विचित्र और विदेशी वस्तुओंके बीचसे गुजरनेवाले एक परिपक्व और पक्षपाती पर्यटकके रूपमें आता है; इसे तो निर्जनतामें, अपनी आत्माके एकांतमें एवं ऐसे क्षणोंमें देखना होगा जब कि हम सुदीर्घ और गंभीर ध्यान करनेमें समर्थ होते हैं और स्थूल-भौतिक जीवनकी रूढ़ियोंके बोझसे यथासंभव कम-से-कम दबे हुए होते हैं। यही कारण है कि इन चीजोंके विषयमें अपने सूक्ष्म बोधका प्रयोग कर—ऐसे बोधका जिसे अपनी खचाखच भरी चित्रशालाओं और अत्यंत अधिक चित्रोंसे सज्जित दीवारोंके द्वारा आक्रमण करनेवाला आधुनिक यूरोप सर्वथा खो चुका प्रतीत होता है, यद्यपि मैं शायद गलती कर रहा हूं, और यूरोपीय कलाके प्रदर्शनके लिये ठीक अवस्थाएं यही हैं,—जापानियोंने अपने मंदिरों और बुद्ध-मूर्तियोंको यथासंभव प्रायः ही दूर, पहाड़ोंपर और प्रकृतिके दूरस्थ या एकांत स्थानोंमें स्थापित किया है और दैनिक जीवनकी स्थूल घड़ियोंमें वे महान् चित्रोंके साथ निवास करनेसे बचते हैं, बल्कि, इस कार्यको अधिक अच्छा समझते हुए, वे उन्हें इस प्रकार स्थापित करते हैं कि उनका निर्विवाद सुझाव मनके अंदर उसके सूक्ष्मतर क्षणोंमें गहरे पैठ सके अथवा वे उन्हें एक अलग स्थानमें स्थापित करते हैं जहां जाकर वे अत्यंत मूल्यवान् निर्जनतामें जब कि आत्माको जीवनसे फुरसत होती है उन्हें ध्यानपूर्वक देख सकें। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिह्न है जो इस बातकी ओर संकेत करता है कि पूर्वीय कलाका जो आकर्षण है वह किस प्रकारका है तथा

उसकी कृतियोको देखनेकी ठीक विधि और भावना क्या है।

भारतीय वास्तुकला इस प्रकारके आतरिक अध्ययन और अपने गभीरतम अर्थके साथ इस आध्यात्मिक तादात्म्यकी विशेष रूपसे माग करती है और इनके बिना वह अपने-आपको हमारे सम्मुख प्रकट ही नही करेगी। भारतके प्राचीन युगके भवन, उसके राजमहल, सभाभवन और नागरिकोकी अट्टालिकाए कालकी महार-लीलासे बच नही सकी है, हमारे सामने जो कुछ बचा हुआ है वह अधिकाशमे महान् पर्वतीय और कदरागत मदिरोका-किवा उसके मैदानोमे बसे प्राचीन शहरोके मंदिरोका भी कुछ अश है, और इसके अतिरिक्त हमारे सामने उसके बादके समयके जब कि मदिर ही जीवनका केद्र था, कुछ प्रार्थनागृह और देवमदिर भी है, चाहे वे श्रीरगम् और रामेश्वरम् जैसे मदिर-प्रधान नगरो और तीर्थस्थानोमे स्थित हो या उसके मदुरा जैसे, महान्, किमी समयके राजकीय नगरोमे स्थित हो। इस प्रकार एक पवित्र कलाका अत्यत पवित्र पहलू ही हमारे सामने बच रहा है। ये पवित्र भवन एक प्राचीन आध्यात्मिक और धार्मिक सस्कृतिके चिह्न है, स्थापत्यके द्वारा उसकी आत्म-अभिव्यक्ति है। यदि हम प्रतीको और मकेतोके आध्यात्मिक निर्देश और धार्मिक महत्त्वकी एव उनके आशयकी उपेक्षा करे और केवल तार्किक एव लौकिक सौंदर्यात्मक मनके द्वारा देखे तो यह आशा करना व्यर्थ है कि हम इम कलाके किसी सच्चे और सूक्ष्मदर्शी मूल्याकनतक पहुच मकेग। और यह भी याद रखना होगा कि यहा धार्मिक भावना एक ऐमी वस्तु है जो यूरोपीय धर्मोकी भावनासे सर्वथा भिन्न है, और मध्ययुगीन ईसाइयत भी,—विशेषकर अपने उस रूपमे जिसमे कि आधुनिक यूरोपीय मन जो नवजागरण और हालके ऐहिकवाद के दो महान् सकटोमेंसे गुजर चुका है, आज दिन इसे देखता है,—पूर्वसे ही उत्पन्न होने और उसके साथ सादृश्य रखनेपर भी वस्तुत अधिक सहायक नही होगी। भारतीय मदिरपर कलात्मक दृष्टि डालते हुए उसमे पश्चिमी स्मृतियोको ले आना या यूनानके पार्थेनोन मदिर (Parthenon)[1] या इटलीके गिरजे या मुख्य गिरजाघर (Dumo) या बडे घटाघर (Campanile) के साथ या यहातक कि मध्ययुगीन फ्रासके बडे गाथिक

---

[1]एथेन्सके दुर्गपर स्थित एथेने पारथैनोज (Athene Parthenos) का मदिर।

[2]साधारणतया कैम्पेनाइल (Campanile) शब्द उन बृहदाकार घटाघरोके लिये प्रयुक्त होता है जो चर्चसे सबद्ध न हो।

गिरजों (Gothic Cathedrals)[1] के साथ भी भारतीय मंदिरकी तुलना करना, — यद्यपि इनमें कोई ऐसी चीज अवश्य है जो भारतीय मनोवृत्तिके अत्यधिक निकट है, — मनमें एक घातक विदेशीय और गड़बड़ मचानेवाला तत्त्व या मानदंड ला घुसेड़ना है। परंतु, सचेतन रूपमें हो या अवचेतन रूपमें, यही वह चीज है जिसे लगभग प्रत्येक यूरोपीय मन कम या अधिक मात्रामें करता है, — और यही यहांपर एक अनिष्टकारी मिश्रण है, क्योंकि यह उस दृष्टिकी कृतिको जो अपरिमेयको देखती थी, एक ऐसी आंखके परीक्षणके अधीन लाता है जो केवल नाप-तौलका ही विचार करती है।

भारतीय पवित्र वास्तुकृति, वह चाहे किसी भी तिथि और शैलीकी क्यों न हो या किसीके भी निमित्त उत्सर्ग क्यों न की गयी हो, पीछेकी तरफ किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अनादि रूपसे प्राचीन है और जो आज भारतसे बाहर प्रायः पूर्ण रूपसे विलुप्त हो चुकी है, किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अतीतसे संबंध रखती है, और फिर भी वह आगेकी ओर बढ़ती है, यद्यपि तर्कवादी मन इस बातको सहजमें नहीं स्वीकार करेगा, आगे वह किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो हमपर फिर लौटकर आयेगी और लौटना आरंभ भी कर चुकी है, किमी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो भविष्यसे संबंध रखती है। भारतीय मंदिर, वह चाहे किसी भी देवताके निमित्त बनाया जाय, अपने अंतरतम सत्य-स्वरूपमें भागवत पुरुषके निमित्त प्रतिष्ठित एक वेदी है, वह विश्वात्माका घर है, अनंतके प्रति एक आह्वान और अभीप्सा है। सर्वप्रथम उसे इसी रूपमें और इस दृष्टि एवं परिकल्पनाके प्रकाशमें ही समझना होगा, और अन्य प्रत्येक वस्तुको भी इसी योजना और इसी प्रकाशमें देखना होगा, केवल तभी हमें इस विषयमें कोई सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कोई भी कलात्मक आंख, चाहे वह कैसी भी सजग और बोधक्षम क्यों न हो, कोई भी सौंदर्यलक्षी मन चाहे वह कैसा भी परिपक्व और संवेदनशील क्यों न हो इस ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकता, यदि वह तर्कसंगत सौंदर्यकी यूनानी रंगमें रंगी धारणाके प्रति आसक्त हो अथवा स्थूल या बौद्धिक व्याख्यामें अपने-आपको कैद कर ले और विश्व-चेतनाके किसी स्पर्श, महत्तर आध्यात्मिक स्वरूपके किसी साक्षात्कार, अनंतके किसी निर्देशके प्रति एक सजातीय घनिष्ठ प्रत्युत्तरके

---

[1]ये गाथ लोगोंकी स्थापत्यशैलीका प्रतिनिधित्व करते हैं जिसकी विशेषताएं हैं ऊंची नोकीली मेहराबें और पुंजीभूत गोल खंभे आदि। नवजागरणके समयसे इस शैलीको निंदनीय माना जाने लगा है। —अनुवादक

द्वारा अपने-आपको भारतीय वास्तु-कृतिमें अभिप्रेत महान् वस्तुओंकी ओर खोलनेमें सफल न हो। ये वस्तुएं, अर्थात् आध्यात्मिक सत्ता, वैश्व आत्मा, और अनंत, बौद्धिक नहीं वरन् अतिबौद्धिक एवं सनातन सत्ताएं हैं,—पर बुद्धिके निकट ये केवल शब्दमात्र हैं,—और केवल हमारी अंतरतम आत्माओंमें होनेवाले अंतर्ज्ञान और साक्षात्कारके लिये ही गोचर, ज्ञेय और निकटस्थ हैं। जो कला इन्हींको प्रथम परिकल्पनाके रूपमें लेकर चलती है वही हमें हमारे अंदरके, हमारी अपनी अंतरात्मा एवं आत्माके किसी प्रत्युत्तरदायी अंतर्ज्ञान और सत्यदर्शनके द्वारा वह चीज अर्थात् इनका स्पर्श और सान्निध्य एवं इनका आत्म-प्रकाश दे सकती है जो कि उसे देनी है। बस, यही वह चीज है जिसे पानेके लिये मनुष्यको इसके पास आना चाहिये और इससे किसी बिलकुल दूसरी अभिलाषा या किसी अत्यंत भिन्न कल्पना-धारा और अधिक सीमित स्थूल अर्थकी संतुष्टिकी मांग नहीं करनी चाहिये।

भारतीय वास्तुकला और इसके गूढ़ार्थका यही सर्वप्रथम सत्य है जिस-पर बल देनेकी जरूरत है और यह तुरंत ही कुछ एक अत्यंत प्रचलित भ्रांतियों और आक्षेपोंका उत्तर दे देता है। कलामात्र किसी एकसूत्रतापर अवलंबित होती है और उसके सभी ब्योरोंको, चाहे वे थोड़ेसे और परि-मित हों या अपरिमित और खूब भरे-पूरे हों, उस एकत्वकी ओर लौटना तथा उसके अर्थमें सहायक होना चाहिये; अन्यथा वह कला ही नहीं है। अब, हम देखते हैं कि हमारा पश्चिमी आलोचक एक ऐसे निश्चयके साथ जो हमें स्तंभित ही कर देगा, यदि हम यह न देखें कि वह कैसे स्वाभाविक रूपमें उत्पन्न हुआ है, हमसे कहता है कि भारतीय स्थापत्यमें भावका किसी भी प्रकारका एकत्व नहीं है, जो यह कहनेके समान ही है कि इसमें महान् कला बिलकुल है ही नहीं, है केवल घनीभूत और असंबद्ध ब्योरोंकी कार्या-न्वितिमें कुशलता। कुछ एक समालोचक तो जो कि वैसे सहानुभूतिपूर्ण हैं, हमें यहांतक बताते हैं कि इसमें साज-सज्जा एवं ब्योरेकी, जो अपने-आपमें चाहे कितना ही सुन्दर या श्रेष्ठ हो, अत्यंत बोझिल बहुलता है और वह एकत्वके मार्गमें बाधा पहुंचाती है, इसमें प्रत्येक दरारको कच्ची धातुसे ठूंस-ठूंसकर भरनेका प्रयास दिखायी देता है, शांतिका सर्वथा अभाव है, रिक्त स्थान है ही नहीं, आंखको आराम देनेवाली कोई चीज ही नहीं है। मि. आर्चर सदाकी भांति इस विरोधी आलोचनाको इसके चरम चीत्कारपूर्ण ऊंचे स्वरोंतक ले जाते हैं; गोलियोंसे ठसाठस भरे हुए उनके सभी शब्द निरंतर इसी एक विषयपर आग्रह करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि दक्षिण भारतके बड़े-बड़े मंदिर विशाल गृहनिर्माणके अद्भुत उदाहरण

हैं। प्रसंगवश, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें स्थापत्यमें बृहत् परिमाण या मूर्तिकलामें महान् घनीभूत आकारोंके समावेशपर गहरी आपत्ति है और यहां इनकी उपयुक्तता या आवश्यकताकी ओर वे ध्यानतक नहीं देते, यद्यपि साहित्यमें वे इन चीजोंको मान्यता देते हैं। फिर भी इतनी चीज इसमें अवश्य है और इसके साथ ही एक प्रकारकी भीषण प्रभावशालिता भी है, पर एकसूत्रता, स्पष्टता और महानताका नाम-निशानतक नहीं है। यह टिप्पणी मेरी विचार-शक्तिको पर्याप्त स्व-विरोधात्मक प्रतीत होती है, क्योंकि मेरी समझमें ही नहीं आता कि किसी एकसूत्रताके बिना हलकी या भारी कोई भी रचना अद्भुत सृष्टि कैसे हो सकती है, — परंतु लगता ऐसा है कि यहां इसका नाम-निशानतक नहीं है, — अथवा किसी भी प्रकारकी महानता या श्रेष्ठताके बिना विराट् प्रभावशालिता हो ही कैसे सकती है, चाहे यह मान भी लिया जाय कि यह श्रेष्ठता दैवी नहीं दानवी है। वे हमें बताते हैं कि यहां प्रत्येक चीज बहुत ही भारी-भरकम है, प्रत्येक चीज अत्यधिक श्रमसे निर्मित की गयी है और इसके अत्यंत प्रमुख भाग, जो टेढ़ी-मेढ़ी अर्द्ध-मानवीय आकृतियोंसे ठसाठस भरे हुए और विकृत हैं, स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे एकदम निरर्थक हैं। कोई पूछ सकता है कि उन्हें कैसे पता लगा कि ये अर्थहीन हैं जब कि वे प्रायः स्वीकार करते हैं कि इनका अर्थ ढूंढ़नेके लिये उन्होंने कुछ भी यत्न नहीं किया है, बल्कि अपने अज्ञानको जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है तथा अर्थके समझनेमें अपनी असमर्थताको पर्याप्त मानकर उससे स्व-संतुष्ट रहते हुए यह कल्पना भर कर ली है कि इनका कोई भी अर्थ नहीं हो सकता? और इस सारी चीजका लक्षण वे इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं कि यह राक्षसों, नरभक्षी दैत्यों और पिशाचोंके द्वारा रचित एक भयावह वस्तु है, एक प्रकांड बर्बरता है। उत्तरकी इमारतें उनकी आंखोंमें कुछ कम अनादरकी पात्र हैं, परंतु आखिरकार अंतर थोड़ा ही है या बिलकुल नहीं है। उनमें भी वही भारीपन है, हलकेपन और श्रीसुषमाका अभाव है, खुदे हुए बेल-बूटोंकी और भी अधिक प्रचुरता है; ये भी बर्बर कृतियां हैं। केवल मुस्लिम स्थापत्य-कलाको, जिसे भारत-मुस्लिम स्थापत्य कहा जाता है, इस व्यापक रूपसे प्रयुक्त दोषारोपणसे मुक्त रखा गया है।

यहां प्रारंभमें दृष्टिकी अंधता चाहे कितनी ही स्वाभाविक हो तो भी अंततः यह कुछ आश्चर्यजनक ही है कि इस चरम कोटिके आक्रामक भी, — क्योंकि उन्हें यह तो निश्चय ही मालूम होगा कि एकत्वके बिना किसी भी कला, किसी भी प्रभावशाली रचनाका अस्तित्व नहीं हो सकता, — एक

बार भी अपने-आपसे यह पूछनेके लिये न रुकें कि क्या आखिर यहां एकत्वका कोई तत्त्व है ही नहीं जो उनकी दृष्टिसे छूट गया हो क्योंकि वे विजातीय धारणाओंको लेकर आये हैं और उन्होंने वस्तुओंको गलत सिरेसे देखा है, और इस न्यायाधीशीय निर्णयकी घोषणा करनेसे पहले एक अधिक तटस्थ और ग्रहणशील रूपमें अपनी आंखके नीचेकी वस्तुके सामने प्रतीक्षा करनेका धैर्य न रखें और यह देखें कि क्या ऐसा करनेपर एकत्वका कोई रहस्य प्रकट नहीं होता। पर एक अधिक सहानुभूतिपूर्ण और कम उग्र आलोचक ही सीधे उत्तरका पात्र होता है। अब, यह तो सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि इस स्थापत्यकी एकताको तुरंत देख लेनेमें असफलता पाना यूरोपीय आंखके लिये पूर्णतः स्वाभाविक है, क्योंकि एकता अपने उस अर्थमें जिसमें कि पश्चिमी विचार इसकी मांग करता है, अर्थात् यूनानी एकता जो व्योरे और परिस्थितिको बहुत अधिक दबाकर एवं उसका परिमित उपयोग करके प्राप्त की जाती है या यहांतक कि गाथिक एकता भी जो प्रत्येक वस्तुको एक ही आध्यात्मिक अभीप्साके सांचेमें ढालकर प्राप्त की जाती है, इसमें नहीं है। और जो महत्तर एकता इसमें वास्तवमें है उसतक हमारी पहुंच कभी हो ही नहीं सकती यदि आंख आदिसे अंततक रूप, व्योरे और सजावटपर ही केंद्रित रहे, क्योंकि तब वह पुनः-पुनः इन्हीं चीजोंसे अभिभूत होती रहेगी और इनसे परे उस एकतातक पहुंचनेमें कठिनाई अनुभव करेगी जिसके समग्र रूपके अंदर ये सब चीजें स्वयं अपने-आपको उतना प्रकट करनेका नहीं जितना कि उसमेंसे प्रकट होनेवाली चीजसे उसे भर देनेका और बहुलताके द्वारा उसके एकत्वको स्पष्ट रूपसे उभार देनेका कार्य करती हैं। एक मूल एकत्व ही, संयुक्त या समन्वयात्मक या कृत्रिम एकता नहीं, वह चीज है जिससे यह कला आरंभ होती है और जिसकी ओर इसकी कृति पूरी होनेपर लौट जाती है, वरंच जिसमें वह ऐसे निवास करती है जैसे अपनी आत्मा एवं स्वाभाविक वातावरणमें। भारतकी पवित्र वास्तुकला अपनी विश्व-योजनाकी विशालतामें, आत्म-अभिव्यक्तिकी अपनी विशेषताओं, लक्षण, की बहुलतामें आत्मा, विराट् एवं अनंतके महत्तम एकत्वको पद-पदपर प्रकट करती है (तो भी उनकी समष्टिसे अधिक महान् है तथा उससे स्वतंत्र रूपमें अवस्थित है और अपने-आपमें वह शब्दातीत है), और इसका विचारगत एकताका समस्त आरंभ-स्थल, इसकी योजनाका स्तूप और साधन-समग्रीकी विपुलता, इसकी अर्थपूर्ण साज-सज्जा और व्योरेकी संघन प्रचुरता और एकत्वकी ओर इसका लौटना—ये सभी अनंतकी इस कविता, इस महाकाव्य या इस गीति-काव्यकी (क्योंकि ऐसी लघुतर

रचनाएं भी हैं जो ऐसे गीति-काव्य हैं) आवश्यक अवस्थाओंके रूपमें ही समक्षमें आ सकते हैं। पश्चिमी मनोवृत्ति — उन लोगोंकी मनोवृत्तिको छोड़कर जो इस अंतर्दृष्टिकी ओर आ रहे या लौट रहे हैं, क्योंकि एक समय यूरोपमें भी उसके अपने ढंगका इस प्रणालीका कुछ अंश था — एक ऐसी कलाके सत्य और आशयको सराहनेमें कठिनाई महसूस कर सकती है जो सत्ताको उसके खंडोंमें नहीं बल्कि अखंड रूपमें चित्रित करनेका यत्न करती है; परंतु मैं उन भारतीय विचारकोंको जो इन आलोचनाओंसे विक्षुब्ध हैं, अथवा वस्तुओंको देखनेके पश्चिमी ढंगसे अंशतः या सामयिक रूपमें अभिभूत हैं, आमंत्रित करना चाहता हूं कि वे इस विचारके प्रकाशमें हमारी गृह-निर्माण-कलापर दृष्टिपात करें और देखें कि छोटे-मोटे आक्षेपोंके सिवा सभी आक्षेप उस समय तुरंत ही गायब हो जाते हैं या नहीं, जबकि वास्तविक अर्थ अपनी अनुभूति कराता है और उस प्रथम अवर्णनीय धारणा एवं भावोद्रेकको रूप देता है जिसे हम भारतीय शिल्पियोंकी महत्तर रचनाओंके सम्मुख अनुभव करते हैं।

भारतीय स्थापत्यके इस अध्यात्म-सौंदर्यात्मक सत्यका मूल्यांकन करनेके लिये सबसे अच्छा यह होगा कि पहले हम किसी ऐसी कृतिको देखें जिसमें ऐसी परिस्थितियोंकी जटिलता न हो जिनका अब बहुधा उस भवनसे सामंजस्य नहीं होता, वह कृति उन मंदिर-प्रधान नगरोंसे भी बाहर होनी चाहिये जो अभीतक धार्मिक उद्देश्यके ऊपर निर्भर करते हैं, बल्कि वह किसी ऐसे स्थानपर होनी चाहिये जहां प्रकृतिकी स्वतंत्र पार्श्वभूमिके लिये अवकाश हो। मेरे सामने दो मुद्रित चित्र हैं जो सुचारु रूपसे इस प्रयोजनकी पूर्त्ति कर सकते हैं, एक तो कालहस्तीका मंदिर है और दूसरा सिंहाचलम्का मंदिर, ये दो ऐसी वास्तु-कृतियां हैं जो निर्माणशैलीमें तो सर्वथा भिन्न हैं पर अपने मूल आधार और व्यापक उद्देश्यमें एक ही हैं। इन्हें देखनेका सीधा तरीका यह है कि मंदिरको उसके परिपार्श्वसे पृथक् न किया जाय, बल्कि उसे आकाश तथा नीचेके भूभागके दृश्यके साथ या आकाश और चारों ओरकी पहाड़ियोंके साथ एकतामें देखा जाय और उस वस्तुको अनुभव किया जाय जो भवन और उसके परिपार्श्व दोनोंमें समान रूपसे विद्यमान है, अर्थात् प्रकृतिमें विद्यमान सद्वस्तु और कला-कृतिमें प्रकट की गयी सद्वस्तुको अनुभव किया जाय। वह एकत्व जिसके लिये यह प्रकृति अपनी निश्चेतन स्व-सृष्टिमें अभीप्सा करती है और जिसमें वह निवास करती है, तथा वह एकत्व जिसकी ओर मनुष्यकी अंतरात्मा अपने सचेतन आध्यात्मिक निर्माणमें, अपने-आपको ऊपर उठा ले जाती है, —

उसका अभीप्सा-रूपी प्रयास यहां प्रस्तरमें अभिव्यक्त किया जाता है,—और जिस (एकत्व) में, इस प्रकार निर्मित होकर, वह और उसकी कृति निवास करते हैं—ये दोनों एक ही हैं और इनमें आत्मिक प्रेरक-भाव भी एक ही है। इस प्रकार देखनेपर मनुष्यकी यह कृति एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जिसने आरंभ होकर अपने-आपको प्राकृतिक जगत्की शक्तिकी पार्श्वभूमिसे पृथक् कर लिया है, एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो दोनोंमें अपनी ही एक अनंत आत्माके प्रति एक ही सामान्य अभीप्सासे युक्त है,—एक ओर तो है (प्रकृतिकी) निश्चेतन ऊर्ध्वदृष्टि और इसके सम्मुख उपलब्धिकी आत्म-सचेतन चेष्टा और सफलताका प्रबल एकत्वयुक्त उभार। इनमेंसे एक मंदिर ऊपरकी ओर आरोहण करता है अपने उभारमें स्पष्ट और विशाल होता हुआ, शक्तिशाली पर सुनिश्चित आरोहणकी महानतामें ऊपर ही ऊपर पुंजीभूत, अपने विस्तार और दिशाको अंततक सुरक्षित रखता हुआ, दूसरा अपने आधारके बलसे घुमावदार बृहत् स्तूपके श्री-सौंदर्य और भावातिरेकमें गोलाकार शिखर और सर्वोच्च प्रतीककी ओर ऊंचे चढ़ता है। दोनोंमें आधारसे शिखरकी ओर एक अनवरत, सूक्ष्म पर स्पष्ट लघुत्व है, पर प्रत्येक क्रमावस्थामें उसी रूपकी पुनरावृत्ति है, आग्रहकी वही बहुलता, वही घनीभूत पूर्णता और दंतुर उभार है, परंतु इनमेंसे एक अपने बहुगुणित प्रयास और संकेतको अंततक बनाये रखता है, दूसरा अपनी परिसमाप्ति एक ही संकेतमें कर देता है। इनका गूढ़ार्थ ढूंढ़नेके लिये पहले हमें उस अनंतताके एकत्वको अनुभव करना होगा जिसमें यह प्रकृति और यह कला निवास करती हैं, तब इस पुंजीभूत अभिव्यक्तिको उस अनंत बहुलताके चिह्नके रूपमें देखना होगा जो इस एकत्वको परिपूरित करती है; अट्टालिकाके क्रमशः क्षीण होते हुए आरोहणमें, पृथ्वी-स्थित आधारसे मूल एकताकी ओर अधिकाधिक सूक्ष्म प्रत्यावर्तनको देखना होगा और शिखरपर होनेवाली इसकी समाप्तिके प्रतीकात्मक संकेतको अपनी पकड़में लाना होगा। तब एकताका अभाव नहीं बल्कि एक अत्यंत गुरुतर एकता प्रकाशमें आ जायगी। हमारी अपनी आध्यात्मिक स्वयंस्थित सत्ता और विश्वव्यापी सत्ताकी परिभाषामें इस अभिव्यक्तिका क्या अर्थ है इस बातकी फिरसे यथार्थ रूपमें व्याख्या की जाय तो वह चीज उपलब्ध हो जायगी जो इन महान् निर्माताओंने अपने अंदर देखी और प्रस्तरपर उभारी थी। एक बार जब हम आध्यात्मिक अनुभवमें इस तादात्म्यपर पहुंच जाते हैं, तब सभी आक्षेप झड़कर दूर हो जाते हैं और यह दिखला देते हैं कि वे असलमें क्या हैं—अशक्त भ्रांति, अपर्याप्त बोध और देखनेमें पूर्ण असफलताके वचन और

मिथ्या आरोप। जब भारतीय स्थापत्यके समग्र स्वरूपको इस प्रकार देख और जान लिया जाता है तभी इसके ब्योरोंकी सराहना करना सुगम होता है; अन्यथा, यह असंभव है।

भवनोंका और उनके रूप-निर्माणका स्वरूप चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों व्याख्या करनेकी यह पद्धति समस्त द्राविड़ वास्तुकलापर लागू होती है, दूर-दूरतक प्रसिद्ध महान् मंदिरोंपर ही नहीं बल्कि छोटे शहरोंकी सड़कोंके किनारे बने हुए अप्रसिद्ध देवालयोंपर भी जो कि यहां उसी विषयकी एक लघुतर अभिव्यक्तिमात्र हैं, एक संतुष्ट संकेतभर हैं, जब कि महत्तर अट्टालिकाएं उसीकी एक महत्तम चरितार्थ अभीप्सा हैं। उत्तरकी स्थापत्य-कलाकी भाषा भिन्न प्रकारकी है, वहांकी आधारभूत शैली और ही है; परंतु यहां भी उसी आध्यात्मिक, ध्यानात्मक एवं अंतर्ज्ञानात्मक पद्धतिका प्रयोग करना होगा और हम उसी परिणामपर, उस एक ही आध्यात्मिक अनुभवके सौंदर्यात्मक विवरण या संकेतपर पहुंचेंगे जो अपनी समस्त जटिलता और विभिन्नतामें एक है और जो भारतीय आध्यात्मिकता एवं धार्मिक अनुभूतिके अनंत विभेदोंकी एकताकी तथा भगवान्के साथ मानव आत्माके उपलब्ध एकत्वकी स्थापना करता है। यही इस धार्मिक कलाकी समस्त कृतियोंकी एकता भी है। विभिन्न शैलियां और उद्देश्य विभिन्न मार्गोंसे उस एकतापर पहुंचते या उसे व्यक्त करते हैं। यह आक्षेप कि संकुल ब्योरे और साज-सज्जाकी अधिकता एकताको छिपा देती, क्षत-विक्षत या छिन्न-भिन्न कर डालती है, केवल इसलिये किया जाता है कि आंखने इस मूल आध्यात्मिक एकत्वके साथ संबंध जोड़े बिना सर्वप्रथम ब्योरेपर ही ध्यान केंद्रित करनेकी भूल की है, पर असलमें पहले उस एकत्वको ही एक यथार्थ आध्यात्मिक दर्शन और मिलनमें स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित करना होगा और उसके बाद अन्य सब चीजोंको उस अंतर्दर्शन और अनुभवमें ही देखना होगा। जब हम जगतके बहुत्वपर दृष्टिपात करते हैं तो हम केवल एक सघन अनेकताको ही देख सकते हैं और एकतापर पहुंचनेके लिये हमें देखी हुई चीजोंमें काट-छांट करनी एवं उन्हें दबाना पड़ता है अथवा परिमित रूपमें कुछ एक संकेतोंको चुन लेना होता है या फिर इस या उस पृथक् विचार, अनुभव या कल्पनाकी एकतासे ही संतुष्ट होना पड़ता है; परंतु जब हम आत्माको, अनंत एकताको अनुभव करके जगत्के बहुत्वकी ओर दृष्टि फेरते हैं तब हम देखते हैं कि वह एकत्व विविधता और परिस्थितिकी उस समस्त अनंतताको वहन करनेमें समर्थ है जिसे हम उसके अंदर एकत्र कर सकते हैं और उसकी एकता अपनी अनुप्राणित करनेवाली सृष्टिके अत्यंत

असीम रूपसे अपने-आपको बढ़ा देनेसे भी कदापि नहीं घटती। इस वास्तुकलापर दृष्टिपात करनेपर भी हम यही चीज पाते हैं। भारतीय मंदिरोंमें सज्जा, ब्योरे और परिस्थितिका ऐश्वर्य लोकोंकी, — हमारे लोककी ही नहीं बल्कि सभी स्तरोंकी, – अनंत विविधता और आवृत्तिको प्रकट करता है, अनंत एकत्वके अनंत बहुत्वको सूचित करता है। यह हमारे अपने अनुभवपर तथा अंतर्दर्शनकी पूर्णतापर निर्भर करता है कि हम कितना बाहर छोड़ देते हैं और कितना ग्रहण कर लेते हैं, आया हम इतना अधिक व्यक्त करते हैं या इतना कम अथवा द्राविड़ शैलीकी भांति एक प्रचुर अखूट पूर्णताकी छाप बिठानेका यत्न करते हैं। इस एकताकी विशालता वह 'आधार एवं प्रदेश' है जो अपने ऊपर बननेवाले किसी भी भवनके लिये या बहुलताके किसी भी परिमाणके लिये पर्याप्त है।

इस बाहुल्यको बर्बरतापूर्ण कहकर इसकी निंदा करना एक विदेशी मानदंडका प्रयोग करना है। आखिरकार हम कहांपर सीमा-रेखा खींच सकते हैं? एक समय था जब शुद्ध उच्चकोटिक रुचि वालोंको शेक्सपीयरकी कला एक ऐसे ही कारणसे महान् पर बर्बर प्रतीत होती थी, — हमें उसका वह गैलिक (Galic)[1] वर्णन याद हो आता है जिसमें उसे प्रतिभा-संपन्न उन्मत्त बर्बर कहा गया है, — उसकी कलात्मक एकता उन्हें घटना और चरित्ररूपी सघन उष्णप्रदेशीय पौधोंके कारण असत् या विकृत प्रतीत होती थी और उसकी प्रचुर कल्पनाएं उग्र, अतिरंजित, कभी-कभी तो किंभूत-किमाकार और भयानक, सामंजस्य, अनुपात तथा अन्य सभी विशद एकताओं, लालित्यों और सुषमाओंसे रहित मालूम होती थीं जिन्हें उच्च श्रेणीके प्राचीन लेखकोंका मन पसंद करता था। वह मन मि. आर्चरकी-सी भाषामें उसकी कृतिके संबंधमें कह सकता है कि निःसंदेह यहां एक प्रकांड प्रतिभा है, शक्तिका एक पुज है, पर एकता, स्पष्टता एवं उच्चकोटिक श्रेष्ठताका कोई चिह्न नहीं है बल्कि उज्ज्वल सौंदर्य, लाघव और संयमका नितांत अभाव है, किसी नियम-मर्यादाके बिना अशिष्ट अलंकार और कल्पना-विलासकी बहुलता है, क्लिष्ट कल्पनासे उद्भावित अलंकार हैं, विकृत स्थितियां और भाव-मुद्राएं हैं, कोई महत्ता नहीं है, कोई सुन्दर, यथोचित, तर्कसंगत एवं स्वाभाविक और सुन्दर उच्चकोटिक गतिविधि एवं भावभंगिमा नहीं है। परंतु कठोरसे कठोर, प्राचीन लैटिन मन भी अब शेक्सपीयरकी इस "भव्य बर्बरता"के प्रति अपने आक्षेपोंसे ऊपर उठ चुका है और यह

---

[1]गाल या प्राचीन फ्रेंच लेखकोंके द्वारा किया हुआ। — अनुवादक

समझ सकता है कि यहां जीवनके विषयमें एक अधिक पूर्ण, कम सीमित एवं कम क्षुद्र अंतर्दृष्टि है, प्राचीन सौंदर्य-बोधकी प्रथानुगत एकताओंकी अपेक्षा एक अधिक महान् अंतर्ज्ञानात्मक एकता है। परंतु जगत् और जीवनके विषयमें भारतीय अंतर्दृष्टि शेक्सपीयरकी दृष्टिसे अधिक विशाल और पूर्ण थी, क्योंकि वह केवल जीवनको ही नहीं बल्कि समस्त सत्ताको, केवल मानव-जातिको ही नहीं बल्कि समस्त लोकों तथा संपूर्ण प्रकृति एवं विश्वको अपने अंदर समाविष्ट करती थी। यूरोपीय मन, कुछ एक व्यक्तियोंको छोड़कर समष्टि-रूपसे अनंत आत्मा या वैश्व-चेतनाकी अनंत बहुत्वसे परिपूरित एकताकी किसी घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और सुदृढ़ उपलब्धिपर नहीं पहुंचा है और इसलिये वह इन चीजोंको व्यक्त करनेके लिये प्रेरित नहीं होता, और जब ये इस पौरस्त्य कला, भाषा और शैलीमें व्यक्त की जाती हैं तो इन्हें वह न तो समझ पाता है और न सहन ही कर सकता है तथा इस कलापर उसी प्रकार आक्षेप करता है जिस प्रकार किसी समय लैटिन मन शेक्सपीयरपर करता था। शायद वह दिन दूर नहीं जब वह भी इन्हीं चीजोंको देखे-समझेगा और शायद स्वयं भी इन्हें किसी और भाषामें प्रकट करनेका यत्न करेगा।

यह आक्षेप कि ब्योरोंकी संकुलता शांतिके लिये अवकाश नहीं देती, आंखको आराम या कोई रिक्त स्थान नहीं देती उसी शीर्षकके नीचे आता है, उसी जड़से फूटता है, एक भिन्न प्रकारके अनुभवसे प्रेरित होता है और भारतीय अनुभवके लिये जरा भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि, यह एकता जिसपर सब कुछ आधारित है, अपने अंदर आध्यात्मिक उपलब्धिके असीम अवकाश और शांतिको धारण करती है, और इसमें किसी हीनतर एवं स्थूलतर ढंगकी शांतिके किन्हीं अन्य रिक्त अवकाशों या प्रदेशोंकी कोई आवश्यकता नहीं। आंख यहां अंतरात्माकी ओर पहुंचनेका एक मार्गमात्र है, यहां जो आकर्षण है वह तो उसी आत्माके प्रति है, और यदि इस उपलब्धिमें निवास करनेवाली या इस सौंदर्यात्मक अनुभूतिके प्रभावके अधीन रहनेवाली अंतरात्माको किसी प्रकारके विश्रामकी आवश्यकता है तो वह जीवन और रूपके संसर्गसे नहीं वरन् अनंतता और प्रशांत नीरवताकी उस विशालताके अमित क्षेत्रसे है, और वह केवल इसके विपरीत क्षेत्रके द्वारा ही, अर्थात् रूप, ब्योरे और जीवनकी बहुलताके द्वारा ही दिया जा सकता है। जहांतक द्राविड़ स्थापत्यके संबंधमें इसकी बृहदाकारता और विशालकाय रचनाके प्रति आक्षेपका प्रश्न है, वह यथार्थ आध्यात्मिक प्रभाव जिसे उत्पन्न करना यहां अभिप्रेत है, किसी और तरहसे उत्पन्न ही नहीं किया जा

सकता; क्योंकि अनत एवं विराट्को यदि उसकी विशाल अभिव्यक्तिके अंदर समग्र रूपमें देखा जाय तो वह विराट्काय ही है, उपादान और शक्तिमें अति महान् ही है। वह इससे अन्य तथा सर्वथा भिन्न वस्तुएं भी है, परंतु भारतीय रचनामें इनमेंसे किसीका भी अभाव नहीं है। उत्तरके महान् मंदिर मि. आर्चरके फतवेके बावजूद भी अपनी शक्तिमें प्रायः अद्वितीय सौंदर्य रखते हैं, उनमें एक सुस्पष्ट सूक्ष्मता है जो उनके प्रधान स्वरूप और शक्तिको उभारती है, उनकी अलंकृत पूर्णतामें सुषमाकी एक समृद्ध कोमलता है। निःसंदेह वह यूनानी सूक्ष्मता, स्पष्टता या खुली हुई महत्ता नहीं है और न वह ऐकांतिक ही है, बल्कि वह विपरीत तत्त्वोंके एक सुन्दर संश्लेषणके रूपमें प्रकट होती है जो भारतीय धार्मिक, दार्शनिक और सौंदर्यप्रिय मनके स्वयं मूलभावमें ही निहित है। यह बात भी नहीं है कि अनेक द्राविड़ इमारतोंमें इन चीजोंका अभाव हो, यद्यपि कुछ शैलियोंमें इनका साहसके साथ बलिदान कर दिया गया है या फिर इन्हें केवल छोटी-मोटी प्रासंगिक वस्तुओंके रूपमें ही स्थान दिया गया है,—इस प्रकारके एक दृष्टांतमें मि. आर्चर यह कहकर आनंद लेते हैं कि इस पुंजीभूत शक्ति और महानताके जो उसकी समझसे बाहर है, मरुस्थलमें यह एक मरुद्वीप है,—परंतु दोनों ही अवस्थाओंमें इन्हें दबा दिया गया है जिससे कि गंभीर और आकर्षक प्रभावकी पूर्णता एक समग्र और अविकल अभिव्यक्तिको प्राप्त कर सके।

कुछ एक विरोधी आलोचनाएं इनसे भी अधिक तुच्छ कोटिकी हैं जिनपर मुझे विचार करनेकी आवश्यकता नही,—उदाहरणार्थ, मेहराब और गुंबजके भारतीय रूपसे इसलिये घृणा करना कि वे अन्य शैलियोंकी मेहराब और गुबजकी भांति चमक-दमकवाले नहीं हैं। यह तो केवल अनभ्यस्त रूपोंके सौंदर्यको स्वीकार करनेसे असहिष्णुतापूर्वक इंकार करना है। अपनी निजी चीजोंको जिनके लिये हमारा मन और प्रकृति सधे हुए हैं, अधिक पसंद करना ठीक है, परंतु दूसरोंकी कला और प्रयासकी इसलिये निंदा करना कि वह भी सुन्दरता, महानता और आत्म-अभिव्यक्तिपर पहुंचनेके अपने निजी ढंगको अधिक अच्छा समझता है, एक ऐसी संकीर्णता है जो अधिक उदार संस्कृतिके विकासके साथ दूर हो जानी चाहिये। किंतु द्राविड़ मंदिर-निर्माण-कलापर एक टिप्पणी ऐसी है जो ध्यान देने योग्य है क्योंकि वह मि. आर्चर और उनकी बिरादरीके लोगोंसे भिन्न लोगोंके द्वारा की गयी है। प्रोफेसर गैडिज (Geddes) जैसे सहानुभूतिशील विचारकपर भी इन महान् मंदिरोंमें त्रास और विषादके भीषण प्रभावकी

किसी अनुभूतिकी छाप पड़ती है। ऐसा कथन भारतीय मनके लिये आश्चर्यजनक है, क्योंकि अपने धर्म, कला या साहित्यके द्वारा उसके अंदर जो भाव जागृत होते हैं उनमें त्रास और विषादका स्पष्ट रूपसे अभाव होता है। धर्ममें तो ये भाव विरले ही जागृत होते हैं और जब होते भी हैं तो तुरंत समाधान हो जानेके लिये ही और, जब वे आते भी हैं तो, अपने पीछे अवस्थित एक धारक और सहायक उपस्थिति, एक सनातन महत्ता और स्थिरता या प्रेम या परमानंदकी अनुभूतिके द्वारा सदा ही धारित रहते हैं; स्वयं संहारकी देवीतक एक संग ही करुणामयी और प्रेममयी मां भी हैं; उग्र महेश्वर — रुद्र — शिव अर्थात् मंगलकारी भी हैं और आशुतोष अर्थात् मनुष्योंके शरणदाता भी। भारतीय चिंतनात्मक और धार्मिक मन, उन सब चीजोंपर जो विश्वके विशाल दृश्यके अंदर उसके सामने आती हैं, शांतिके साथ, घृणा या जुगुप्साके बिना, तादात्म्य और एकत्वके लिये किये गये अपने युग-व्यापी प्रयाससे उत्पन्न बोधशक्तिके साथ दृष्टिपात करता है। और उसका वैराग्य अर्थात् जगत्से पराङ्मुखता भी जो भय और विषादमें नहीं बल्कि असारता और क्लांतिकी, या जीवनसे अधिक उच्च, अधिक सत्य और अधिक सुखमय किसी वस्तुकी अनुभूतिमें जन्म लेती है, शीघ्र ही निराशावादी विषादके किसी तत्त्वसे परे शाश्वत शांति और आनंदके परमोल्लासमें परिणत हो जाती है। भारतीय ऐहलौकिक काव्य एवं नाटक आद्योपांत समृद्ध, प्राणवंत और हर्षपूर्ण है और यूरोपीय कृतिके किन्हीं थोड़ेसे पृष्ठोंमें भी उससे अधिक दुःख, भय-त्रास, शोक और विषाद भरा पड़ा है जितना कि संपूर्ण भारतीय वाङमयमें ढूंढ़नेपर मिल सकता है। मेरा ख्याल है कि भारतीय कला इस बातमें भारतीय धर्म और साहित्यसे जरा भी भिन्न नहीं है। पश्चिमी मन यहां वस्तुओं-विषयक अपनी अभ्यस्त प्रतिक्रियाओंको हमारी उस देशीय परिकल्पनामें घुसेड़ रहा है जिसमें उनके लिये अपना कोई उपयुक्त स्थान नहीं है। शिवके नृत्यकी यह अजीब और मिथ्या व्याख्या ध्यान देने योग्य है कि यह मृत्यु या संहारका नृत्य है जब कि, जैसा किसी भी व्यक्तिको जो नटराजपर दृष्टि डालता है, देख सकना चाहिये कि शिवका नृत्य, उक्त व्याख्याके विपरीत, सृष्टि-नृत्यके उस परमोल्लासको प्रकट करता है जिसके पीछे अविचल, शाश्वत और असीम आनंदकी गहराइयां विद्यमान हैं। इसी प्रकार, हम जानते ही हैं कि, कालीकी मूर्ति जो यूरोपीय आंखोंके लिये इतनी भयानक है, असलमें जगत्की माता है जो असुरोंका, मनुष्य और जगत्में विद्यमान अशुभकी शक्तियोंका वध करनेके लिये ही संहारका यह उग्र रूप ग्रहण करती है। पश्चिमी

मनके इस भावमें कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो ऐसी किसी भी चीजके प्रति घृणासे उत्पन्न होते दीखते हैं जो मानवीय प्रतिमानके बहुत ही ऊपर उठी हुई हो और फिर इसमें कुछ अन्य ऐसे तत्त्व भी हैं जिनमें हम उस ग्रीक अक्षमताका एक सूक्ष्म अवशेष देखते हैं जिसके कारण प्रफुल्ल पार्थिव यूनानी मन साधारणतः परतत्त्व, असीम एवं अज्ञातके विचारको भय, विषाद और विरक्तिके भावके साथ देखता था; परंतु भारतीय मनोवृत्तिमें उस प्रतिक्रियाका कोई स्थान नहीं। और जहांतक कुछ एक अमानवीय आकृतियोंकी विचित्रता या उनके भीषण रूपका अथवा दैत्यों या राक्षसोंकी परिकल्पनाका प्रश्न है, हमें यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय सौंदर्यप्रेमी मन केवल भूलोकके साथ ही नहीं वरन् आंतरात्मिक स्तरोंके साथ भी, जिनमें ये चीजें अस्तित्व रखती हैं, व्यवहार करता है और उनसे अभिभूत हुए बिना उनमें स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करता है क्योंकि वह सर्वत्र आत्मा या भगवान्की शक्ति एवं सर्वव्यापकतामें महान् विश्वासकी छापको अपने साथ लिये रहता है।

मैंने हिंदू और विशेषकर द्राविड़ स्थापत्य-कलापर ही विचार किया है क्योंकि द्राविड़ स्थापत्यपर यों कहकर सर्वाधिक उग्रताके साथ आक्रमण किया गया है कि यह यूरोपीय रुचिके लिये संपूर्ण रूपसे विजातीय है और इसके साथ किसी प्रकारका समझौता करनेंकी गुंजाइश नहीं। परंतु एक शब्द भारतीय-मुस्लिम स्थापत्यके विषयमें भी कह दें। मुझे किसी ऐसे दावेका समर्थन करनेसे कोई मतलब नहीं कि इसकी विशेषताओंका उद्गम शुद्ध रूपसे स्वदेशीय ही है। मुझे तो यह लगता है कि यहां भारतीय मनने अरबी और फारसी कल्पनासे बहुत कुछ लिया है और कुछ मस्जिदों तथा मकबरोंमें तो मुझे दृढ़ और साहसी अफगानी एवं मुगल स्वभावकी छाप विद्यमान दिखायी देती है; परंतु यह बात पर्याप्त रूपमें स्पष्ट दिखायी देती है कि फिर भी यह कुल मिलाकर विशिष्ट भारतीय देनसे युक्त एक ठेठ भारतीय कृति ही है। सज्जासंबंधी कुशलता और कल्पनाके वैभवको एक अन्य शैलीके उपयोग करने योग्य बना दिया गया है, किंतु यह वही कौशल है जिसे हम उत्तरके हिंदू मंदिरोंमें पाते हैं, और पृष्ठभूमिमें हम कभी-कभी, हलके रूपमें ही सही, प्राचीन महान् सामग्री और शक्तिका कुछ अंश देखते हैं, पर बहुधा वह काव्योचित सुषमा देखते हैं जिसे हम स्वदेशीय मूर्तिकलामें मुसलमानोंके आनेसे पहले विकसित होती हुई पाते हैं,—जैसे, उत्तरपूर्व और जावाकी कला-शैलीमें,—और कभी-कभी तो दोनों उद्देश्योंका मिश्रण भी देखते हैं। सामग्री और शक्तिकी

परिमितता एवं मृदुतासे सामान्य यूरोपीय मनको बड़ा सुख पहुंचता है और वह उसका अनुमोदन करता है। परंतु वह कौनसी चीज है जिसकी वह इतनी अधिक सराहना करता है? मि. आर्चर सबसे पहले हमें बताते हैं कि यह उसकी बुद्धिग्राह्य सुन्दरता, सूक्ष्मता और श्री-सुषमा है जो स्वाभाविक और उज्ज्वल है तथा हिंदुओंके यौगिक भ्रम और दुःस्वप्नके भीषण हंगामेके बाद तरोताजा करनेवाली है। यह वर्णन जो यूनानी कलाके बारेमें किया जा सकता था यहां मुझे भद्दा और अनुपयुक्त प्रतीत होता है। तुरत इसके बाद ही वह एक बिलकुल अन्य तथा असंगत बातका राग अलापता है, और इसे एक अत्युत्कृष्ट वास्तुकलाका परी-राज्य कहता है। बुद्धिसंगत परी-राज्य एक आश्चर्य है जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदीके मनोंके किसी विचित्र पारस्परिक संयोगसे शायद भविष्यमें तो आविष्कृत हो जाय पर मेरे विचारमें अभीतक तो इसका अस्तित्व भूतलपर या स्वर्गमें कही भी नहीं है। बुद्धिसंगत नहीं बल्कि जादूभरा सौंदर्य ही जो हमारे अंदरकी किसी गभीरतर एवं सर्वथा अतिबौद्धिक सौंदर्यप्रेमी अंतरात्माको संतुष्ट और मोहित करता है, इन कृतियोंकी अवर्णनीय मोहिनी-शक्ति है। तथापि, किन स्थानोंमें वह जादू हमारे समालोचकको स्पर्श करता है? वे हमें पत्रकारकी-सी उल्लासपूर्ण शैलीमें बतलाते हैं। ये हैं संगमरमरपर बनी अतिउत्कृष्ट नक्काशियां, सुन्दर गुंबज और मीनारें, कब्रपर बने शानदार मकबरे, आश्चर्यजनक खुली गैलरियां और खंभोंपर बनी मेहराबें, खंबोंके निचले भागमें बनी सुन्दर चौकियां और चबूतरे, शाही फाटक आदि। तो क्या यही सब कुछ है? केवल बाह्य भौतिक ऐश्वर्य-विलास और ठाठबाटका जादू? हां; मि. आर्चर हमें पुनः बताते हैं कि यहां हमें किसी नैतिक प्रेरणासे रहित चाक्षुष, ईंद्रियभोग्य सौंदर्यसे ही संतुष्ट रहना होगा। और यह बात उन्हें एक विनाशकारी निंदाके रूपमें अपना मत प्रकाशित करनेमें सहायता देती है जिसके बिना वे भारतीय वस्तुओंके साथ बरतनेमें प्रसन्नता नहीं अनुभव कर सकते: यह मुस्लिम स्थापत्य केवल उद्दाम विलासिताको ही नहीं बल्कि स्त्रैणता और अधोगतिको सूचित करता है! परंतु यदि ऐसा ही हो तो, इसका सौंदर्य चाहे कितना ही क्यों न हो, यह, पूर्ण रूपसे, कलात्मक सृजनके एक गौण स्तरसे ही संबंध रखता है और हिंदू निर्माताओंकी प्रस्तरपर अंकित महान् आध्यात्मिक अभीप्साओंके समकक्ष नहीं हो सकता।

मैं वास्तुकलासे "नैतिक प्रेरणाओं" की मांग नहीं करता, पर क्या यह सच है कि इन भारत-मुस्लिम इमारतोंमें एक ऐंद्रिय बाह्य सौंदर्य-सुषमा

और ऐश्वर्य-विलासके सिवा और कुछ नहीं है? अधिक महान् विशिष्ट कृतियोंके संबंधमें यह बात बिलकुल ही सच नहीं है। ताजमहल केवल एक शाही प्रेमकी ऐंद्रिय स्मृति या चंद्रलोकके चमकदार पत्थरोंसे बनाया हुआ परियोंका जादू नहीं है, बल्कि मृत्युके बाद भी जीवित रहनेवाले प्रेमका एक शाश्वत स्वप्न है। महान् मस्जिदें प्रायः एक उच्च तपोभावनातक उठी हुई धार्मिक अभीप्साको साकार रूप देती हैं जो गौणभूत साज-सज्जा और श्री-शोभाको प्रश्रय देती है और उससे क्षीण नहीं होती। मकबरे मृत्युसे परे स्वर्गके सौंदर्य और आनंदतक पहुंचते हैं। फतेहपुर सीकरीकी इमारतें स्त्रैण भोग-विलासमय पतनके स्मारक नहीं है,—अकबरके समयके मनका यह एक मूर्खतापूर्ण वर्णन है,—बल्कि वे एक ऐसी महानता, शक्ति और सुषमाको रूप देती हैं जो भूतलको अपने अधिकारमें कर लेती हैं पर उसके कीचमें लोटती नहीं। इसमें संदेह नहीं कि यहां प्राचीनतर भारतीय मनका विशाल आध्यात्मिक तत्त्व नहीं है, किंतु फिर भी यह एक भारतीय मन ही है जो इन मनोहर रचनाओंमें पश्चिमी एशियाके प्रभावको आत्मसात् कर लेता है और ऐंद्रिय तत्त्वपर भी बल देता है जैसा कि पहले कालिदासके काव्यमें दिया गया था, पर साथ यह इसे किसी अभौतिक सौंदर्यकी ओर भी उठा ले जाता है, प्रायः भूतलको पूर्ण रूपसे छोड़े बिना इससे उठकर मध्य लोकके जादूभरे सौंदर्यमें जा पहुंचता है और धार्मिक वृत्तिके साथ पवित्र हाथसे भगवान्‌के आंचलोंको जा छूता है। सर्वतोव्यापी आध्यात्मिक तल्लीनता तो यहां नहीं है पर जीवनके अन्य तत्त्व जिनकी भारतीय संस्कृति उपेक्षा नहीं करती और जिन्हें अतिप्राचीन श्रेष्ठ युगसे इसका समर्थन प्राप्त होता आया है, यहां एक नये प्रभावके अधीन व्यक्त किये गये हैं और अभीतक भी एक उत्कृष्ट दीप्तिकी किसी उज्ज्वल आभासे ओतप्रोत हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तीसरा अध्याय

भारतीय कला

हालमें ही प्राचीन भारतकी मूर्तिकला और चित्रकला अधिक संस्कृत यूरोपीय आलोचकोंकी दृष्टिमे आश्चर्यजनक रूपसे हठात् अपने पदपर पुनः प्रतिष्ठित हो गयी हैं, क्योंकि अब पश्चिमी मन पूर्वीय विचार और सृजनके मूल्यकी ओर शीघ्रतासे खुल रहा है और यह उस परिवर्तनके अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिह्नोंमेंसे है जो अभी केवल अपनी आरंभिक अवस्थामे ही है। जहां-तहां सूक्ष्म अनुभूति और गंभीर मौलिकतावाले कुछ ऐसे विचारक भी हुए हैं जिन्होंने पूर्वीय कलाकी प्राचीन और अटल स्वतंत्रताकी ओर मुड़ते हुए यह देखा है कि यह कला एक अनुकरणात्मक यथार्थवादके द्वारा आबद्ध या उसके कारण पदच्युत होनेसे इंकार करती है, इस सच्चे सिद्धांतके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करती है कि कला सत्ताके उन गभीरतर आंतरात्मिक मूल्योंकी अंतःप्रेरित व्याख्या है जो प्रकृतिकी बाह्य अवस्थाओंके प्रति दक्षतासे ऊपर उठे हुए हैं, और साथ ही यह यूरोपके सौंदर्यात्मक और सर्जनशील मनको पुनरुज्जीवित तथा बंधनमुक्त करनेका ठीक मार्ग है। और, यद्यपि पश्चिमी कलाका अधिकांश अबतक पुरानी लीकोंपर ही चल रहा है फिर भी वास्तवमें इसकी बहुत-सी अत्यंत मौलिक नवीन कृतियोंमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं या एक ऐसी मार्गदर्शक दिशा है जो इसे पूर्वीय मनोवृत्ति एवं बोधके अधिक निकट ले आती है। सुतरां हमारे लिये यह संभव हो सकता है कि हम इस विषयको यहीं छोड़ दें और इस बातकी प्रतीक्षा करें कि समय इस नयी अंतर्दृष्टिको गहरा करे तथा भारतकी कलाके सत्य और महानताको अधिक पूर्ण रूपसे प्रमाणित करे।

पर हमारा संबंध केवल यूरोपके द्वारा किये गये हमारी कलाके आलोचनात्मक मूल्यांकनसे ही नहीं है बल्कि, कहीं अधिक घनिष्ठ रूपमें उस बुरे प्रभावसे है जो आरंभमें की गयी निंदाके कारण भारतीय मनपर पड़ा है — ऐसे मनपर जो अंग्रेजियतमें रंगी विदेशी शिक्षाके कारण दीर्घ काल-

तक अपने सही मार्गसे भ्रष्ट रहा है और, परिणामस्वरूप, अपने सच्चे केंद्रके खो जानेसे नीचताको प्राप्त होकर अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका है, और इस बुरे प्रभावसे हमें इसलिये मतलब है कि यह कलात्मक रुचि और संस्कृतिके स्वस्थ और सजीव पुनरुद्धारमें विघ्न-बाधाएं उपस्थित करता है और सृजनके नये युगका रास्ता रोकता है। कुछ ही वर्ष हुए कि शिक्षित भारतीयोंके — "शिक्षित" पर अणुमात्र भी वास्तविक संस्कृति न रखनेवाले भारतीयोंके — मनने अंग्रेजोंद्वारा किये हुए हमारी मूर्तिकला एवं चित्रकलाके इस असभ्यतापूर्ण मूल्यांकनको संतोषपूर्वक स्वीकार कर लिया कि यह एक अविकसित घटिया कला है या यहांतक कि एक बीभत्स और अपरिपक्व मिथ्या-रचनाका स्तूप है, यद्यपि वह काल बीत गया है और अब बड़ा भारी परिवर्तन आ गया है, तथापि भूतपूर्व पश्चिमी विचारोंका भारी बोझ, सौंदर्यात्मक रुचिकी मंदता या उसका नितांत अभाव[1] एवं मूल्य आंकनेमें अक्षमता अभीतक अत्यंत व्यापक रूपसे देखनेमें आती है, और अब भी हमें कभी-कभी एक ऐसी कोलाहलपूर्ण अंग्रेजियतके रंगमें रंगी हुई आलोचनाका स्वर सुनायी दे जाता है जो भारतीय शैलीकी सभी चीजोंकी निंदा करती है और केवल उन्हीं वस्तुओंकी प्रशंसा करती है जो पश्चिमी नियम-कानूनके साथ मेल खाती हैं। और यूरोपीय आलोचनाकी पुरानी शैलीका अब भी हमारे ऊपर कुछ प्रभाव बना हुआ है, क्योंकि हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें सौंदर्यात्मक या निःसंदेह किसी सच्ची सांस्कृतिक शिक्षाका अभाव होनेके कारण हम अज्ञानी और विवेकशून्य आधार बन जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप हम ओकाकुरा (Okakura) या मि. लारेंस बिनिओन (Mr. Laurence Binyon) जैसे सुयोग्य आलोचकोंकी सुविचारित सम्मतियोंको और मि. आर्चरकी कोटिके पत्रकारोंकी, जो बिना किसी अधिकारके ही लेखनी चलाते हैं, क्योंकि इन चीजोंके विषयमें न तो इन्हें कोई रुचि है न ज्ञान, घसीटी हुई अविवेकपूर्ण सम्मतियोंको समान रूपसे महत्त्वपूर्ण समझनेको तैयार रहते हैं, और यहांतक कि ये पिछले प्रकारकी सम्मतियां ही हमारा ध्यान अधिक मात्रामें आकृष्ट करती हैं। अतएव यह अब भी आवश्यक है कि उन बातोंको फिरसे दुहराया जाय जो एक

---

[1]उदाहरणार्थ, हमें अब भी एक ऐसी "समालोचना" पढ़कर निराश और स्तंभित रह जाना पड़ता है जिसमें कहा गया है कि रविवर्मा और अवनींद्रनाथ ठाकुर भिन्न-भिन्न शैलियोंके पर समान शक्ति और प्रतिभावाले कलाकार हैं!

प्रशिक्षित या संवेदनशील सौंदर्य-बुद्धि रखनेवाले के लिये प्रत्यक्ष होनेपर भी उस सामान्य मनुष्यके लिये अभी परिचित नहीं हैं जो अबतक अशिक्षित है या इन मिथ्या मूल्यों और मापदंडोंका आदी है। अपने स्वरूपके — अपने अतीत और वर्तमान स्वरूपके और उसके आधारपर अपने भावी स्वरूपके — सच्चे और भीतरी बोधको पुनः प्राप्त करनेका कार्य हमारी जातिके अधिकतर लोगोंके लिये अभी केवल अपनी आरंभिक अवस्थाम ही है।

अपनी प्राचीन कलाका सही मूल्य आंकनेके लिये हमें विदेशी दृष्टि-कोणकी समस्त दासतासे अपने-आपको मुक्त करना होगा और, जैसा कि पहले मैं अपनी स्थापत्य-कलाके बारेमें संकेत कर चुका हूं, हमें अपनी भास्कर-कला एवं चित्रकलाको उसके अपने गंभीर उद्देश्य एवं उसके मूलभावकी महानताके प्रकाशमें देखना होगा। जब हम उसपर इस प्रकार दृष्टि डालेंगे तब हम यह देख पायेंगे कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारतकी मूर्तिकला कलात्मक उपलब्धिके अति उच्चतम स्तरोंपर स्थान पानेका दावा करती है। मुझे मालूम नहीं कि कहां हमें कोई ऐसी मूर्तिकला मिलेगी जिसका उद्देश्य इससे अधिक गंभीर हो, भाव अधिक महान् हो, कार्य संपन्न करने-का कौशल अधिक सुसमंजस हो। हां, हीन कोटिकी रचना भी देखनेमें आती है, ऐसी रचना जो असफल हो गयी है या केवल कुछ अंशमें ही सफल हुई है, पर इस कलाको यदि इसके समूचे रूपमें लें, इसके उत्कर्षकी चिरस्थायितामें, इसकी सर्वोत्कृष्ट कृतियोंकी संख्यामें और इसकी उस शक्तिमें इसे देखें जिसके साथ यह एक जातिकी आत्मा और मनको व्यक्त करती है तो हम आगे बढ़कर इसके लिये प्रथम स्थानका दावा करनेके लिये लालायित होंगे। निःसंदेह, मूर्ति-शिल्प केवल प्राचीन देशोंमें ही अत्यधिक फूला-फला है जहां इसकी परिकल्पना इसकी स्वाभाविक पृष्ठ-भूमि एवं आधार, अर्थात् महान् वास्तु-कृतिके सहारे की गयी थी। मिस्र, यूनान और भारतको इस प्रकारकी रचनामें प्रथम स्थान प्राप्त है। मध्यकालीन और आधुनिक यूरोपने ऐसी निपुणता, प्रचुरता और विशालतावाली कोई भी चीज नहीं रची, जब कि उधर चित्रकारीमें परवर्ती यूरोपने बहुत कुछ किया है और वह भी समृद्ध रूपमें तथा दीर्घकालव्यापी और नित-नूतन अंतःप्रेरणाके साथ। विभेद उत्पन्न होनेका कारण यह है कि ये दो कलाएं भिन्न-भिन्न प्रकारकी मनोवृत्तिकी अपेक्षा करती हैं। जिस साधन-सामग्रीसे हम काम करते हैं वह सर्जनशील आत्मासे अपनी विशेष मांग करती है, अपनी स्वाभाविक शर्तें रखती है, जैसा कि रस्किनने एक भिन्न प्रसंगमें निर्देश किया है, पत्थर या

कांसेसे मूर्ति बनानेकी कला मनकी ऐसी बनावटकी मांग करती है जो प्राचीन लोगोंमें थी पर आधुनिक लोगोंमें नहीं है या फिर उनमेंसे विरले व्यक्तियोंमें ही पायी जाती है, वह एक ऐसे कलात्मक मनकी मांग करती है जो न तो अत्यंत वेगपूर्वक चलनेवाला हो और न अपने भावमें आसक्त हो और न अपने व्यक्तित्व एवं भावावेशके तथा उत्तेजित करके विलुप्त हो जानेवाले स्पर्शोंके अत्यधिक वशमें ही हो, बल्कि सुनिश्चित विचार और अंतर्दर्शनके किसी महान् आधारपर प्रतिष्ठित हो, स्वभावमें स्थिर हो, अपनी कल्पनामें उन्हीं चीजोंपर एकाग्र हो जो दृढ़ और स्थायी हैं। इस अधिक कठोर उपादानसे मनुष्य आसानीसे अपनी इच्छानुसार खेलवाड़ नहीं कर सकता, वह इन चीजोंमें केवल श्री-शोभा एवं बाह्य सौंदर्य या अधिक स्थूल, चंचल और हलके रूपमें आकर्षक उद्देश्योंके लिये चिरकालतक या सुरक्षित रूपमें रत भी नहीं रह सकता। सौंदर्यात्मक स्व-तुष्टि जिसके लिये रंगकी आंतर भावना हमें स्वीकृति देती है तथा आमंत्रित तक करती है, जीवनकी उस चंचल क्रीड़ाका आकर्षण जिसके लिये तूली, लेखनी या रंगकी रेखा स्व-तंत्रता प्रदान करती है — ये दोनों यहां निषिद्ध हैं, अथवा यदि किसी हदतक इन्हें चरितार्थ किया भी जाय तो केवल एक सीमारेखाके भीतर ही जिसे पार करना खतरनाक और शीघ्र ही विनाशकारी होता है। यहां तो कृतिके आधारके रूपमें आवश्यकता है महान् या गंभीर उद्देश्योंकी, एक कम या अधिक गहराईमें पैठनेवाली आध्यात्मिक दृष्टि या शाश्वत वस्तुओं-की किसी अनुभूतिकी। मूर्ति-शिल्प स्थितिशील, स्वयंपरिपूर्ण, अनिवार्यतः दृढ़, उदात्त या कठोर होता है। और इसके लिये एक ऐसी सौंदर्य-भावना-की अपेक्षा होती है जो इन गुणोंको धारण करनेमें समर्थ हो। इस आधारपर भी जीवनकी एक विशेष प्रकारकी गतिशीलता और रेखाकी एक कुशलतापूर्ण श्री-सुषमा अवश्य आ सकती है, परंतु वह यदि पूर्ण रूपसे उपा-दानके मूल धर्मका स्थान ले लेता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बृहत् मूर्तिमें क्षुद्र मूर्तिकी भावना प्रविष्ट हो गयी है और तब हमें निश्चय हो जाना चाहिये कि हम अवनतिके निकट पहुंच रहे हैं। यूनानी मूर्तिकला इस दिशाका अनुसरण करती हुई फिडियसकी महानतासे प्रैक्सिटेलीज (Praxi-teles) की सहज स्व-आसक्तिमेंसे गुजरकर अपने ह्रासकी अवस्थामें जा पहुंची। कुछ एक व्यक्तियों, एक ऐञ्जेलो (Angelo) या एक रोदें (Rodin) के द्वारा निर्मित किसी महान् कृतिके होते हुए भी परवर्ती यूरोप मूर्तिकलामें अधिकतर असफल ही रहा है, क्योंकि उसने पत्थर और कांसेके साथ बाहरी रूपमें खिलवाड़ किया, इन्हें जीवनके चित्रणका एक माध्यम

समझा पर गभीर दृष्टि या आध्यात्मिक प्रेरकभावका पर्याप्त आधार नहीं पा सका। इसके विपरीत, मिस्र और भारतमें मूर्तिकलाने सफल सृजनकी शक्तिको कई महान् युगोंतक सुरक्षित रखा: भारतमें जो प्राचीनतम कृति हालमें खोज निकाली गयी है वह ईसासे पूर्व पांचवीं सदीकी है और वह प्रायः पूर्णतया विकसित है एवं उसके पीछे और भी पहलेकी पूर्ण रचनाका इतिहास स्पष्ट रूपसे विद्यमान है, और किसी प्रकारका उच्च मूल्य रखने-वाली अत्यंत अर्वाचीन कृति हमारे अपने समयसे कुछ ही सदियां पहले-की ठहरती है। मूर्तिकलाके क्षेत्रमें सर्वांगपूर्ण सृष्टिके दो सहस्र वर्षोंके सुनिश्चित इतिहासका होना किसी जातिके जीवनका एक असाधारण और महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

भारतीय मूर्तिकलाकी इस महानता और अविच्छिन्न परंपराका कारण भारत जातिके धार्मिक और दार्शनिक मन तथा सौंदर्यात्मक मनके बीच घनिष्ठ संबंध ही है। हमारे युगमें कुछ काल पूर्वतक इसका बचे रहना उस दर्शन और धर्ममें विद्यमान प्राचीनपंथी मनकी गठनके बचे रहनेके कारण ही संभव हुआ, ऐसे मनकी जो सनातन वस्तुओंसे परिचित था, विराट् दृष्टि पानेमें समर्थ था और जिसके चिंतन और अवलोकनकी जड़ें अंतरात्मा की गहराइयोंमें, मानव आत्माकी अत्यंत अंतरंग, अर्थगर्भित और स्थायी अनुभूतियोंमें थीं। निःसंदेह, इस महानताकी भावना प्रस्तरगत यूनानी कृतिकी सीमित पूर्णता, उज्ज्वल श्रेष्ठता या प्राणिक सूक्ष्मता और भौतिक सुषमासे ठीक उलटे छोरकी है। और, क्योंकि मि. आर्चर और उनकी बिरादरीकी प्रिय चाल यूनानी आदर्शको निरंतर हमारे सामने ला खड़ा करना है, मानो मूर्तिकला या तो यूनानी मानकसे नियंत्रित होनी चाहिये या फिर वह कौड़ी कामकी नहीं, अतएव इन दोनोंके भेदके आशयपर ध्यान देना भी अच्छा होगा। प्राचीनतर एवं अधिक पुरानी यूनानी शैलीमें कोई ऐसी चीज अवश्य थी जो मिस्र और पूर्वसे प्राप्त प्रथम सर्जनात्मक मूल प्रेरणा-का स्मरण करानेवाले स्पर्शके समान प्रतीत होती है, परंतु वह प्रभुत्वपूर्ण विचार तो वहां पहलेसे ही विद्यमान है जिसने यूनानी सौंदर्यतत्त्वका रूप निश्चित किया और साथ ही जो यूरोपके परवर्ती मनपर अपना अधिकार जमाये रहा है, अर्थात् आंतरिक सत्यकी किसी प्रकारकी अभिव्यक्तिको बाह्य प्रकृतिके आदर्श-अनुकरणके साथ संयुक्त करनेका संकल्प। जो रचना निष्पन्न की गयी उसकी उज्ज्वलता, सुन्दरता एवं उत्कृष्टता एक अत्यंत महत् और पूर्ण वस्तु थी, परंतु यह मानना निरर्थक है कि वही कलात्मक सृजनकी एकमात्र संभव पद्धति या उसका एकमात्र स्थायी और स्वाभाविक

नियम है। उसकी उच्चतम महत्ता केवल तभीतक जीवित रही—और असलमें वह बहुत दीर्घकालतक नहीं जीवित रही—जबतक कि एक अत्यंत सूक्ष्म, समृद्ध, या गभीर तो नहीं पर सुन्दर आध्यात्मिक संकेत, और श्रेष्ठता तथा सुषमाके बाह्य भौतिक सामंजस्यके बीच एक विशेष प्रकारका संतोषकारक संतुलन साधित करके उसे निरंतर सुरक्षित रखा गया। बादकी रचनाने इंद्रियोंके सांचेमें सौंदर्यकी आत्माको प्रकट करनेकी एक विशेष शक्तिके साथ प्राणिक संकेत और ऐंद्रिय भौतिक सौंदर्यका एक क्षणिक चमत्कार साधित किया; किंतु एक बार ऐसा कर लेनेपर, देखने या सृजन करनेके लिये और कुछ भी नहीं रहा। कारण, यह विचित्र प्रवृत्ति जो आज आधुनिक मनको इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अतिरंजित यथार्थवादकी, जो वस्तुतः जीवन और जड़तत्त्वमें विद्यमान आत्माके रहस्यको प्रकाशित करनेके लिये वस्तुओंके आकारपर डाला जानेवाला दबाव ही है, मिथ्या कल्पनाके द्वारा आध्यात्मिक दृष्टिकी ओर लौटे, प्राचीन स्वभाव और बुद्धिके लिये सुलभ नहीं थी। और निश्चय ही हमारे लिये अब यह देखनेका समय आ गया है, जैसा कि आज बहुतेरे लोग स्वीकार करते हैं, कि ग्रीक कलाकी महत्ताको उसके अपने क्षेत्रमें मान्यता देना उस क्षेत्रकी अपेक्षाकृत संकीर्ण और संकुचित सीमाओंको स्पष्ट रूपसे अनुभव करनेमें बाधक नहीं होना चाहिये। जो कुछ ग्रीक मूर्तिकलाने व्यक्त किया वह सुन्दर, श्रेष्ठ और महान् था, किंतु जो कुछ उसने व्यक्त नहीं किया और जिसके लिये वह, अपने नियम-विधानकी सीमाओंके कारण, प्रयत्न करनेकी आशा भी नहीं कर सकती थी वह बहुत-कुछ था, संभावनाकी दृष्टिसे अति महान् था, एक ऐसा आध्यात्मिक गांभीर्य एवं विस्तार था जिसकी मानव मनको अपने विस्तीर्णतर और गभीरतर आत्मानुभवके लिये आवश्यकता होती है। और ठीक यही भारतीय मूर्तिशिल्पकी महानता है कि वह पत्थर और कांसेपर उस चीजको व्यक्त करता है जिसकी ग्रीक सौंदर्यात्मक मन कल्पना ही न कर सका या जिसे वह प्रकट ही न कर सका, और उसे वह उसकी समुचित अवस्थाओं और स्वाभाविक पूर्णताकी गहरी समझके साथ मूर्त रूप प्रदान करता है।

भारतका प्राचीनतर मूर्तिशिल्प उसी चीजको दृश्यमान रूपमें मूर्त्तिमान् करता है जिसे उपनिषदोंने अंतःप्रेरित विचारके रूपमें व्यक्त किया था और महाभारत तथा रामायणने जीवनके अंदर शब्दके द्वारा अंकित किया था। भारतीय गृह-शिल्पके समान यह मूर्तिशिल्प भी आध्यात्मिक अनुभूतिसे उद्भूत होता है, और अपने महत्तम रूपमें यह जिस चीजका सृजन एव

अभिव्यंजन करता है वह है — रूपके अंदर विराजमान आत्मा, देहमें स्थित अंतरात्मा, दिव्य या मानव सत्तामें विद्यमान कोई-न-कोई जीवंत आत्म-शक्ति, वैश्व एवं विराट् सत्ता जो संकेतमें वैयक्तिक रूप तो धारण कर लेती है पर उस व्यक्ति-भावमें खो नहीं जाती, निर्व्यक्तिक सत्ता जो व्यक्तित्वकी अत्यंत आग्रहपूर्ण क्रीड़ाको धारण नहीं करती, सनातनके स्थायी क्षण, अपने कार्यों और रचनाओंमें आत्माकी उपस्थिति, भावना, शक्ति और उसका शांत या शक्तिशाली आनंद। और समस्त कलाके ऊपर यह मूलभाव कुछ-न-कुछ छाया हुआ है तथा दृढ़ रूपसे विद्यमान है और जहां मूर्तिकार-के मनपर इसका प्रभुत्व नहीं है वहां भी इसका संकेत मिलता है। और इसीलिये भारतकी वास्तुकलाकी भांति उसकी मूर्तिकलाकी कृतिकी ओर भी हमें भिन्न प्रकारका मन, दृष्टि और प्रतिक्रियाकी एक भिन्न प्रकारकी शक्ति लेकर आना होगा, यूरोपकी अधिक बाह्य रूपमें काल्पनिक कलाकी अपेक्षा इसमें हमें देखनेके लिये अपने भीतर अधिक गहरे जाना होगा। फिडियस (Phidias) के ओलिम्पस-पर्वतवासी ग्रीक देवता विशालीकृत और उन्नीत मानव सत्ताएं ही हैं जिन्हें निर्व्यक्तिकताकी एक प्रकारकी दिव्य शांति या विश्वभावापन्न गुण, दिव्य लक्षणके द्वारा अत्यंत मानवीय सीमासे रक्षित किया गया है; अन्य कृतियोंमें हम मानव आकृतिकी आदर्शीकृत सुन्दरताके रूपमें वीरों, मल्ल-योद्धाओं, सौंदर्यके नारी-रूप अवतारों, विचार, कार्य या भावावेगकी शांत एवं संयत मूर्तियोंको देखते हैं। भारतीय भास्करकलाके देवता वैश्व सत्ताएं हैं, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक विचार और क्रिया एवं अंतरतम चैत्य अर्थके साकार रूप हैं, मानवीय रूप तो इस आंतरात्मिक अर्थका वाहन, इसकी आत्म-अभिव्यक्तिका बाह्य साधन है; आकृतिमें की प्रत्येक वस्तुको, उसके द्वारा दिये हुए प्रत्येक सुयोगको, मुख, हाथ, अंगोंकी मुद्रा, देहकी समतोलता और विविध भंगिमाको तथा प्रत्येक सहायक वस्तुको आंतरिक अर्थसे अनुप्राणित करना होगा, इसे प्रकट करनेमें सहायक बनना होगा, संपूर्ण संकेतके लयतालका निर्वाह करना होगा, और दूसरी ओर ऐसी हर एक चीजको दबा देना होगा जो इस उद्देश्यको विफल करे, विशेषकर उन सब चीजोंको दबा देना होगा जिनका अभिप्राय मानवीय आकृतिके महज प्राणिक या भौतिक, बाह्य या प्रत्यक्ष संकेतोंपर ही आग्रह करना हो। इस प्रकारकी रचनाका उद्देश्य आदर्श भौतिक या भावसंबंधी सौंदर्य नहीं बल्कि वह निरतिशय आध्यात्मिक सौंदर्य या रहस्यार्थ है जिसे मानव आकृति व्यक्त करनेमें समर्थ हो। इसका विषय है हमारे अंदरकी दिव्य सत्ता, इसका विचार और रहस्य है एक ऐसा शरीर जिसे अंतरात्माका

बाह्य रूप बना दिया गया हो। और इसीलिये इस कलाके सम्मुख उपस्थित होनेपर इतना ही काफी नहीं है कि हम इसपर नजर डालें और सौंदर्यात्मक दृष्टि और कल्पना-शक्तिके द्वारा इसका प्रत्युत्तर दें, बल्कि हमें आकृतिके अंदर उस चीजकी भी खोज करनी होगी जिसे वह अपनेमें धारण किये हुई है और उसके द्वारा तथा उसके पीछे उस गंभीर संकेतका भी अनुसरण करना होगा जो वह अपने असीम स्वरूपके अंदर प्रदान करती है। भारतीय मूर्तिशिल्पका धार्मिक या प्राचीन परंपरागत पक्ष भारतीय ध्यान और उपासनाके आध्यात्मिक अनुभवोंके साथ घनिष्ठ रूपमें संबद्ध हैं,—ये अनुभव हमारे आत्मान्वेषणकी वे गंभीर वस्तुएं हैं जिन्हें हमारा आलोचक घृणापूर्वक योग-संबंधी भ्रम कहता है,——आत्माकी अनुभूति ही इसकी सृजनकी विधि है और आत्माकी अनुभूति ही प्रतिक्रिया करने और समझनेका हमारा तरीका भी अवश्य होनी चाहिये। और मानव सत्ताओं या समुदायोंकी आकृतियोंमें भी इसी प्रकारका आंतरिक लक्ष्य एवं अंतर्दृष्टि ही मूर्तिकारके श्रमका परिचालन करती है। किसी राजा या साधुकी प्रतिमा हमें किसी राजा या साधुके रूपकी परिकल्पना प्रदान करने या किसी नाटकीय कार्यका चित्रण करने या पत्थरपर खुदी हुई किसी विशेष चरित्रकी एक मूर्त्ति बननेके लिये ही अभिप्रेत नहीं होती वरंच वह किसी आत्मिक अवस्था या अनुभूति अथवा किसी अधिक गहरे आत्मिक गुणको, उदाहरणार्थ, आराध्य देवताके सामने संत या भक्तमें होनेवाले बाह्य भावावेशको नहीं वरन् भक्ति और ईश्वर-दर्शनके भाव-गद्गद परानंदके अंतरीय आत्मिक पक्षको साकार रूप देनेके लिये भी अभिप्रेत होती है। भारतीय मूर्तिकारने अपने पुरुषार्थके सामने जो कार्य रखा उसका स्वरूप यही है और इसमें मिलनेवाली उसकी सफलताके द्वारा ही, न कि किसी अन्य वस्तुके, अर्थात् उसके मनके लिये विजातीय तथा उसकी योजनाके प्रतिकूल किसी गुण या किसी उद्देश्यके अभावके द्वारा, हमें उसके कृतित्व और पुरुषार्थके बारेमें अपना मत स्थिर करना चाहिये।

एक बार जब हम इस मानकको स्वीकार कर लेते हैं तब इसकी अवस्थाओंकी उस गहरी समझके बारेमें जो भारतीय भास्करकलामें विकसित की गयी तथा उस कौशलके संबंधमें जिसके साथ इसके कार्यका संपादन किया गया या इसकी सर्वोत्कृष्ट रचनाओंकी पूर्ण गरिमा और श्री-सुषमाके विषयमें जितना भी कहा जाय उतना ही थोड़ा है। महान् बुद्धोंको ही लो—गांधार-शैलीकी बुद्ध-मूर्तियोंको नहीं, बल्कि महान् गुहामंदिर या देवालयकी दैवी मूर्तियों या मूर्तिसमूहोंको, दक्षिणकी बादके कालकी सर्वोत्तम कांस्य-

मूर्तियोंको जिनके चित्रोंका मि. गांगुलिकी इस विषयकी पुस्तकमें एक अद्‌भुत संग्रह है, 'कालसंहार' शिवकी मूर्ति एवं नटराजकी मूर्तियोंको लो। परिकल्पना या कार्यान्वितिकी दृष्टिसे इनसे अधिक महान् या अधिक सुन्दर कोई भी कृति मानवीय हाथोंने कभी नहीं बनायी और एक आध्यात्मिक सौंदर्यदृष्टिका अनुसरण करनेसे इसकी महत्तामें चार चांद लग गये हैं। बुद्धकी प्रतिमूर्ति एक सांत प्रतिमामें अनंतको सफलताके साथ अभिव्यक्त करती है, और निश्चय ही मानवीय आकार एवं मुखमंडलमें निर्वाणकी असीम शांतिको मूर्तिमंत करना कोई निकृष्ट या बर्बर प्राप्ति नहीं है। कालसंहार शिव केवल अपने उस महातेज, शक्ति, शांतिमय और सामर्थ्यशाली नियंत्रण तथा सत्ताकी उस गौरव-गरिमा और राज-महिमाके कारण ही सर्वोच्च नहीं हैं जिसे आकृतिकी संपूर्ण भाव-भंगिमा प्रत्यक्ष रूपमें मूर्तिमन्त करती है,—यह तो इसकी सफलताका केवल आधा या आधेसे भी कम हिस्सा है,—बल्कि इससे कहीं अधिक वे काल और सत्तापर आध्यात्मिक विजयके उस प्रगाढ़ दिव्य आवेगके कारण परमोच्च हैं जिसे कलाकार आंख, भृकुटि और मुख तथा प्रत्येक अंगमें भर देनेमें सफल हुआ है और जिसे उसने देवताके विग्रहके प्रत्येक अंगके अंतर्निहित, भाविक नहीं वरन् आध्यात्मिक, संकेतके तथा अपने आशयकी उस लयके द्वारा सूक्ष्म रूपसे संपुष्ट किया है जो उसने इस कृतिकी समग्र एकताके द्वारा उंडेल दी है। अथवा शिवके नृत्यकी वैश्व गतिविधि एवं विराट् आनंदको अभिव्यक्त करनेमें जो अद्‌भुत प्रतिभा और निपुणता देखनेमें आती है उसके, रहस्यार्थके लयतालको व्यक्त करनेके लिये जिस सफलताके साथ प्रत्येक अंगकी मुद्रा प्रदर्शित की गयी है उसके, स्वयं गतिकी उल्लासपूर्ण तीव्रता और स्वच्छंदता और फिर भी इसकी तीव्रताकी समुचित संयतताके तथा इन सिद्धहस्त मूर्तिकारोंकी हृदयग्राही परिकल्पनामें एक ही विषयके प्रत्येक अंगके सूक्ष्म भेद-प्रभेदके बारेमें क्या कहा जायगा? महान् मंदिरोंमें सुरक्षित या समयके विनाशसे बची हुई एक-एक मूर्ति उसी महान् परंपरागत कलाको और उस परंपरा तथा उसकी अनेक शैलियोंमें कार्य करनेवाली प्रतिभाको, गभीर और सुगृहीत आध्यात्मिक विचारको और प्रत्येक मोड़, रेखा एवं संघातमें, हाथ और अंग-अंगमें, सांकेतिक भाव-भंगी और व्यंजक लयतालमें उस विचारकी सतत अभिव्यक्तिको द्योतित करती है,—यह एक ऐसी कला है जिसे इसकी अपनी भावनामें समझनेपर अन्य किसी कलाके साथ किसी प्रकारकी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं, भले ही वह कला प्राचीन हो या आधुनिक, यूनानी हो या मिस्री, निकट या सुदूर पूर्वकी हो या पश्चिमके किसी भी सर्जनशील

युगकी। यह मूर्तिकला अनेक परिवर्तनोंमेंसे गुजरी; सर्वप्रथम, असाधारण गरिमा और अति महत् शक्तिसे संपन्न प्राचीनतर कला जो उसी भावनासे उन्नीत है जिसका प्रभुत्व वैदिक और वैदांतिक ऋषियों तथा महाकवियोंपर था, उसके बाद श्री-सुषमा और आनंदोल्लासकी ओर पुराणकालीन प्रवृत्ति, तथा भावप्रधान उन्मादना और गतिविधिका आविर्भाव, और अंतमें एक द्रुत और शून्यतामय ह्रास; परंतु इनमेंसे दूसरी अवस्थामें भी आदिसे अंततक मूर्तिकलाके उद्देश्यकी गभीरता और महानता कृतिको सहारा देती और संजीवित करती है और स्वयं ह्रासोन्मुख प्रवृत्तिमें भी इसका कुछ अंश पूर्ण अधोगति, रिक्तता या सारहीनतासे उद्धार करनेके लिये प्रायः ही बचा रहता है।

तो अब हम यह देखें कि भारतीय मूर्तिशिल्पकी भावना और शैलीपर जो आक्षेप किये गये हैं उनका मूल्य क्या है। उस छिद्रान्वेषीकी निंदाओंका तात्पर्य यही है कि उसका अपने-आपसे बंधा हुआ यूरोपीय मन संपूर्ण वस्तुको बर्बर, निरर्थक, कुत्सित, विचित्र, किंभूत-किमाकार अनुभव करता है, एक ऐसी विकृत कल्पनाकी कृति अनुभव करता है जो अप्रिय अवास्तविकता-ओंके दुःस्वप्नके बीच कशमकश कर रही है। अब, हमारे सामने जो कृतियां बच रही है उन सबमें ऐसी भी है जो कम अंतःप्रेरित है अथवा ऐसी भी है जो खराब, अतिरंजित, कृत्रिम या भद्दी हैं और जिनमें प्रतिभाहीन कारी-गरोंकी रचना अज्ञातनामा महान् कलाकारोंकी कृतिमें मिली हुई है, और जो आंख उन कृतियोंके आशय और उनकी पहली शर्तोंको, जातिके मन या उसकी विशिष्ट प्रकारकी सौंदर्य-भावनाको नहीं समझती, वह उत्तम और हीन कोटिकी क्रियान्वितियोंमें, ह्रासकालकी कृति और सिद्धहस्त कलाकारों तथा महान् युगोंकी कृतिमें भेद करनेमें सहज ही असफल हो सकती है। परंतु इस आलोचनाको यदि एक सर्वसामान्य वर्णनके रूपमें प्रयुक्त किया जाय तो यह अपने-आपमें ही एक अपरूप और विकृत वस्तु है और इसका केवल इतना ही अर्थ है कि यहां ऐसी धारणाएं और व्यक्त करनेवाली कल्पना है जो पश्चिमी बुद्धिके लिये अपरिचित है। भारतीय सौंदर्य-बुद्धि जैसी रेखा, प्रवाह और आकारकी मांग करती है वे वही नहीं हैं जिनकी मांग यूरोपीय सौंदर्य-बुद्धि करती है। इस भेदकी, जिसे हम मूर्तिकलामें ही नहीं वरन् अन्यान्य रूप-निर्माण करनेवाली कलाओं (Plastic arts) में तथा संगीत और यहांतक कि कुछ हदतक साहित्यमें भी पाते हैं, विस्तार-के साथ छानबीन करनेमें बहुत समय लगेगा, पर मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि भारतीय मन आध्यात्मिक संवेदनशीलता और आंतरात्मिक जिज्ञासाकी प्रताड़नाके वश गति करता है जब कि यूरोपीय प्रकृतिमें निहित सौंदर्य-

जिज्ञासा इस अर्थमें बौद्धिक, प्राणिक, भाविक और कल्पनामूलक है, और रेखा एवं संपूर्ण आकार, अलंकार, अनुपात और ताल-छंदके भारतीय प्रयोगकी प्रायः सम्पूर्ण विचित्रता इसी भेद से उत्पन्न होती है। ये दोनों मन प्रायः भिन्न-भिन्न जगतोंमें निवास करते हैं, या तो वे एक ही वस्तुको नहीं देखते या, जहां उनका विषय एक होता है वहां भी वे उसपर भिन्न स्तरपरसे या भिन्न वातावरणसे घिरे रहकर दृष्टि डालते हैं, और यह तो हम जानते ही हैं कि दृष्टिके आधार-बिंदु या माध्यममें विषयको बदल डालनेकी कितनी शक्ति होती है। निःसंदेह, मि. आर्चरकी इस शिकायतके लिये अत्यंत विपुल आधार विद्यमान है कि अधिकांश भारतीय मूर्तिशिल्पमें प्रकृतिवादका अभाव है। स्पष्टतः ही, अनुप्रेरणा एवं देखनेका तरीका प्रकृतिवादी नहीं है, अर्थात् वह स्थूल या पार्थिव प्रकृतिका सजीव, विश्वासजनक और यथार्थ, श्री-सुषमामय, सुंदर या सशक्त, अथवा यहांतक कि आदर्शीभूत या कल्पनामूलक अनुकरण नही है। भारतीय मूर्तिकारका काम आध्यात्मिक अनुभवों और धारणाओंको साकार रूप देना है न कि स्थूल इंद्रियोंसे गृहीत वस्तुका चित्रां-कन या स्तवन करना। वह अपना काम पार्थिव एवं भौतिक वस्तुओंसे मिलनेवाले सुझावोंसे आरंभ कर सकता है, परंतु अपनी कृतिका सृजन तो वह उसके बाद ही कर पाता है जब कि वह भौतिक परिस्थितियोंके आग्रह-की उपेक्षा करके उन वस्तुओंको आंतरात्मिक स्मृतिमें देख लेता है और उन्हें अपने अंदर इस प्रकार रूपांतरित कर डालता है कि उनके स्थूल सत्य या प्राणिक एवं बौद्धिक अर्थसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको प्रकाशमें लाया जा सके। उसकी आंख पदार्थोंकी आंतरात्मिक रेखा और आकार देखती है और भौतिक आकारके स्थानपर वह उन्हींका प्रयोग करता है। इसमें कुछ आश्चर्य नही कि इस प्रकारकी पद्धति ऐसे परिणाम उत्पन्न करे जो सामान्य पश्चिमी मन एवं दृष्टिके लिये, जब कि ये (मन और दृष्टि) विशाल और सहानुभूतिपूर्ण सस्कृतिके द्वारा अभी मुक्त नही हुए हैं, अपरि-चित हों। और जो चीज हमारे लिये अपरिचित होती है वह स्वभावतः ही हमारे अभ्यासबद्ध मनके लिये अरुचिकर और हमारी अभ्यासबद्ध इंद्रियके लिये भद्दी तथा हमारी कल्पनाशील परंपरा एवं सौंदर्यात्मक प्रशिक्षाके लिये विचित्र होती है। हम वही चीज चाहते हैं जो आंखके लिये परिचित और कल्पना-शक्तिके लिये स्पष्ट हो और इस बातको हम सहज ही स्वी-कार नही करेंगे कि जिस सौंदर्यके वृत्तमें रहने और आनंद लेनेके हम अभ्यासी हैं उससे अन्य प्रकारका और शायद अधिक महान् सौंदर्य भी यहां हो सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष रूपसे इस आंतरात्मिक दृष्टिको मानव आकृतिपर प्रयुक्त करना ही भारतीय मूर्तिकलाके इन आलोचकोंके रोषका कारण है। देव-देवियोंकी मूर्तियोंमें भुजाओंकी संख्या बढ़ाने, जैसे, शिवकी चार, छः, आठ या दस भुजाएं एवं दुर्गाकी अठारह भुजाएं बनाने आदि विशेषताओंके बारेमें सामान्यतः ही आक्षेप किया जाता है, क्योंकि ये एक अस्वाभाविक वस्तु हैं, ऐसी वस्तु हैं जो प्रकृतिमें नहीं पायी जाती। अब, इसमें संदेह नहीं कि किसी मनुष्य या स्त्रीके चित्रणमें कल्पनाकी इस प्रकारकी क्रीड़ा अनुपयुक्त होगी, क्योंकि वहां इसका कोई कलात्मक या अन्य प्रयोजन नहीं होगा, पर मैं यह नहीं समझता कि भारतीय देवताओं जैसी वैश्व सत्ताओंकी मूर्ति बनानेमें इस प्रकारकी स्वतंत्रताका निषेध क्यों किया जाय। सारा प्रश्न यह है कि, सर्वप्रथम, क्या यह उस गूढ़ार्थको व्यक्त करनेका उपयुक्त साधन है जिसे और किसी तरह इतने बल और प्रभावके साथ प्रकट नहीं किया जा सकता और, दूसरे, क्या यह कलात्मक चित्रण करनेमें समर्थ है और क्या यह एक ऐसे कलात्मक सत्य एवं एकत्वका लयताल है, जिसके लिये यह जरूरी नहीं कि वह भौतिक प्रकृतिका लयताल भी हो। यदि ऐसी बात नहीं है तो यह एक कुरूपता है और उग्रता है, पर यदि ये शर्त्तें पूरी होती हैं तो ये साधन न्यायोचित हैं और मैं नहीं समझता कि, कृतिकी पूर्णताके सम्मुख, हमें कोई असंगत हो-हल्ला मचानेका अधिकार है। स्वयं मि. आर्चर कौशल और निपुणताकी उस पूर्णतासे प्रभावित हैं जिसके साथ इन अवयवोंका, जो उनकी दृष्टिमें निरर्थक हैं, नृत्यरत शिवकी मूर्तियोंमें विन्यास किया गया है, और निःसंदेह ऐसी अंधी आंख तो हो ही नहीं सकती जो इतना भी न देख सके, परंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है वह कलागत अर्थ जिसे व्यक्त करनेके लिये इस कौशलका प्रयोग किया जाता है, और यदि उसे समझ लिया जाय तो हम तुरंत देख सकते हैं कि शिवके विश्व-नृत्यका आध्यात्मिक भावोद्रेक एवं उसके संकेत इस युक्तिके द्वारा इस प्रकार प्रकाशमें लाये जाते हैं जिस प्रकार कि दो बाहुओंवाली मूर्तिसे नहीं लाये जा सकते। यही सत्य अठारह भुजाओंसे युक्त असुरसंहारिणी दुर्गा या पल्लवयुगकी महान् कृतियोंके उन शिवोंके बारेमें भी लागू होता है जिनमें नटराजोंकी रसमय सुषमा तो नहीं है पर उसके स्थानपर एक महान् काव्योचित छंदताल तथा सौंदर्य है। कला अपने साधनोंको आप ही उचित ठहराती है और यहां वह यह कार्य परम पूर्णताके साथ करती है। और जहांतक कुछ मूर्तियोंके टेढ़े-मेढ़े (Contorted) अंग-विन्यासोंका प्रश्न है, वहां भी यही

नियम काम करता है। इस विषयमें प्रायः भौतिक शरीरके शरीर-शास्त्र-वर्णित आदर्श मानसे व्यतिक्रम पाया जाता है या फिर — और यह कुछ अधिक भिन्न बात है — अंगों या देहके असामान्य विन्यासपर कम या अधिक स्पष्ट रूपसे बल दिया जाता है, और तब प्रश्न यह है कि क्या यह बिना किसी अर्थ या प्रयोजनके किया जाता है, एक निरा भद्दापन या कुरूप अतिरंजन होता है, अथवा क्या यह असलमें किसी गूढ़ार्थको प्रकट करनेमें सहायक है और प्रकृतिके सामान्य भौतिक छंद-मानके स्थानपर एक अन्य उद्देश्यपूर्ण और सफल कलात्मक लय-तालकी प्रतिष्ठा करता है। आखिर, कलाके लिये असामान्यसे संबंध रखने या प्रकृतिको बदल देने और लांघ जानेकी मनाही नहीं है, और प्रायः यहांतक कहा जा सकता है कि जबसे इसने मानव कल्पनाशक्तिकी सेवा आरंभ की है, तबसे, अर्थात् अपने प्रथम विशाल और महाकाव्योचित अतिरंजनोंसे लेकर आधुनिक रूमानीवाद और यथार्थवादकी उग्रताओंतक, वाल्मीकि और होमरके उच्च युगोंसे लेकर ह्यूगो और इब्सनके दिनतक यह इसके सिवा और कुछ नहीं करती रही है। साधनोंका भी महत्त्व होता है पर अर्थ तथा कृतिसे और उस शक्ति एवं सौंदर्यसे कम जिसके साथ यह मानव आत्माके स्वप्नों और सत्योंको प्रकट करती है।

भारतीय कलाने मानव आकृतिका जैसा चित्रण किया है उसके सपूर्ण प्रश्नको इसके सौंदर्यात्मक उद्देश्यके प्रकाशमें समझना चाहिये। यह एक विशेष उद्देश्य और आदर्श तथा एक सामान्य नियम एवं मानदंडके साथ कार्य करती है जो बहुतसे भेद-विभेदोंके लिये अवकाश देता है और जिससे कुछ ऐसे व्यतिक्रम भी देखनेमें आते हैं जो उचित ही है। जिन विशेषणोंसे मि. आर्चर इसकी विशेषताओंकी निंदा करनेकी चेष्टा करते हैं वे मूर्खतापूर्ण, छिद्रान्वेषी और अतिरंजित है, एक ऐसे पत्रकारके अस्वाभाविक शब्द है जो एक सर्वथा बुद्धिसंगत, मनोरम और सौंदर्यबोधात्मक मानदंडका, जिसके साथ उसे सहानुभूति नहीं है, मूल्य कम करनेका यत्न कर रहा है। यहा बाजके-से चेहरों, ततैयेकी-सी कमरों, पतली टांगों तथा क्रोधपूर्ण व्यंग-चित्रकी अन्य विशेषताओंकी आवृत्तिसे भिन्न और ही चीजें है। वे मि. हावेलके इस संकेतपर संदेह करते हैं कि इन प्राचीन भारतीय कलाकारोंको शरीरकी रचनाका काफी अच्छा ज्ञान था, — जैसा कि भारतीय विज्ञान इसे जानता ही था, — पर इन्होंने अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इसका व्यतिक्रम करना पसंद किया। मुझे यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि कला शरीर-रचना-शास्त्र नहीं है, न यही आवश्यक है कि कलाकी सर्वोत्कृष्ट

कृति भौतिक तथ्यकी प्रतिकृति या पदार्थ-विज्ञानका एक पाठ ही हो। मुझे इस बातपर दुःख करनेका कोई कारण नहीं दीखता कि भारतीय कलाकारोंने मांसपेशियों और धड़की आकृतियों आदिका सफल अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि मैं नहीं मान सकता कि अपने-आपमें इन चीजोंका कोई वास्तविक कलात्मक मूल्य है। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय कलाकारके मनमें अनुपात और लयतालकी पूर्ण धारणा थी और कुछ शैलियोंमें उसने उनका प्रयोग उत्कृष्टता और ओजस्विताके साथ किया, कुछ अन्य शैलियोंमें, जैसे, जावाकी या गौड़ (Gauda) देश या दक्षिणकी कांसेकी मूर्तियोंमें उनका प्रयोग उसी गुणके साथ या उसमें पूर्ण श्री-सुषमा और प्रायः एक तीव्र और रसमय माधुर्यका भी पुट देकर किया। भारतकी श्रेष्ठ मूर्त्तियोंमें मानव आकृतिकी जो महत्ता और सुषमा प्रकट की गयी है उससे बढ़कर कोई रचना की ही नहीं जा सकती। परंतु जिस चीजकी खोज की गयी और जो चीज प्राप्त की गयी वह बाह्य प्रकृतिवादी नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरात्मिक सुन्दरता थी, और इसे उपलब्ध करनेके लिये मूर्त्तिकारने बलात् आ घुसनेवाले भौतिक ब्योरेको दबा दिया,—और उसका यह कार्य बिलकुल ठीक ही था,—तथा उसके स्थानपर उसने रूप-रेखाकी शुद्धता और आकृतिकी सुन्दरताको ही अपना लक्ष्य बनाया। और उस रूप-रेखा तथा उस शुद्धता एवं सुन्दरताके भीतर वह ऐसी किसी भी चीज-को जिसे वह पसंद करता था, अर्थात् शक्तिके पुंज या सुषमाकी कोमलताको, स्थाणु महिमा या महत् शक्ति, या गतिकी नियंत्रित उग्रताको अथवा ऐसी किसी भी चीजको जो उसके आशयकी पूर्ति या सहायता करती थी, मूर्तिमंत करनेमें समर्थ हुआ। एक दिव्य और सूक्ष्म शरीर उसका आदर्श था; और एक ऐसे व्यक्तिके लिये जिसकी रुचि और कल्पना इतनी कुंद या यथार्थवादी हैं कि वह भारतीय मूर्तिकारके विचारकी सत्यता और सुन्दरताको कल्पनामें भी नहीं ला सकता, स्वयं यह आदर्श ही एक प्रतिबंधक और दोषपूर्ण वस्तु हो सकता है। परंतु कलाकी विजयें प्राकृत यथार्थवादी मनुष्यकी संकीर्ण पूर्वधारणाओंके द्वारा सीमित नहीं की जा सकतीं; विजयी और चिरस्थायी तो वही चीज होती है जो श्रेष्ठ जनोंको अपील करती है, **साधुसम्मतम्**, सर्वाधिक गंभीर और महान् वस्तु तो वही होती है जो गभीरतम आत्माओं तथा अत्यंत संवेदनशील आंतरात्मिक कल्पनाओंको तृप्त करती है।

प्रत्येक ढंगकी कलाके अपने आदर्श, अपनी परंपराएं और स्वीकृत प्रथाएं होती हैं; क्योंकि सर्जनशील आत्माके विचार और रूप अनेक होते हैं, यद्यपि अंतिम आधार एक ही होता है। चीन और जापानके चित्रकारोंका दृष्टिक्षेत्र

तथा उनकी आंतरात्मिक दृष्टि वही नहीं हैं जो यूरोपके कलाकारोंकी हैं; परंतु उनकी कृतिके सौंदर्य और चमत्कारकी अवज्ञा कौन कर सकता है? मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि मि. विलियम आर्चर कांस्टेबल या टर्नर[1] जैसे किसी चित्रकारके चित्रको सुदूर पूर्वकी कृतियोंकी संपूर्ण राशिके ऊपर स्थान देंगे, जैसे मैं स्वयं, यदि मुझे चुनाव करना पड़े, चीन या जापानके किसी दृश्यके या प्रकृतिके किसी अन्य चमत्कारी रूपांतरके चित्रको अन्य सबसे अच्छा समझकर चुनूंगा; परंतु ये व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या महाद्वीपीय स्वभाव और अभिरुचिकी बातें ठहरीं! प्रश्नका मर्म तो है आत्माके द्वारा अधिगत सत्य और सौंदर्यकी अभिव्यक्ति करना। भारतीय मूर्तिकला, सामान्य रूपसे भारतकी समस्त ही कला अपने निजी आदर्श और अपनी निजी परंपराओंका अनुसरण करती है और ये अपने गुण और स्वरूपमें अद्वितीय हैं। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो सृजनकी अनेक शताब्दियों और युगोंमें बराबर ही, कुल मिलाकर महान् रही है और अपने सर्वोत्कृष्ट कालमें परमोच्च भी, चाहे वह विरली, प्राचीन, अशोकसे पहलेके समयकी कृतिके रूपमें हो या अशोकके समयकी या उससे पीछेकी प्रथम वीर-युगकी कृतिके रूपमें अथवा गुहा-मंदिरों और पल्लव-युगीय तथा अन्य दक्षिणी मंदिरोंकी भव्य मूर्तियोंके या बादकी सदियोंमें बंगाल, नेपाल और जावाकी श्रेष्ठ, सर्वांगपूर्ण या श्री-सुषमामय कल्पनाओंके या दक्षिणी धर्मोंकी कांसेकी रचनाओंकी अपूर्व कुशलता और सुन्दरताके रूपमें; वह एक महान् जाति एवं महान् संस्कृतिकी भावना और आदर्शोंकी आत्म-अभिव्यक्ति है — ऐसी जातिकी जो अपने मन और गुणोंकी बनावटमें भूतलकी जातियोंके बीच अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, जो अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि, अपने गहरे दर्शनों और अपनी धार्मिक भावना, कलात्मक रुचि, तथा काव्यमय कल्पनाके वैभवके लिये सुविख्यात है, और जो किसी समय अपने जीवनसंबंधी व्यवहारों, सामाजिक प्रयत्नों और राजनीतिक संस्थाओंमें किसीसे कम नहीं थी। यह मूर्तिशिल्प प्रस्तर और कांसेपर उस जातिकी अंतरात्माकी एक अपूर्व-शक्तिशाली, हृदयग्राही और गंभीर व्याख्या है। वह जाति एवं संस्कृति एक दीर्घकालीन महानता के पश्चात् कुछ समयके

---

[1]कांस्टेबल, जॉन, आर. ए. (१७७६-१८३७); टर्नर, जोसेफ मैलोर विलियम (१७७५-१८५१)—प्राकृतिक दृश्योंका रंगीन चित्रण करनेवाले अंग्रेज चित्रकार।

—अनुवादक

लिये जीवनमें असफल हो गयी जैसे कि उससे पहले अन्य जातियां हुईं और जैसे कुछ अन्य जातियां भी जो अब फूल-फल रही हैं आगे चलकर होंगी; उसके मनकी रचनाओंकी गति रुक गयी है, अन्य कलाओंकी भांति यह मूर्तिकला भी लुप्त हो गयी है या अवनतिके गर्तमें जा गिरी है, परंतु वह चीज जिससे यह उद्‌भूत हुई, अर्थात् अंदरकी आध्यात्मिक अग्नि अभीतक जल रही है, और जो नवजागरण आ रहा है उसमें, संभावना है कि, यह महान् कला भी पुनरुज्जीवित हो उठेगी, इस श्रेणीकी आधुनिक पश्चिमी कृतिकी गंभीर न्यूनताओंके बोझके तले दबकर नहीं बल्कि प्राचीन आध्यात्मिक हेतुकी नयी प्रेरणा और शक्तिकी उच्चतासे उज्जीवित होकर। पुराने रूपोंकी सीमामें न बंधते हुए, इतना ही नहीं बल्कि विजातीय मनके निरर्थक आक्षेपोंसे विचलित न होते हुए इसे अपनी अतीत उपलब्धिके माहात्म्य और सौंदर्य एवं आभ्यंतरिक मर्मकी अनुभूति पुनः प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि अपने आध्यात्मिक प्रयासको जारी रखनमें ही इसके भविष्यके लिये सबसे उत्तम आशा निहित है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

भारतीय कला

प्राचीन और उत्तरकालीन भारतकी चित्रकलाकी कृतियां अपेक्षाकृत बहुत ही कम बच रही हैं और इसलिये वह (चित्रकला) ठीक उतना ही बड़ा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती जितना कि उसकी स्थापत्य-कला और मूर्ति-कला करती हैं। यहांतक भी कल्पना की गयी है कि यह कला केवल बीच-बीचमें ही फूली-फली, अंतमें कई सदियोंके लिये विलुप्त हो गयी और फिर आगे चलकर मुगलों तथा उनके प्रभावमें आये हुए हिंदू कलाकारोंके द्वारा पुनरुज्जीवित हुई। किंतु यह एक तुरत-फुरत बनायी हुई सम्मति है जो उपलब्ध प्रमाणकी अधिक सावधानतापूर्वक छानबीन और विवेचना करनेपर नहीं टिक पाती। बल्कि, तब यह पता लगता है कि भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन कालसे ही रंग और रेखाके एक सुविकसित और कुशलतापूर्ण सौंदर्यात्मक प्रयोगपर पहुंचनेमें निपुण थी, और, उन क्रमिक उतार-चढ़ावों, ह्रासके कालों तथा मौलिकता एवं ओजस्विताके नये आविर्भावोंके लिये अवकाश देते हुए जिनमेंसे मानवका समष्टि मन सभी देशोंमें गुजरता है, अपनी प्रगति एवं महानताकी लंबी शताब्दियोंमें उसने बराबर ही आत्म-अभिव्यंजनाके इस रूपका बड़ी दृढ़तासे प्रयोग किया। और विशेष रूपसे अब यह प्रकट हो गया है कि उस सौंदर्य-बुद्धिकी जो भारतीय मनके लिये जन्मजात है, एक दृढ़ परंपरा तथा मूलभूत भावना एवं प्रवृत्ति विद्यमान थी जो अत्यंत अर्वाचीन राजपूत कलाको भी अबतक बची हुई उन प्राचीनतम कृतियोंकी शृंखलामें जोड़ देती है जो पहाड़ोंमें बनी अजंताकी गुफाओंमें अपनी सफलताकी चरम सीमाके रूपमें अभीतक सुरक्षित हैं।

दुर्भाग्यवश, चित्रकलाकी साधन-सामग्री सर्जनशील सौंदर्यात्मक आत्म-अभिव्यक्तिकी साधन-रूप किसी भी अन्य महत्तर कलाकी साधन-सामग्रीसे

अधिक नाशवान् होती है और इसीलिये इसकी प्राचीन सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमेंसे केवल थोड़ी-सी ही बच रही हैं। परंतु ये थोड़ी-सी भी उस कार्यके परिणामकी विशालताको अभीतक प्रदर्शित कर रही हैं जिसका कि ये ध्वंसोन्मुख अवशेषमात्र हैं। कहा जाता है कि अजंताकी उन्तीस गुफाओंमेंसे प्रायः सभीमें किसी समय भित्ति-चित्रोंके द्वारा की गयी सजावटके चिह्न थे; अभी चालीस वर्ष पहलेतक सोलह गुफाओंमें मूल चित्रोंका कुछ अंश विद्यमान था, परंतु अब केवल छः ही इस प्राचीन कलाकी महानताकी साक्षी दे रही हैं, हालांकि इनकी भी कला अब द्रुत वेगसे नष्ट हो रही है तथा रंगकी मूल प्रखरता, तेजस्विता और आभाके कुछ अंशसे वंचित हो चुकी है। शेष सारी सजीव समकालीन रचना, जिसने निश्चय ही एक समय संपूर्ण देशको, उसके मंदिरों एवं विहारोंको, सुसंस्कृत लोगोंके घरों तथा सरदारों और राजाओंके दरबारों और प्रमोद-भवनोंको व्याप्त कर रखा होगा, अब नष्ट हो चुकी है, और आज हमारे सामने केवल बाघ (मध्य भारत) की गुफाओंमें समृद्ध और प्रचुर सजावटके कुछ एक ढहते अंश तथा सिगिरिया (लंका) के चट्टानोंको काटकर बनाये गये दो कमरोंमें नारी-आकृतियोंके कुछ चित्र ही विद्यमान हैं जो अजंताकी कृतियोंसे थोड़ा-बहुत मिलते-जुलते हैं।[1] ये अवशेष कोई छः या सात सदियोंकी रचनाका प्रतिनिधित्व करते हैं, परंतु इनके बीच कुछ रिक्त अंतराल हैं, और ईस्वी सन्की पहली सदीसे पूर्वके किन्हीं भी चित्रोंका कोई भी अवशेष आज विद्यमान नहीं है, हां, इससे पूर्वकी पहली सदीके कुछ भित्ति-चित्र अवश्य हैं जो अनाड़ी ढंगसे किये गये जीर्णोद्धारके कारण खराब हो गये हैं; उधर, सातवीं सदीके बाद एक शून्य अंतराल है जो प्रथम दृष्टिमें कलाके पूर्ण ह्रास, अवरोध और विलोपको प्रमाणित कर सकता है। परंतु भाग्यवश ऐसे प्रमाण भी हैं जो इस कलाकी परंपराको उधर एक छोरपर अनेक सदियां पीछेतक ले जाते हैं, और फिर कुछ अन्य अवशेष जो भिन्न प्रकारके हैं तथा भारतसे बाहर और हिमालयस्थित देशोंमें बहुत हालमें ही उपलब्ध हुए हैं, इस कलाको इधर दूसरे छोरपर बारहवीं सदीतक ले आते हैं और राजपूत-चित्रकलाकी परवर्ती शैलियोंके साथ इसका संबंध जोड़नेमें हमें सहायता पहुंचाते हैं। भारतीय मनके चित्रकलाके द्वारा आत्म-अभिव्यक्ति करनेका इतिहास कम या अधिक शक्ति-

---

[1]इसके बाद दक्षिणके कई मंदिरोंमें कुछ और, उच्चकोटिके चित्र भी उपलब्ध हुए हैं जो अपनी भावना और शैलीमें अजंताकी कला-कृतिके ही सदृश हैं।

शाली कलात्मक सृजनके दो सहस्र वर्षोंके कालमें फैला हुआ है और इस बातमें यह वास्तुकला और मूर्तिकलाकी बराबरी करता है।

प्राचीन कालके जो चित्र आज हमारे सामने बचे हुए हैं वे बौद्ध चित्रकारोंकी रचना हैं, पर स्वयं इस कलाका उद्भव भारतमें बौद्धकालसे पहले ही हो चुका था। तिब्बतका एक इतिहासकार बताता है कि यहां सभी शिल्पोंका उद्गम बुद्धसे पहले ही अत्यंत प्राचीन कालमें हुआ था और आज निरंतर बढ़ते हुए प्रमाण भी अधिकाधिक इसी परिणामकी ओर संकेत कर रहे हैं। ईसासे पूर्व तीसरी सदीमें, हम देखते हैं कि, यहां कलाका सिद्धांत पूर्व कालसे ही सुप्रतिष्ठित चला आ रहा था, छः मूल तत्त्वों, षडङ्ग, का आकलन और परिगणन भी हो चुका था जो चीनके उन छः न्यूनाधिक सजातीय नियमोंके परिगणनसे मिलता है जिनका वर्णन पहले-पहल लगभग एक हजार वर्ष बाद किया गया मिलता है, और कला-विषयक एक अत्यंत प्राचीन पुस्तकमें जो बुद्धसे पहलेके युगकी मालूम होती है बहुतसे सतर्कतापूर्ण और अत्यंत सुनिर्धारित नियम और परंपराएं प्रतिपादित हैं जिन्हें बादके शिल्प-सूत्रोंमें शिल्प-कौशल और परंपरागत नियमके एक सुविस्तृत शास्त्रके रूपमें विकसित कर दिया गया। प्राचीन साहित्यमें पाये जानेवाले प्रचुर उल्लेख भी ऐसे ढंगके हैं कि यदि सुसंस्कृत वर्गोंके पुरुषों और स्त्रियों दोनोंमें कलाका अनुशीलन एवं मूल्यांकन व्यापक रूपसे प्रचलित न होता तो वे संभव ही न होते, और ये उल्लेख तथा प्रसंग जो इस बातकी साक्षी देते हैं कि सुसंस्कृत जन चित्रित रूपमें, रंगके सौंदर्यमें तथा अलंकार-संबंधी सहज-बुद्धि एवं सौंदर्यात्मक भावावेग दोनोंके प्रति आकर्षणमें मिलनेवाले आनंदसे द्रवित हो उठते थे, केवल कालिदास, भवभूति तथा अन्य उच्चकोटिक नाटककारोंके परवर्ती काव्यमें ही नहीं, बल्कि भासके प्राचीन लोकप्रिय नाटकमें और उससे भी पहलेके महाकाव्यों तथा बौद्धोंके धर्म-ग्रंथोंमें भी पाये जाते हैं। निःसंदेह, इस अधिक प्राचीन कलाकी किन्हीं वास्तविक रचनाओंके न मिलनेके कारण यह पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कहा जा सकता कि इसका मूल स्वरूप एवं अंतरंग प्रेरणा-स्रोत क्या था अथवा क्या यह अपने उद्गममें धार्मिक और पुरोहितीय थी या ऐहलौकिक। यह सिद्धांत वास्तवमें कुछ अत्यधिक निश्चित रूपमें पेश किया गया है कि इस कलाका सूत्रपात राजाओंके दरबारोंमें तथा निरे लौकिक उद्देश्य और प्रेरणाको ही लेकर हुआ, और यह सही है कि जहां बौद्ध कलाकारोंकी बची हुई रचना अपने विषयकी दृष्टिसे मुख्यतया धार्मिक है या, कम-से-कम, वह जीवनके साधारण दृश्योंको बौद्ध क्रिया-कांड और गाथाके साथ जोड़ देती है, वहां महाकाव्यों

तथा नाटक-साहित्यमें पाये जानेवाले उल्लेख साधारणतः, अधिक शुद्ध रूपमें सौंदर्यात्मक स्वभावके, वैयक्तिक, पारिवारिक या नागरिक चित्रोंसे संबंध रखते हैं, जैसे, मानव प्रतिकृतिका चित्रण, राजाओं तथा अन्य महान् व्यक्तियों-के जीवनोंके दृश्यों और प्रसंगोंका प्रदर्शन अथवा राजमहलों और व्यक्तिगत या सार्वजनिक भवनोंकी दीवारोंकी सजावट। दूसरी ओर, बौद्ध चित्रकारी-में भी इस प्रकारके तत्त्व हैं, उदाहरणार्थ, सिगिरियामें राजा कश्यपकी रानियोंके चित्र, पारसके राजदूतका ऐतिहासिक चित्रण या विजयका जहाजसे लंकाके तटपर उतरना। और हम न्यायतः ही यह कल्पना कर सकते हैं कि बौद्ध और हिंदू दोनों प्रकारकी भारतीय चित्रकलाने, बराबर ही, पीछेकी राजपूती कृतिसे बहुत कुछ मिलते-जुलते क्षेत्रमें ही कार्य किया, पर किया अधिक विस्तृत ढंगसे तथा एक पुराकालीन महानतासे युक्त भावनाके साथ; और अपने समग्र रूपमें वह भारतजातिके संपूर्ण धर्म, संस्कृति और जीवन-की व्याख्या थी। इससे जो एकमात्र महत्त्वशाली और अर्थपूर्ण परिणाम निकलता है वह यही है कि समस्त भारतीय कला अपनी मूल भावना और परंपरामें सदा ही एक और अविच्छिन्न रही है। सुतरां, अजंताकी प्राचीनतर कलाकृति बौद्धोंकी प्राचीनतर मूर्ति-रचनाके सदृश पायी गयी है, जब कि बादके चित्र जावाकी उभरी हुई नक्काशीसे इसी प्रकारका घनिष्ठ साम्य रखते हैं। और हम देखते हैं कि शैली और कार्यधाराके समस्त परिवर्तनोंके होते हुए भी अजंतामें जिस भावना और परंपराका प्रभुत्व है वही बाघ और सिगिरियामें, खोतानके भित्तिचित्रोंमें तथा इन सबसे बहुत अधिक पीछेकी बौद्ध पांडुलिपियोंके पृष्ठोंकी सजावट और चित्रकारीमें भी पायी जाती है और, रूप तथा रीतिके परिवर्तनके होते हुए भी, राजपूती चित्रों-में आध्यात्मिक दृष्टिसे वही वस्तु है। यह एकता और अविच्छिन्नता हमें उस मूल लक्ष्य और उस आंतरिक प्रवृत्ति एवं प्रेरणा तथा आध्यात्मिक पद्धतिको पहचानने और स्पष्ट रूपसे समझनेमें समर्थ बनाती हैं जो भारतीय चित्रकलाको पहले तो पश्चिमी कृतिसे और फिर एशियाके अन्य देशोंकी निकटतर एवं अधिक सजातीय कलासे पृथक् करती हैं।

भारतीय चित्रकलाका मूल-भाव और हेतु अपनी परिकल्पनाके केंद्रमें और अपनी दृष्टिकी रूपनिर्मायक शक्तिमें भारतीय भास्कर-कलाकी अनु-प्रेरक दृष्टिसे अभिन्न हैं; समस्त भारतीय कलाका स्वरूप एक विशेष प्रकारकी गभीर आत्म-दृष्टिको बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि कि रूप तथा आकार-के गुप्त अर्थको ढूंढ़नेके लिये भीतर जानेसे, अपनी गभीरतर आत्मामें कला-के विषयकी खोज करनेसे निर्मित होती है, यह उस दृष्टिको एक आत्मिक

रूप देना है तथा स्थूल एवं प्राकृतिक आकारके आंतरात्मिक सत्यको प्रकट करनेके लिये रूपरेखाकी यथासंभव अधिकतम शुद्धता और शक्तिके साथ तथा एक अविभाज्य कलात्मक समष्टिके सभी अवयवोंमें अर्थकी यथासंभव अधिकतम प्रगाढ़ छंदोमय एकताके साथ उसे नये सांचेमें ढालना है। भारतीय चित्रकारीकी किसी भी श्रेष्ठ रचनाको क्यों न ले लें, हम देखेंगे कि उसमें इन मर्यादाओंको लक्ष्य बनाकर इन्हें संकेत और क्रियान्वितिके जयशाली सौंदर्यके रूपमें व्यक्त किया गया है। अन्य कलाओंसे इसका जो एकमात्र भेद है उसका कारण यह है कि इसकी अपनी एक दिशा है जो इसकी अपनी विशेष प्रकारकी सौंदर्यवृत्तिके लिये स्वाभाविक और अनिवार्य है, तथा यह अंतरात्माकी स्थितिशील नित्य-अवस्थाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसकी उन अवस्थाओंपर उत्साह और आग्रहके साथ एकाग्र होती है जिन्हें हम गतिशील कह सकते हैं, और (कलामात्रके लिये आवश्यक संयम और नियंत्रणके सदैव अधीन रहते हुए) यह जीवनको आत्माकी स्थिरताओं तथा उसके नित्य गुणों और तत्त्वोंमें निरुद्ध कर रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक आंतरात्मिक और प्राणिक जीवनकी श्री-सुषमा और गतिविधिमें आत्माको बाहर ढाल देनेके कार्यपर ध्यान जमाती है। यह भिन्नता अपने साररूपमें वही भेद है जो मूर्तिकार और चित्रकारके सामने उपस्थित कार्योंमें होता है, यह उनपर उनके करणोपकरण और माध्यमके स्वाभाविक क्षेत्र, प्रवृत्ति और संभावनाके द्वारा थोपा जाता है। मूर्तिकारको अपने भावकी अभिव्यक्ति सदा स्थितिशील आकारमें ही करनी होती है; उसके लिये आत्माका भाव समूचे आकार और रेखामें ही उत्कीर्ण होता है, तथा अपने मनोयोगकी स्थिरतामें ही अर्थपूर्ण होता है, और वह इस मनोयोगके बोझको हलका तो कर सकता है पर इससे छूट नहीं सकता और न इससे दूर ही हट सकता है; उसके लिये शाश्वतता कालको इसके आकारोंमें अधिकृत कर लेती है और पत्थर या कांसेकी विशाल आत्मामें इसे बन्दी बना डालती है। इसके विपरीत, चित्रकार अपनी अंतरात्माको रंगोंमें लुटा देता है और उसके द्वारा प्रयुक्त रूपमें एक प्रकारकी तरलता तथा रेखामें सूक्ष्मताकी एक प्रवाहशील सुषमा होती है जो उसपर आत्म-अभिव्यंजनाकी एक अधिक गतिशील और भावमयी शैलीको थोप देती है। जितना ही अधिक वह हमें अंतरात्माके जीवनका रंग-रूप, उसका परिवर्तनशील आकार तथा भावावेग प्रदान करता है उतना ही अधिक उसकी रचना सौंदर्यसे चमक उठती है, अंतरीय सौंदर्यबुद्धिको अपने अधिकारमें कर लेती है तथा इसे उस वस्तुकी ओर खोल देती है जिसे उसकी कला हमें अन्य किसी भी कलाकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह प्रदान

करती है, वह वस्तु है सत्ताकी सुन्दर आकृतियों और रंजित प्रभावोंके अध्यात्मतः इंद्रियग्राह्य हर्षमें आत्माके बहिः-विचरणका आनंद। चित्रकारी, स्वभावतः ही, कलाओंमें सबसे अधिक इंद्रियगम्य है, और चित्रकारके सामने जिस सर्वोच्च महत्ताका मार्ग खुला पड़ा है वह यही है कि वह अत्यंत स्पष्ट बाह्य सौंदर्यको सूक्ष्म आध्यात्मिक भावावेगकी अभिव्यक्ति बनाकर इस ऐंद्रिय अपीलको आध्यात्मिक रूप दे दे जिससे अंतरात्मा और इंद्रिय दोनों अपनी गंभीरतम और सूक्ष्मतम समृद्धियोंमें समस्वर होकर पदार्थों और जीवनके आंतरिक अर्थोंकी संतोषपूर्ण सुसमंजस अभिव्यक्तिमें एकीभूत हो जायं। उसकी कार्यशैलीमें तपस्याकी कठोरता अपेक्षाकृत कम होती है, शाश्वत वस्तुओंकी और वस्तुओंके रूपोंके पीछे अवस्थित मूल सत्योंकी अभिव्यक्तिको संयत करनेमें कुछ कम कठोरतासे काम लिया जाता है, परंतु इसके बदले वहां अंतरात्माका रसस्निग्ध वैभव या प्राणिक संकेतकी प्रखरता है और है कालके क्षणोंमें कालातीतकी लीलाके सौंदर्यका अपरिमित आनंद और वहां कलाकार उसे हमारे लिये बन्दी बना डालता है तथा मनुष्य या प्राणी अथवा घटना या दृश्य या प्रकृतिके रूपमें प्रतिफलित अंतरात्माके जीवनके पलोंको हमारी आध्यात्मिक दृष्टिके लिये स्थायी और विपुल अर्थसे पूर्ण बना देता है। चित्रकारकी कला आनंदके लिये इंद्रियकी खोजको आत्माद्वारा सृष्टिमें प्रकट किये हुए या छिपाकर रखे हुए वैश्व सौंदर्यके अर्थकी शुद्ध तीव्रताओंके लिये आत्माकी खोजमें बदलकर उसको आत्माके समक्ष चाक्षुप रूपमें सत्य सिद्ध करती है। रूप और रंगकी पूर्णताको देखनेकी आंखकी कामनाको प्रश्रय देना यहां एक विशेष प्रकारके अध्यात्मतः सौंदर्यात्मक आनंदकी शक्तिके द्वारा आंतर सत्ताके लिये प्रकाशप्रद बन जाता है।

भारतीय कलाकार एक ऐसी अंतःप्रेरणाके प्रकाशमें निवास करता था जिसने इस महत्तर लक्ष्यको उसकी कलाके लिये अनिवार्य बना दिया था और उसकी पद्धति इसके मूल स्रोतोंसे उद्‌भूत होती थी तथा प्रत्येक अधिक पार्थिव, ऐंद्रिय या बाह्यतः कल्पनात्मक सौंदर्यावेगको त्यागकर इसी लक्ष्यको संपन्न करती थी। उसकी कलाके छः अंग, **षडङ्ग**, रंग और रेखावाली समस्त कृतिमें सामान्य रूपसे पाये जाते हैं : वे आवश्यक मूलतत्त्व हैं और अपने मूल-तत्त्वमें-महान् कलाएं सर्वत्र एक-सी हैं; **रूपभेद**, अर्थात् आकार-प्रकारमें अंतर; **प्रमाण**, अर्थात् अनुपात, रेखा और संपूर्ण आकारकी व्यवस्था, योजना, सुसंगति, परिप्रेक्ष्य; **भाव**, अर्थात् रूपके द्वारा व्यक्त किया हुआ हृदयगत भाव या सौंदर्यानुभूति; **लावण्य**, अर्थात् सौंदर्यभावनाकी तुष्टिके लिये सौंदर्य और

आकर्षणकी खोज; सादृश्य, अर्थात् रूप और उसके संकेतका सत्य; वर्णिकाभङ्ग, अर्थात् रंगोंका क्रम, संयोग और सामंजस्य; — ये प्रथम अंग हैं। कलाकी प्रत्येक सफल कृति विश्लेषण करनेपर इन्हीं अंगोंमें परिणत हो जाती है। परंतु इन अंगोंमेंसे प्रत्येकको जो मोड़ दिया जाता है वही शिल्प-पद्धतिके लक्ष्य और प्रभावके समस्त भेदको पैदा करता है और जो अंतर्दृष्टि इनके संयोजनके कार्यमें सर्जनशील हाथका मार्गदर्शन करती है उसका उद्गम एवं स्वरूप ही सफलताके आध्यात्मिक मूल्यके समस्त भेदको उत्पन्न करता है और भारतीय चित्रकलाका अनुपम स्वरूप एवं अजंताकी कलाका विशिष्ट आकर्षण उस अद्भुततया आंतरिक, आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक मोड़से उत्पन्न होता है जो भारतीय संस्कृतिकी व्यापक प्रतिभाने कलात्मक परि-कल्पना और पद्धतिको प्रदान किया था। भारतके स्थापत्य और मूर्तिशिल्प-की भांति उसकी चित्रकला भी अपने तन्मयकारी लक्ष्य एवं रूपांतरसाधक वातावरणसे, सूक्ष्म और अद्भुत रूपमें बदले हुए मनके प्रत्यक्ष या सूक्ष्म प्रभावसे तथा उस दृष्टिसे नहीं बच सकती थी जो अन्य दृष्टियोंकी तरह केवल बाहरी आंखके द्वारा नहीं बल्कि मानसिक भागों और आंतरिक दृष्टि-के मनोतीत सत्ता तथा उस आत्माके साथ सतत संपर्कके द्वारा देखनेके लिये सधी हुई है जिसके लिये रूप उसकी अपनी महत्तर ज्योतिका केवल एक पारदर्शक पर्दा या फिर एक सामान्य संकेत होते हैं। इस चित्रकलाकी बाह्य सुन्दरता एवं ओजस्विता, आलेख्यकी महत्ता, वर्णिकाकी समृद्धता एवं सौंदर्यात्मक श्री-सुषमा इतनी प्रत्यक्ष और बलपूर्ण है कि उससे इंकार नहीं किया जा सकता, इसके आंतरात्मिक आकर्षणमें प्रायः ही कोई ऐसी चीज होती है जिसके प्रति प्रत्येक सुसंस्कृत और संवेदनशील मानवके मनमें एक प्रत्युत्तर जागृत होता है, और इसमें बाह्य भौतिक मानके उल्लंघन मूर्ति-कलाकी अपेक्षा कम तीव्र और कम प्रबल, तथा अधिक बाह्य सौंदर्य और श्री-शोभाके प्रति कम घृणापूर्ण हैं, — जैसा कि इस कलाकी अपनी प्रकृतिके अनुसार उचित ही है। अतएव हम देखते हैं कि पश्चिमी आलोचक मनने कुछ हदतक बहुत आसानीसे इसकी विशषताओंको समझा है और जब ठीक तरहसे नहीं समझा है तब भी इसपर अपेक्षाकृत हलके आक्षेप ही किये हैं। यहां केवल वही कोरी नासमझी नहीं है, न गलतसमझी और घृणाका आवेश ही है। और फिर भी हम यह देखते हैं कि इसके साथ-ही-साथ यहां कोई ऐसी चीज है जिसका मूल्यांकन होनेसे रह गया दीखता है अथवा जिसे केवल अधूरे तौरपर ही समझा गया है, और यह 'कोई चीज' निश्चित रूपमें वह गभीरतर आध्यात्मिक आशय है जिसके कि आंख और सौंदर्यबुद्धिके

द्वारा तुरंत पकड़में आनेवाली वस्तुएं मध्यवर्ती साधनमात्र हैं। इससे उस टिप्पणीका कारण समझमें आ जाता है जो कम सशक्त और कम शांत ढंगकी दीखनेवाली भारतीय कृतिके बारेमें प्रायः ही की जाती है कि इसमें अंतःप्रेरणा या कल्पनाका अभाव है अथवा यह एक रूढ़िबद्ध कला है : जहां इसका मूल-भाव अपने-आपको प्रबल रूपमें स्थापित नहीं करता वहां वह दृष्टिसे ओझल हो जाता है, और जहां अभिव्यंजनामें डाली गयी शक्ति इतनी महान् और प्रत्यक्ष होती है कि उससे इंकार किया ही नहीं जा सकता, वहां भी वह भाव पूरी तरहसे पकड़में नहीं आता। भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकलाकी भांति भारतीय चित्रकला भी भौतिक और चैत्य दृष्टिके द्वारा एक अन्य, आध्यात्मिक दृष्टिको आकर्षित करती है जिसके द्वारा कि कलाकारने अपनी रचना की थी और जब वह हमारे अंदर सौंदर्यबुद्धिके समान ही जागृत हो जाती है तभी इसके अर्थकी पूरी गहराईमें इसका मूल्य आंका जा सकता है।

कट्टर पश्चिमी कलाकार बाह्य प्रकृतिके रूपोंकी कठोरतापूर्वक सही-सही नकल करते हुए अपना कार्य करता है; बाह्य जगत् ही उसका आदर्श नमूना होता है, और उसको इसे अपनी दृष्टिके सामने रखना पड़ता तथा इससे वस्तुतः विचलित होनेकी किसी भी प्रवृत्तिको या सूक्ष्मतर आत्माके प्रति अपनी प्रमुख निष्ठा प्रदर्शित करनेकी किसी भी चेष्टाको दबाना होता है। जब वह अपने कार्यमें ऐसी धारणाओंको ले आता है जो अधिक ठीक रूपमें किसी अन्य राज्यकी होती हैं तब भी उसकी कल्पना भौतिक प्रकृतिके ही अधीन रहती है, भौतिक जगत्का दबाव सदा ही उसके संग रहता है, और सूक्ष्मका द्रष्टा, मानसिक रूपोंका स्रष्टा, अंदरका कलाकार, बृहत्तर चैत्य स्तरोंका सुदूरदर्शी यात्री अपनी अंतःप्रेरणाओंको 'बाह्य' के द्रष्टा, अर्थात् पार्थिव जीवन, जड़ जगत्की रचनाओंमें व्यक्त हुए आत्मा-के नियमके अधीन करनेको बाध्य होता है। जब वह बाह्य दृष्टिको सूक्ष्म-तर अंतर्दृष्टिसे पूरित करना चाहेगा तब वह अपने कार्यकी प्रणालीमें साधारणतया एक आदर्शीभूत कल्पनाप्रधान यथार्थवादतक ही जा सकता है। और जब वह इस सीमाबद्ध करनेवाले नियमसे असंतुष्ट होकर, इस घेरेसे बिलकुल बाहर निकल जाना चाहेगा तो वह उन बौद्धिक या कल्पनामय अतियोंमें भटक जानेके प्रलोभनमें फंस सकता है जो आकारोंके यथार्थ भेदके, रूपभेदके सार्वभौम नियमका उल्लंघन करती हैं और कोरी कल्पनाके किसी मध्यवर्ती लोकके अंतर्दर्शनसे संबंध रखती हैं। उसकी कलाने अनुपात, विन्यास और परिप्रेक्ष्यके एक ऐसे नियमको खोज निकाला है जो भौतिक

प्रकृतिके भ्रमको सुरक्षित रखता है और वह अपनी संपूर्ण योजनाको सच्ची अनुगामिता और निष्ठापूर्ण निर्भरताके भावमें प्रकृतिकी योजनाके साथ संबद्ध कर देता है। उसकी कल्पना प्रकृतिकी ही कल्पनाओंकी सेविका या उन्हें व्यक्त करनेवाली होती है। प्रकृतिके सौंदर्यविषयक सार्वभौम नियमके निरीक्षणमें ही वह एकता और समस्वरताके अपने गुप्त रहस्यको पाता है, और उसकी आंतर सत्ता उन बाह्य आकृतियोंपर, जो प्रकृतिने अपनी सर्जनशील भावनाको प्रदान की हैं, घनिष्ठ रूपसे एकाग्र होकर प्रकृतिकी आंतर सत्तामें अपने स्वरूपको खोजनेकी चेष्टा करती है। एक घनिष्ठतर-आंतरिक भावनाकी दिशामें वह अधिक-से-अधिक आभासवाद (Impressionism) तक ही पहुंचा है जो अभी भी प्रकृतिके आदर्श नमूनोंकी ही अपेक्षा करता है, किंतु आंतरिक इंद्रियपर उनके किसी प्रथम आभ्यंतर या मौलिक प्रभावको प्राप्त करनेका यत्न करता है, और उसके द्वारा वह किसी प्रबलतर चैत्य अभिव्यक्तितक पहुंच जाता है, पर वह पूर्वी कलाकारकी स्वतंत्रतर शैलीके अनुसार पूर्णरूपेण अंदरसे बाहरकी ओर कार्य नहीं करता। उसका भावावेग एवं कलात्मक बोध दोनों इसी रूपके अंदर विचरण करते हैं और कलासंबंधी इसी रीतिकी सीमामें बंधे होते हैं; वे शुद्ध आध्यात्मिक या आंतरात्मिक भावावेग नहीं होते बल्कि प्रायः ही वे एक कल्पनामूलक उच्च भाव होते हैं जो जीवन तथा बाह्य पदार्थोंके संकेतोंसे उत्पन्न होता है और जिसमें चैत्य तत्त्व, या आध्यात्मिक वेदनका प्राकट्य बाह्यके स्पर्श द्वारा ही आरंभ होता और अधिकृत रहता है। जो मोहकता वह प्रदान करता है वह उस सौंदर्यका उदात्त रूप होती है जो बाह्य ऐंद्रिय आकर्षणके आधारपर कार्य करनेवाली भावना और कल्पनाकी शक्तिके द्वारा बाह्य इंद्रियोंको आकर्षित करता है और दूसरे प्रकारका सौंदर्य तो साहचर्यके द्वारा ही उस ढांचेके अंदर लाया जाता है। सादृश्यका वह सत्य जिसपर वह निर्भर करता है भौतिक प्रकृतिकी रचनाओं और उनके बौद्धिक, भाविक एवं सौंदर्यात्मक अर्थोंके साथ साम्य ही है, और उसके रेखाके कार्य तथा रंगकी लहरका प्रयोजन इस अंतर्दृष्टिके प्रवाहको मूर्त रूप देना होता है। इस कलाकी पद्धति सदैव दृश्य जगत्से कुछ आहरण कर उसका अनुकरण करनेकी ही होती है जिसमें केवल ऐसा आवश्यक परिवर्तन ही किया जाता है जिसे सौंदर्यप्रिय मन अपनी साधन-सामग्रीपर बलपूर्वक थोपता है। उस आत्माके, जिसने वस्तुओंमें प्रवेश करके अपने-आपको उनके रूपोंके अधीन कर दिया है, **प्रविश्य यः प्रतिरूपो बभूव**, किसी परोक्ष स्पर्शके द्वारा मनको गभीरतर वस्तुओंके साथ एकाकार करके उसके सामने, कम-से-कम, जीवन

और प्रकृतिका चित्रण करना और, अधिक-से-अधिक, इनकी व्याख्या करना— यही इस कलाका नियामक सिद्धांत है।[1]

भारतीय कलाकार जीवन और आत्माको जोड़नेवाले अनुभवसंबंधी मूल्योंके मापदंडके दूसरे छोरसे आरंभ करता है। यहां समस्त सर्जन-शक्ति आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक दृष्टिसे प्राप्त होती है, भौतिक दृष्टिका दबाव गौण होता है और उसे सदा ही जानबूझकर हलका कर दिया जाता है ताकि एक अत्यंत प्रबल कोटिकी आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक छाप डाल दी जा सके, और ऐसी हरेक चीजको दबा दिया जाता है जो इस उद्देश्यको सिद्ध नहीं करती या जो मनको इस उद्देश्यकी पवित्रतासे विचलित करती है। यह चित्रकारी अंतरात्माको जीवनके द्वारा व्यक्त करती है, परंतु जीवन तो आध्यात्मिक अभिव्यक्तिका एक साधनमात्र है, और इसका बाह्य चित्रण प्रथम उद्देश्य या प्रत्यक्ष हेतु नहीं है। एक यथार्थ, अत्यंत स्पष्ट और प्राणवंत चित्रण भी यहां है तो सही, पर वह बाह्य भौतिककी अपेक्षा कहीं अधिक आभ्यंतर चैत्य जीवनका ही है। एक सुविख्यात आलोचक एक प्रसिद्ध जापानी चित्रपर भारतीय प्रभावकी चर्चा करते हुए अजंता-के भित्तिचित्रोंकी याद दिलानेवाली गहराईके साथ अंकित इसकी भव्य आकृतियों और जीवन तथा स्वभावके प्रति होनेवाले संवेदनको इसके भारतीयपनका चिह्न मानते हैं: परंतु हमें इस जीवनसंबंधी संवेदनाके स्वरूप तथा आकृतियोंके इस गहरे अंकनके मूल कारण और उद्देश्यपर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालनी होगी। यहां जीवन और चरित्रके लिये जो संवेदना है वह किसी इटैलियन चित्र, माइकेल ऐंजेलो (Michael Angelo) के हाथके भित्ति-चित्र अथवा तितिअन या तिंतोरेत्तो (Titian or Tintoretto) की बनायी हुई मानव-प्रतिकृतिमें पायी जानेवाली महत् और प्रचुर प्राण-वत्तासे तथा स्वभावकी शक्ति-सामर्थ्यसे अत्यंत भिन्न वस्तु है। चित्रकला-का प्रथम और आदिम लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिका चित्रण करना और अपने निम्नतम रूपमें यह एक न्यूनाधिक ओजस्वी और मौलिक या रूढ़िकी दृष्टिसे एक सच्चा चित्र बन जाता है। परंतु महान् कलाकारोंके हाथों यह ऊंचा उठकर जीवनके ऐंद्रिय आकर्षणकी महत्ता और सुन्दरताका या स्वभाव, भावावेग और कर्मकी आश्चर्यजनक शक्ति और प्रेरक ध्येयका अभिव्यंजन बन जाता है। यूरोपमें सौंदर्यात्मक कृतिका सामान्य रूप यही

---

[1]यह सब कथन यूरोपीय कलाकी हालकी अधिकांश मुख्यतर प्रगतियोंके संबंधमें अब सत्य नहीं रहा।

है : किंतु भारतीय कलामें यह हेतु कभी सर्वोपरि नहीं होता। ऐंद्रिय आकर्षण भी वहां है सही, पर वह उस चैत्य श्री-सुषमा और सुन्दरताकी आत्माकी समृद्धताके मुख्य नहीं बल्कि केवल एक तत्त्वके रूपमें परिमार्जित कर दिया गया है जो भारतीय कलाकारके लिये सच्ची सुन्दरता, लावण्य, है : नाटकीय हेतुको इसके अधीन रखकर केवल एक निरा गौण तत्त्व बना दिया जाता है, स्वभाव और कर्मका केवल उतना ही अंश चित्रित किया जाता है जितना गभीरतर आध्यात्मिक या आंतरात्मिक भावको प्रकट करनेमें सहायक हो, और इन वस्तुओंकी, जो अधिक बाह्य रूपमें सक्रिय होती हैं, समस्त आग्रह-परायणता या अत्यंत सुस्पष्ट बलशालितासे बचा जाता है, क्योंकि वह आध्यात्मिक भावावेगको अत्यधिक बाह्य रूप दे देगी और जिस स्थूलतर तीव्रताको भावावेग सक्रिय बाह्य प्रकृतिका दबाव पड़नेपर ओढ़ लेता है उसके हस्तक्षेपके द्वारा उसकी तीव्र शुद्धताको कम कर देगी। इसमें चित्रित किया गया जीवन अंतरात्माका जीवन है न कि प्राण-सत्ता और शरीरका जीवन, हां, वह एक आकार और सहायक संकेतके रूपमें वहां विद्यमान अवश्य है। क्योंकि, कलाका दूसरा उच्चतर लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिके रूपोंके द्वारा सत्ताकी व्याख्या या बोधिमूलक अभिव्यक्ति करना और यही भारतीय आशयका आरंभ-बिंदु है। परंतु व्याख्या भौतिक प्रकृतिके द्वारा पहलेसे दिये हुए रूपोंके आधारपर ही अग्रसर हो सकती है और उन रूपोंके द्वारा वह आत्माके उस विचार एवं सत्यको प्रकट करनेका यत्न कर सकती है जो आत्मासे ही एक संकेतके रूपमें उद्भूत होता है और आश्रयके लिये उसीकी ओर मुड़ता है, और तब रूपको जैसा कि वह स्थूल आंखको दीखता है उस सत्यके साथ संबद्ध करनेका यत्न किया जाता है जिसे वह बाह्य आकारके द्वारा थोपी गयी सीमाओंको लांघे बिना प्रकट करता है। पश्चिमी कलाकी सामान्य पद्धति यही है; वह (कला) सदा प्रकृतिके प्रति प्रत्यक्ष रूपमें सच्ची रहनेके लिये आतुर रहती है जो कि सच्चे सादृश्यके संबंधमें उसकी धारणा है, परंतु भारतीय कलाकार इस पद्धतिका परित्याग कर देता है। वह अंदरसे आरंभ करता है, वह जिस चीजकी अभिव्यक्ति या व्याख्या करना चाहता है उसे अपनी अंतरात्मामें देखता है और अपने अंतर्ज्ञानकी यथार्थ रेखा, वर्णिका और योजनाको खोजनेकी चेष्टा करता है; और वह रेखा आदि जब भौतिक धरातलपर प्रकट होती है तो वह भौतिक प्रकृतिकी रेखा, वर्णिका और योजनाकी यथार्थ और स्मारक प्रतिकृति नहीं होती, वरन् उससे कहीं अधिक एक ऐसी चीज होती है जो हमें प्राकृतिक आकारका चैत्य रूपांतर प्रतीत होती है। वास्तवमें, जिन

आकारोंको वह चित्रित करता है वे पदार्थोंके ऐसे रूप होते हैं जिन्हें वह चैत्य स्तरमें अनुभव कर चुका होता है: ये आत्मिक आकार होते हैं जिनका भौतिक वस्तुएं एक स्थूल प्रतिरूप हैं और इनकी शुद्धता एवं सूक्ष्मता उस चीजको तुरंत प्रकाशमें ले आती है जिसे भौतिक वस्तु अपने आवरणोंकी स्थूलतासे ढक देती है। यहां जिन रेखाओं और रंगोंकी खोज की जाती है वे चैत्य रेखाएं और चैत्य रंग हैं जो कलाकारके उस अंतर्दर्शनकी अपनी चीजें हैं जिसे पानेके लिये वह अपने भीतर गया होता है।

इस कलाका संपूर्ण नियामक तत्त्व यही है और यही भारतीय चित्रकलाके हरेक ब्योरेपर अपनी छाप लगाता है और कलाकारद्वारा किये जानेवाले छः शास्त्रीय अंगों (**षडङ्ग**) के प्रयोगको बिलकुल बदल डालता है। रूपोंके भेदका सच्चाईके साथ अनुसरण किया जाता है, पर इस अर्थमें नहीं कि जिस जगत्में हम रहते हैं उसकी बाह्य आकृतियोंकी सच्ची प्रतिकृति उतारनेके उद्देश्यसे स्थूल रूपके प्रति यथार्थ प्रकृतिवादी निष्ठा प्रदर्शित की जाय। किसी ऐसी चीजको जिसे हमारी आंखें किसी विशेष स्थानपर देख चुकी हैं या देख सकती थीं, अर्थात् किसी दृश्यको, किसी देशके आभ्यंतर भाग किंवा किसी जीवंत और सप्राण व्यक्तिको सच्चाईके साथ स्मृतिमें लाकर मनको उसकी सौंदर्यात्मक अनुभूति और भावोत्तेजना प्रदान करना इसका उद्देश्य नहीं है। इसमें एक असाधारण सजीवता, स्वाभाविकता एवं वास्तविकता है, पर वह भौतिक वास्तविकतासे अधिक कुछ है, ऐसी वास्तविकता है जिसे अंतरात्मा तुरंत यों पहचान लेती है कि यह उसके अपने क्षेत्रकी है, इसमें चैत्य सत्यकी एक जीवंत स्वाभाविकता एवं रूपकी निश्चयोत्पादक भावना है जिसकी साक्षी देती है अंतरात्मा, न कि रूपकी वह बाह्य स्वाभाविकता, जिसकी गवाही स्थूल आंख देती है। इसमें सत्य, अर्थात् यथार्थ साम्य है, सारूप्य, **सादृश्य** है, वह रूपके सारतत्त्वका सत्य है, अंतरात्माका अपने-आपसे साम्य है, अर्थात् उस सूक्ष्म देहकी प्रतिकृति है जो स्थूल देहका आधार है, पदार्थका वह अधिक शुद्ध और परिष्कृत शरीर है जो उसकी अपनी मूल प्रकृति **स्वभाव**, की वास्तविक अभिव्यक्ति है। जिस साधनके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह भारतीय मनकी अंतर्मुख दृष्टिका अपना विशिष्ट गुण है। यह शुद्ध और सबल रेखाचित्रपर साहसपूर्ण और दृढ़ आग्रह करके और ऐसी हरेक चीजको पूर्ण रूपसे दबाकर उत्पन्न किया जाता है जो इसके उभारमें तथा इसकी सबलता और शुद्धतामें हस्तक्षेप करती हो अथवा रेखाके प्रखर अर्थको धुंधला और हलका करती हो। मानव आकृतिके चित्रणमें मांसपेशियों

तथा शरीर-संस्थान-संबंधी ब्योरेपर बल देकर रेखा-चित्रका जो सारा दैहिक भराव किया जाता है उसे कम-से-कम कर दिया जाता है या फिर उसकी उपेक्षा ही की जाती है : केवल उन सबल सूक्ष्म रेखाओं और शुद्ध आकारोंको ही उभारा जाता है जो मानव रूपकी मानवीयताका निर्माण करती हैं; सारी ही सारभूत मानवसत्ता वहां होती है, अर्थात् वहां वह दिव्यता होती है जिसने आंखके लिये आत्माका यह वेश धारण किया है, परंतु वह अनावश्यक भौतिकता वहां नहीं होती जिसे वह अपने बोझके तौरपर अपने साथ वहन किये हुए है। पुरुष और स्त्रीकी श्रेष्ठ चैत्य आकृति एवं देह ही अपनी मोहक छवि और सुषमामें हमारे सामने होती है। रेखा-चित्रका भराव और ही तरीकेसे किया जाता है; वह शुद्ध सामग्रीके विन्यास, देहकी रूप-रेखा और उसकी रंगीन, लहर-सी रेखाओंके बहाव, भङ्ग, तथा वस्तुओंकी उस सरलताके द्वारा किया जाता है जो कलाकारको इस बातके लिये समर्थ बनाती हैं कि वह संपूर्ण चित्रको उस एक ही आध्यात्मिक भावावेग, अनुभूति और संकेतके गूढार्थसे जिसे वह द्योतित करना चाहता है, अंतरात्माके एक क्षण-विशेष, अर्थात् इसके एक जीवंत स्वानुभव, के संबंधमें अपने अंतर्ज्ञानसे परिप्लुत कर सके। इन सबका विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि ये इसी चीजको और केवल इसीको व्यक्त करें। आंतरात्मिक संकेतको प्रकट करनेके लिये हाथोंकी मुद्राका अद्भुतप्राय, सूक्ष्म और अर्थपूर्ण प्रयोग भारतीय चित्रोंका एक सर्वसामान्य और सुप्रसिद्ध लक्षण है और हाथोंकी यह भावमुद्रा चेहरे और आंखोंके संकेतको जिस ढंगसे सूक्ष्मता-पूर्वक दोहराती या परिपूर्ण बनाती है वह सदा ही एक अन्यतम प्रमुख वस्तु होता है जो दृष्टिको आकर्षित करती है। परंतु जैसे ही हम उसपर एकटक दृष्टि जमाते हैं वैसे ही हम देखते हैं कि शरीरका प्रत्येक मोड़, प्रत्येक अंगकी भावभंगिमा, सभी पदार्थोंका संबंध और रूप-विधान उसी एक चैत्य भावसे परिपूर्ण हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण सहायक वस्तुएं एक सजातीय संकेतके द्वारा उसमें सहायक होती हैं उथवा मूलोद्देश्यके पोषण या वैविध्य या विस्तार या उभारके द्वारा उसे प्रकाशमें लाती हैं। पशुओंके आकारों, इमारतों, पेड़ों और पदार्थोंके संबंधमें भी अर्थपूर्ण रेखाके तथा विक्षेपकारी ब्योरेको दबानेके उसी नियमका प्रयोग किया जाता है। इस समस्त चित्रकलामें परिकल्पना, पद्धति और अभिव्यंजनाका एक अंतःप्रेरित सामंजस्य है। रंगका प्रयोग भी आध्यात्मिक और आंतरात्मिक उद्देश्यके साधनके रूपमें ही किया जाता है, और यदि हम किसी अति लघु बौद्ध चित्रके रंगोंके सांकेतिक अर्थोंका अध्ययन करें तो हम इस बातको भलीभांति देख सकते हैं। व्यंजक रेखा-

चित्रोंके भरावमें रेखाकी यह शक्ति और चैत्य संकेतकी सूक्ष्मता ही महानता और हृदयग्राही सुषमाके उस अद्भुत ऐक्यका स्रोत है जो अजंताकी संपूर्ण रचनाकी छाप है और जो राजपूत-चित्रकलामें भी कायम है, यद्यपि वहां कमनीयतामें प्राचीनतर कृतिकी उच्चता खो गयी है और उसका स्थान जीवंत और सांकेतिक रेखाकी एक ऐसी शक्तिने ले लिया है जो सूक्ष्म रूपसे तीव्र है किंतु फिर भी अत्यंत स्पष्ट और निश्चयात्मक है। यही सर्वसामान्य भावना और परंपरा भारतकी समस्त सच्ची स्वदेशीय रचनाका चिह्न है।

जब हम किसी भारतीय चित्रको देखें तो इन चीजोंको हमें सावधानीके साथ समझ लेना और मनमें रखना होगा तथा उसकी निंदा या प्रशंसा करनेके पूर्व हमें पहले उसके वास्तविक मूल-भावको हृदयंगम कर लेना होगा। उसके अंदरकी उस चीजपर जो कलामात्रमें सामान्य रूपसे पायी जाती है, अपने-आपको एकाग्र करना भी ठीक है, परंतु उसका वास्तविक सार तो वही है जो भारतकी अपनी निराली चीज है। और फिर वहां शिल्प-कौशल और धार्मिक भावकी उमंगकी सराहना करना ही काफी नहीं; यदि हम कलाकारके संपूर्ण उद्देश्यसे अपने-आपको तदाकार करना चाहें तो हमें उस आध्यात्मिक आशयको अनुभव करना होगा जिसे प्रकट करनेमें शिल्प-कौशल सहायता करता है, रेखा और रंगके चैत्य अर्थको तथा उस महत्तर वस्तुको अनुभव करना होगा जिसका कि धार्मिक भावावेग एक परिणाम है। उदाहरणार्थ, यदि हम बुद्धके सामने भक्तिभावसे बैठे हुए मां और बच्चेके चित्रको, जो अजंताकी अत्यंत गंभीर, सुकुमार और उत्कृष्ट मुख्य-कृतियोंमेंसे एक है, देरतक देखते रहें तो हम पायेंगे कि वहां भक्तिके प्रगाढ़ धार्मिक भावकी जो छाप है वह भावावेगके समग्र प्रभावमें केवल एक अत्यंत बाह्य सामान्य स्पर्श ही है। यह छाप गहरी होकर जो चीज बन जाती है वह मानवताकी अंतरात्माका प्रेमके साथ उस दयामय और शांत अनिर्वचनीय सत्ताकी ओर मुड़ना है जिसने बुद्धकी सार्वजनीन करुणाके रूपमें अपने-आपको हमारे प्रति गोचर और मानवाकार बनाया है, और वह चित्र आंतरात्मिक-क्षणके जिस मूलोद्देश्यकी व्याख्या करता है वह बालकके, भावी युवा मानवके, जागते हुए मनका उस चीजके प्रति आत्म-दान है जिसमें माताकी अंतरात्मा अपने आध्यात्मिक हर्षको पाना और स्थिर रखना पहले ही सीख चुकी है। स्त्रीकी आंखें, भौंहें, होंठ, चेहरा, मस्तककी भाव-मुद्रा इस आध्यात्मिक भावावेगसे परिपूर्ण हैं जो चैत्य मुक्तिकी, अवर्णनीय कोमलतासे पूरित हृदयानुभवकी स्थिर सुप्रतिष्ठ शांतिकी, उन परिचित गहराइयोंकी जो अभीतक आश्चर्यसे तथा किसी अनंत वस्तुके सदा और आगेके

आकर्षणसे स्पंदित हैं, एक सतत स्मृति और प्राप्ति है, शरीर तथा अन्य अंग इस भावावेगकी गुरु-गंभीर सामग्री हैं और अपनी भावभंगिमामें वे इसका एक आधारस्वरूप प्रकाश हैं, जब कि हाथ, सनातनसे मिलनेके लिये अपने बच्चेको आत्मदानके भावमें अर्पित करते हुए, इसी भावको विस्तृत करते हैं। मानव और सनातनका यह संस्पर्श छोटेसे बालकके चित्रमें सूक्ष्म और प्रबल रूपसे प्रदर्शित विविधता, तथा जागरणकी उस प्रसन्न और बालसुलभ मुसकानके साथ दुहराया गया है जो प्राप्त होनेवाली गहराइयोंकी आशा तो बंधाती है पर अभी उन्हें प्राप्त कर लेनेकी अवस्थाको नहीं सूचित करती, हाथ ग्रहण करने और बनाये रखनेके लिये इच्छुक हैं, शरीर अपनी शिथिलतर और लहर-सी वक्र रेखाओंमें उस अर्थके साथ ताल मिला रहा है। दोनों अपने-आपको भूले हुए हैं और जिसका वे आराधन एवं चिंतन कर रहे हैं उसमें एक दूसरेको लगभग भूले हुए या मिलाये-जुलाये हुए-से जान पड़ते हैं, और फिर भी पूजा चढ़ाते हुए हाथ मां और बच्चेको उनकी मातृ-स्वत्व और आत्म-दानकी एककालीन भावमुद्राके द्वारा एक ही क्रिया और अनुभूतिमें संयुक्त कर देते हैं। दोनों आकृतियोंमें प्रत्येक स्थलपर एक ही गतिच्छंद है, पर तो भी उसमें एक अर्थपूर्ण भेद है। महानता और शक्तिशालितामें विद्यमान सरलता एवं संयम, समाहरण और केंद्रीभावके द्वारा साधित भावाभिव्यक्तिकी पूर्णता जिसे हम यहां पाते हैं भारतकी प्राचीन उत्कृष्ट कलाकी सर्वांगपूर्ण पद्धति है। और इस पूर्णताके द्वारा बौद्ध कला केवल बौद्ध धर्मका चित्रण और इसके विचार तथा धार्मिक भाव, इतिहास और उपाख्यानकी अभिव्यक्ति ही नहीं बनी बल्कि भारतकी अंतरात्माके लिये बौद्ध धर्मके आध्यात्मिक आशय और इसके गंभीरतर अर्थकी सत्योद्भासक व्याख्या भी बन गयी।

हमें सदा सबसे पहले और प्रधान रूपमें इस प्रकारके गंभीरतर आशयकी खोज करनी चाहिये, इसको समझनेसे जीवनके मूलोद्देश्योंके पाश्चात्य और भारतीय विवेचनके भेद समझमें आ जायंगे। इस प्रकार किसी महान् यूरोपीय चित्रकारकी बनायी हुई मानव-प्रतिकृति चरित्रके द्वारा, सक्रिय गुणों, प्रधान शक्तियों और आवेगों, मुख्यतम भाव और स्वभाव तथा क्रियाशील मानसिक और प्राणिक सत्ताके द्वारा सर्वोपरि बलके साथ अंतरात्माको प्रकट करेगी : भारतीय कलाकार बहिर्मुख क्रियाशील चिह्नोंको हलका कर देता है और उनके केवल उतने ही अंशको प्रकट करता है जो कि किसी ऐसी वस्तुको व्यक्त या लयबद्ध करनेमें सहायक हो जो कहीं अधिक सूक्ष्म अंतरात्माके स्वभावकी ही हो, कोई अधिक स्थितिशील एवं निर्व्यक्तिक वस्तु हो

जिसका कि हमारा व्यक्तित्व आवरण भी है और सूचक भी। आत्माका एक क्षण-विशेष ही जो एक अत्यंत सूक्ष्म आत्मिक गुणकी नित्यताको शुद्धताके साथ प्रकट करता है सर्वोच्च प्रकारकी भारतीय मानवप्रतिकृति है। और, अधिक सामान्य रूपमें, चित्रगत चरित्रसे उद्बुद्ध अनुभूति जिसका हम अजंताकी रचनाकी एक विशेषताके रूपमें उल्लेख कर आये हैं, इसी प्रकारकी वस्तु है। उदाहरणार्थ, एक भारतीय चित्र जो किसी अर्थपूर्ण घटनापर केंद्रित एक धार्मिक भावको प्रकट करता है, प्रत्येक आकृतिमें इस प्रकारकी विविध अभिव्यंजना दिखलायगा कि वह भावावेगके सार्वभौम आध्यात्मिक सारतत्वको प्रकाशमें लाये जिसमें अंतरात्माके मूल प्रकारों, अर्थात् एक ही समुद्रकी विभिन्न लहरोंके अनुसार यत्किंचित् परिवर्तन किया गया हो। नाटकीय आग्रहकी समस्त जटिलता त्याग दी जाती है, और वैयक्तिक अनुभूतिमें चरित्रपर केवल उतना ही बल दिया जाता है जिससे कि मूल भावावेगकी एकताको क्षीण किये बिना विविधताको प्रकट किया जा सके। इन चित्रोंमें जीवनकी जो स्पष्टता है उसके कारण वह अधिक गंभीर प्रयोजन हमारी दृष्टिसे ओझल नहीं हो जाना चाहिये जिसका यह बाह्य परिवेश है, और परवर्ती कलापर दृष्टिपात करते हुए हमें यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी होगी क्योंकि उसमें प्राचीन उच्चकोटिक रचनाकी महानता नहीं है और वह एक ऐसी निम्न श्रेणीमें जा पहुंची है जो कम गंभीर है तथा जिसकी उच्चता बराबर एकसमान कायम नहीं रहती, वह रसमय भावावेश, जीवनकी हलचलकी सूक्ष्म विशदता, और सर्वसाधारणके अधिक सीधे-सादे भावोंके स्तरपर उतर आयी है। कभी-कभी हम ऐसा पाते हैं कि अंतःप्रेरणा, विचार और भावकी निश्चयात्मक शक्ति, सर्जनशील कल्पना-की मौलिकता इस परवर्ती कलाके हिस्सेमें नहीं आयी है; परंतु अजंताकी कलासे इसका वास्तविक भेद केवल यह है कि जीवनकी गति-विधि और अंतरतम हेतुके बीचका चैत्य संक्रमण कम शक्ति और स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया गया है: वहां चैत्य विचार और भाव एक गतिके रूपमें बाहरकी ओर अधिक उंडेले हुए हैं, अंतरात्माके अंदर अपेक्षाकृत कम निहित हैं, फिर भी आंतरात्मिक हेतु केवल विद्यमान ही नहीं है बल्कि वह सच्चे वायुमण्डलका निर्माण करता है और यदि हम उसे न अनुभव करें तो चित्रका वास्तविक तात्पर्य भी हमारी पकड़में नहीं आता। जहां अंतःप्रेरणा धार्मिक है वहां यह चीज अधिक स्पष्ट है, परंतु लौकिक विषयमें भी इसका अभाव नहीं है। यहां भी आध्यात्मिक आशय किंवा चैत्य संकेत सर्वाधिक महत्त्वकी वस्तुएं हैं। अजंताकी कृतिमें तो सारा महत्त्व इन्हीं चीजोंका है और वहां

इनकी जरा भी उपेक्षा करना व्याख्याकी भयानक भूलोंके लिये रास्ता खोलना है। इस प्रकार, एक अतीव योग्य और अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण आलोचक बुद्धके 'महाभिनिष्क्रमण' के चित्रकी चर्चा करते हुए ठीक ही कहते हैं कि यह महान् कृति दुःख और गभीर करुणाके भावकी अभिव्यक्तिमें अपना सानी नहीं रखती, परंतु फिर उस चीजकी तलाश करते हुए जिसे पश्चिमी कलाकारकी कल्पना ऐसे विषयमें स्वभावतः ही डालेगी, वे आगे चलकर यह कहते है कि इसमें विषादपूर्ण निर्णयका एक बोझ नजर आता है, भावी सुखमें निहित आशाके भावके साथ गुंथे हुए आनंदके जीवनको त्यागनेकी कटुता झलकती है, और यह उस मूलभावको जिसके साथ कि भारतीय मन नश्वरसे अविनाशीकी ओर मुड़ता है, विशेष रूपसे गलत समझना है, कलाविषयक भारतीय हेतुको ममझनेमें भूल करना और आध्यात्मिक भावावेगके स्थानपर प्राणिक भावको ला बैठाना है। बुद्धके नेत्रों और ओष्ठोंमें जो भाव घने रूपमें विद्यमान है वह उनका अपना व्यक्तिगत दुःख बिलकुल ही नहीं है बल्कि वह अन्य सबका दुःख है, अपने प्रति भावुकतापूर्ण करुणा नहीं बल्कि जगत्के लिये तीव्र करुणा है, पारिवारिक आनंदके जीवनके लिये परिताप नहीं बल्कि मानवीय सुखके मिथ्यात्वकी वेदनापूर्ण अनुभूति है, और वहां जो उत्कंठा दृष्टिगोचर होती है, वह, निश्चय ही, भावी पार्थिव सुखके लिये नहीं बल्कि निस्तारके आध्यात्मिक मार्गके लिये है, वहां एक पीड़ाकुल जिज्ञासा है जिसका समाधान निर्वाणके सच्चे आनंदमें ही हुआ, पर हां, पीछे अवस्थित आत्माने यह समाधान पहलेसे ही देख लिया था और इसीलिये वहां अपरिमेय शांति और संयम देखनेमें आते हैं जो दुःखको अवलंब देते हैं। दोनों प्रकारकी कल्पनाओंमें, यूरोपकी कलाके मानसिक, प्राणिक और भौतिक झुकाव और भारतकी कलाके सूक्ष्म, कम प्रबल रूपमें गोचर आध्यात्मिक झुकावमें जितना भी भेद है, वह सारेका सारा इस उदाहरणमे स्पष्ट हो जाता है।

यही भारतकी स्वदेशीय कला है जिसकी यही अविच्छिन्न भावना एवं परंपरा है, और यह संदेहका विषय रहा है कि आया मुगल चित्र इस नामके अधिकारी हैं तथा इस परंपरासे किसी प्रकारका संबंध रखते हैं और क्या, अधिक ठीक रूपमें, वे फारससे आयी हुई विदेशीय वस्तु तो नहीं हैं। लगभग समस्त पूर्वीय कला इस बातमें एक जैसी है कि स्थूल दृष्टिके भीतर चैत्य प्रविष्ट हो जाता है और, अधिकांशमें, उसपर अपना सूक्ष्मतर नियम लागू करता है और चैत्य रेखा तथा चैत्य अर्थ उसे एक विशिष्ट मोड़ देते हैं, ये ही उसकी सजावटकी कलाका रहस्य हैं तथा उच्चतर कलाके प्रधान

उद्देश्यका निर्देशन करते हैं। परंतु फारस और भारतके चैत्य-तत्त्व (Psychicality) में एक भेद है; फारसके चैत्यतत्त्वमें मध्यवर्ती लोकोंके जादूका सौरभ विद्यमान है और भारतका चैत्य आध्यात्मिक दृष्टिके संचारणका केवल एक साधन है। और, स्पष्ट ही, भारत-फारसी शैली पहले प्रकारकी है तथा भारतके लिये स्वदेशीय नहीं है। परंतु मुगल कला कोई विदेशीय वस्तु नहीं है; बल्कि उसमें दो मनोवृत्तियोंका संमिश्रण है : एक ओर तो उसमें एक प्रकारके प्रत्यक्षवादकी ओर झुकाव है जो पश्चिमी प्रकृतिवादके सर्वथा समान नहीं है, साथ ही उसमें एक लौकिक भावना तथा कुछ एक प्रमुख तत्त्व भी हैं जो व्याख्यात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल रूपमें चित्रणात्मक हैं, किंतु फिर भी केंद्रीय वस्तु एक रूपांतरकारी स्पर्शका प्राधान्य ही है जो यह दिखाता है कि स्थापत्यकी भांति यहां भी भारतीय मनने एक अन्य ही अभिभूतकारी मानसिकताको अपने अधिकारमें कर रखा है और उसे एक अधिक बहिर्मुखी स्व-अभिव्यंजनाका सहायक साधन बना लिया है। वह अभिव्यंजना उस उपलब्धिकी आध्यात्मिक शृंखलामें एक नयी अवांतर प्रवृत्तिके रूपमें प्रकट होती है जो प्रागैतिहासिक युगमें आरंभ हुई थी और भारतीय संस्कृतिके व्यापक ह्रासके समय ही समाप्त हो गयी। चित्रकारी जो उस ह्रासके समय गर्तमें पतित होनेवाली कलाओंमें अंतिम थी, फिरसे उठने और युगकी उषा-रश्मियोंको उद्भासित करनेमें भी प्रथम रही है।

भारतकी साज-सज्जा-संबंधी कलाओं और शिल्पोंकी विस्तारपूर्वक चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनकी श्रेष्ठता सदा ही निर्विवाद रूपसे स्वीकार की जाती रही है। जिस व्यापक सौंदर्य-भावनाको वे द्योतित करते हैं वह राष्ट्रीय संस्कृतिकी मूल्यवत्ता और स्वस्थताके बड़े-से-बड़े संभव प्रमाणोंमें से एक है। इस विषयमें भारतीय संस्कृतिको किसी भी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं : यदि वह जापानकी संस्कृतिसे मुख्यतः कम कलात्मक है तो इसका कारण यह है कि उसने आध्यात्मिक आवश्यकताको सर्वप्रमुख स्थान दिया है तथा अन्य सभी चीजोंको लोगोंकी आध्यात्मिक प्रगतिके अधीनस्थ एवं उसका साधन बना रखा है। उसकी सभ्यताने मनके सभी विषयोंकी भांति तीन महान् कलाओंमें भी प्रथम पंक्तिमें स्थित होकर यह सिद्ध कर दिया है कि आध्यात्मिक आवेग अन्य प्रवृत्तियोंको पंगु बनानेवाला नहीं है, जैसी कि व्यर्थ ही कल्पना की गयी है, बल्कि वह समग्र मानवके बहुमुखी विकासके लिये एक अत्यंत प्रबल शक्ति है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पहला अध्याय

भारतीय साहित्य

जो कलाएं आंखके द्वारा अंतरात्माको आकर्षित करती हैं वे ही किसी जातिकी भावना और सौंदर्य-वृत्ति तथा उसके सर्जनशील मनकी विशेष घनीभूत अभिव्यक्तिपर पहुंच सकती है, परंतु उसकी अत्यंत नमनशील और बहुमुखी आत्म-अभिव्यक्तिकी खोज तो उसके साहित्यमें ही करनी होगी, क्योंकि स्पष्ट अलंकारकी अपनी समस्त शक्ति या ध्वनिके अपने समस्त सूत्रोंके साथ प्रयुक्त किया गया शब्द ही अभिव्यक्त आंतर आत्माके विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और वहुल अर्थोंको अत्यंत सूक्ष्म और विविध रूपमें हमारे सामने प्रकट करता है। किसी साहित्यकी महानता सर्वप्रथम उसकी विषय-वस्तुके मूल्य एवं महत्त्वमें और उसके विचारकी उपयोगिता तथा आकारों-के सौंदर्यमें निहित रहती है, पर साथ ही इस बातमें भी कि वह वाणीकी कलाकी ऊंचीसे ऊंची शर्तोंको पूरा करता हुआ किसी जाति, युग एवं संस्कृति-के आत्मा और जीवनको या उसके जीवंत और आदर्श मनको उसकी किन्हीं महत्तम या अत्यंत संवेदनशील प्रतिनिधि-आत्माओंकी प्रतिभाके द्वारा प्रकट और उन्नत करनेमें किस हदतक सहायक होता है। और यदि कोई प्रश्न करे कि इन दोनों बातोंमें भारतीय मानसकी, जैसा कि वह संस्कृत तथा अन्य साहित्योंमें हमतक परंपराद्वारा पहुंचा है, उपलब्धि क्या है तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम-से-कम यहां एक ऐसे विचारकके लिये भी जो जीवन और चरित्रपर पड़नेवाले इस संस्कृतिके प्रभावके विषयमें विवाद करनेपर एकदम तुला हुआ है, किसी प्रकारकी युक्तिसंगत निंदा और निषेध करनेकी गुंजायश नहीं है। संस्कृतभाषाकी प्राचीन एवं उच्च-कोटिक रचनाएं अपने गुण, तथा उत्कर्षके स्वरूप एवं बाहुल्य दोनोंमें, शक्ति-शाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरतामें, अपने सारतत्त्व, कौशल और गठनमें, वाक्-शक्तिके वैभव, औचित्य और आकर्षणमें तथा अपनी भावनाके क्षेत्रकी उच्चता और विशालतामें अत्यंत स्पष्टतः ही विश्वके महान् साहित्यों-

के बीच अग्रपंक्तिमें प्रतिष्ठित हैं। निर्णय देने योग्य व्यक्तियोंने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वयं संस्कृत भाषा भी मानव मनके द्वारा विकसित किये हुए अत्यंत महान्, अत्यंत पूर्ण और अद्‌भुत रूपसे समर्थ साहित्यिक साधनोंमेंसे एक है जो एक साथ ही भव्य, मधुर एवं नमनीय है, ओजस्वी, व्युत्पन्न, समृद्ध, स्पंदनशील एवं सूक्ष्म भी है, और इसका गुण एवं स्वरूप, अपने-आपमें, इस बातका पर्याप्त प्रमाण होना चाहिये कि जिस जातिके मानसको इसने व्यक्त किया है एवं जिस संस्कृतिको प्रतिबिंबित करनेके लिये इसने एक माध्यमका काम किया है उसका गुण और वैशिष्ट्य क्या था। कवियों और चिंतकोंने इसका जो महान् और उदात्त प्रयोग किया वह इसकी क्षमताओंकी उच्चताके मुकाबले हीन कोटिका नहीं था। यह बात भी नहीं है कि भारतीय मनने ऊंची, सुन्दर और पूर्ण रचनाएं केवल संस्कृत भाषामें ही की हैं, यद्यपि अपनी अत्यंत प्रधान, रचनात्मक और बृहत्तम कृतियोंका बहुत बड़ा भाग उसने इसी भाषामें व्यक्त किया। उसकी रचनाओंका पूरा मूल्य आंकनेके लिये पाली भाषामें रचित बौद्ध साहित्यको तथा लगभग एक दर्जन संस्कृत-जनित और द्राविड़ भाषाओंके काव्य-साहित्योंको भी, जो अपनी रचनाओंकी दृष्टिसे कहीं तो प्रचुर हैं और कहीं बहुत परिमित, विचारमें लाना आवश्यक होगा। यह संपूर्ण भारतीय साहित्य प्रायः एक महाद्वीपीय प्रभाव रखता है और अपनी वस्तुतः स्थायी रचनाओंके परिमाणमें प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक यूरोपकी कृतियोंसे आजतक भी कम नही है तथा अपनी परमोत्कृष्ट रचनाओंमें उसकी बराबरी भी करता है। जो जाति और सभ्यता अपनी महान् कृतियों और अपने महान् साहित्यिकोंमें वेद और उपनिषदोंको, महाभारत और रामायणकी शक्तिशाली रचनाओंको और कालिदास, भवभूति, भर्तृहरि एवं जयदेवको गिनती हैं और साथ ही उच्चकोटिक भारतीय नाटक, काव्य और रूमानी उपन्यासकी अन्य समृद्ध रचनाओंको, धम्मपद और जातकोंको, पञ्चतन्त्रको, तुलसीदासको, विद्यापति, चंडीदास और रामप्रसादको, रामदास और तुकारामको, तिरुवल्लुवर और कंबनको तथा नानक, कबीर और मीराबाई एवं दक्षिणके शैव संतों और आळ्वारोंके गानोंको भी गिनती है,—यहां हमने केवल सुप्रसिद्ध लेखकों और अत्यंत विशिष्ट रचनाओंके ही नाम लिये है, यद्यपि विभिन्न भाषाओंमें प्रथम और द्वितीय दोनों कोटियोंकी अन्य श्रेष्ठ कृतियोंका भी अति विपुल समूह विद्यमान है,—उस जाति और उस सभ्यताको, निश्चय ही, सबसे महान् सभ्यताओंमें और संसारकी अत्यंत विकसित एवं सर्जनशील जातियोंमें गिनना होगा। यह इतनी महान् और

इतनी उत्कृष्ट कोटिकी मानसिक क्रियाशीलता जिसका सूत्रपात हुए तीन सहस्र वर्षसे भी अधिक हो गये हैं और जो आजतक भी समाप्त नहीं हुई है, भारतीय संस्कृतिके अंदर विद्यमान, असाधारण रूपसे सबल और प्राणवंत किसी वस्तुका अनुपम, सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत अकाट्य प्रमाण है।

जो आलोचना इस अद्वितीय साहित्य-संपदाके मूल्यकी और प्रकटनशील आत्मा एवं सर्जनक्षम बुद्धिकी इस महत्ताकी उपेक्षा या अवज्ञा करती है, वह तुरंत ही अंध विद्वेष या दुर्धर्ष पक्षपातकी दोषी ठहरती है और खंडनकी भी अधिकारिणी नहीं होती। इस छिद्रान्वेषीद्वारा किये गये आक्षेपोंपर विचार करना महज समय और शक्तिका अपव्यय करना होगा : क्योंकि यहां किसी साहित्यकी गौरव-गरिमाके लिये महत्त्व रखनेवाली कोई भी चीज वस्तुतः विवादका विषय नहीं है और उधर इस आलोचकके आक्रमणके खातेमें जमा करने लायक एकमात्र चीज है — सामान्य रूपसे सभी तथ्योंको तोड़ना-मरोड़ना और निंदा करना तथा उन ब्योरों और प्रकृतिगत विशेषताओंपर व्यर्थमें, पिल-पिलकर तथा बढ़ा-चढ़ाकर आक्षेप करना जो, अधिकसे अधिक, भारतके आदर्शनिर्मायक मन तथा प्रचुर कल्पना और यूरोपके अधिक यथार्थवादी ढंगसे देखनेवाले मन तथा कम समृद्ध और कम प्रचुर कल्पनामें भेद दिखलाती हैं। आलोचनाकी इस मूल प्रेरणा और शैलीके अनुरूप उत्तर यही होगा कि कोई भारतीय आलोचक जिसने यूरोपका साहित्य केवल रद्दी या निष्प्रभाव भारतीय अनुवादोंके रूपमें ही पढ़ा हो, इसकी विद्वेषपूर्ण एवं निंदात्मक आलोचना करे और यह कहकर सब कुछ रद्द कर दे कि इलियड एक अधकचरा, खोखला, अर्द्ध-बर्बर और आदिम वीर-काव्य है, दांतेकी महान् कृति क्रूर और अंधविश्वासपूर्ण धार्मिक कल्पनाका दुस्वप्न है, शेक्सपीयर मृगीरोगजन्य कल्पनासे युक्त पुष्कल प्रतिभाका एक मदोन्मत्त बर्बर है, यूनान और स्पेन एवं इंगलैंडके संपूर्ण नाटक बुरे आचारशास्त्र और उग्र विभीषिकाओंका स्तूप हैं, फ्रेंच काव्य अलंकारोंकी एकरस या आडंबरपूर्ण कसरतोंकी एक शृंखला है और फ्रेंच गल्प-उपन्यास एक दूषित एवं अनैतिक वस्तु है, विलासिता-देवीकी वेदीपर दी गयी एक सुदीर्घ बलि है; वह (आलोचक) कहीं-कहीं छोटे-मोटे गुणको भले ही स्वीकार कर ले पर प्रधान भावना या सौंदर्यात्मक गुण या रचना-सिद्धांतको समझनेका जरा भी यत्न न करे और अपनी मूर्खतापूर्ण पद्धतिके बलपर यह परिणाम निकाले कि पेगन और क्रिश्चियन उभयविध यूरोपके आदर्श बिलकुल झूठे और बुरे थे और उसकी कल्पना एक "अभ्यासगत तथा पितृ-परंपरागत" पार्थिवता, विकृतता, दरिद्रता और अस्तव्यस्ततासे ग्रस्त थी। मूर्खताओंका ऐसा अंबार

किसी भी आलोचनाके योग्य नहीं, और इस तीव्र निंदामें, जो उक्त प्रकार-की आलोचनाके समान ही हास्यास्पद है, अन्य टिप्पणियोंसे कुछ कम असंगत और कम अस्पष्ट दो-एक फुटकल टिप्पणियां ही शायद सरसरी दृष्टिकी अपेक्षा करती हैं। पर यद्यपि ये निरर्थक आलोचनाएं भारतीय काव्य और साहित्यके विषयपर सामान्य यूरोपीय मनकी सही रायका जरा भी प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, तो भी हम देखते हैं कि भारतीय कृतिके मूलभाव या रूप या सौंदर्यात्मक मूल्यको और विशेषकर जातिके सांस्कृतिक मनकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें इसकी पूर्णता एवं शक्तिको सराहनेमें यूरोपीय मन बहुधा असमर्थ ही रहता है। यहांतक कि सहानुभूतिपूर्ण आलोचकोंकी भी ऐसी आलोचनाएं हमारे देखनेमें आती हैं जिनमें भारतीय काव्यकी शक्ति, सौंदर्य और महत्ताको स्वीकार करते हुए भी परिणाम यह निकाला गया है कि इस सबके बावजूद यह संतोषप्रद नहीं है, और इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक और स्वभावमूलक भ्रांति कुछ हदतक रचनाके इस क्षेत्रमें भी व्यापी हुई है जहां विभिन्न प्रकारके मन चित्रकला और मूर्तिकलाकी अपेक्षा अधिक सहज रूपमें एक हो जाते हैं, और साथ ही यह भी कि इन दो मनोवृत्तियों-के बीच एक दरार है और जो चीज एकके लिये आनंदप्रद तथा अर्थ और ओजसे परिपूर्ण है उसमें दूसरेके लिये सौंदर्यात्मक या बौद्धिक सुखका कोई भी तत्त्व नहीं, है केवल एक ऊपरी ढांचा। इस कठिनाईका कारण कुछ तो यह है कि एक व्यक्ति दूसरेकी भाषाकी जीवंत भावनाके अंदर पैठने और उसका प्राणवंत स्पर्श अनुभव करनेमें असमर्थ है, पर साथ ही कुछ यह भी कि दोनोंमें समानता होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टिसे एक भेद है जो पूर्ण असमानता और भिन्नतासे भी कहीं अधिक चकरानेवाला है। उदाहरणार्थ, चीनी काव्य बिलकुल अपने ही ढंगका है और यदि पश्चिमी मनोवृत्ति इसे एक विजातीय जगत् समझकर इसके पाससे बिलकुल यों ही न निकल जाय तो उसके लिये इसके एक सुस्थिर मूल्यांकनका विकास करना अधिक संभव होता है क्योंकि तब मनकी ग्रहणशीलता किन्हीं भी व्याघातजनक स्मृतियों या तुलनाओंसे अवरुद्ध या कुंठित नहीं होती। इसके विपरीत, यूरोपके काव्यके समान भारतीय काव्य आर्य या आर्यभावापन्न राष्ट्रीय मनकी रचना है, वह प्रत्यक्षतः ही उसी प्रकारके हेतुओंसे उद्‌भूत होता है, उसी स्तरपर विचरण करता है, उसके सजातीय रूपोंका प्रयोग करता है, और फिर भी उसकी भावनामें कोई बिलकुल ही भिन्न वस्तु विद्यमान होती है जो उसके सौंदर्यात्मक पुटों, कल्पनाके प्रकार, आत्म-अभिव्यंजनाकी गतिविधि, परिकल्पनाकारी मन, पद्धति, रूप और रचनामें एक

सुस्पष्ट एवं पृथक्कारी विभेदको जन्म देती है। यूरोपीय भावना और काव्यकलाका अभ्यस्त मन यहां भी उसी प्रकारकी तुष्टिकी आशा करता है पर उसे नहीं पाता, एक चकरानेवाले भेदको अनुभव करता है जिसके रहस्यसे वह अपरिचित है, और सूक्ष्म अनुसंधान करनेवाली तुलना तथा निरर्थक आशा पूर्ण ग्रहणशीलता और गहरी समझके मार्गमें बाधा डालती हैं। मूलतः, पीछे अवस्थित एक सर्वथा भिन्न भावनाकी एवं इस संस्कृतिके भिन्न प्रकारके अंतस्तलकी अधूरी समझ ही एक मिश्रित आकर्षण और असंतोषको जन्म देती है। यह विषय इतना विस्तृत है कि एक छोटी-सी परिधिमें इसपर यथोचित रूपसे विचार नहीं किया जा सकता : सर्जनशील अंतर्ज्ञान और कल्पनाकी कुछ एक अत्यंत प्रतिनिधिस्वरूप सर्वोत्कृष्ट रचनाओंपर, जिन्हें मैंने भारत-जातिके मन और अंतरात्माके अभिलेखके रूपमें ग्रहण किया है विचार करके मैं केवल कुछ विशेष बातोंको ही प्रकाशमें लानेकी चेष्टा करूंगा।

राष्ट्रके गौरवमय यौवन-कालमें जब कि एक अगाध आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि कार्य कर रही थी, एक सूक्ष्म अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि और एक महान् रूपमें निर्धारित, गभीर एवं विशद बौद्धिक और नैतिक विचार-शृंखला तथा साहसिक कार्य-धारा एवं सर्जन-प्रवृत्ति क्रियाशील थीं जिन्होंने उसकी अनुपम संस्कृति एवं सभ्यताकी योजना खोज निकाली एवं निर्धारित की और इसकी स्थायी इमारत खड़ी की,—ऐसे युगमें हमें भारतका प्राचीन मानस उसकी प्रतिभाकी चार परमोच्च कृतियों, वेद, उपनिषदों और दो बृहत् महाकाव्योंके द्वारा प्रस्तुत मिलता है, और इनमेंसे प्रत्येक एक ऐसी कोटि एवं शैलीकी तथा ऐसी भावनासे संपन्न रचना है जिसकी बराबरी करनेवाली रचना किसी अन्य साहित्यमें आसानीसे नहीं मिल सकती। इनमेंसे पहली दो उसके आध्यात्मिक और धार्मिक स्वरूपका प्रत्यक्ष आधार हैं, शेष दो उसके जीवनके महत्तम युगकी, इसे अनुप्राणित करनेवाले विचारों एवं परिचालित करनेवाले आदर्शों तथा उन प्रतीकोंकी विशाल सर्जनक्षम व्याख्या हैं जिनके रूपमें उसने मनुष्य, प्रकृति और परमेश्वरको तथा जगत्की शक्तियोंको देखा था। वेदने हमें इन चीजोंके प्रथम प्रतिरूप और आकार प्रदान किये जैसे कि वे रूपकात्मक आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक और धार्मिक अनुभवके द्वारा देखे और गढ़े गये थे; उपनिषदें आकार, प्रतीक और रूपकको निरंतर भेदकर तथा इनके परे जाकर पर इनका पूर्ण रूपसे त्याग किये बिना,—क्योंकि ये चीजें एक सहचारी तत्त्व या गौण वस्तुके रूपमें सदा ही आ घुसती हैं,—एक अद्वितीय कोटिके काव्यमें

आत्मा, परमात्मा और मनुष्य तथा जगत् और इसके मूलतत्त्वों एवं इसकी शक्तियोंके — इन (मूलतत्त्वों और शक्तियों) के अत्यंत सारभूत, गभीर-तम, अंतरंगतम एवं विस्तृततम वास्तविक रूपोंके — चरम-परम सत्योंको प्रकाशित करती हैं — ये वास्तविक रूप परमोच्च रहस्य और विशद आलोक हैं जिन्हें एक ऐसी दुर्निवार एवं निर्बाध अनुभूतिके रूपमें स्पष्टतया देखा गया है जो अंतर्ज्ञानात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टितक पहुंच चुकी है। और उपनिषदोंके बाद हम उस बुद्धि एवं जीवनकी तथा उन आदर्शभूत नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं चैत्य और भाविक, ऐंद्रिय तथा भौतिक ज्ञान, विचार, दृष्टि और अनुभवकी ओजस्वी और सुन्दर प्रगतियोंको देखते हैं जिनका कि हमारे महाकाव्य प्राचीन अभि-लेख हैं और जिन्हें शेष सारा साहित्य अविच्छिन्न रूपसे विस्तारित करता है; परंतु आधार बराबर ही वही रहता है और जो भी नये एवं प्रायः व्यापकतर प्रतिरूप तथा अर्थपूर्ण आकार पुरानोंके स्थानपर आते हैं या संपूर्ण समष्टिमें कुछ वृद्धि, संशोधन और परिवर्तन करनेके लिये हस्तक्षेप करते हैं वे अपनी मूल गठन और प्रकृतिमें आदि दृष्टि एवं प्रथम आध्यात्मिक अनुभवके रूपांतर और विस्तार ही होते हैं, वे ऐसे व्यतिक्रम कदापि नहीं होते जो उससे संबंध ही न रखते हों। साहित्यिक सृजनमें, महान् परि-वर्तनोंके होते हुए भी, भारतीय मनकी दृढ़ लगन एवं अविच्छिन्न परंपरा कायम रही है जो वैसी ही सुसंगत है जैसी हम चित्रकला और मूर्तिकलामें देखते हैं।

वेद उस आदिकालीन अंतर्ज्ञानात्मक और प्रतीकात्मक मनोवृत्तिकी रचना है जो मनुष्यके परवर्ती मनके लिये एक सर्वथा अपरिचित वस्तु बन गयी है क्योंकि वह प्रबल रूपमें बौद्धिक बन गया है तथा एक ओर तो तर्कशील विचार तथा अमूर्त परिकल्पनाके द्वारा और दूसरी ओर जीवन और जड़-तत्त्वके तथ्योंके द्वारा परिचालित होता है, जिन तथ्योंको उसी रूपमें स्वी-कार कर लिया जाता है जैसे कि वे इंद्रियों तथा प्रत्यक्षवादी बुद्धिके सम्मुख उपस्थित होते हैं और उनमें किसी भी दिव्य या गुह्य अर्थकी खोज नहीं की जाती, और क्योंकि वह कल्पनाको सत्यके द्वारोंको खोलनेवाली कुंजी नहीं वरंच सौंदर्यात्मक मौजकी एक क्रीड़ा मानकर उसमें संलग्न रहता है और केवल उसीके सुझावोंपर विश्वास करता है जब कि वे तार्किक युक्ति या स्थूल अनुभूतिके द्वारा पुष्ट होते हैं, और क्योंकि वह उन्हीं अंतःस्फुरणाओं-से अभिज्ञ है जिन्हें सावधानताके साथ बौद्धिक रूप दे दिया गया है और अन्य सभी स्फुरणाओंका अधिकांशमें विरोध ही करता है। अतएव इसमें

कुछ आश्चर्य नहीं कि वेद अपनी भाषाके अत्यंत बाहरी आवरणको छोड़कर हमारे मनोंके लिये दुर्बोध हो गया हो, और वह बाह्य आवरण भी एक प्राचीन तथा अच्छी तरह समझमें न आनेवाली शैलीकी बाधाके कारण अत्यंत अपूर्ण रूपमें ही बोधगम्य हो, और कि उसकी अत्यंत अनुपयुक्त व्याख्याएं की गयी हों जो मानवजातिके तरुण और तेजस्वी मनकी इस महत् कृतिको घटाकर एक दूषित और कुरूप लेख बना डालती हैं, एक आदिम कल्पनाकी मूर्खतापूर्ण बातोंका एक ऐसा असंगत मिश्रण बना देती हैं जिसके कारण वह चीज भी जटिल हो उठती है जो वैसे उस प्रकृतिवादी धर्मका बिलकुल सीधा-सादा, स्पष्ट और सर्वसामान्य अभिलेख होती जो बर्बर प्राणप्रधान मनकी स्थूल और जड़वादीय कामनाओंको ही प्रतिबिंबित करता था और उन्हींकी सेवा कर सकता था। भारतीय पुरोहितों और पण्डितोंकी परवर्ती पांडित्यपूर्ण और कर्मकांडीय भावनाके लिये वेद गाथा-विज्ञान और याज्ञिक क्रिया-कलापोंकी पुस्तकमात्र रह गया, इससे अच्छी कोई चीज नहीं; यूरोपीय विद्वानोंने वेदमें केवल अपनी बौद्धिक रुचिके विषयों, अर्थात् इतिहास, गाथाओं, और आदिम जातिके प्रचलित धार्मिक विचारोंकी ही खोज की है और इस प्रकार वेदके साथ और भी बड़ा अन्याय किया है और एक सर्वथा बाह्य व्याख्यापर बल देकर उसे उसके आध्यात्मिक आशय और उसकी काव्यात्मक महत्ता एवं सुन्दरतासे और भी अधिक वंचित कर दिया है।

परंतु स्वयं वैदिक ऋषियों या उनके बाद आनेवाले उन महान् द्रष्टाओं और मनीषियोंके लिये वेद यह चीज नहीं था, जिन्होंने कि उनकी अर्थ-गर्भित और प्रकाशपूर्ण अंतःस्फुरणाओंसे विचार और वाणीकी अपनी अद्‌भुत रचनाएं विकसित कीं जो एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक साक्षात्कार और अनुभवपर प्रतिष्ठित थीं। इन प्राचीन द्रष्टाओंके लिये वेद वह शब्द-ब्रह्म था जिसने सत्यको आविष्कृत किया और जीवनके रहस्यमय अर्थोंको रूपक एवं प्रतीकका परिधान पहराया। वह शब्दकी अंतर्निहित शक्तियोंका, उसकी रहस्यमय सत्योद्‌भासी और सर्जनशील क्षमताका दिव्य आविष्कार और प्राकट्य था, पर वह शब्द नैयायिक और तार्किक या सौंदर्यात्मक बुद्धिका शब्द नहीं था, बल्कि एक बोधिजन्य और अंतःप्रेरित छंदोबद्ध वचन, मंत्र, था। उसमें रूपक और आख्यानका प्रयोग स्वच्छंदताके साथ किया गया था, पर वह कल्पनाकी उड़ानके रूपमें नहीं बल्कि उन चीजोंके जीवंत दृष्टांतों और प्रतीकोंके रूपमें किया गया था जो उनका वर्णन करनेवालोंके लिये अत्यंत वास्तविक थीं तथा जो और किसी प्रकारसे वाणीमें अपना

आभ्यंतरिक एवं स्वाभाविक रूप नहीं प्राप्त कर सकती थीं, और स्वयं कल्पना उनसे अधिक महान् सद्वस्तुओंकी पुरोहित थी जो जीवनके बाह्य सुझावों तथा भौतिक सत्तासे आबद्ध आंख और मनके सम्मुख आती हैं और इन्हें वशमें किये रहती हैं। पवित्रात्मा कविके संबंधमें उनकी धारणा यह थी कि वह एक ऐसा मनीषी होता है जिसे अपने मनमें किसी उच्चतम प्रकाशका तथा इसके विचारात्मक और शब्दात्मक रूपोंका साक्षात्कार हुआ होता है, वह सत्यका द्रष्टा और श्रोता होता है, **कवयः सत्यश्रुतः**। निश्चय ही वैदिक मंत्रोंके कवि अपने कार्यको उस रूपमें नहीं देखते थे जिस रूपमें आधुनिक विद्वानोंने उसका निरूपण किया है, वे अपनेको एक बलिष्ठ और बर्बर जातिके लिये एक प्रकारके तंत्र-मंत्र एवं जादू-टोनेका निर्माण करने-वाले नहीं, बल्कि **ऋषि और धीर**' समझते थे। इन गायकोंका विश्वास था कि इन्हें एक उच्च रहस्यमय और गुप्त सत्य प्राप्त है, इनका दावा था कि ये एक ऐसी वाणीको धारण करते हैं जो दिव्य ज्ञानको स्वीकार्य है, और अपने वचनोंके बारेमें ये स्पष्ट रूपसे ऐसी बात कहते भी हैं कि वे रहस्यमय शब्द हैं जो अपना संपूर्ण तात्पर्य केवल ऋषिके समक्ष ही प्रकाशित करते हैं, **कवये निवचनानि निण्या वचांसि**। और जो द्रष्टा इनके बाद आये उनके लिये वेद ज्ञानका, और यहांतक कि एक परम ज्ञानका ग्रंथ था, एक ईश्वरीय ज्ञान, एक सनातन और निर्व्यक्तिक सत्यका, जैसा कि वह अंतःप्रेरित और भगवत्तुल्य मनीषियों (धीरों) के अंतरीय अनुभवमें देखा और सुना गया था, महान् प्रकाश था। यज्ञकी जिन छोटी-से-छोटी क्रियाओंके विषयमें मंत्र लिखे गये थे उनका प्रयोजन अर्थकी एक प्रतीकात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तिको वहन करना था, जैसा कि प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथोंके लेखकोंको भलीभांति विदित था। पवित्र मंत्रोंको, जिनमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें दिव्य अर्थसे पूर्ण समझा जाता था, उपनिषदोंके विचारक अपने अन्वेषणीय सत्यके गभीर और अर्थगर्भित बीजरूप शब्द मानते थे और अपने उदात्त उद्‌गारोंके लिये वे जो सर्वोच्च प्रमाण दे सकते थे वह था अपने पूर्वगामी ऋषियोंके ग्रंथसे उद्धृत कोई समर्थक वचन जिसके साथ वे 'तदेषा ऋचाभ्युक्ता' अर्थात् "यह वह वाणी है जो ऋग्वेदने उच्चारित की थी" इस सूत्रका प्रयोग करते थे। पश्चिमी विद्वान् यह कल्पना करना पसंद करते हैं कि वैदिक ऋषियोंके उत्तराधिकारियोंने भूल की है, कुछ एक बादके मंत्रोंको छोड़कर अन्य पुराने मंत्रोमें उन्होंने एक मिथ्या और अ-सत् अर्थ

'धीर = धी + र, अर्थात् धी या परम प्रज्ञामें रत रहनेवाले। —अनु.

भर दिया है और केवल युगोंके द्वारा ही नहीं बल्कि बौद्धिकतामें रंगी मनो-वृत्तिकी अनेक खाइयों और विभाजक समुद्रोंके द्वारा भी उन ऋषियोंसे पृथक् हुए हुए वे स्वयं उनसे अनंतगुना उत्तम ज्ञान रखते हैं। परंतु केवल साधारण बुद्धिसे भी हमें यह पता लग जाना चाहिये कि जो लोग दोनों तरहसे मूल कवियोंके इतना अधिक निकट थे उनके लिये कम-से-कम इस विषयका सारभूत सत्य अधिकृत करनेकी अधिक अच्छी संभावना थी और साधारण बुद्धि ही, कम-से-कम, इस प्रबल संभावनाका संकेत देती है कि वेद वस्तुतः वही चीज था जो कुछ होनेका वह दावा करता है, अर्थात् वह एक गुह्य ज्ञानकी खोज था, भारतीय मनके उस अनवरत प्रयत्नका,—भारतीय मन अपने इस प्रयत्नके प्रति सदैव सच्चा रहा है,—प्रथम रूप था जो उसने स्थूल जगत्की प्रतीतियोंसे परे देखने और अपने आंतरिक अनुभवोंके द्वारा उस एकमेवके देवताओं, उसकी शक्तियों और स्वयंभू-सत्ता-को देखनेके लिये किया था जिसके विषयमें ज्ञानी लोग नाना प्रकारसे चर्चा करते हैं—यह वह प्रसिद्ध पदावलि है जिसमें वेद अपना केंद्रीय रहस्य प्रकट करता है, **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**

यदि हम वेदका कोई भी स्थल लेकर इसके अपने ही पदों और रूपकों-के अनुसार सीधे-सरल रूपमें इसकी व्याख्या करें तो इसका असली स्वरूप बहुत अच्छी तरह समझमें आ सकता है। एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके ऊंचे आसनसे उन मूर्ख लोगोंकी जिन्हें वेदमें उदात्तता दिखायी देती है भर्त्सना करता हुआ हमें बताता है कि यह बालिश, मूर्खतापूर्ण, यहां-तक कि बीभत्स कल्पनाओंसे भरा हुआ है, एक क्लिष्ट, हीन और तुच्छ रचना है और मानव प्रकृतिके स्वार्थ एवं लौकिकतावाले निम्न स्तरका प्रति-निधित्व करता है और केवल कहीं-कहीं कुछ एक ऐसी विरली भावनाएं हैं जो अंतरात्माकी गहराइयोंसे आती हैं। वेदको ऐसा रूप दिया जा सकता है यदि हम ऋषियोंके वचनोंमें अपनी मानसिक कल्पनाएं भर दें, परंतु यदि हम उन्हें उसी रूपमें पढ़ें जैसे कि वे हैं और हमारी समझमें उन प्राचीन बर्बरोंको जैसी बातें कहनी और सोचनी चाहिये थीं वैसी बातोंमें उनका इस प्रकार कोई मिथ्या रूपांतर न करें तो इसके स्थानपर हमें वहां एक पवित्र काव्यके दर्शन होंगे जो अपने शब्दों और रूपकोंमें उदात्त और ओजस्वी है यद्यपि उसकी भाषा और कल्पना उनसे भिन्न प्रकारकी हैं जिन्हें हम आज अधिक पसंद करते और सराहते हैं; और साथ ही, अपने मनोवैज्ञानिक अनुभवमें गंभीर और सूक्ष्म है तथा अंतर्दर्शन और वाणीकी द्रवित आत्मा-द्वारा स्पंदित हैं। स्वयं वेदकी कुछ वाणी सुन लीजिये :

"भूमिकाओंपर भूमिकाएं उदित होती हैं, आवरणपर आवरण[1] ज्ञानकी ओर जाग उठता है: माकी गोदमें वह सब कुछ पूर्ण रूपसे देखता है। उन्होंने उसे पुकारा है, विशाल ज्ञान लाभ करके वे निर्निमेष भावसे शक्ति-की रक्षा करते हैं, उन्होंने दृढ़ पुरीमें प्रवेश पा लिया है। इस भूतलपर उत्पन्न हुए मनुष्य शुभ्रवर्णा माता (श्वित्रा) के पुत्रकी ज्योतिर्मय (शक्ति)-को बढ़ाते हैं; वह अपनी ग्रीवामें स्वर्ण धारण किये ह, उसकी वाक्शक्ति विशाल है, वह मानो इस मधुके (इसकी शक्तिके) द्वारा भूमाकी कामना करनेवाला है। वह प्रिय और काम्य दुग्धकी तरह है, वह एक अकेली वस्तु है और दोके साथ विद्यमान है जो (परस्पर) सहचर हैं; वह एक ऐसे तापके समान है जो भूमाका उदर है. वह अजेय है और अनेकोंका विजेता है। अपनी क्रीड़ा कर, ओ रश्मि, और प्रकट हो।"[2] ऋग्वेद ५.१९

—या फिर अगले सूक्तमें—

"तुझ शक्तिमय (देव) की वे (ज्वालाएं) जो अचल, प्रवृद्ध और बलशाली हैं, (तुझसे) भिन्न नियमवालेके द्वेष और कुटिलताका संग छोड़ देती हैं। हे अग्ने! हम तुझे पुरोहित, तथा अपने बलको क्रियान्वित करने-के साधनके रूपमें वरते हैं और यज्ञोंमें तेरे लिये प्रसन्नताकारक हवि लाते हुए तुझे (अपनी) वाणीसे पुकारते हैं....हे पूर्ण कर्मोंके देवता! (हे सुक्रतु!) कृपा कर कि हम आनंद और सत्यके भागी हों, किरणोंके साथ आनंद मनायें, वीरोंके साथ आनंद मनायें।"

—और अंतमें हम इसके बादके, तीसरे, सूक्तका एक बड़ा भाग लें जिसमें भावका प्रकाशन यज्ञके साधारण प्रतीकोंमें किया गया है,—

"मनुके रूपमें हम तुझे तेरे स्थानपर स्थापित करते हैं, मनुके रूपमें तुझे प्रदीप्त करते हैं: हे अग्ने! हे अङ्गिरः! मनुके रूपमें तू देवोंकी कामना करनेवालेके लिये देवोंका यजन कर। हे अग्ने! सुप्रसन्न होकर तू मनुष्य-में प्रदीप्त होता है और स्रुवाएं निरंतर तेरी ओर जाती हैं....तुझे सब देवोंने, (तुझ ही में) एकमात्र आनंद लेते हुए, अपना दूत बनाया और तेरी सेवा-सपर्या करते हुए, हे क्रांतदर्शिन् (कवे), (मनुष्य) यज्ञोंमें देवताकी स्तुति करते हैं। देवोंके यजनके द्वारा मर्त्य दिव्य अग्निकी स्तुति करे।

---

[1]अथवा, "आवरणका आवरण"।

[2]शब्दशः, "हमारी ओर अभिमुख हो।"

प्रदीप्त होकर जाज्वल्यमान हो, हे दीप्तिमान् (शुक्र)! सत्यके आसनपर आसीन हो, शांतिके आसनपर विराजित हो।"[1]

——इसके रूपकोंकी हम चाहे जो भी व्याख्या करना पसंद करें पर यह एक गुह्य और प्रतीकात्मक काव्य है और यही है वास्तविक वेद।

इन विशिष्ट मंत्रोंसे वैदिक काव्यका जो स्वरूप हमारे सामने प्रकट होता है उससे हैरान या परेशान होनेकी कोई जरूरत नहीं जब कि हम यह देखते हैं,——और यह बात एशियाई साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट हो जायगी, कि यद्यपि वैदिक काव्य ईश्वरीय-वाणीविषयक अपने सिद्धांत और निरूपण, रूपकोंकी अपनी अनोखी प्रणाली तथा अपने विचार और प्रतीकोंमें वर्णित अपने अनुभवकी जटिलताके कारण औरोंसे भिन्न है, फिर भी वास्तवमें यह आध्यात्मिक अनुभवकी काव्यमय अभिव्यक्तिके लिये प्रतीकात्मक या आलंकारिक कल्पना-सृष्टिके एक रूपका आरंभ है जो बादके भारतीय ग्रंथोंमें, तंत्रों और पुराणोंके रूपकों और वैष्णव कवियोंके अलंकारोंमें,——यहांतक कि हम रवीन्द्रनाथ ठाकुरके आधुनिक काव्यके कुछ अंशको भी यहां जोड़ सकते हैं,——पुनः-पुनः प्रकट होता है और जिससे मिलती-जुलती चेष्टाएं कुछ एक चीनी कवियोंमें तथा सूफियोंके रूपकोंमें भी पायी जाती हैं। कविको एक आध्यात्मिक और आंतरात्मिक ज्ञान एवं अनुभवकी अभिव्यंजना करनी होती है और यह कार्य वह, पूर्णतया या मुख्य रूपसे, दार्शनिक विचारककी अधिक गूढ़ भाषामें नहीं कर सकता, क्योंकि उसे केवल इसके कोरे विचारको ही नहीं बल्कि इसके साक्षात् जीवन और अत्यंत घनिष्ठ स्पर्शोंको भी यथासंभव स्पष्ट रूपमें व्यक्त करना होता है। उसे किसी-न-किसी प्रकार अपने अंदरके एक संपूर्ण जगत्को तथा अपने चारों ओरके जगत्के सर्वथा आंतरिक और आध्यात्मिक अर्थोंको और साथ ही, यह भी खूब संभव है कि, चेतनाके जिस स्तरसे हमारे सामान्य मन परिचित हैं उससे भिन्न स्तरोंके देवताओं, शक्तियों, अंतर्दर्शनों और अनुभवोंको प्रकाशित करना होता है। वह अपने सामान्य और बाह्य जीवन तथा मानवजातिके जीवन और दृश्यमान प्रकृतिसे लिये हुए रूपकोंको प्रयुक्त करता है या उन्हींको लेकर चलता है, और यद्यपि वे वस्तुतः आध्यात्मिक और आंतरात्मिक विचार एवं अनुभवको अपने-आप तो प्रकट नहीं करते तथापि वह

---

[1]इन स्थलोंका अनुवाद मैंने मूलके इतने निकट, शाब्दिक रूपमें किया है जितना कि अंग्रेजी भाषामें करना संभव है। पाठक मूलसे मिलाकर स्वयं निर्णय कर लें कि आया इन मंत्रोंका आशय यही है या नहीं।

उन्हें व्यंजनाके द्वारा या आलंकारिक रूपमें इसे प्रकट करनेके लिये बाध्य करता है। वह अपनी अंतर्दृष्टि या कल्पनाके अनुसार रूपकोंकी अपनी संकेतमालाका स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव करता हुआ उन्हें अपनाता है और उन्हें एक अन्य अर्थके द्योतक साधनोंके रूपमें परिणत कर देता है और साथ ही प्रकृति और जीवनमें, जिनके साथ कि वे संबंध रखते हैं एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अर्थ ढार देता है, आंतरिक वस्तुओंपर बाह्य अलंकारोंका प्रयोग करता है और उनके प्रसुप्त एवं अंतरीय आध्यात्मिक या चैत्य अर्थको जीवनके बाह्य रूपकों और घटनाओंके रूपमें व्यक्त कर देता है। अथवा एक बाह्य रूपकको ही जो आंतरिक अनुभवके निकटतम एवं उसकी एक स्थूल प्रतिलिपि होता है, सर्वत्र अपनाया जाता है और उसका प्रयोग ऐसे यथार्थवाद और संगतिके साथ किया जाता है कि जहां वह उसका ज्ञान रखनेवालोंके लिये आध्यात्मिक अनुभवको सूचित करता है, वहां दूसरोंके लिये वह केवल बाह्य वस्तुका ही द्योतक होता है,—ठीक वैसे ही जैसे बंगालका वैष्णव काव्य भक्तिप्रवण मनके लिये मानव आत्माके ईश्वर-प्रेमका भौतिक और भावमय रूपक या संकेत प्रस्तुत करता है, किंतु सांसारिक लोगोंके लिये वह एक ऐसे ऐंद्रिय और उत्तेजक प्रेम-काव्यके सिवा कुछ नहीं होता जो रूढ़िबद्ध रूपसे कृष्ण और राधाके परंपरागत मानव-दिव्य व्यक्तित्वोंकी धुरीपर ही अवलंबित रहता है। दोनों पद्धतियां एक साथ मिलकर कार्य कर सकती हैं, अर्थात् बाह्य रूपकोंकी नियत प्रणालीको काव्यके शरीरके रूपमें प्रयुक्त किया जाय जब कि उनकी पहली सीमाओंको पार करने, उन्हें केवल आरंभिक सुझावोंके रूपमें बरतने और सूक्ष्मताके साथ रूपांतरित करने अथवा यहांतक कि उन्हें त्याग देने या किसी गौण स्वरके रूपमें दबा देने या फिर उन्हें अतिक्रम कर जानेकी स्वतंत्रता प्रायः ही बरती जाय ताकि (सत्यकी झांकीके लिये) वे हमारे मनोंके संमुख जो पारदर्शक-सा पर्दा प्रस्तुत करते हैं वह उठ जाय या एक खुले सत्यदर्शनमें परिणत हो जाय। इनमेंसे अंतिम वेदकी पद्धति है और वह कविके अंदर होनेवाले दृष्टिके संवेग और दबावके तथा उसके उद्‌गारकी उदात्तताके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

वेदके कवियोंकी मनोवृत्ति हमारी मनोवृत्तिसे भिन्न थी, उनका अपने रूपकोंका प्रयोग निराले प्रकारका है और एक प्राचीन ढंगकी अंतर्दृष्टि इन (रूपकों) की विषय-वस्तुको एक अद्‌भुत रूप-रेखा प्रदान करती है। भौतिक और आंतरात्मिक लोक उनकी दृष्टिमें वैश्व देवताओंकी एक अभिव्यक्ति और एक द्विविध एवं विभिन्न पर फिर भी संबद्ध और सजातीय प्रतिमूर्ति थे, मनुष्यका आंतरिक और बाह्य जीवन देवताओंके साथ एक दिव्य आदान-

प्रदान था, और इनके पीछे था एकमेव आत्मा या 'एकं सत्' जिसके कि नाम, व्यक्तित्व और शक्तियां ये देवता थे। ये देवता भौतिक प्रकृतिके स्वामी थे और साथ ही इसके मूलतत्त्व और रूप भी थे, इनके देवता थे और साथ ही इनके शरीर तथा इनकी ऐसी आंतरिक दिव्य शक्तियां भी थे जिनसे मिलती-जुलती अवस्थाएं और शक्तियां हमारी चैत्य सत्तामें उत्पन्न हुई हैं क्योंकि ये विश्वकी अंतरात्म-शक्तियां हैं, सत्य और अमरताके संरक्षक तथा 'अनंत' (अदिति) के पुत्र हैं, और इनमेंसे प्रत्येक ही अपने उद्‌गम और अपने अंतिम सत्य-स्वरूपमें वह परम आत्मा है जिसने अपने अनेक रूपोंमेंसे एकको सामनेकी ओर कर रखा है। इन क्रांतदर्शियोंके लिये मनुष्यका जीवन सत्य और असत्यके मिश्रणसे बनी हुई एक वस्तु था, मर्त्यतासे अमरताकी ओर, इस मिश्रित प्रकाश और अंधकारसे एक ऐसे दिव्य सत्यके महातेजकी ओर गति था जिसका घर ऊपर अनंतमें है पर जिसका निर्माण यहां मनुष्यकी अंतरात्मा और जीवनमें भी किया जा सकता है, साथ ही मनुष्यका जीवन प्रकाशकी संतानों और अंधकारके पुत्रोंके बीच एक संग्राम था, एक खजानेको, देवताओंके द्वारा मानव योद्धाको दिये गये ऐश्वर्य एवं जीतके मालको प्राप्त करना था, और साथ ही वह एक यात्रा एवं यज्ञ था। और इन चीजोंका वर्णन वे ऐसे रूपकोंकी एक नियत पद्धतिके द्वारा करते थे जो प्रकृतिसे तथा युद्धप्रिय, पशुपालक और कृषिजीवी आर्य जातियोंके पारिपार्श्विक जीवनसे लिये गये थे और अग्नि-उपासनाकी प्रणाली, सजीव प्रकृतिकी शक्तियोंकी पूजा और यज्ञकी प्रथाके चारों ओर केंद्रित थे। बाह्य अस्तित्व और यज्ञकी छोटी-मोटी क्रियाएं उनके जीवन तथा आचरणमें आंतरिक वस्तुओंके प्रतीक थीं, और उनके काव्यमें ये क्रियाएं उन वस्तुओंके निर्जीव प्रतीक या कृत्रिम उपमाएं नहीं बल्कि जीवंत और शक्तिशाली संकेत और प्रतिलिपियां थीं। और अपने भावोंके प्रकाशनके लिये वे अन्य रूपकोंके एक सुनिश्चित पर फिर भी परिवर्तनीय आकारका और गाथा एवं दृष्टांतके उज्ज्वल ताने-बानेका भी प्रयोग करते थे, ऐसे रूपकोंका जो दृष्टांत बन जाते थे, ऐसे दृष्टांतोंका जो गाथाएं बन जाते थे और ऐसी गाथाओंका जो सदा रूपक ही रहती थीं, और फिर भी ये सब चीजें उनके लिये, एक ऐसे प्रकारसे जिसे केवल वही समझ सकते हैं जो एक विशेष श्रेणीके आंतरात्मिक अनुभवमें प्रवेश पा चुके हैं, यथार्थ सद्वस्तुएं थीं। भौतिक वस्तु अपनी छायाओंको आंतरात्मिक वस्तुकी प्रभाओंमें विलीन कर देती थी, 'आंतरात्मिक' गहरी होकर 'आध्यात्मिक' के प्रकाशमें परिणत हो जाती थी और इस संक्रमणमें कोई तीव्र विभाजक रेखा नहीं होती थी, होता था

केवल उनके संकेतों और रंगोंका स्वाभाविक संमिश्रण और परस्पर प्रभाव। यह प्रत्यक्ष ही है कि इस प्रकारकी दृष्टि या कल्पनावाले व्यक्तियोंद्वारा लिखा हुआ इस प्रकारका काव्य केवल भौतिक सत्ताके नियमोंका ही ध्यान रखनेवाली तर्कबुद्धि और रुचिके मानदंडोंके द्वारा समझा-समझाया नहीं जा सकता और न वह इनके द्वारा परखा ही जा सकता है। "क्रीड़ा कर, ओ रश्मि, और हमारी ओर अभिमुख हो", यह आवाहन एक साथ ही भौतिक वेदीपर प्रज्वलित शक्तिशाली यज्ञिय ज्वालाके भभक उठने एवं प्रकाशपूर्ण क्रीड़ा करनेका तथा एक इसी प्रकारकी आंतरात्मिक क्रियाका, अर्थात् हमारे अंदर एक दिव्य शक्ति और ज्योतिकी उद्धारकारी ज्वालाके प्रकट होनेका संकेत है। पश्चिमी आलोचक उस साहसपूर्ण तथा विवेक-शून्य रूपकपर, — जो उसे भयानक-भी प्रतीत होता है, —नाक-भौं सिकोड़ता है जिसमें कहा गया है कि द्यावापृथिवीका पुत्र इंद्र अपने ही पिता और माताको जन्म देता है; पर यदि हम यह बात स्मरण रखें कि इंद्र परम आत्मा ही है जो अपने एक अन्यतम नित्य शाश्वत रूपमें विद्यमान है, पृथ्वी और द्यौका स्रष्टा है, मनोमय और भौतिक लोकोंके बीच एक वैश्व देवताके रूपमें उत्पन्न हुआ है और उन लोकोंकी शक्तियोंको मनुष्यमें फिरसे उत्पन्न करता है, तो हम देखेंगे कि यह रूपक केवल शक्तिशाली ही नहीं अपितु सचमुचमें एक यथार्थ और सत्यप्रकाशक अलंकार है, और वैदिक परिभाषामें इस बातका कोई महत्त्व नहीं कि यह भौतिक कल्पनाकी मर्यादाको भंग करता है, क्योंकि यह एक महत्तर तथ्यको प्रकट करता है जैसे कि अन्य कोई अलंकार ऐसी प्रबोधक उपयुक्तता और सजीव काव्य-शक्तिके साथ न कर सकता। वेदके वृषभ और गौ, सूर्यके चमकीले 'गोयूथ' जो गुफामें छुपे पड़े हैं स्थूल मनके लिये काफी विचित्र प्राणी हैं, पर वे इस पृथ्वीकी चीजें नहीं हैं, और अपने स्तरमें वे एक ही साथ रूपक और यथार्थ वस्तुएं दोनों हैं और जीवन तथा अर्थसे परिपूर्ण हैं। वैदिक काव्यकी व्याख्या और सराहना हमें आद्योपांत इसी ढंगसे, इसकी अपनी मूलभावना और दृष्टि, तथा इसके विचारों और अलंकारोंके सत्यके अनुसार ही करनी चाहिये जो हमारे लिये भले ही विचित्र और अतिप्राकृतिक हो पर आंतरात्मिक दृष्टिसे तो बिलकुल स्वाभाविक है।

वेदको जब इस प्रकार समझ लिया जाता है तो वह एक अद्‌भुत, उदात्त और शक्तिशाली काव्य-रचना ठहरता है, साथ ही उसका यह आकर्षण तो है ही कि वह संसारका सबसे पहला, फिर भी अबतक उपलब्ध धार्मिक ग्रंथ है, और मनुष्य, परमेश्वर तथा विश्वकी सबसे प्राचीन व्याख्या है।

वह अपने रूप और भाषामें कोई बर्बर कृति नहीं है। वेदके कवि उत्कृष्ट काव्य-कलामें विशारद हैं, उनके स्वर-ताल देवताओंके रथोंके समान अलंकृत हैं और ध्वनिके दिव्य तथा विशाल पंखोंपर सवार हैं, एक साथ ही केंद्रित तथा सुदूरव्यापी हैं, गतिच्छंदमें महान् और स्वरलहरीमें सूक्ष्म हैं, उनकी वाणी गहराईके कारण भावोत्तेजक और ऊंचाईके कारण वीररसमयी होती हुई एक महान् शक्तिका उद्‌गार है, अपनी रूपरेखामें विशुद्ध, साहस-पूर्ण और विराट् है, एक ऐसी वाणी है जो हृदयपर सीधे और संहत रूपमें प्रभाव डालती है तथा जो अर्थ और संकेतसे इस तरह लबालब भरी हुई है कि प्रत्येक मंत्र अपने-आपमें एक सशक्त और पर्याप्त वस्तुके रूपमें अपना अस्तित्व रखता है और साथ ही जो कुछ पहले आ चुका है और जो बादमें आता है उन दोनोंके बीचके एक बड़े पगके रूपमें भी अपना स्थान रखता है। निष्ठापूर्वक अनुसरण की हुई एक पवित्र और पुरोहितीय परंपरा ही उन्हें अपने विषयका बाह्य रूप और सारतत्त्व दोनों प्रदान करती थी, परंतु यह सारतत्त्व उन गहरेसे गहरे आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभवोंसे गठित होता था जिनतक मानव आत्माकी पहुंच हो सकती है और वे रूप ह्रासको प्राप्त होकर कदाचित् ही कभी रूढ़िमें परिणत होते हैं या फिर कभी भी नहीं होते, क्योंकि जिस वस्तुको द्योतित करनेके लिये वे अभिप्रेत हैं उसे प्रत्येक कवि अपने जीवनमें उतारता था और अपने वैयक्तिक अंतर्दर्शनकी सूक्ष्म या उदात्त अवस्थाओंके द्वारा वह उन्हें अपने मनके लिये अभिव्यक्तिका नया रूप प्रदान करता था। विश्वामित्र, वामदेव, दीर्घतमस् तथा अन्य बहुतसे अतिमहान् ऋषियोंके वचन एक उदात्त और रहस्यमय काव्यकी अत्यंत असाधारण उच्चताओं एवं विशालताओंको स्पर्श करते हैं और कुछ एक सृष्टि-सूक्त-जैसी कविताएं भी हैं जो ओजस्वी और प्रसादपूर्ण रूपमें विचारके उन शिखरोंपर विचरण करती हैं जिनपर उपनिषदें अधिक स्थिरतापूर्वक श्वास लेती हुई निरंतर विचरण करती थीं। प्राचीन भारतके मनने कोई भूल नहीं की जब कि उसने अपने समस्त दर्शन और धर्मका तथा अपनी संस्कृतिकी सभी प्रधान बातोंका मूल इन ऋषि-कवियोंकी वाणीमें जा ढूंढ़ा, क्योंकि भारतवासियोंकी समस्त भावी आध्यात्मिकता बीज या प्रथम आविर्भावके रूपमें वहीं (उनकी वाणीमें ही) निहित है।

पवित्र साहित्यके रूपमें वैदिक सूक्तोंको ठीक तरहसे समझनेका एक बड़ा महत्त्व यह है कि यह हमें भारतीय मनपर शासन करनेवाले प्रधान विचारोंका ही नहीं अपितु उसके आध्यात्मिक अनुभवके विशिष्ट प्रकारों, उसकी कल्पनाके झुकाव, उसके सर्जनशील स्वभाव तथा उसके उन विशेष

प्रकारके अर्थपूर्ण रूपोंका भी मूल स्वरूप देखनेमें सहायता पहुंचाता है जिन-में वह आत्मा और पदार्थों तथा जगत् और जीवनके संबंधमें अपनी दृष्टिकी दृढ़तापूर्वक व्याख्या करता था। भारतीय साहित्यके एक बड़े भागमें हमें अंत:प्रेरणा और आत्म-अभिव्यंजनाका वही झुकाव देखनेमें आता है जिसे हम अपने स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकलामें पाते हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि इसे सतत रूपसे अनंत एवं वैश्व सत्ताका बोध होता है, और वस्तुओंका भी उस रूपमें भान होता है जैसी कि वे वैश्व दृष्टिमें या उसके द्वारा प्रभावित होनेपर दीखती हैं, अथवा जैसी वे एकमेव और अनंतकी विशालताके भीतर या संमुख रखनेपर दिखायी देती हैं; इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह अपने आध्यात्मिक अनुभवको आभ्यंतर चैत्य स्तरसे लिये गये रूपकोंके परमैश्वर्यके रूपमें अथवा उन भौतिक रूपकोंके रूपमें देखने और व्यक्त करनेमें प्रवृत्त होता है जो चैत्य अर्थ, प्रभाव, रेखा और विचार-छटाके दबावके द्वारा रूपांतरित हो चुके होते हैं; और इसकी तीसरी प्रवृत्ति पार्थिव जीवनको प्राय: परिवर्द्धित रूपमें चित्रित करनेकी है, जैसा कि हम महाभारत और रामायणमें देखते हैं, अथवा उसे एक विशाल-तर वातावरणकी शुभ्रताओंमें सूक्ष्म रूप प्रदान कर तथा पार्थिव अर्थकी अपेक्षा किसी महत्तर अर्थसे संयत करके चित्रित करने या, कम-से-कम, उसे केवल उसके अपने पृथक् रूपमें ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरात्मिक लोकोंकी पृष्ठभूमिमें प्रस्तुत करनेकी है। आध्यात्मिक एवं अनंत सत्ता निकटस्थ और वास्तविक है तथा देवता भी वास्तविक हैं और (हमसे) परेके लोक हमारी सत्तासे परे होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसके भीतर अवस्थित हैं। जो चीज पश्चिमी मनके लिये एक गाथा और कल्पना है वह यहां एक वास्तविक तथ्य है और है हमारी आंतरिक सत्ताके जीवनका एक तंतु, जो चीज वहां एक सुन्दर काव्यमय परिकल्पना और दार्शनिक विचारणा है वह यहां एक ऐसी वस्तु है जो अनुभवके लिये सर्वदा उपलब्ध और विद्यमान है। भारतीय मनकी यह प्रवृत्ति, उसकी आध्यात्मिक सद्हृदयता एवं आंतरात्मिक प्रत्यक्षवादिता ही वेद और उपनिषदोंको तथा पीछेके धार्मिक एवं धर्म्य-दार्शनिक काव्यको अंत:प्रेरणाकी दृष्टिसे इतना शक्तिशाली और अभिव्यंजना तथा रूपककी दृष्टिसे इतना अंतरंग और सजीव रूप प्रदान करती हैं, साथ ही अधिक लौकिक साहित्यमें भी काव्यमय भावना और कल्पनाकी क्रियापर इसका प्रभाव कुछ कम अभिभूतकारी होनेपर भी अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दूसरा अध्याय

भारतीय साहित्य

उपनिषदें भारतीय मनकी परमोच्च कृति हैं, और यह चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह एक अनुपम मनोवृत्तिका तथा आत्माकी असाधारण प्रवृत्तिका प्रमाण है कि भारतकी प्रतिभाकी सर्वोच्च आत्म-अभिव्यक्ति, उसका उदात्ततम काव्य, उसकी विचार और शब्दकी महत्तम रचना साधारण ढंगकी साहित्यिक या काव्यात्मक श्रेष्ठ कृति न होकर इस प्रकारके साक्षात् और गभीर आध्यात्मिक सत्यदर्शनका विशाल प्रवाह है। उपनिषदें गंभीर धार्मिक ग्रंथ हैं,—क्योंकि वे गहनतम आध्यात्मिक अनुभवोंका अभिलेख हैं,—अक्षय ज्योति, शक्ति और विशालतासे संपन्न, सत्य-प्रकाशक और अंतर्ज्ञानात्मक दर्शनके लिपिबद्ध विवरण हैं और साथ ही, चाहे वे पद्यमें लिखी हुई हों या लयबद्ध गद्यमें, पूर्ण एवं अचूक अंतःप्रेरणासे युक्त आध्यात्मिक कविताएं हैं, जिनकी पदावलि नितांत स्वाभाविक और लय तथा अभिव्यंजना अद्भुत हैं। वे एक ऐसे मनकी अभिव्यक्ति हैं जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक हो गये हैं, क्योंकि यह धर्म एक मतवादमें ही समाप्त नहीं हो जाता और न यह किसी धार्मिक-नैतिक अभीप्सातक ही सीमित है, यह तो परमेश्वर एवं आत्म-तत्त्वकी ओर हमारी आत्मा एवं सत्ताके उच्चतम और समग्र सत्स्वरूपकी असीम खोजतक ऊंचे जाता है और एक प्रकाशपूर्ण ज्ञान तथा भावविभोर एवं परिपूर्ण अनुभवके हर्षावेशमें अपनी वाणी उच्चारित करता है, (इसी प्रकार) यह दर्शन सत्यके विषयमें कोई अमूर्त बौद्धिक कल्पना नहीं है और न यह तार्किक बुद्धिकी कोई रचना ही है, यह तो एक सत्य है जिसे अंतरतम मन और आत्माने जीवनमें उतारा है तथा एक सुनिश्चित खोज और उपलब्धिको व्यक्त करनेके हर्षमें अपने अंदर धारण किया है, और यह काव्य एक ऐसे सौंदर्यात्मक मनकी कृति है जो दुर्लभतम आध्यात्मिक आत्मदर्शनके आश्चर्य और सौंदर्यको तथा आत्मा, परमात्मा और जगत्के गहनतम प्रोज्ज्वल सत्यको प्रकट करनेके लिये अपने साधारण

क्षेत्रसे ऊपर उठकर उसके परे पहुंच गया है। यहां वैदिक ऋषियोंका अंतर्ज्ञानात्मक मन और अंतरंग आध्यात्मिक अनुभव उस परमोच्च परिणतिको प्राप्त होता है जिसमें आत्मा, कठ उपनिषद्के शब्दोंमें, अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देता है,[1] अपनी आत्म-अभिव्यक्तिकी ठेठ वाणीको प्रकाशित करता है और मनके समक्ष उन लयतालोंके स्पंदनको खोल देता है जो आध्यात्मिक 'श्रुति' में अपने-आपको भीतर-ही-भीतर दुहराते हुए अंतरात्माका गठन करते तथा उसे आत्मज्ञानके शिखरोंपर तृप्त और सर्वांगपूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।

उपनिषदोंके इस स्वरूपपर अत्यधिक आग्रहपूर्वक बल देनेकी जरूरत है, क्योंकि विदेशी अनुवादक इसकी उपेक्षा करते हैं, वे चिंतनात्मक अंतर्दृष्टिके उस स्पंदन तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके उस परमानंदको अनुभव किये बिना ही इनके बौद्धिक अर्थको प्रकट करनेका यत्न करते हैं जिन्होंने तब इन प्राचीन मंत्रोंको जन्म दिया था और जो आज भी उन लोगोंके लिये जो उस तत्त्वमें प्रवेश कर सकते हैं जिसमें ये मंत्र-वचन विचरण करते हैं, इन्हें केवल बुद्धिके लिये नहीं बल्कि अंतरात्मा और संपूर्ण सत्ताके लिये भी एक सत्यदर्शनका रूप दे देते हैं और, प्राचीन भाव-प्रकाशक शब्दके अनुसार, इन्हें बौद्धिक विचार और वचन ही नहीं बल्कि 'श्रुति' अर्थात् आध्यात्मिक श्रवण, एक ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र बना देते हैं। उपनिषदोंके दार्शनिक सारतत्त्वके मूल्यांकनपर आज और अधिक बल देनेकी कोई जरूरत नहीं; क्योंकि श्रेष्ठतम विचारकोंके द्वारा इसे दी गयी प्रचुरतम मान्यताका यदि अभाव भी होता तो भी दर्शनका संपूर्ण इतिहास अपनी साक्षी देनेके लिये उपस्थित होता। उपनिषदें अनेकानेक गहन दर्शनों और धर्मोंका सर्वसम्मत मूल स्रोत रही हैं। जिस प्रकार भारतकी बड़ी-बड़ी नदियां हिमालयकी गोदसे प्रवाहित हुईं उसी प्रकार उसके दर्शन और धर्म भी इस उपनिषद्-रूपी स्रोतसे प्रवाहित हुए और यहांके निवासियोंके मन और जीवनको उर्वर बनाते रहे तथा सदियोंकी सुदीर्घ परंपरातक इसकी अंतरात्माको सजीव बनाये रहे। प्रकाश पानेके लिये ये बराबर ही अक्षय-जीवनदायी धाराओं के इस स्रोतकी ओर मुड़ते रहे तथा नवीन प्रकाश देनेसे कभी भी नहीं चूके। बौद्धधर्म अपनी समस्त प्रगतियोंके साथ केवल उपनिषदोंके अनुभवके एक पक्षका ही पुनः प्रतिपादन मात्र था, चाहे था एक नये दृष्टिबिंदुसे तथा बौद्धिक परिभाषा और तर्कणाके नये शब्दोंमें और इसे वह इस प्रकार रूपमें

---

[1]आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।—कठोपनिषद्

बदलकर कदाचित् सारतत्त्वको परिवर्तित किये बिना संपूर्ण एशियामें और पश्चिममें यूरोपकी ओर ले गया। पाइथागोरस और प्लेटोकी चिंता-धाराके अधिकतर भागमें उपनिषदोंके विचार ढूंढे जा सकते हैं और वे ही नव-प्लेटोवाद तथा ज्ञेयवाद और पश्चिमके दार्शनिक चिंतनपर इनका जो बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है उसका भी गहनतम भाग हैं, और सूफी-मत भी उन्हींको एक अन्य धार्मिक भाषामें दुहराता है। जर्मन दर्शनशास्त्रका अधिकतर भाग अपने सारतत्त्वमें उन महान् सत्योंके बौद्धिक विकाससे अधिक कुछ नहीं है जिन्हें इस प्राचीन शिक्षामें कहीं अधिक आध्यात्मिक रूपसे देखा गया था और आधुनिक विचारधारा इन्हें एक ऐसी अधिक गंभीर, सजीव और तीव्र ग्रहणशीलताके साथ वेगपूर्वक आत्मसात् कर रही है जो दार्शनिक तथा धार्मिक दोनों प्रकारके चिंतनमें एक क्रांतिकी आशा बंधाती है; कहीं तो वे अनेक परोक्ष प्रभावोंके द्वारा छनछनकर पहुंच रहे हैं और कहीं प्रत्यक्ष और खुली प्रणालिकाओं द्वारा शनैः-शनैः संचरित हो रहे हैं। ऐसा कोई प्रधान दार्शनिक विचार शायद ही हो जिसका प्रमाण या बीज या संकेत इन प्राचीन ग्रंथोंमें न मिल सके —— इन ग्रंथोंमें जो कि एक विशेष मतके अनुसार उन विचारकोंकी कल्पनाएं हैं जिनका अतीत एक स्थूल, बर्बर, प्रकृतिपूजावादी और जड़चेतनवादी अज्ञानकी अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं था और न जिनके विचारकी पृष्ठभूमि ही इससे अधिक अच्छी थी। यहांतक देखनेमें आता है कि विज्ञानके अधिक व्यापक सिद्धांत भौतिक प्रकृतिके सत्यपर बराबर ही उन सूत्रोंका प्रयोग करते हैं जिन्हें भारतीय ऋषियोंने आत्माके गभीरतर सत्यके अंदर इनके मूल एवं विशालतम अर्थके रूपमें पहले ही आविष्कृत कर लिया था।

फिर भी ये कृतियां बौद्धिक ढंगकी दार्शनिक कल्पनाएं नहीं हैं, न ये कोई ऐसा तत्त्वज्ञान-संबंधी विश्लेषण हैं जो धारणाओंकी परिभाषा करने, विचारोंका चुनाव करने और उनमेंसे जो यथार्थ है उन्हें विवेकद्वारा अलग करने, सत्यको तर्कसंगत रूप देने या फिर न्यायशास्त्रीय तर्कणाके द्वारा मनकी बौद्धिक अभिरुचियोंका समर्थन करनेका यत्न करता है और जो तर्कबुद्धिके इस या उस विचारके प्रकाशमें विश्व-सत्ताका एकांगी समाधान प्रस्तुत करने तथा सभी वस्तुओंको उसी दृष्टिबिंदुसे, उसी प्रकाश-केंद्र और निर्धारक परिप्रेक्ष्यसे देखनेमें ही संतोष मानता है। यदि उपनिषदें इस ढंगकी रचना होतीं तो उनकी जीवनी-शक्ति ऐसी अक्षय न हो सकती, वे ऐसा अमोघ प्रभाव न डाल सकतीं, ऐसे परिणाम उत्पन्न न कर सकतीं, और न आज अपनी स्थापनाओंको अनुसंधानके अन्य क्षेत्रोंमें तथा (आध्यात्मिक विधियोंसे)

सर्वथा विपरीत पद्धतियोंके द्वारा स्वतंत्र रूपसे समर्थित होते देख पातीं। क्योंकि इन ऋषियोंने सत्यको केवल विचारका विषय ही नहीं बनाया, वरंच सत्यको देखा था, अवश्य ही, उन्होंने उसे बोधिमूलक विचार एवं रहस्योत्पादक रूपकका एक सबल जामा पहनाया था और वह जामा भी उस आदर्श पारदर्शकतासे युक्त था जिसके द्वारा हम असीममें झांकते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयंभू-सत्ताके प्रकाशमें पदार्थोंकी छानबीन की और उन्हें 'अनंत'की आंखसे देखा, इसीलिये उनके शब्द सदाके लिये सजीव और अमर बने हुए हैं, एक अक्षय महत्त्व और अटल प्रामाण्य तथा एक ऐसी संतोषप्रद चरम निष्पत्तिसे संपन्न हैं जो साथ ही सत्यका एक असीम आदिमूल भी है जिसतक कि हमारी सभी अन्वेषण-पद्धतियां अपने लक्ष्यके अंततक जाती हुई फिरसे पहुंचती हैं और जिसकी ओर मानवजाति अपने महत्तम अंतर्दृष्टिसे संपन्न मनीषियों (की विचारधारामें) और युगोंमें बारंबार लौटती है। उपनिषदें वेदांत कहलाती हैं अर्थात् वे वेदोंकी भी अपेक्षा अधिक ऊंची मात्रामें 'नोलेज' (Knowledge) के ग्रंथ है, पर 'नोलेज' (Knowledge) शब्द यहां 'ज्ञान' शब्दके गभीरतर भारतीय अर्थमें ही अभिप्रेत है। 'ज्ञान' का मतलब बुद्धिके द्वारा निरा सोचना-विचारना तथा बौद्धिक मनके द्वारा सत्यके किसी मानसिक रूपका अनुशीलन करके उसे अपनी पकड़में लाना नहीं है, बल्कि अंतरात्माके द्वारा उसे देखना तथा अंतःसत्ताकी शक्तिके द्वारा उसमें पूर्ण रूपसे निवास करना और ज्ञेयके साथ एक प्रकारके तादात्म्यके द्वारा उसे आध्यात्मिक रूपसे अपने अधिकारमें लाना है। और, क्योंकि आत्माके समग्र ज्ञानके द्वारा ही इस प्रकारके प्रत्यक्ष ज्ञानको पूर्ण बनाया जा सकता है, इसलिये वैदांतिक ऋषियोंने आत्माको ही जानने, उसमें निवास करने तथा तादात्म्यके द्वारा उसके साथ एक हो जानेका यत्न किया। और इस प्रयत्नके द्वारा उन्हें सहज ही ज्ञात हो गया कि हमारे अंदर अवस्थित आत्मा और सब वस्तुओंकी विश्वव्यापी आत्मा एक ही है, और फिर यह आत्मा भी परमेश्वर एवं ब्रह्म, परात्पर पुरुष या सत्तासे अभिन्न है, और इस एकत्वमय तथा एक करनेवाले अंतर्दर्शनके प्रकाशके द्वारा उन्होंने जगत्की सब वस्तुओंके अंतरतम सत्यको तथा मनुष्यकी आंतर और बाह्य सत्ताके अंतरतम सत्यको देखा, अनुभव किया और उसमें निवास किया। उपनिषदें आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और ईश्वरज्ञानके काव्यमय स्तोत्र हैं। दार्शनिक सत्यकी जिन महान् सूत्रावलियोंसे उपनिषदें भरी पड़ी हैं वे कोई अमूर्त बौद्धिक सिद्धांत नहीं हैं, ऐसी चीजें नहीं हैं जो चमक सकती और मनको आलोकित कर सकती हैं, पर अंतरात्माको जीवनमें मूर्त्तिमंत नहीं करतीं और न

उसे आरोहणकी ओर प्रेरित ही करती हैं, बल्कि वे बोधिमूलक तथा सत्यो-द्भासक ज्योतिकी उष्णता और प्रकाश हैं, एकमेव सत्, परात्पर भगवान् और दिव्य विश्वात्माकी प्राप्तियां और साक्षात् अनुभूतियां हैं और हैं इस महान् विश्व-अभिव्यक्तिमें पदार्थों और प्राणियोंके साथ उसके संबंधकी खोजें। अंत:प्रेरित ज्ञानके गीत होनेके कारण वे सभी स्तोत्रोंकी तरह धार्मिक अभीप्सा और हर्षोल्लासके स्वरको उच्छ्वसित करती हैं, उस संकीर्णतया तीव्र ढंगके स्वरको नहीं जो एक हीनतर धार्मिक भावका अपना विशेष गुण होता है बल्कि ऐसे स्वरको जो भक्तिकी किसी विशिष्ट प्रणाली एवं उसके विशेष रूपोंके परे भगवान्के उस विश्वव्यापी आनंदकी ओर उठा हुआ होता है जो हमें स्वयंभू और विश्वव्यापी आत्माके पास पहुंचने और उसके साथ एक हो जानेसे प्राप्त होता है। और यद्यपि उन्हें मुख्यतया एक अंतर्दृष्टि-से मतलब है न कि सीधे तौरपर किसी बाह्य मानव कर्मसे, तथापि बौद्धधर्म और परवर्ती हिंदूधर्मके समस्त उच्चतम आचार-नियम उन्हीं सत्योंकी प्राण-वत्ता और सार-मर्मकी अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें ये सुस्पष्ट रूप और शक्ति प्रदान करती हैं,—और वहां किसी भी नैतिक उपदेश एवं पुण्यसंबंधी मानसिक नियमसे कहीं बढ़कर कोई चीज है, वहां है आध्यात्मिक कर्मका एक परम आदर्श जो परमेश्वर तथा सब जीवोंके साथ प्राप्तव्य एकत्वपर प्रतिष्ठित है। इसी कारण जब वैदिक धर्मके विधि-विधानोंका जीवन समाप्त हो गया तब भी उपनिषदें सजीव और सर्जनक्षम बनी रहीं और महान् भक्तिप्रधान धर्मोंको जन्म देने तथा धर्म-विषयक सुदृढ़ भारतीय विचारको प्रेरणा देनेमें समर्थ हुईं।

उपनिषदें सत्यप्रकाशक और अंतर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके प्रदीप्त अनुभवकी कृतियां हैं, और उनका समस्त सारतत्त्व, उनकी रचना, पदावलि, रूपकमाला और गतिधारा उनके इस मूल स्वरूपसे निर्धारित और प्रभावित हैं। ये परमोच्च और सर्व-संग्राहक सत्य, एकत्व, आत्मा और विश्वव्यापी भगवत्सत्ताके ये अंतर्दर्शन ऐसे संक्षिप्त और ठोस शब्दोंमें ढाले गये हैं जो इन्हें तुरंत ही अंतरात्माकी आंखके सामने ला खड़ा करते हैं और उसकी अभीप्सा तथा अनुभूतिके प्रति इन्हें वास्तविक तथा अपरिहार्य बना देते हैं या फिर ये काव्यमय वाक्योंमें व्यक्त किये गये हैं और वे वाक्य ऐसी सत्यो-द्भासक शक्ति एवं संकेतपूर्ण विचार-छटासे पूर्ण हैं जो एक सांत रूपकके द्वारा संपूर्ण अनंतको प्रकट कर देती हैं। 'एकमेव' वहां साक्षात् रूपमें प्रकाशित हो उठा है, पर साथ ही उसके अनेक पक्ष भी उद्घाटित हो गये हैं, और उनमेंसे प्रत्येकको भाव-प्रकाशनकी प्रचुरताके द्वारा अपना संपूर्ण

अर्थ एवं महत्त्व प्राप्त हो गया है और प्रत्येक शब्द तथा समस्त वचनकी प्रकाशप्रद यथार्थताके द्वारा वह मानो एक सहजस्फूर्त आत्म-उपलब्धिमें अपना स्थान और संबंध पा लेता है। तत्त्वज्ञानके विशालतम सत्यों और मनोवैज्ञानिक अनुभवकी सूक्ष्मतम सूक्ष्मताओंको अंतःप्रेरित गतिधारामें समाविष्ट करके सत्यदर्शी मनके लिये यथार्थ और साथ ही उपलब्ध करनेवाली आत्माके लिये अंतहीन संकेतसे परिपूर्ण बना दिया गया है। यहां ऐसे कई एक पृथक्-पृथक् वचन, स्वतंत्र श्लोकार्ध और संक्षिप्त प्रकरण हैं जिनमेंसे प्रत्येकके अंदर अपने-आपमें एक बृहत् दर्शनका सार निहित है और फिर भी प्रत्येकको अनंत आत्मज्ञानके एक पहलू, पक्ष किंवा अंशके रूपमें ही प्रकट किया गया है। यहां सभी कुछ एक घनीभूत एवं अर्थगर्भित और फिर भी पूर्ण रूपसे विशद और उज्ज्वल सार-संक्षेप तथा अपरिमेय परिपूर्णता है। इस प्रकारका विचार न्यायशास्त्रीय बुद्धिके मंद, सतर्क और सुविस्तृत विवेचनक्रमका अनुसरण नहीं कर सकता। किसी एक प्रकरण, वाक्य, श्लोकार्ध, पंक्ति, यहांतक कि आधी पंक्तिके बाद जब कोई दूसरा प्रकरण, वाक्य आदि आता हैं तो उन दोनोंके बीच कुछ अंतराल होता है जो एक अप्रकटित विचार तथा गूंजती हुई नीरवतासे भरा रहता है, यह विचार उस समग्र संकेतमें धारित रहता है और स्वयं उस प्रतिपादन-क्रममें भी यह अंतर्निहित रहता है परंतु अपने लाभके लिये इसे पूर्ण रूपसे कार्यान्वित करनेका कार्य मनके ऊपर छोड़ दिया जाता है, और अर्थगर्भित नीरवताके ये अंतराल विशाल होते हैं, इस विचारके कदम एक असुरके डगोंके समान होते हैं जो असीम सागरके आरपार जानेके लिये एक चट्टानसे दूरकी चट्टानपर लंबे-लंबे कदम भरता है। प्रत्येक उपनिषद्की रचनामें एक प्रकारकी पूर्ण समग्रता है, सामंजस्यपूर्ण भागोंका एक व्यापक संबंध है; परंतु यह सब एक ऐसे मनके तरीकेसे कार्यान्वित किया गया है जो एक ही साथ सत्यके समूहके समूह देखता है और केवल परिपूरित नीरवतामेंसे अपेक्षित (भाव-द्योतक) शब्दको ही निकाल लानेके लिये प्रतीक्षा करता है। पद्य या पद्यात्मक गद्यका स्वर-ताल विचार और पदावलिके शिल्पके साथ मेल खाता है। उपनिषदोंके छंदोंके रूप चार अर्ध-पंक्तियोंसे गठित हैं जिनमेंसे प्रत्येक स्पष्ट रूपमें सुघड़ है, पंक्तियां प्रायः अपने-आपमें पूर्ण तथा अर्थमें समग्रतासे युक्त हैं, अर्द्ध-पंक्तियां दो विचारों या एक ही विचारके विभिन्न भागोंको प्रस्तुत करती हैं जो एक-दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं तथा एक-दूसरेको पूर्ण बनाते हैं, और ध्वनि-लहरी भी इसी प्रकारके सिद्धांतका अनुसरण करती है, प्रत्येक पद संक्षिप्त है तथा उसमें विराम-स्थलका संकेत स्पष्ट रूपसे

मिल जाता है, वह गूंजनेवाले सुरोंसे भरा हुआ है जो आंतर श्रुतिमें देरतक झंकृत होते रहते हैं : प्रत्येक पद मानो अनंतकी एक तरंग हो जो महासागरके संपूर्ण गर्जन और वृत्तांतको अपने अंदर वहन करती है। यह एक प्रकारका काव्य है,—अंतर्दृष्टिसे प्राप्त शब्द एवं आत्माका लयताल है,—जो इससे पहले या इसके बाद फिर कभी नहीं लिखा गया है।

उपनिषदोंके रूपक अधिकांशमें वेदके रूपकोंकी शैलीसे ही विकसित हुए हैं और यद्यपि साधारणतः वे सीधे प्रकाश देनेवाले रूपककी खुली हुई स्पष्टताको अधिक पसंद करते हैं तथापि बहुधा ही वे उन्हीं प्रतीकोंको एक ऐसे ढंगसे प्रयुक्त करते हैं जो प्राचीनतर प्रतीकवादकी प्रणालीके मूलभाव तथा कम पारिभाषिक भागसे घनिष्ठ साम्य रखता है। बहुत हदतक इसी तत्त्वके कारण जिसे अब हमारी विचार-पद्धति नहीं पकड़ पाती, कुछ एक पश्चिमी विद्वानोंकी बुद्धि चकरा गयी है और वे चिल्ला उठे हैं कि ये धर्मग्रंथ उदात्ततम दार्शनिक परिकल्पनाओं तथा मनुष्यजातिके शिशु-मनकी आदिम भद्दी तुतलाहटोंका मिश्रण हैं। उपनिषदें वैदिक मन और उसके स्वभाव तथा मूलभूत विचारोंसे क्रांतिकारी रूपमें पृथक् नहीं हो गयी हैं, बल्कि ये उनका विस्तार और विकास हैं तथा, कुछ हदतक तो, एक परिवर्द्धनकारी रूपांतर भी हैं—इस अर्थमें कि प्रतीकात्मक वैदिक भाषामें जो कुछ एक रहस्य एवं 'गुह्य' के रूपमें छिपाकर रखा गया था उसे ये स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करती हैं। ये वेद और ब्राह्मणोंके रूपकों तथा कर्मकांडीय प्रतीकोंको लेकर चलती हैं और उन्हें इस ढंगसे मोड़ देती हैं कि वे एक आंतरिक एवं गुह्य आशयको प्रकट कर सकें जो (आशय) फिर इनके अपने अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं अधिक शुद्ध-आध्यात्मिक दर्शनके लिये एक प्रकारके आंतरात्मिक आरंभ-बिंदुका काम करे। कई स्थल, विशेषकर गद्यात्मक उपनिषदोंमें, ऐसे हैं जो पूर्णतया इसी प्रकारके हैं और वे एक गूढ़ शैलीमें, जो आधुनिक बुद्धिके लिये अस्पष्ट और यहांतक कि दुर्बोध है, वैदिक धार्मिक मनमें विद्यमान तत्कालीन विचारोंके आंतरात्मिक भाव, वेदत्रयीके पारस्परिक भेद, तीन लोकों तथा इसी प्रकारके अन्य विषयोंका विवेचन करते हैं; परंतु चूंकि उपनिषदोंकी विचारशृंखलामें ये स्थल गभीरतम आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जाते हैं अतएव हम इन्हें एक ऐसी बुद्धिकी मूर्खतापूर्ण भूलें कहकर इनका खंडन नहीं कर सकते जिसे कुछ भी समझ नहीं है या जिसका उस उच्चतर विचारसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जिसमें ये प्रकरण परिसमाप्त होते हैं। इसके विपरीत, जब एक बार हम इनके प्रतीकात्मक अर्थके भीतर प्रवेश कर पाते हैं तो हम देखते हैं कि ये काफी गहरे अर्थ-

से परिपूर्ण हैं। वह अर्थ एक चैत्य-आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर मनोभौतिक सत्ताके आरोहण करनेपर प्रकट होता है; और उस ज्ञानके लिये हम आज अधिक बौद्धिक तथा कम मूर्त्त और कम रूपकात्मक शब्दोंका प्रयोग करेंगे, पर जो लोग योगका अभ्यास करते तथा हमारी मनोभौतिक और चैत्य-आध्यात्मिक सत्ताके रहस्योंकी फिरसे खोज करते हैं उनके लिये वह ज्ञान आज भी अकाट्य सत्य है। चैत्य सत्योंको इस प्रकार अनोखे ढंगसे प्रकट करनेवाले कुछ एक विशिष्ट स्थल ये हैं — अजातशत्रुकी की हुई निद्रा और स्वप्नकी व्याख्या, या प्रश्न उपनिषद्के वे प्रकरण जिनमें प्राण-तत्त्व और उसकी क्रियाओंका वर्णन किया गया है, अथवा वे प्रकरण जिनमें देवासुर-संग्रामके वैदिक विचारका निरूपण करके उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया है और ऋग्वेद तथा सामवेदकी अपेक्षा अधिक खुले रूपमें वैदिक देवताओंका स्वरूप उनके आभ्यंतरिक व्यापार एवं उनकी आध्यात्मिक शक्तिकी दृष्टिसे निरूपित किया गया है और उनके इसी रूपमें उनका आवाहन भी किया गया है।

वैदिक विचार और रूपकके इस प्रकारके विकासके उदाहरणके रूपमें मैं तैत्तिरीय उपनिषद्का एक संदर्भ उद्धृत कर सकता हूं जिसमें इंद्र स्पष्ट ही दिव्य मनकी शक्ति एवं उसके देवता प्रतीत होते हैं :

"जो वेदोंका विश्वरूप वृषभ है, जो अमर सत्तासे पवित्र छंदोंके रूपमें उत्पन्न हुआ था, — ऐसा वह इंद्र मुझे मेधाके द्वारा तृप्त करे! हे देव! मैं अमर सत्ताका आधार बन जाऊं! मेरा शरीर अंतर्दृष्टिसे परिपूर्ण हो उठे और मेरी वाणी मधुरतासे, मैं अपने श्रोत्रोंसे भूरि और बृहत् श्रवण कर सकूं! क्योंकि तू ब्रह्मका कोष है जो मेधाके द्वारा गोपित और आच्छादित है।"[१]

—इसी प्रकारका एक स्थल ईशसे भी उद्धृत किया जा सकता है जिसमें सूर्य (देवता) का ज्ञानके देवताके रूपमें आवाहन किया गया है। इनका परम ज्योतिर्मय रूप है भागवत आत्माका एकत्व और यहां मनके स्तरपर छितरी हुई उनकी किरणें विचारात्मक मनका भास्वर विकिरण हैं और वे उनके अपने असीम अतिमानसिक सत्यको, इस सूर्यके बाह्य और आंतर स्वरूपको एवं आत्मा और सनातनके सत्यको आच्छादित कर देती हैं :

---

[१]तैत्तिरीय ४. १।

"सत्यका मुख सुनहले ढक्कनसे आच्छादित है: हे पोषणकर्ता सूर्य, सत्य-धर्मकी उपलब्धिके लिये तथा अंतर्दृष्टिके लिये उस आवरणको दूर कर दे। हे पूषन्, हे एकमात्र ऋषे, हे नियामक यम, हे सूर्य, हे प्रजापतिके पुत्र, अपनी किरणोंको व्यवस्थित और एकत्रित कर: मैं उस तेजको देख रहा हूं जो तेरा सर्वाधिक कल्याणमय रूप है, जो यह है, यह पुरुष है, वही मैं हूं।"[1]

—भेदके होते हुए भी इन स्थलोंका वेदकी रूपकमाला एवं शैलीसे संबंध स्पष्ट ही है और इनमेंसे अंतिम संदर्भ, निःसंदेह, अत्रियोंके एक वैदिक मंत्रकी पीछेकी अधिक उन्मुक्त शैलीमें व्याख्या या अनुवाद करता है:

"तुम्हारे सत्यके द्वारा वह परम सत्य आच्छादित है जो कि वहां नित्य-शाश्वत रूपसे विद्यमान है जहां वे सूर्यके घोड़ोंको खोलते हैं। वहां वे दश सहस्र एक साथ स्थित हैं, वह है एकमेव: मैंने देहधारी देवोंके परम देव-को देख लिया है।"[2]

—ये वैदिक और वैदांतिक रूपक हमारी वर्तमान मनोवृत्तिके लिये जो प्रतीकके जीवंत सत्यमें विश्वास नहीं करती, विजातीय हैं, क्योंकि बुद्धिके द्वारा निरुत्साहित किये जानेके कारण सत्योद्भासक कल्पना-शक्तिमें अब इस बातका साहस नहीं रहा है कि वह आंतरात्मिक और आध्यात्मिक अंतर्दर्शन-को स्वीकार करे तथा उसके साथ अपनेको एकाकार करके निर्भयतापूर्वक उसे साकार रूप प्रदान करे; पर, निश्चय ही, यह एक बालिश या आदिम एवं बर्बर रहस्यवाद होनेसे कोसों दूर है; बल्कि यह विशद, सजीव और उज्ज्वल काव्यात्मक बोधिमूलक भाषा एक अत्यंत विकसित आध्यात्मिक संस्कृतिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

उपनिषदोंकी अंतर्ज्ञानात्मक विचारधारा इन मूर्त रूपकोंको लेकर चलती है और ये प्रतीक, जो पहले वैदिक ऋषियोंके लिये गुप्त क्रांतदर्शी शब्द थे और जो एक द्रष्टाके मनके सम्मुख ही अपना भाव पूर्ण रूपसे प्रकाशित करते थे, पर साधारण बुद्धिके लिये अपने गभीरतम अर्थको छुपाये ही रखते थे, इन रूपकोंका संबंध अपेक्षाकृत कम गुप्त रूपसे भाव प्रकाशित करने-वाली भाषाके साथ जोड़ देते हैं और इनसे परे एक अन्य बहुत अधिक

[1] ईशोपनिषद् १५-१६। [2] ऋग्वेद ५. ६२. १।

स्पष्ट और उदात्त रूपकमाला एवं भाषातक पहुंच जाते हैं जो आध्यात्मिक सत्यको तुरंत ही उसके संपूर्ण वैभव समेत प्रकाशित कर देती है। गद्यात्मक उपनिषदोंसे हमें पता चलता है कि प्राचीन भारतीय मनकी यह पद्धति उस समय क्रियाशील थी, यह वहां पहले प्रतीकका प्रयोग करती है और फिर उसे अतिक्रम कर आध्यात्मिक अर्थको स्पष्ट रूपमें व्यक्त कर देती है। गुह्य अक्षर ओं के प्रभाव और गूढ़ार्थके विषयमें प्रश्न उपनिषद्का एक प्रकरण इस पद्धतिकी प्राचीनतर अवस्थाको निर्दशित करता है:

"हे सत्यकाम, यह ॐ अक्षर पर और अपर ब्रह्म है। अतएव ज्ञानी मनुष्य ब्रह्मके इस धामके द्वारा इनमेंसे किसी एकको प्राप्त करता है। यदि कोई इसकी एक मात्रा (अ) का ध्यान करे तो उसके द्वारा वह ज्ञान लाभ करता है और इस लोकमें वह शीघ्र ही संपन्न हो जाता है। उसे ऋचाएं मनुष्यलोककी ओर ले जाती हैं और वहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धामें पूर्णता प्राप्त करके वह आत्माकी महिमाको अनुभव करता है। अब यदि वह दो मात्राओं (अ+उ) के द्वारा मनमें पूर्णता लाभ करे तो यजुर्वेदके मंत्र उसे ऊपर अंतरिक्षमें, सोमलोक (सोम देवताके चंद्रलोक) में ले जाते हैं। वह सोमलोकमें आत्माकी विभूतिको अनुभव करके फिर यहां लौट आता है। और फिर जो व्यक्ति तीन मात्राओं (अ+उ+म्) के द्वारा किंवा इस ॐ अक्षर हीके द्वारा परम पुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तेजमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है। जैसे सांप अपनी केंचुली उतार फेंकता है वैसे ही वह पाप और अशुभसे मुक्त हो जाता है और सामवेदके मंत्र उसे ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। वह इस जीवसंकुल लोकसे (जीवघनसे) परात्पर पुरुषके दर्शन करता है जो इस देहपुरीमें विराजमान है। तीनों मात्राएं मृत्युसे उत्पीड़ित हैं, पर अब जब कि वे अविभक्त तथा परस्पर-संयुक्त रूपमें प्रयोगमें लायी जाती हैं तो उनके सर्वांगीण प्रयोगमें आत्माके बाह्य, आभ्यंतर और मध्यवर्ती कर्म समग्रता प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वह चलायमान नहीं होती। यह लोक ऋचाओंके द्वारा (प्राप्त होता है), अंतरिक्ष (प्राप्त होता है) यजुर्मंत्रोंके द्वारा और साम-मंत्रोंके द्वारा वह लोक जिसका ज्ञान हमें ऋषिगण कराते हैं। ज्ञानी मनुष्य ओ३म्के द्वारा 'उस' के धामतक, 'उस'तक, पहुंच जाता है, यहांतक कि उस परम आत्मातक पहुंच जाता है जो शांत, अभय और अजरामर है।"[1]

---

[1]प्रश्नोपनिषद् — ५ वा प्रश्न।

—यहां प्रयुक्त किये गये प्रतीक अभी भी हमारी बुद्धिके लिये अस्पष्ट है, परंतु ऐसे संकेत दे दिये गये हैं जो असंदिग्ध रूपमें दर्शा देते हैं कि वे एक चैत्य अनुभवका निरूपण करते हैं जो आध्यात्मिक उपलब्धिकी विभिन्न अवस्थाओंकी ओर ले जाता है और हम देख सकते हैं कि ये अवस्थाएं तीन हैं — बाह्य, मानसिक और अतिमानसिक, और इनमेंसे अंतिमके फलस्वरूप एक परमोच्च पूर्णता प्राप्त होती है जो अमर आत्माकी प्रशांत नित्यतामें समस्त सत्ताके पूर्ण एवं समग्र कर्मकी अवस्था है। आगे चलकर मांडूक्य उपनिषद्में अन्य प्रतीकोंको त्याग दिया गया है और हम खुले रूपसे मर्ममें प्रवेश प्राप्त करते हैं। इसके बाद उस ज्ञानका उदय होता है जिसकी ओर आधुनिक विचारधारा अपनी अत्यंत भिन्न, बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक प्रणालीके द्वारा लौट रही है, वह ज्ञान यह है कि हमारी बाह्य भौतिक चेतनाकी क्रियाओंके पीछे एक अन्य, अंतःप्रच्छन्न, — अन्य और फिर भी अभिन्न — चेतनाकी, जिसकी एक स्थूल क्रिया ही हमारा जाग्रत् मन है, क्रियाएं अपना कार्य कर रही है, और हमारी बाह्य चेतनाके ऊपर — शायद, हम फिर कहते हैं — एक आध्यात्मिक अतिचेतना है जिसमें, बहुत संभवतः, हमारी सत्ताकी उच्चतम अवस्था एवं उसका संपूर्ण रहस्य उपलब्ध हो सकता है। प्रश्न उपनिषद्के इस स्थलपर जब हम सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करेंगे तो हम देखेंगे कि यह ज्ञान वहां पहलेसे ही विद्यमान है, और मेरी समझमें हम अत्यंत युक्तियुक्त रूपमें यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन ऋषियोंके ये तथा इसी प्रकारके अन्य वचनोंको, तार्किक मनके लिये इनका रूप कैसा ही चकरानेवाला क्यों न हो, बालिश रहस्यवाद कहकर नहीं उड़ाया जा सकता, बल्कि ये उस चीजकी जिसे आज स्वयं तर्कबुद्धि भी अपनी पद्धतियोंसे सत्य सिद्ध कर रही है और ज्ञानके एक अत्यंत गभीर सत्य और वास्तविक सत्तत्त्वके रूपमें हमें दर्शा रही है, एक रूपकात्मक अभिव्यंजना है जो उस समयकी मनोवृत्तिके लिये स्वाभाविक ही थी।

पद्यात्मक उपनिषदें इस अत्यंत अर्थ-गर्भित प्रतीकवादको जारी रखती हैं पर इसे अपेक्षाकृत हलके भावमें लेकर चलती हैं और अपने बहुतसे श्लोकोंमें तो वे इस प्रकारके रूपकोंके परे जाकर खुले रूपमें अपना भाव प्रकाशित करती हैं। वहां मनुष्य और प्राणिमात्रमें, प्रकृतिमें और इस समस्त जगत् तथा अन्य जगतोंमें एवं सृष्टिमात्रसे परे अवस्थित आत्मा, परम पुरुष एवं परमेश्वरका, अमर, एकमेव एवं अनंतका खुला गुणगान किया गया है — उसकी नित्य परात्परताकी महिमाका और उसकी बहुविध आत्म-अभिव्यक्तिके वैभवका भी। धर्म और मृत्युके अधिष्ठातृ-देवता यमके द्वारा

नचिकेताको दी गयी शिक्षाओंसे लिये गये कुछ एक संदर्भ इन उपनिषदोंके स्वरूपपर कुछ प्रकाश डालनेके लिये पर्याप्त होंगे :

"यह अक्षर ॐ है। यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम पुरुष है। जो इस अक्षर (अविनाशी) ॐ को जानता है, वह जो कुछ चाहता है, वह सब ही उसे प्राप्त हो जाता है। यह अवलंब सर्वश्रेष्ठ है, यह अवलंब उच्चतम है; और जब कोई मनुष्य इस अवलंबको जान लेता है, तो वह ब्रह्मलोकमें महीयान् हो जाता है। वह सर्वज्ञ न उत्पन्न होता है, न मरता है, न वह कहींसे संभूत हुआ है, न ही वह कोई-एक है। वह अज है, नित्य और शाश्वत है, वह पुराण पुरुष है, शरीरका वध होनेपर उसका वध नहीं होता ....।

"यह बैठा हुआ भी दूर-दूरकी यात्रा करता है, और सोता हुआ भी सब तरफ विचरता है। इस आनंदोन्मत्त देवको मेरे सिवा भला और कौन जान सकता है? इन अस्थिर शरीरोंमें अवस्थित इस अशरीरी, महान् और विभु आत्माको जानकर ज्ञानी मनुष्य फिर शोक नहीं करता। यह आत्मा न तो शिक्षा-दीक्षा या प्रवचनसे प्राप्त हो सकता है, न मेधासे और न बहुत विद्यासे : परम आत्मा जिसे वरण कर लेता है केवल वही इसे प्राप्त कर सकता है, और उसीके समक्ष यह आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करता है। जो व्यक्ति दुष्कर्मोंसे विरत नहीं हुआ है, जो स्थिर और समाहित नहीं है, जिसका मन शांत नहीं है वह केवल मस्तिष्कके ज्ञानके द्वारा उसे नहीं प्राप्त कर सकता। ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिये अन्न हैं और मृत्यु जिसके प्रीतिभोजका ममाला है, वह कहां है इसे कौन जानता है? ....

"स्वयंभूने मनुष्यके दरवाजोंको बाहरकी तरफ खोल दिया है, अतएव मनुष्य बाहरकी ओर देखता है अपनी अंतरात्माकी ओर नहीं : केवल कोई ज्ञानी मनुष्य ही, कहीं-कहीं अमृतत्वकी आकांक्षा करता हुआ, अपनी आंखोंको अंदरकी ओर फेरता है और आत्माको प्रत्यक्ष देखता है। बालबुद्धि मनुष्य स्थूल कामनाओंके पीछे दौड़ते रहते हैं और मृत्युके जालमें जा फंसते हैं जो हमारे लिये खूब विस्तृत बिछा हुआ है; परंतु ज्ञानी लोग अमरताको जान लेते हैं और अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी मांग नहीं करते। इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गंध एवं स्पर्शको तथा इनके सुखोंको जानता है और तब भला यहां बाकी ही क्या रहता है? ज्ञानी मनुष्य उस महान् प्रभु एवं आत्माको जान जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति

जागरित आत्मा तथा स्वाप्न आत्मामें विद्यमान सभी चीजोंको देखता है, और उसे जानकर वह फिर शोक नहीं करता। जो आत्माको, अर्थात् जीवधारियोंके निकटस्थ मधु (आनंद)-भोक्ताको, भूत और भविष्यके ईशको जान जाता है वह आगेको किसी भी सत् पदार्थसे जुगुप्सा नहीं करता। वह उसे भी जान जाता है जो पूर्वकालमें तपसे और जलोंसे उत्पन्न हुआ था और जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर वहां इन सब प्राणियोंके साथ अवस्थित है। वह उसे भी जान जाता है जो प्राण-शक्तिके द्वारा उत्पन्न हुई है, उस सर्वदेवतामयी अदितिको (उस असीम माताको जिसमें सब देवता समाये हुए हैं) जान जाता है जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर उसके अंदर इन सब प्राणियोंके साथ स्थित है। यह वह अग्नि है जो ज्ञानवान् है और यह दो अरणियोंमें उसी प्रकार अंतर्निहित है जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रियोंके अंदर गर्भ सुधृत रहता है; यह वह अग्नि है जिसकी उपासना लोगोंको अतंद्र रूपसे जागरूक रहते हुए तथा उसके प्रति हविकी भेंट लाते हुए अवश्यमेव करनी चाहिये। यह वह है जिससे सूर्य उदित होता है और जिसमें यह अस्त होता है: और उसीमें सभी देव प्रतिष्ठित हैं तथा कोई भी उसके परे नहीं जा सकता। जो कुछ यहां है, वही कुछ अन्य लोकोंमें है, और जो वहां है, उसीके अनुरूप यहांकी सभी चीजें (निर्मित) हैं। जो मनुष्य यहां केवल भेद ही भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युकी ओर जाता है। एक पुरुष जो अंगूठेसे बड़ा नहीं है मनुष्यकी सत्ताके केंद्रमें अवस्थित है और वह भूत तथा भविष्यका ईश है, और उसे जान लेनेपर मनुष्य आगेको किसी भी सत् पदार्थसे कतराता नहीं। वह 'पुरुष' मनुष्यके अंगूठेसे बड़ा नहीं है और वह एक ऐसी ज्योतिके समान है जिसमें धूंएका नाम नहीं; वह भूत और भविष्यका ईश है; केवल वह ही आज है और वह ही कल रहेगा।"[1]

उपनिषदें ऐसे स्थलोंसे भरी पड़ी हैं जो एक साथ ही काव्य और आध्यात्मिक दर्शन हैं,— पूर्ण विशदता और सुन्दरतासे संपन्न, परंतु उनका कोई भी अनुवाद जो अर्थ-ध्वनियोंसे तथा मूल शब्दों और लयोंके तात्पर्यकी गभीर, सूक्ष्म और उज्ज्वल गूंजोंसे शून्य हो, उनकी ओजस्विता और पूर्णताका कुछ भी आभास नहीं दे सकता। कुछ अन्य ऐसे स्थल भी हैं जिनमें सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य, काव्यमय अभिव्यंजनाके पूर्ण सौंदर्यसे विच्युत हुए बिना, पूर्ण क्षमताके साथ व्यक्त किये गये हैं और इस

---

[1] कठोपनिषद् १. २. १५-२४

बातको सदा लक्ष्यमें रखा गया है कि वे केवल समझनेवाली बुद्धिके समक्ष ही निरूपित होकर न रह जायं बल्कि अंतःकरण और अंतरात्माके प्रति भी जीवंत रूपमें उपस्थित रहें। कुछ एक गद्यात्मक उपनिषदोंमें, एक दूसरा स्पष्ट कथात्मक और परंपराप्राप्त तत्त्व भी है; वह परमोच्च ज्ञानके लिये आध्यात्मिक जिज्ञासा और आतुरताकी उस असाधारण हलचल और प्रवृत्तिका एक जीता-जागता चित्र, संक्षिप्त झांकियोंके रूपमें ही सही, हमारे सामने उपस्थित करता है जिसने कि उपनिषदोंकी रचनाको संभव बनाया। प्राचीन जगत्के दृश्य इने-गिने पृष्ठोंमें हमारे सामने जीवंत-जागृत रूपमें उपस्थित हैं, आगंतुककी परीक्षा लेने और उसे शिक्षा देनेके लिये ऋषिगण अपने कुंजोंमें तैयार बैठे हैं; राजकुमार, विद्वान् ब्राह्मण और महान् कुलीन भूमिपति ज्ञानकी खोजमें यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं; रथपर सवार राजपुत्र और एक दासीका जारज पुत्र किसी ऐसे व्यक्तिको खोज रहे हैं जो अपने अंदर ज्योतिर्मय विचार और ईश्वरीय ज्ञानका शब्द धारण किये हुए हो; विशिष्ट और विख्यात व्यक्ति, जनक और सूक्ष्मचेता अजातशत्रु; गाड़ीवाला (सयुग्वा) रैक्व; सत्यवीर, शांत और व्यंग्यप्रिय याज्ञवल्क्य जो पहले अपने दोनों हाथमें बिना आसक्तिके सांसारिक धन-संपत्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्यको आयत्त कर लेते हैं और अंतमें अपना सब धन-वैभव पीछे छोड़कर एक अनिकेत संन्यासीकी तरह पर्यटनके लिये निकल पड़ते हैं; देवकीके पुत्र कृष्ण जिन्हें 'घोर' नामक ऋषिके एक ही शब्दके श्रवणमात्रसे तुरंत सनातन पुरुषका ज्ञान हो गया; आश्रम, उन राजाओंके दरबार जो अध्यात्मान्वेषी और अध्यात्मचिंतक भी थे, महान् यज्ञीय परिषदें जहां ऋषिगण एकत्र होते और परस्पर तुलना करके अपने ज्ञानकी परीक्षा करते थे। और हम देखते हैं कि किस प्रकार भारतकी अंतरात्माका जन्म हुआ और किस प्रकार इस महान् जन्म-गानका आविर्भाव हुआ जिसमें यह अपने पार्थिव आधारसे उड़ान भरकर आत्माके परमोच्च स्वर्गमें पहुंची। वेद और उपनिषदें केवल भारतीय दर्शन और धर्मके ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय कला, काव्य और साहित्यके भी पर्याप्त उद्गम-स्थान हैं। उनमें जो अंतरात्मा, स्वभाव एवं आदर्श मन रूपायित तथा व्यक्त हुआ उसीने आगे चलकर महान् दर्शनशास्त्रोंका सुघड़ निर्माण किया, धर्मका ढांचा तैयार किया, महाभारत और रामायणमें इसके शौर्यपूर्ण यौवन-कालका इतिवृत्त अंकित किया, इसकी मनुष्यताकी प्रौढ़ावस्थाके अत्युत्कृष्ट प्राचीन कालमें अक्लांत भावसे बौद्धिक रूप धारण किया, विज्ञानके क्षेत्रमें इतने सारे मौलिक अंतर्ज्ञानात्मक तथ्योंको प्रकट किया, सौंदर्यात्मक, प्राणिक और ऐंद्रिय अनुभूतिकी इतनी समृद्ध

छटा उत्पन्न की, तंत्र और पुराणमें इसके आध्यात्मिक और आंतरात्मिक अनुभवको नया रूप प्रदान किया, रंग और रेखाकी श्री-सुषमामें अपने-आपको उंडेल दिया, इसकी विचारधारा और अंतर्दृष्टिको प्रस्तर और कांसेमें खोदा और उकीरा, पीछेकी भाषाओंमें आत्म-अभिव्यंजनाकी नयी प्रणालिकाओंमें अपने-आपको ढाल दिया और वही अब ग्रहणसे मुक्त होनेके बाद पुनः उदित हो रही है, भेदमें भी सदैव पहले जैसी रहती हुई नये जीवन और नये सृजनके लिये तैयार हो रही है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तीसरा अध्याय

भारतीय साहित्य

इस प्रकार, वेद भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज है और उपनिषदें सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभवके सत्यकी अभिव्यक्ति। यह सत्य ही सदा इस संस्कृतिका उच्चतम विचार एवं चरम ध्येय रहा है। इसी ध्येयकी ओर इसने व्यक्तिके जीवनको तथा जातिकी आत्माकी अभीप्साको प्रेरित किया: ये दो महान् पवित्र ग्रंथ इसकी काव्यमय और सर्जनशील आत्म-अभिव्यक्तिके सर्वप्रथम महत् प्रयत्नोंका फल हैं, ये विशुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक मनकी भाषामें परिकल्पित एवं वर्णित हैं। इनकी रचना एक ऐसे कालमें हुई जिसके बाद पहले तो प्रबल एवं प्रचुर और फिर समृद्ध एवं अद्भुत बौद्धिक विकासका युग आया। इस तरहसे आरंभ हुए विकासके लिये यह आवश्यक ही था कि वह एक प्रकारके समृद्ध करनेवाले अवतरणके द्वारा ही आत्मासे जड़तत्त्वकी ओर अग्रसर हो और सबसे पहले बौद्धिक प्रयत्नकी अवस्थामेंसे गुजरे। इस अवस्थामें जीवन, जगत् और आत्माको तथा इनके सभी संबंधोंको उस रूपमें देखनेका यत्न करे जिस रूपमें ये तार्किक और व्यावहारिक बुद्धिके संमुख उपस्थित हैं। इस बौद्धिक प्रयासकी अधिक प्रारंभिक चेष्टाके साथ, स्वभावतः ही, जीवनका क्रियात्मक विकास एवं संगठन भी किया गया जो जातिके मन एवं आत्माको सचेतन रूपमें अभिव्यक्त करता था और साथ ही समाजका एक सुदृढ़ एवं सफल ढांचा भी खड़ा किया गया जिसकी रचनाका प्रयोजन था ज्ञानपूर्ण, धार्मिक नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था और अनुशासनकी अधीनतामें मानवजीवनके पार्थिव उद्देश्योंको चरितार्थ करना, पर साथ ही मनुष्यकी आत्माको उसके विकासके लिये ऐसी सुविधा प्रदान करना कि वह इन चीजोंके द्वारा आध्यात्मिक स्वतंत्रता और पूर्णता प्राप्त कर सके। वेदों और उपनिषदोंके एकदम बाद भारतीय साहित्यिक सृजनका जो युग आया उसमें हमें इसी अवस्थाका अत्यंत प्रचुर एवं प्रभावपूर्ण चित्रण मिलता है।

भारतीय मनकी इस प्रवृत्तिके अंदर जो अधिक चिंतनात्मक प्रयास था वह दो रूपोंमें प्रकट हुआ है—एक ओर तो है श्रमसाध्य दार्शनिक विचार-धारा जिसने हमारे महान् दर्शनशास्त्रोंका रूप धारण किया, और दूसरी ओर, वैयक्तिक और सामाजिक जीवनकी संगत एवं व्यवस्थित प्रणालीमें एक नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श तथा व्यवहारको स्पष्ट रूपमें तथा कठोर दृढ़ताके साथ निर्धारित करनेका उतना ही प्रबल प्रयत्न। इस प्रयत्नके फलस्वरूप प्रामाणिक सामाजिक ग्रंथों या शास्त्रोंका निर्माण हुआ जिनमेंसे सर्वाधिक महान् एवं प्रामाणिक है—प्रसिद्ध मनुस्मृति। दार्शनिकोंका कार्य यह था कि आत्मा, मनुष्य और जगत्के जो सत्य अंतर्ज्ञान, ईश्वर-प्रेरणा एवं आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा पहलेसे ही उपलब्ध हो चुके थे और वेदों तथा उपनिषदोंमें लिपिबद्ध थे, उन्हें वे व्यवस्थित करके तर्क-बुद्धिके सम्मुख सत्य सिद्ध करें और साथ ही इस ज्ञानपर प्रतिष्ठित कुछ ऐसी साधन-पद्धतियोंका निर्देश एवं क्रमबद्ध प्रतिपादन करें जिनसे मनुष्य अपने जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य चरितार्थ कर सके। जिस विशेष पद्धतिसे यह कार्य किया गया उससे पता चलता है कि उन दिनों अंतर्ज्ञानात्मक मनकी क्रिया बौद्धिक मनकी क्रियामें परिणत हो रही थी और उस पद्धतिपर इस संक्रमणकालीन अवस्थाकी छाप मौजूद है और उसका आकार-प्रकार भी इसी अवस्थाको प्रकट करता है। जहां वेदादि पवित्र वाङ्मयके संक्षिप्त एवं अर्थगर्भित पद अंतर्ज्ञानात्मक सार-तत्त्वसे परिपूर्ण थे वहां दर्शनोंमें उनके स्थानपर और भी अधिक संहत एवं सघन लघुवाक्य-शैलीका प्रयोग किया गया जो अंतर्ज्ञानात्मक तथा काव्यमय न होकर कठोर रूपसे बौद्धिक थी, —किसी सिद्धांतको, किसी दार्शनिक विचारके संपूर्ण विकास, या किसी तर्कशृंखलाकी एक कड़ीको जो प्रचुर निष्कर्षोंसे भरपूर होती थी, गिने-चुने शब्दोंमें, कभी-कभी तो एक या दो ही शब्दोंमें, एक छोटेसे छोटे निश्चयात्मक सूत्रके रूपमें प्रकाशित किया जाता था जो अपनी घनीभूत पूर्णतामें प्रायः एक पहेली-सा ही होता था। ये सूत्र तर्कमूलक भाष्योंके आधार बने। जो कुछ भी प्रारंभमें इन सूत्रबद्ध ग्रंथोंमें निहित था उस सबको इन भाष्योंने दार्शनिक एवं तार्किक प्रणालीमें तथा नानाविध व्याख्याओंके द्वारा पल्लवित किया। मूल और अंतिम सत्यका तथा मोक्ष, अर्थात् आध्यात्मिक मुक्तिके उपायका प्रतिपादन करना ही इन सूत्रोंका एकमात्र विषय रहा है।

इसके विपरीत, सामाजिक चितकों और विधायकोंकी कृतिका विषय था लोकका सामान्य कार्य और व्यवहार। उसने मनुष्य और समाजके साधारण जीवनको एवं मानवीय कामना, लक्ष्य, 'अर्थ' और व्यवस्थाबद्ध

नियम और रीति-रिवाजके जीवनको हाथमें लेकर वैसे ही पूर्ण और निश्चयात्मक ढंगसे उसकी व्याख्या और उसका निरूपण करनेका यत्न किया और साथ ही इस सबको राष्ट्रीय संस्कृति और रूपरेखाके नियामक विचारोंके साथ व्यवस्थित रूपमें संबद्ध करके एक सामाजिक प्रणालीको चिरस्थायी रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की। इस प्रणालीका निर्माण बुद्धिमत्ताके साथ, एक ऐसा आधार, ढांचा एवं क्रमव्यवस्था प्रदान करनेके लिये किया गया था जिसके द्वारा जीवन प्राणिक और मानसिक उद्देश्यसे आध्यात्मिक उद्देश्यकी ओर सुरक्षित रूपमें विकसित हो सके। प्रधान विचार यह था कि मानवीय 'काम' एवं 'अर्थ' को धर्म, अर्थात् सामाजिक और नैतिक विधानके द्वारा नियंत्रित किया जाय ताकि, समस्त प्राणिक, आर्थिक, सौंदर्यात्मक, सुखभोगवादी, बौद्धिक तथा अन्य आवश्यकताओंको यथोचित रूपमें और प्रकृतिके यथायथ विधानके अनुसार पूरा करते हुए, इसे (काम और अर्थको) आध्यात्मिक जीवनकी तैयारीका रूप दिया जा सके। यहां भी हमें एक प्रारंभिक विधानके रूपमें वैदिक गुह्यसूत्रोंकी सूत्रात्मक पद्धति दिखायी देती है और बादमें धर्मशास्त्रोंकी विस्तृत एवं पूर्णतर प्रणाली,—इनमेंसे पहली सरल और सारभूत सामाजिक-धार्मिक सिद्धांत और व्यवहारके संक्षिप्त निर्देशोंसे ही संतुष्ट हो जाती है, बादकी रचना व्यक्ति, वर्ग और जातिके संपूर्ण जीवनको अपने अंदर समाविष्ट करनेका यत्न करती है। इस प्रयास और इसकी समग्रताका निज स्वरूप तथा इस सबपर आद्योपांत शासन करनेवाले विचारकी अटूट एकता ही एक अत्युन्नत बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिक चेतनाका तथा एक श्रेष्ठ और व्यवस्थित सभ्यता एवं संस्कृतिकी उच्च प्रवृत्ति और क्षमताका अद्भुत प्रमाण हैं। इसमें जिस बुद्धिने कार्य किया है एवं जो बोधग्राही और रचनात्मक शक्ति व्यक्त हुई है वह किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन जातिकी बुद्धि या शक्तिसे हीन कोटिकी नहीं है, और यहां परिकल्पनाकी एक प्रकारकी गभीरता, एकरस विशदता एवं श्रेष्ठता भी है, और वह, कम-से-कम, संस्कृति-विषयक किसी सच्ची धारणामें उस महत्तर नमनीयता, अधिक अभिज्ञतापूर्ण अनुभव और विज्ञान, तथा अनुभवप्राप्त साहसकी उत्सुक नमनशीलताको संतुलित कर देती है जो हमारी परवर्ती मानवताकी विशेषता सूचित करनेवाली प्राप्तियां हैं। कुछ भी हो, वह कोई बर्बर मन नहीं था जो समाजकी एक सुन्दर और संगठित व्यवस्थाकी ओर, उसका संचालन करनेवाले एक उच्च और विशद विचारकी ओर तथा जीवनके अंतमें महान् आध्यात्मिक पूर्णता और मुक्तिकी ओर इस प्रकार एकाग्रतापूर्वक ध्यान देता था।

इस युगके विशुद्ध साहित्यके प्रतिनिधि हैं दो बृहत् महाकाव्य, एक तो महाभारत जिसने अपनी विशाल रचनाके अंदर भारतीय मनकी अनेक शक्तियोंकी काव्यात्मक कृतिके अधिकांशको संगृहीत किया और दूसरा रामायण। ये दोनों कविताएं अपने मूल हेतु और भावनामें महाकाव्यात्मक हैं, परंतु ये काव्य संसारके किन्हीं भी अन्य दो महाकाव्योंसे सादृश्य नही रखते, बल्कि सर्वथा अपने ही ढंगके हैं और अपने मूलतत्त्वमें दूसरोंसे सूक्ष्मतः भिन्न भी। यद्यपि इनमें एक प्राचीन वीरतापूर्ण कथा है और अनेक आदिम तत्त्वोंका एक रूपांतर है, फिर भी इनका रूप एक अत्युन्नत बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक संस्कृतिके युगसे संबंध रखता है, प्रौढ़ विचारोंके संघातसे समृद्ध है, नैतिक स्वरकी परिपक्व उदात्तता और परिष्कृत गंभीरताके कारण ऊंचा उठा हुआ है और अतएव ये कविताएं आइसलैंड (Iceland) द्वीपके प्राचीन और मध्ययुगीन आदिम कविता-संग्रह और वीर-गाथावलि[1] (एडा और सागा, (Edda and Saga) से सर्वथा भिन्न हैं और दृष्टिकोण तथा सारवस्तुकी विशालता और उद्देश्यकी उच्चतामें—अभी मैं सौंदर्यात्मक गुण और काव्यात्मक पूर्णताकी चर्चा नहीं करता—होमरकी कविताओंसे अधिक महान् हैं; इतना ही नहीं, अपितु इनमें एक प्राक्कालीन उच्छ्वास और प्रत्यक्ष एवं सरलतापूर्ण तेज भी है, जीवनकी ताजगी, महत्ता और प्रस्पंदना है और हैं ओज तथा सौंदर्यकी सरलता जो इन्हें वरजिल या मिल्टन अथवा फिरदौसी या कालिदासके श्रमपूर्वक विरचित साहित्यिक महाकाव्योंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी कृति बना देती है। जीवनकी प्राचीन, साहित्यिक, वेगशील और प्रबल शक्तिके स्वाभाविक उच्छ्वासका नैतिक, बौद्धिक, यहांतक कि दार्शनिक मनकी सबल प्रगति और सक्रियताके साथ यह अनूठा संमिश्रण, निश्चय ही, इनकी एक अद्भुत विशेषता है; ये कविताएं एक जातिके यौवनकी वाणी हैं, पर एक ऐसे यौवनकी जो केवल ताजा, सुन्दर और प्रफुल्ल ही नहीं है अपितु महान्, पूर्णताप्राप्त, ज्ञानमय और श्रेष्ठ

---

[1]एडा (Edda) स्कैण्डिनेवियाकी दो पुस्तकोंका नाम है। पहलीको 'older' या 'elder' edda (प्राचीनतर या ज्येष्ठ एड्डा) कहते हैं जिसमें प्राचीन पौराणिक और वीररसपूर्ण गीतोंका संग्रह है, दूसरीको 'Younger' or prose edda ('लघुतर' या गद्यात्मक एडा) कहते हैं जिसमें पौराणिक कहानियां आदि हैं।

सागा (Saga) आइसलैंड (Iceland) के प्राचीन गद्य-साहित्यमें पायी जानेवाली ऐतिहासिक या काल्पनिक कथाओंको कहते हैं। —अनु

भी है। तथापि यह केवल एक स्वभावगत विशेषता है: एक अन्य विशेषता भी है जो अधिक दूरगामी है, वह है संपूर्ण परिकल्पना, क्रिया-धारा और रचनामें भेद।

प्राचीन वैदिक शिक्षाके अनेक अंगोंमेंसे एक था महत्त्वपूर्ण परंपरा, **इतिहास**, का ज्ञान; प्राचीन समालोचक बादके साहित्यिक महाकाव्योंसे महाभारत और रामायणका भेद दिखलानेके लिये इसी ('इतिहास') शब्दका प्रयोग करते थे। इतिहासका मतलब था कोई प्राचीन ऐतिहासिक या उपाख्यानात्मक परंपरा जिसे एक अर्थपूर्ण गाथा या कथाके रूपमें सृजनके लिये प्रयुक्त किया जाता था और वह गाथा या कथा किसी आध्यात्मिक या धार्मिक अथवा नैतिक या आदर्शात्मक अर्थको प्रकट करती थी और इस प्रकार जातिके मनका गठन करती थी। महाभारत और रामायण भी बड़े पैमानेपर इसी प्रकारके इतिहास हैं जिनका उद्देश्य अत्यंत व्यापक है। जिन कवियोंने इन बृहत् काव्यमय ग्रंथोंकी रचना की और जिन्होंने इनमें कुछ चीजें जोड़ दीं उनका उद्देश्य केवल एक प्राचीन कथाका सुन्दर या श्रेष्ठ ढंगसे वर्णन करना नहीं था और न रस और भावके प्रचुर ऐश्वर्यसे परिपूर्ण कोई कविता रचना ही था, यद्यपि उन्होंने ये दोनों कार्य भी महान् सफलताके साथ संपन्न किये; पर वास्तवमें उन्होंने जीवनके शिल्पियों और मूर्तिकारों तथा राष्ट्रीय चिंतन, धर्म, नैतिकता और संस्कृतिके अर्थपूर्ण आकारोंके सर्जनशील व्याख्याकारों तथा निर्माताओंके रूपमें अपना कर्तव्य समझते हुए इनका प्रणयन किया। जीवन-विषयक चिंतनका गहरा दबाव, धर्म और समाजके संबंधमें एक व्यापक और जीवनप्रद दृष्टिकोण एवं दार्शनिक विचार-का एक विशेष स्वर इन कविताओंमें सर्वत्र ओतप्रोत है और भारतकी समस्त प्राचीन संस्कृतिको बौद्धिक परिकल्पना और जीवंत निरूपणकी महान् शक्तिके साथ इनमें साकार रूप दिया गया है। महाभारतको पांचवा वेद कहा गया है, इन दोनों कविताओंके बारेमें यह कहा गया है कि ये केवल महान् कविताएं ही नहीं अपितु धर्मशास्त्र हैं, अर्थात् एक व्यापक धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक शिक्षाके ग्रंथ हैं और जातिके मन तथा जीवनपर इनका प्रभाव और प्रभुत्व इतने महान् रहे हैं कि इन्हें भारत-वासियोंकी बाइबल कहा गया है। परंतु यह कोई बिलकुल ठीक उपमा नहीं है, क्योंकि भारतवासियोंकी बाइबलमें वेद और उपनिषदें, पुराण और तंत्र तथा धर्मशास्त्र भी समाविष्ट हैं, प्रादेशिक भाषाओंके धार्मिक काव्यकी बृहत् राशिकी बात तो अलग ही रही। इन महाकाव्योंका कार्य उच्च दार्शनिक और नैतिक विचार तथा सांस्कृतिक आचारको जनतामें प्रचलित करना

था; भारतकी अंतरात्मा और विचारधारामें जो भी चीजें सर्वश्रेष्ठ थीं या जो उसके जीवनके लिये सच्ची थीं अथवा जो भी चीजें उसकी सर्जनशील कल्पना और उसके आदर्श मनके लिये वास्तविक थीं या फिर उसकी सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्कृतिके विशिष्ट स्वरूपको द्योतित करने तथा उसपर प्रकाश डालनेवाली थीं उन सबको सुस्पष्ट रूपमें, हृदयग्राही उभार और प्रभावके साथ एक महान् काव्यके ढांचेमें तथा एक काव्यात्मक कथाकी पृष्ठभूमिमें और उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंके जो जनताके लिये स्थायी राष्ट्रीय स्मृतियां और प्रसिद्ध प्रतिनिधि-पुरुष बन गये थे, जीवन-केंद्रके चारों ओर प्रकट करना ही इन महाकाव्योंका कार्य था। इन सब चीजोंको एकत्र जुटाकर कलात्मक क्षमता और हृदयग्राही प्रभावके साथ एक ऐसे काव्य-संग्रहमें व्यवस्थित किया गया जो परंपराओंकी अभिव्यक्ति था। वे परंपराएं आधी काल्पनिक और आधी ऐतिहासिक थीं परंतु आगे चलकर लोगोंने उन्हें अत्यंत गभीर और जीवंत सत्यके रूपमें तथा अपने धर्मके एक अंगकी न्याईं मूल्य प्रदान किया। इस प्रकार विरचित होकर महाभारत और रामायण, चाहे मूल संस्कृतमें हों या प्रादेशिक भाषाओंमें फिरसे लिखे गये हों, कथकों अर्थात् गानेवालों, पाठ करनेवालों और व्याख्या करनेवालोंके द्वारा, जनसाधारणतक पहुंचे, लोक-शिक्षा और लोक-संस्कृतिका एक मुख्य साधन बन गये और बने रहे. इन्होंने भारतवासियोंके विचार, चरित्र, सौंदर्यात्मक और धार्मिक मनका गठन किया और यहांतक कि अनपढ़ लोगोंपर भी दर्शन, नीतिशास्त्र, मामाजिक और राजनीतिक विचारों, सौंदर्यात्मक भाव, काव्य, गल्प और उपन्यासका एक प्रकारका पर्याप्त रंग चढ़ाया। जो चीज सुशिक्षित वर्गोंके लिये वेद और उपनिषद्में निहित थी, गंभीर दार्शनिक सूत्र और ग्रंथमें बंद या धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रमें प्रतिपादित थी उसे यहां सर्जनक्षम और सजीव अलंकारोंके रूपमें प्रस्तुत किया गया था, किमी परिचित कहानी और उपाख्यानके साथ जोड़ दिया गया था और जीवनके विशद निरूपणमें घुला-मिला दिया गया था और इम तरह एक ऐसी घनिष्ठ एवं जीवंत शक्ति बना दिया गया था जिसे काव्यमय वचनके द्वारा सभी लोग सहजमें ही आत्मसात् कर सकते थे क्योंकि वह वचन एक ही साथ अंतरात्मा, कल्पना-शक्ति और बुद्धिको आकर्षित करता था।

विशेषकर महाभारत केवल भरतवंशियोंकी कथा ही नहीं है, न यह राष्ट्रीय परंपराका रूप ले लेनेवाली किसी प्राचीन घटनाका एक महाकाव्य ही है, बल्कि यह, एक बहुत बड़े पैमानेपर, भारतकी अंतरात्माका, उसके

धार्मिक एवं नैतिक मन तथा सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों एवं संस्कृति और जीवनका महाकाव्य है। इसके बारेमें एक उक्ति प्रसिद्ध है और उसमें कुछ हदतक सचाई भी है कि जो कुछ भी भारतमें है वह महाभारतमें भी है। महाभारत किसी एक ही व्यक्तिके मनकी नहीं बल्कि एक राष्ट्रके मनकी रचना एवं अभिव्यक्ति है; यह तो एक संपूर्ण जातिकी अपने विषयमें लिखी हुई कविता है। इसपर काव्य-कलाके उन नियमोंको लागू करना निरर्थक होगा जो एक अपेक्षाकृत छोटे तथा सीमित उद्देश्यवाले महाकाव्यपर लागू हो सकते हैं, किंतु फिर भी इसकी सभी छोटी-मोटी बातों तथा इसकी संपूर्ण रचना दोनोंपर एक महान् और सर्वथा सचेतन कलाका प्रयोग किया गया है। संपूर्ण कविताकी रचना एक विशाल राष्ट्रीय मंदिरकी भांति की गयी है। वह (मंदिर) अपने कक्षोंमें अपने महान् और जटिल विचारको एक-एक करके, शनैः-शनैः अनावृत करता है, उसमें अर्थपूर्ण सामूहिक चित्रों, मूर्तियों तथा शिलालेखोंकी भरमार है, सामूहिक चित्र दैवी या अर्ध-दैवी परिमापके अनुसार अंकित किये गये हैं, वे एक ऐसी मानवताको अंकित करते हैं जो समुन्नत होकर अतिमानवताकी ओर आधी ऊंचाईतक ऊपर उठ चुकी है और फिर भी जो मानवीय उद्देश्य, विचार और भावके प्रति सदा सच्ची है, वहां यथार्थके सुरको आदर्शके स्वरोंके द्वारा निरंतर ऊंचा उठाया गया है, इस जगत्‌का जीवन भी विपुल परिमाणमें चित्रित किया गया है पर उसे पीछे अवस्थित जगतोंकी शक्तियोंके सचेतन प्रभाव और उपस्थितिके अधीन रखा गया है, और संपूर्ण कृतिको एक सुसंगत विचारकी जिसे काव्यमयी कहानीकी विशाल क्रम-परंपरामें गुंफित किया गया है, सुदीर्घ मूर्तिमंत शृंखलाके द्वारा एक अखंड इकाईका रूप दे दिया गया है। जैसा कि महाकाव्यात्मक आख्यानमें आवश्यक ही है, कथानककी धारा इस काव्यका प्रमुख आकर्षण है और इसे अंततक एक ऐसी गतिविधिके साथ निभाया गया है जो एक ही साथ व्यापक और सूक्ष्म है, अपनी समग्रतामें विशाल और सुस्पष्ट है, व्योरोंमें आकर्षक और प्रभावशाली है तथा अपनी शैली और क्रमधारामें बराबर ही सरल, ओजस्वी और महाकाव्योचित है। यद्यपि इसका सारतत्त्व परम रोचक है और काव्यात्मक कथाके रूपमें इसकी वर्णन-शैली सजीव है पर इसके साथ ही यह इससे अधिक और कुछ भी है, — यह **इतिहास** है, अर्थात् एक अर्थपूर्ण कथा है जो आद्योपांत भारतीय जीवन और संस्कृतिके केंद्रीय विचारों और आदर्शोंका प्रतिनिधित्व करती है। इसकी प्रमुख प्रेरणा है धर्म-विषयक भारतीय विचार। यहां सत्य, प्रकाश और एकताकी दिव्य शक्तियों और अंधकार, विभाजन तथा असत्यकी

शक्तियोंके बीच चलनेवाले संग्रामके वैदिक विचारको आध्यात्मिक, धार्मिक और आभ्यंतरिक स्तरसे बाह्य बौद्धिक, नैतिक और प्राणिक स्तरपर ले आकर प्रकट किया गया है। वहां कथाके रूपकमें यह विचार एक वैयक्तिक और राजनीतिक संघर्षका दोहरा रूप धारण कर लेता है, वैयक्तिक संघर्ष तो भारतीय धर्मके महत्तर नैतिक आदर्शोंको मूर्तिमंत करनेवाले आदर्शस्वरूप और प्रतिनिधिरूप व्यक्तियों तथा आसुरिक अहंकार, स्वेच्छा, एवं धर्मके दुरुपयोगको मूर्त्तिमान् करनेवाले लोगोंके बीच है, राजनीतिक संघर्ष वह संग्राम है जिसमें वैयक्तिक संघर्षकी परिसमाप्ति होती है। वह एक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष है जिसके अंतमें सत्य और न्यायके नये शासनकी, धर्मके राज्य अथवा साम्राज्यकी स्थापना होती है जो युद्ध करनेवाली जातियोंको एक करके राजाओं और उच्चश्रेणीय कुलोंकी महत्त्वाकांक्षापूर्ण उद्दंडताके स्थानपर न्यायपूर्ण और लोकोपकारी साम्राज्यकी प्रभुता, चैन और शांतिकी प्रतिष्ठा करता है। यह देव और असुरका, भगवान् और शैतानका चिरंतन संघर्ष है, पर यहां इसे मानवजीवनकी परिभाषाओंमें प्रस्तुत किया गया है।

(संघर्षके) इस दोहरे रूपको जिस ढंगसे प्रकट किया गया है, वैयक्तिक जीवनोंकी गतिविधिको जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है और राष्ट्रीय जीवनकी गतिविधिको पहले तो इनकी (वैयक्तिक जीवनोंकी) पृष्ठभूमिके रूपमें और फिर राज्यों, सेनाओं और राष्ट्रोंके कार्योंके रूपमें रंगमंचपर सामने लाकर जिस प्रकार दिखलाया गया है वह सब रचनाकी एक उच्च कोटिकी क्षमताको प्रकट करता है जो काव्यके क्षेत्रमें उस क्षमतासे मिलती-जुलती है जिसने भारतीय स्थापत्यमें कठिन कार्य किया, और इस संपूर्ण रचनाका निर्वाह एक विशाल काव्यात्मक कला और अंतर्दृष्टिके साथ किया गया है। यहां भी विशाल व्योमोंको एक समग्र दृष्टिमें समा लेनेकी वैसी ही शक्ति दिखायी देती है और उन्हें सूक्ष्म, प्रभावपूर्ण, सजीव तथा अर्थपूर्ण ब्योरेकी बहुलतासे भर देनेकी वैसी ही प्रवृत्ति भी। आख्यानके ढांचेमें अन्य कहानियों, दंतकथाओं और प्रसंगोंके एक बहुत बड़े अंशको भी समाविष्ट किया गया है और उनका अधिकांश एक ऐसे अर्थपूर्ण ढंगका है जो इतिहासकी पद्धतिके उपयुक्त है, और साथ ही दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारोंकी एक असाधारण राशि भी इसमें सम्मिलित की गयी है और वे विचार कभी तो सीधे और स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किये गये हैं और कभी किसी पौराणिक उपाख्यान और प्रासंगिक कथाके रूपमें ढालकर। उपनिषदों और महान् दर्शनोंके विचार बीच-बीचमें

बराबर ही लाये गये हैं और कभी-कभी उन्हें नये रूपोंमें विकसित भी किया गया है, जैसे गीतामें; धार्मिक गाथा और कथा, भावना एवं शिक्षा इसके रेशे-रेशे में ओत-प्रोत है; जातिके नैतिक आदर्शोंको या तो स्पष्ट रूपमें वर्णित किया गया है या फिर उन्हें किसी कथा-उपकथाके आकारमें रूपांतरित और किसी कहानीके पात्रोंमें मूर्तिमंत कर दिया गया है, राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों एवं प्रथाओंको भी इसी प्रकार अत्यंत सजीव और स्पष्ट रूपमें विकसित या चित्रित किया गया है और जनताके जीवनके साथ संबद्ध सौंदर्यात्मक तथा अन्य संकेतोंको भी स्थान दिया गया है। ये सब चीजें महाकाव्यके कथानकमें अद्‌भुत कुशलता और सूक्ष्मताके साथ गूंथी गयी हैं। ऐसी सम्मिलित और कठिन योजनामें तथा एक ऐसी रचनामें जिसके लिये विभिन्न योग्यतावाले अनेक कवियोंने योगदान किया है (शैली आदि संबंधी) कुछ विषमताओंका उत्पन्न हो जाना अनिवार्य ही था पर वे विषमताएं संपूर्ण योजनाकी व्यापक बृहत् जटिलतामें अपना-अपना स्थान प्राप्त कर लेती हैं और समग्र प्रभावमें बाधा न डालकर सहायता ही पहुंचाती हैं। यह संपूर्ण कृति एक जातिकी समग्र अंतरात्मा, विचारधारा और जीवनकी एक काव्यमय अभिव्यक्ति है जो अपनी ओजस्विता और पूर्णतामें अद्वितीय है।

रामायण भी मूलतः महाभारतसे मिलती-जुलती रचना है; भेद इतना ही है कि इसकी योजना अपेक्षाकृत अधिक सरल है, इसमें आदर्शात्मक प्रकृति अधिक सुकुमार है और काव्यात्मक ऊष्मा और रंगकी आभा अधिक सुन्दर। यद्यपि इस कवितामें बहुत अधिक प्रक्षेप हुए हैं तथापि इसका अधिकांश, स्पष्टतः ही, एक ही व्यक्तिका रचा हुआ है और इसमें रचनाकी एकता कम जटिल एवं अधिक स्पष्ट है। इसमें दार्शनिककी मनोवृत्ति कम है और शुद्ध कविकी अधिक, इसमें कलाकार अधिक है, निर्माता कम। संपूर्ण कथा आदिसे अंततक बस एक ही है और उसमें कवि कथानककी धारासे कहीं भी अलग नहीं हटा है। साथ ही, यहां अंतर्दृष्टिकी वैसी ही विशालता है, परिकल्पनाकी महाकाव्योचित उदात्तताकी और भी अधिक उन्मुक्त उड़ान है और ब्योरेमें उस परिकल्पनाकी सूक्ष्म कार्यान्वितिकी सर्वत्र एकसी प्रचुरता है। महाभारतकी रचना-शक्ति, सशक्त कारीगरी और क्रम-पद्धति हमें भारतके गृह-शिल्पियोंकी कलाकी याद दिलाती है, रामायणकी रूपरेखाकी गरिमा और सुस्पष्टता, उसके रंगोंका वैभव और सूक्ष्म आलंकारिक विधान विशेषतः साहित्यमें भारतीय चित्रकलाकी भावना और शैलीकी छापको सूचित करते हैं। इस महाकाव्यके कविने भी अपनी रचनामें इतिहासको

अर्थात् एक प्राचीन भारतीय वंशसे संबद्ध एक पुरातन कथा या आख्यायिका-को ही अपना विषय बनाया है और उसमें पौराणिक गाथा तथा लोक-कथाओंसे संगृहीत ब्योरोंको भर दिया है, परंतु इस सबको वे एक भव्य महाकाव्यात्मक चित्रणके स्तरपर उठा ले गये हैं ताकि यह उच्च उद्देश्य और मर्मको अधिक योग्यताके साथ वहन कर सके। इसका विषय महा-भारतके जैसा ही है, पार्थिव जीवनमें दानवीय शक्तियोंके साथ दैवी शक्तियोंका संघर्ष, पर यहां इसे अधिक शुद्ध आदर्शवादी रूपों तथा स्पष्टतः अतिलौकिक परिमाणमें प्रस्तुत किया गया है और मानव-चरित्रकी शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी वृत्तियोंको काल्पनिक रूपमें अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। एक ओर तो चित्रित है आदर्श मानवत्व, सद्‌गुण और नैतिक व्यवस्थाका दिव्य सौंदर्य एवं धर्मपर प्रतिष्ठित सभ्यता जो एक नैतिक आदर्शके अत्युच्च रूपको चरितार्थ कर रही है, और उस आदर्शको भी सुरुचिपूर्ण सौंदर्य, सामंजस्य और माधुर्यके अपूर्वतया सबल आकर्षणके साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरी ओर हैं अमानुषी अहंकार और स्वेच्छा एवं उल्लासमयी हिंसाकी दुर्दांत, अराजकतापूर्ण और प्रायः अनिश्चित आकारवाली शक्तियां, और मानसिक प्रकृतिके इन दो विचारों और शक्तियोंको जीवंत और साकार रूप देकर इनका परस्पर संघर्ष कराया गया है और इसके चरम परिणामके रूपमें देवता-स्वरूप मानवकी राक्षसपर विजय दिखलायी गयी है। जो-जो छाया और जटिलता इस काव्यके प्रधान विचारकी ऐकांतिक शुद्धताको, पात्रोंकी रूपरेखामें प्रदर्शित प्रतिनिधि-रूप शक्तिको, स्वभावके विशिष्ट रंगके महत्त्वको क्षीण करतीं उन सबका परि-त्याग कर दिया गया है और उनके केवल उतने ही अंशको स्वीकार किया गया है जितना कि इसके आकर्षण और गूढ़ार्थको मानवोचित रूप देनेके लिये पर्याप्त था। कवि हमें हमारे जीवनके पीछे विद्यमान अपरिमेय शक्तियोंसे अवगत कराते हैं और अपने घटनाक्रमको एक भव्य महाकाव्योचित दृश्यावलि —— महान् राजकीय नगरी, पर्वत और सागर, वन और मरुस्थल—के अंदर जड़ देते हैं। इन सब चीजोंका वर्णन ऐसे विस्तारके साथ किया गया है जिससे हमें अनुभव हो कि मानो संपूर्ण जगत् उनके काव्यका दृश्य-पट है और इसका विषय है मनुष्यकी समस्त दैवी और आसुरी शक्यता जिसे कुछ एक महान् या दानवीय पात्रोंके रूपमें चित्रित किया गया है। यहां भारतके नैतिक और सौंदर्यरसिक मन एक सुसमंजस एकताके अंदर परस्पर घुलमिलकर आत्म-अभिव्यंजनाकी अभूतपूर्व विशुद्ध व्यापकता और सुन्दरतातक पहुंच गये हैं। रामायणने भारतीय कल्पनाशक्तिके लिये इसके

चरित्रसंबंधी उच्चतम और कोमलतम मानवीय आदर्शोंको मूर्त रूप प्रदान किया, बल, साहस, सज्जनता, पवित्रता, विश्वासपात्रता और आत्मोत्सर्गका परिचय इसे अत्यंत मनोरम और सुसमंजस रूपोंमें कराया और उन रूपोंको इस प्रकार रंग दिया कि वे भावावेग और सौंदर्य-भावनाको आकृष्ट कर सकें, नैतिक नियमोंको उसने एक ओर तो समस्त घृणाजनक कठोरताके और दूसरी ओर निरी सामान्यताके आवरणसे मुक्त कर दिया; और जीवनकी साधारण वस्तुओंको भी, पति-पत्नी, मां-बेटे और भाई-भाईके पारस्परिक प्रेमको, राजा और नेताके कर्तव्य और प्रजा तथा अनुयायीकी राजभक्ति एवं निष्ठाको, महान् व्यक्तियोंकी महत्ता और सरल लोगोंके सच्चे स्वरूप और मूल्यको एक प्रकारकी उच्च दिव्यता प्रदान की, अपने आदर्श रंगोंकी आभासे नैतिक वस्तुओंको रंगकर एक अधिक आंतरात्मिक अर्थका सौंदर्य प्रदान कर दिया। भारतके सांस्कृतिक मानसको ढालनेमें वाल्मीकिकी कृतिने प्रायः एक अपरिमेय शक्तिसे युक्त साधनके रूपमें कार्य किया है: इसने राम और सीता जैसे या फिर हनुमान, लक्ष्मण और भरतसरीखे पात्रोंके रूपमें अपने नैतिक आदर्शोंकी सजीव मानव-प्रतिमूर्तियों-को उसके सम्मुख चित्रित किया है ताकि वह उनसे प्रेम कर सके और उनका अनुकरण कर सके; राम और सीताको तो इतनी दिव्यताके साथ तथा मूल सत्यकी ऐसी अभिव्यक्तिके साथ चित्रित किया गया है कि वे स्थायी भक्ति और पूजाके पात्र बन गये हैं; हमारे राष्ट्रीय चरित्रके सर्वो-त्तम और मधुरतम तत्त्वोंमेंसे बहुतोंका गठन इसीने किया है और इसीने उसके अंदर उन सूक्ष्मतर और उत्कृष्ट पर सुदृढ़ आत्मिक स्वरोंको और अधिक सुकुमार मानव-प्रकृतिको उद्बुद्ध तथा प्रतिष्ठित किया है जो सद्गुण और आचार-व्यवहारके प्रचलित बाह्य अंगोंसे कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तुएं हैं।

इन महाकाव्योंकी कवित्व-शैली इनके सारतत्त्वकी महानतासे निम्न कोटिकी नहीं है। जिस शैली और छंदमें ये लिखे गये हैं उनमें बराबर ही एक उदात्त महाकाव्योचित गुण है, उज्ज्वल उच्चकोटिक सरलता और स्पष्टता है जो अभिव्यंजनामें समृद्ध है पर है निरर्थक अलंकारोंसे रहित, इनमें एक वेगमय, ओजस्वी, नमनीय और प्रवाहशील छंद है जिसमें महाकाव्यका संगीत सदा ही निश्चित रूपसे विद्यमान रहता है। पर इन दोनोंकी भाषाकी प्रकृतियोंमें कुछ अंतर है। महाभारतकी अपनी विशिष्ट शब्दावलि प्रायः कठोर रूपसे पुरुषत्वपूर्ण है, यह अपने आंतरिक आशयकी शक्ति और अपने मोड़की अंतःप्रेरित यथार्थतापर विश्वास रखती है, अपनी सादगी और

स्पष्टतामें तथा बारंबार आनेवाली सुन्दर और सुखद अलंकारहीनतामें प्रायः कठोर रूपसे संयत है; यह ओजस्वी और आशु काव्य-प्रतिभाकी और महान् तथा सरल प्राण-शक्तिकी वाणी है, यह संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण पदोंमें भाव प्रकाशित करती है पर ऐसा यह एकनिष्ठ सच्चाईके बलपर ही करती है और, कुछेक जटिल स्थलों या उपाख्यानोंको छोड़कर, यह विषयको संक्षिप्त करनेके लिये अलंकारोंका किसी प्रकारका श्रमपूर्ण प्रयोग नहीं करती। यह भाषा-शैली दौड़नेवाले एक खिलाड़ीके उस हलके और पुष्ट तथा नग्न और निर्मल शरीरके समान है जिसमें स्वास्थ्यकी कांति और स्वच्छता तो है पर मांसकी निरर्थक वृद्धि या पेशियोंका अतिरिक्त उभार नहीं है और जो दौड़ लगानेमें तेज और फुर्तीला है तथा कभी थकता नहीं। इस विशाल काव्यमें ऐसी चीजें भी बहुत-सी हैं जो निम्न शैलीकी हैं और ऐसा होना अनिवार्य ही था, पर इसमें ऐसी चीजें बहुत ही कम हैं या हैं ही नहीं जो उस विशेष प्रकारके स्थिर स्तरसे नीचेकी हों जिसमें इस गुणका कुछ-न-कुछ अंश सदा ही विद्यमान रहता है। रामायणका शब्द-विन्यास एक अधिक आकर्षक सांचेमें ढाला गया है जो ओज और माधुर्यका एवं प्रसाद, ऊष्मा और लालित्यका एक आश्चर्य है; इसकी पदावलिमें केवल कवित्वका सत्य और महाकाव्यकी शक्ति एवं भाषाशैली ही नहीं है बल्कि विचार, भाव या विषयकी अनुभूतिका सतत अंतरंग स्पंदन भी है: इसके स्थायी ओजमें और इसकी शक्तिके स्थायी श्वासोच्छ्वासमें एक सुन्दर आदर्श सुकुमारताका तत्त्व भी है। दोनों काव्योंमें एक उच्च कवि-आत्मा और अंतःप्रेरित प्रज्ञा ही कार्य कर रही है: दोनोंमें ही वेद और उपनिषदोंका साक्षात् अंतर्ज्ञानात्मक मन बौद्धिक और बाह्यतः-आंतरात्मिक कल्पनाके पर्देके पीछे चला गया है।

यही है इन महाकाव्योंका वह स्वरूप और ये ही हैं वे गुण जिनके कारण ये अमर हो गये हैं, भारतकी श्रेष्ठतम साहित्यिक और सांस्कृतिक निधियोंमें परिगणित होते हैं और राष्ट्रके मनपर अपना स्थायी प्रभुत्व प्राप्त किये हुए हैं। ऐसी छोटी-मोटी त्रुटियों और विषमताओंको छोड़कर जैसी इस उच्च स्तरपर प्रस्तुत की गयी और इतने दीर्घकालीन प्रयासके द्वारा रची गयी सभी रचनाओंमें पायी ही जाती हैं, पाश्चात्य आलोचकोंके अन्य आक्षेप केवल मनोवृत्ति और सौंदर्यात्मक रुचिके भेदको ही प्रकट करते हैं। योजनाकी विशालता और ब्योरेकी सुविस्तृत सूक्ष्मता पश्चिमी मनको चकरा और थका देती हैं क्योंकि वह क्षुद्रतर सीमाओं और अधिक आसानीसे थकनेवाली दृष्टि और कल्पनाका आदी है तथा उसका जीवन जल्दबाजीसे

भरा रहता है; परंतु ये दृष्टिकी उस विशालता और परिस्थितियोंके प्रति उस एकाग्रतापूर्ण जिज्ञासाके अनुकूल पड़ती हैं जो भारतीय मनकी स्वभावगत विशेषताएं हैं। स्थापत्यकलाके प्रसंगमें मैं संकेत कर ही चुका हूं कि ये विशेषताएं सार्वभौम चेतना और उसकी दृष्टि, कल्पना तथा अनुभवसंबंधी क्रियाशीलताके स्वभावसे उत्पन्न होती हैं। (भारतीय और पश्चिमी मनोवृत्तिमें) दूसरा भेद यह है कि भारतमें पार्थिव जीवनको यथार्थवादी दृष्टिसे, अर्थात् ठीक वैसे रूपमें जैसा कि वह स्थूल मनके लिये होता है, नहीं देखा जाता बल्कि सदा ही उसे उसके पीछे अवस्थित बहुत-सी चीजोंके संपर्कमें रखकर देखा जाता है। भारतीय मनके अनुसार मनुष्यका कार्य-व्यापार महान्, दैवी, आसुरी और राक्षसी सत्ताओं और शक्तियोंसे घिरा होता है और उनसे प्रभावित होता है, और जगत्के अतिमहान् विशिष्ट व्यक्ति इन अधिक विराट् व्यक्तित्वों और शक्तियोंके एक प्रकारके अवतार होते हैं। यह आक्षेप कि इससे व्यक्ति अपनी वैयक्तिक रुचि खो देता है और निर्व्यक्तिक शक्तियोंकी कठपुतली बन जाता है न तो वास्तविक दृष्टिसे ठीक है और न इस साहित्यके कल्पनामूलक पात्रोंके यथार्थ रूपकी दृष्टिसे, क्योंकि वहां हम देखते हैं कि इसके द्वारा उन व्यक्तियोंकी कर्मकी महानता एवं शक्ति और भी बढ़ जाती है; निर्व्यक्तिकता उनके व्यक्तित्वकी क्रीड़ाको उच्च और उन्नत बनाती है और इस प्रकार इसके द्वारा वे ऊंचे ही उठते हैं। यहां लौकिक और अलौकिक प्रकृतिका जो सम्मिश्रण देखनेमें आता है वह कोई कोरी कल्पना नहीं है बल्कि वह पूर्ण सच्चाई और स्वाभाविकतासे युक्त है और इसके मूलमें वही उक्त धारणा काम कर रही है कि जीवनमें एक अधिक महान् सद्वस्तु विद्यमान है। यथार्थवादी आलोचक जिन बहुत-सी बातोंपर गलत और असंगत उग्रताके साथ आपत्ति करता है,— जैसे, तपस्यासे शक्तियोंकी प्राप्ति, दिव्य अस्त्रोंका प्रयोग, आंतरात्मिक कर्म और प्रभावके पुनः-पुनः संकेत,— उन्हें इस महत्तर सद्वस्तुके अर्थपूर्ण प्रतीक ही मानना होगा। इसी प्रकार, जहां सारा कार्य-कलाप ही साधारण मानवीय स्तरसे ऊंचे उठे हुए लोगोंका है वहां अतिशयोक्तिकी शिकायत भी समान रूपसे अयुक्तियुक्त ठहरती है, क्योंकि हम कविसे उन्हीं अनुपातोंकी मांग कर सकते हैं जो उसकी कल्पनामें आये हुए जीवन-स्तरके सत्यके साथ सुसंगत हों, हम उससे उन साधारण मापोंके प्रति कल्पना-विहीन निष्ठा रखनेके लिये अनुरोध नहीं कर सकते जो यहां सर्वथा अप्रासंगिक होनेके कारण मिथ्या ही होंगे। इन महाकाव्योंके पात्रोंमें निर्जीवता और व्यक्तित्वहीनताकी शिकायत भी ऐसी ही निराधार है: राम और सीता,

अर्जुन और युधिष्ठिर, भीष्म, दुर्योधन और कर्ण भारतीय मनके लिये तीव्र रूपमें वास्तविक, मानवीय और जीवंत-जाग्रत् हैं। हां, इतनी बात जरूर है कि भारतीय कलाकी ही भांति यहां भी, मुख्य बल चरित्रके बाह्य लक्षणों-पर नहीं दिया गया है, क्योंकि इनका प्रयोग तो चित्रणमें सहायता करने-वाले साधनोंकी न्याईं गौण रूपमें ही किया गया है, यहां तो मुख्य रूपसे अंतरात्माके जीवन तथा अंतरीय आत्मिक गुणपर ही बल दिया गया है और इन्हें रूपरेखाकी यथासंभव पूर्ण सजीवता, सबलता और शुद्धताके साथ निरूपित किया गया है। राम और सीता जैसे पात्रोंकी आदर्शवादिता कोई निर्जीव और निस्तेज अवास्तविकता नहीं है, उनमें आदर्श जीवनके सत्य-की सजीवता है, जिस महानताको मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अपनी अंतरात्माको सुअवसर देकर प्राप्त कर ही लेता है उसके सत्यसे वे प्राणवंत हैं। इस आक्षेपमें कोई बल नहीं है कि उनमें हमारी साधारण प्रकृतिकी खंडित क्षुद्रताके लिये बहुत ही कम गुंजायश है।

सुतरां ये महाकाव्य अपरिष्कृत पौराणिक आख्यानों और लोककथाओं-का स्तूपमात्र नहीं हैं, जैसा कि अज्ञानपूर्वक आक्षेप किया जाता है, बल्कि जीवनके आभ्यंतरिक अर्थोंका अत्यंत कलात्मक चित्रण हैं, ओजस्वी और उदात्त चिंतनका, विकसित नैतिक और सौंदर्यरसिक मन तथा उच्च सामाजिक और राजनीतिक आदर्शका जीवंत निरूपण हैं और एक महान् संस्कृतिकी चैतन्यमयी मूर्त्ति हैं। जीवनकी ताजगीमें यूनानके महाकाव्यों-के समान भरपूर किंतु विचार और सारतत्त्वमें उनसे अनंततः अधिक गभीर और विकसित, संस्कृतिकी परिपक्वतामें लैटिनके महाकाव्योंके समान समुन्नत पर ओज-गुणमें उनसे अधिक शक्तिशाली, प्राणवंत और यौवनपूर्ण ये भार-तीय महाकाव्य एक अधिक महान् और पूर्ण राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कार्यकी पूर्त्तिके लिये रचे गये थे, इस प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी महानता और उत्कृष्टताका इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि उच्च और निम्न तथा संस्कृत और सर्वसाधारण दोनों श्रेणियोंके लोगोंने इनका स्वागत किया है तथा इन्हें आत्मसात् किया है और बीस सदियोंसे ये बराबर ही संपूर्ण राष्ट्रके जीवनका अंतरंग और रचनात्मक भाग रहे हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

भारतीय साहित्य

प्राचीन साहित्यका अत्युत्कृष्ट युग, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध और मूल्यवान् समझा जाता है, लगभग दस सदियोंतक और संभवत: इससे भी अधिक लंबे कालतक फैला हुआ है, और प्राचीन रचनाओंमें और इस युगके साहित्यमें स्पष्ट ही काफी बड़ा भेद दिखायी देता है और वह भेद सारतत्त्वमें उतना नहीं है जितना कि इसकी विचारधारा, प्रकृति और भाषाकी गठन और सुषमामें है। भारत-जाति और इसकी संस्कृतिका दिव्य शैशव, वीरतापूर्ण यौवन, उज्ज्वल और ऊर्जस्वी प्राचीन पुरुषत्व समाप्त हो जाते हैं और इनके स्थानपर एक दीर्घकालीन और समृद्ध प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है और इसके परिणामस्वरूप एक इतने ही समृद्ध और प्रचुर वैचित्र्यसे युक्त ह्रासका काल आता है। वह ह्रास मृत्युकी ओर नहीं बढ़ रहा है, क्योंकि उसके बाद दिखायी देता है एक विशेष प्रकारका नवयौवन, एक नया उपक्रम और पुनरावृत्त आरंभ, जिसका माध्यम अब संस्कृतभाषा न रहकर उससे निकली हुई भाषाएं, उसकी प्राकृतोंकी संतानें बन जाती हैं; ये भाषाएं साहित्यिक साधनोंके रूपमें उन्नत की जा चुकी हैं और जैसे-जैसे वह महान् और प्राचीन भाषा अपनी अंतिम शक्तियों और अनुप्रेरक जीवनको खोती जाती है वैसे-वैसे ये विकसित होती जा रही हैं। महाकाव्यों और भर्तृहरि तथा कालिदासकी भाषामें भावना और गठनकी दृष्टिसे विपुल भेद उत्पन्न हो चुका है और उसका कारण संभवत: बौद्धधर्मकी आरंभिक सदियोंके इतिहाससे समझमें आ सकता है जब कि संस्कृत ऐसी एकमात्र साहित्यिक भाषा नहीं रह गयी थी जिसे सभी शिक्षित जन समझते और बोलते हों और पाली इसकी सफल प्रतिस्पर्धिनी बनकर, कम-से-कम, राष्ट्रीय चिंतन और जीवनकी धाराके अधिकांशकी अभिव्यक्तिके एक साधनके रूपमें प्रकट हो चुकी थी। महाकाव्योंकी भाषा और गतिधारामें सीधे ही जीवनके मूल-स्रोतोंसे प्रवाहित होनेवाली वाणीका समस्त ओज,

स्वातंत्र्य, सहजस्फूर्त बल और आकर्षण है; कालिदासकी भाषा एक पूर्णताप्राप्त कला है, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक रचना है जो पूर्ण, सुचिंतित, सुचारु अलंकारोंसे भूषित, एक मूर्तिके समान सुगठित, और एक तस्वीरके समान चित्रित है, यद्यपि उसमें सिद्धहस्त कौशल और युक्ति है पर अभी वह कृत्रिमतासे मुक्त है, और फिर भी बुद्धिके द्वारा श्रमपूर्वक विरचित एक सावधानतापूर्ण कला-कृति है। वह सतर्कतापूर्वक स्वाभाविक है, प्रथम जन्मजात प्रकृतिकी स्वयंस्फूर्त सहजताके द्वारा नहीं वरन् अभ्यास-अर्जित द्वितीय प्रकृतिकी सहजताकी संसिद्ध मुद्राके द्वारा। बादमें आनेवाले लेखकोंमें कौशल और युक्ति-कल्पनाके तत्त्व बढ़ जाते तथा प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं, उनकी भाषा यद्यपि ओजस्वी और सुन्दर है, पर वह एक श्रमसिद्ध और सुविचारित रचना है और वह केवल सुशिक्षित श्रोतृवर्ग एवं उच्चकोटिके विद्वानोंको ही आकर्षित करती है। धार्मिक ग्रंथ, पुराण और तंत्र, एक अधिक गहरे तथा अभीतक तीव्र रूपमें जीवंत स्रोतसे प्रेरित होते हैं, अपनी सरलताके द्वारा एक अधिक व्यापक आकर्षणको अपना लक्ष्य बनाते हैं और इस प्रकार महाकाव्योंकी परंपराको कुछ कालके लिये कायम रखते हैं, परंतु उनकी सरलता एवं स्पष्टता अधिक प्राचीन कालकी स्वाभाविक सहजता नहीं वरन् एक संकल्प-सिद्ध गुण है। अंतमें संस्कृत पंडितोंकी भाषा बन जाती है और कुछ विशेष प्रकारके दार्शनिक, धार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण उद्देश्योंको छोड़कर जनताके जीवन और मनको व्यक्त करनेका मूल साधन नहीं रह जाती।

परंतु साहित्यिक भाषाका यह परिवर्तन, समस्त प्रेरक अवस्थाओंके होते हुए भी, हमारी संस्कृतिकी मनोवृत्तिके केंद्रके महान् परिवर्तनसे संबंध रखता है। केंद्र अभी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक है और सदा ही ऐसा रहता है, पर अंदरकी अधिक कठोर वस्तुएं जरा पीछे हटकर पृष्ठभूमिमें स्थित होती दिखायी देती हैं, निःसंदेह वे सर्वमान्य समझी जाती हैं और शेष सब वस्तुओंपर छायी रहती हैं पर फिर भी अपने-आपको उनसे कुछ जुदा कर उन्हें उनके अपने विस्तार और लाभके लिये कार्य करने देती हैं। जो बाह्य शक्तियां स्पष्ट रूपमें सामने आ खड़ी होती हैं वे हैं जिज्ञासापूर्ण बुद्धि, प्राणिक आवेग, सौंदर्यप्रिय, शिष्टतापूर्वक क्रियाशील और सुखभोगात्मक ऐंद्रिय जीवन। यह तर्कमूलक दर्शन, विज्ञान, कला और उन्नत शिल्पोंका, कानून, राजनीति, व्यापार और उपनिवेशीकरणका, व्यवस्थित एवं समुन्नत प्रशासनोंसे युक्त बृहत् राज्यों और साम्राज्योंका, चिंतन और जीवनके सभी विभागोंमें शास्त्रोंके सूक्ष्म शासनका महान् युग है, जो भी

चीजें चमक-दमकवाली, इंद्रियभोग्य और सुखप्रद हैं उन सबके उपभोगका, जो कुछ भी सोचा और जाना जा सकता था उस सबके विषयमें तर्क-वितर्क करनेका, जो कुछ भी बुद्धि और व्यवहारकी परिधिमें लाया जा सकता था उस सबको स्थिर और प्रणालीबद्ध रूप देनेका महायुग है,—भारतीय संस्कृतिका अत्यंत भव्य, वैभवशाली और गौरवपूर्ण राम-राज्य है।

इस युगमें जिस बौद्धिकताका प्रभुत्व है वह किसी प्रकार भी चंचल, संदेहवादी या निषेधात्मक नहीं है, बल्कि वह अत्यधिक अनुसंधानशील और सक्रिय है, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक सत्यकी जिन महान् धाराओंका अतीतमें अन्वेषण और प्रतिपादन हो चुका था उन्हें वह स्वीकार करती है, पर साथ ही उनकी सब संभव शाखा-प्रशाखाओंको विकसित करने, पूर्ण बनाने, सूक्ष्मता और समग्रताके साथ जानने तथा विस्तारपूर्वक सर्वथा सुप्रतिष्ठित प्रणालीका नियत रूप देने और उन्हें गठित करनेके लिये तथा बुद्धि, इंद्रिय और जीवनको भरा-पूरा बनानेके लिये उत्सुक भी है। भारतीय धर्म, दर्शन और समाजके महान् आधारभूत सिद्धांत और पद्धतियां उपलब्ध और प्रस्थापित हो चुकी हैं और भारतीय संस्कृतिके पग अब एक महत् परंपराकी बृहत्ता और संतोषकारी सुरक्षामें विचरण करते हैं; परंतु इन क्षेत्रोंमें तथा इनसे अत्यधिक विस्तृत प्रदेशमें सृजन और अनुसंधान करनेके लिये, महान् आरंभों, विज्ञान, शिल्प तथा साहित्यकी प्रबल प्रगतियों, और शुद्ध बौद्धिक तथा सौंदर्यबोधात्मक कार्य-कलापके स्वच्छंद विकासके लिये अभी भी बहुत अधिक गुंजायश है, प्राणिक सत्ताके सुखभोगों और भाविक सत्ताके संस्कार-परिष्कारके लिये और जीवनकी कला एवं तालबद्ध गतिविधिके विकासके लिये भी अभी विपुल क्षेत्र सामने पड़ा है। जीवन-क्षेत्रमें ऊंची बौद्धिकतासे रंगा हुआ एक प्राणिक दबाव तथा बहुमुखी रुचि देखनेमें आती है, एक बौद्धिक और साथ-ही-साथ प्राणिक एवं ऐंद्रिय तुष्टिको प्रश्रय देना, इतना ही नहीं वरन् इससे भी आगे बढ़कर विषय-सुखकी स्थूल अनुभूतिको खुले रूपमें प्राप्त करना—यह सब कुछ इस युगमें पाया जाता है, पर इस विषयोपभोगमें भी प्राच्य मनोवृत्तिके अनुसार एक प्रकारकी शिष्टता और व्यवस्था, सौंदर्यप्रिय संयमका तत्त्व एवं नियम-मर्यादाका पालन देखनेमें आता है जो सदा ही उस उद्दाम उच्छृंखलतासे बचाता है जिसकी शिकार अपेक्षाकृत कम संयमशील जातियां हुआ करती हैं। इस युगकी विशिष्ट, केंद्रीय क्रिया है बौद्धिक मनका खेल और सर्वत्र इसीकी प्रधानता पायी जाती है। इससे अधिक प्राचीन युगमें भारतीय मन और प्राण-तत्त्वके अनेक तार एकीभूत तथा अभेद्य हैं, वे एक अखंड और व्यापक झनकार हैं जिसे

एक शक्तिशाली और विपुल पर सरल संगीतके लिये साधा गया है; यहां वे संग-संग अवस्थित — एक-दूसरेके साथ संबद्ध और सुसंगत, अद्‌भुत और जटिल, बहुलतया एक प्रतीत होते हैं। अंतर्ज्ञानात्मक मनकी सहजस्फूर्त एकताका स्थान विश्लेषण और संश्लेषण करनेवाली बुद्धिकी कृत्रिम एकता ले लेती है। कला और धर्ममें अभी भी आध्यात्मिक और अंतर्ज्ञानात्मक प्रेरणाकी प्रधानता है, परंतु साहित्यमें वह प्रेरणा उतनी प्रमुख नहीं है। धार्मिक और लौकिक ग्रंथोंमें एक निश्चित विभाजन कर दिया गया है जो पहलेके युगोंमें किसी महत्त्वपूर्ण मात्रामें विद्यमान नहीं था। महान् कवि और लेखकगण लौकिक साहित्यके रचयिता हैं और उनके ग्रंथोंके रामायण और महाभारतकी भांति जनताके अंतरंग धार्मिक और नैतिक मनका अंग बननेकी कोई संभावना नहीं। धार्मिक काव्यकी सरिता तो अलग पुराणों और तंत्रोंमें प्रवाहित हो रही है।

इस युगके महान् प्रतिनिधि-कवि हैं कालिदास। वह एक ऐसे आदर्श-रूपकी स्थापना करते हैं जिसकी तैयारी उनके पहलेसे हो रही थी और जो उनके बाद भी सदियोंतक कायम रहा, अवश्य ही इस बीच उसमें थोड़े-बहुत साज-श्रृंगारकी वृद्धि तो अवश्य हुई पर सार-रूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनके काव्य एक विशेष प्रणाली और सार वस्तुका पूर्ण और सुसमंजस रूपमें निर्मित नमूना हैं; अन्य कवियोंने प्रतिभाके साथ सदा ही उस प्रणाली एवं सारतत्त्वको उसी प्रकारके रूपोंमें ढाला पर उनकी प्रतिभा अपनी क्षमतामें निम्न कोटिकी थी या फिर वह सुरतालकी दृष्टिसे कम संतुलित, कम निर्दोष और कम पूर्णांग थी। कालिदासके युगमें काव्यात्मक भाषाकी कला असाधारण पूर्णतातक पहुंच गयी थी। स्वयं काव्य एक ऐसी उच्च कोटिकी शिल्पकला बन चुका था जो अपने साधनोंको जानती थी, अपने करणोंका प्रयोग करते समय छोटी-मोटी बातोंमें भी अत्यंत सावधानता और सचाई बरतती थी, अपने शिल्पकौशलमें वास्तुकला, चित्रकारी और मूर्तिकलाके समान ही सतर्कता और यथार्थतासे काम लेती थी, रूपकी सुन्दरता और शक्तिकी परिकल्पना, लक्ष्य और भावनाकी श्रेष्ठता और समृद्धताके समकक्ष तथा अपने रूप-विधानकी यथायथ पूर्णताको सौंदर्यात्मक अंतर्दृष्टि अथवा भाविक या ऐंद्रिय अपीलकी पूर्णताके समकक्ष बनानेके लिये सजग थी। अन्य कलाओंकी भांति और सच पूछो तो इस सारे युग-की समस्त मानवीय कार्यप्रवृत्तियोंकी भांति काव्य-कलामें भी एक शास्त्रकी, काव्यालोचनके एक सुसम्मत और सावधानतापूर्वक अनुसृत विज्ञान और कलाकी प्रतिष्ठा की गयी। वह कला एवं विज्ञान प्रणालीकी पूर्णताको

गठित करनेवाली सभी चीजोंकी आलोचना करता तथा उन्हें सूत्रबद्ध करता था, वर्जनीय चीजोंका निर्धारण करता था, मूलतत्त्वों और संभावनाओंको जाननेके लिये अत्यंत इच्छुक था पर इसके लिये वह आदर्शमानों और मर्यादाओंके शासनके अधीन रहना पसंद करता था। उन आदर्श-मर्यादाओं-की कल्पना अतिरंजना या दोष-त्रुटि-रूपी समस्त प्रमादका निवारण करनेके उद्देश्यसे की गयी थी और इसलिये व्यवहारमें वे निकृष्ट या असावधानता-पूर्ण उतावली या अनियमित काव्यरचना करनेकी किसी प्रकारकी जरा-सी भी प्रवृत्तिके समान ही रचनाकी किसी प्रकारकी नियमहीनताके भी प्रतिकूल थीं, यद्यपि कविका कल्पना और स्वच्छंदताका जन्मसिद्ध अधिकार सिद्धांत-रूपमें स्वीकार किया गया था। कविसे आशा की जाती है कि वह अपनी कलाके विषयमें पूर्णतया सचेत हो, इसके आवश्यक नियमों तथा स्थिर एवं निश्चित मानदंड और प्रणालीसे उतनी ही बारीकीके साथ परिचित हो जितनी बारीकीके साथ चित्रकार और मूर्तिकार होता है और अपनी आलोचक बुद्धि एवं ज्ञानके द्वारा अपनी प्रतिभाकी उड़ानको नियंत्रित करे। काव्य-रचनाकी यह सतर्क कला अंतमें अत्यधिक मात्रामें एक कठोर परंपरा बन गयी, यह अलंकार-संबंधी युक्ति-कौशलकी अत्यधिक सराहना करती थी, यहांतक कि यूनानी काव्यके अलेग्जेंडरके समयके ह्रास-युगकी न्याईं, पंडितोंकी अत्यंत विलक्षण विकृतियोंके लिये भी स्वीकृति देती तथा उनकी प्रशंसा करती थी, पर अधिक प्राचीन कृतियोंमें साधारणतः ये त्रुटियां बिल-कुल नहीं हैं या फिर ये केवल कभी-कभी एवं कम ही पायी जाती हैं।

आजतक मानव मनने, कम-से-कम आर्य या सेमिटिक[1] जातियोंके मनने, विचार प्रकट करनेके जिन साधनोंका निर्माण किया है उनमेंसे विशुद्ध संस्कृत संभवतः सबसे अधिक अद्भुत रूपमें परिपूर्ण तथा सुयोग्य साधन है। यह अधिकतम संभव प्रसाद-गुणके द्वारा समुज्ज्वल है, यथायथताकी चरम सीमातक यथायथ है, अपनी वाक्य-रचनामें सदा ही संक्षिप्त और अपने सर्व-श्रेष्ठ रूपमें परिमित शब्दोंका व्यवहार करनेवाली भी है, पर यह सब होते हुए भी यह श्री-हीन या निरलंकार कभी नही होती : इसमें गभीरताको स्पष्टतापर बलिदान नहीं किया गया है, बल्कि इसमें अर्थकी अंतर्गर्भित समृद्धता, उच्च ऐश्वर्य और सौंदर्यकी क्षमता तथा स्वर और भाषा-शैलीकी स्वाभाविक महत्ता है जो इसे प्राचीन कालसे परंपराद्वारा प्राप्त हुई है।

---

[1]लाल समुद्रके आसपास बसनेवाली, यहूदी, अरब, सीरियन, मिस्री आदि नयी-पुरानी जातियोंको सेमिटिक कहते हैं।—अनु०

समास-प्रचुर रचनाकी शक्तिका दुरुपयोग आगे चलकर गद्यके लिये घातक सिद्ध हुआ परंतु प्राचीनतर गद्य और काव्यमें जहां समासका प्रयोग सीमित है, एक ऐसे संयत प्राचुर्यका वातावरण है जो संयमके द्वारा सबल हो उठा है और अपनी साधन-संपदाका अधिकतम उपयोग करनेमें और भी अधिक समर्थ हो गया है। प्राचीन श्रेष्ठ काव्यके महान्, सूक्ष्म और संगीतमय छंद ही जिनके नाम कल्पनाप्रधान, आकर्षक और सुन्दर हैं तथा जिनकी क्षमता बहुविध और रचना सतर्कतापूर्ण है, अपने-आपमें एक ऐसा सांचा हैं जो पूर्णताके लिये आग्रह करता है और निकृष्ट या फूहड़ कारीगरी या दोष-पूर्ण लयतालकी संभावनाके लिये कदाचित् अवकाश ही नहीं देता। इस काव्यकलाकी इकाई है श्लोक, अर्थात् चार पादोंवाला एक स्वयंपूर्ण पद्य, और ऐसी आशा की जाती है, कि प्रत्येक श्लोक अपने-आपमें एक पूर्ण कला-कृति हो, किसी पदार्थ, दृश्य, विवरण, विचार, भावना, मनोदशा या भाव-तरंगकी सुसमंजस, विशद और असंदिग्ध अभिव्यक्ति हो जो स्वयं एक स्व-तंत्र चित्रके रूपमें टिक सके; श्लोकोंकी शृंखलाको पूर्ण इकाईकी वृद्धिके द्वारा एक अविच्छिन्न विकास होना चाहिये और इस प्रकार संपूर्ण कविता-को या एक लंबे काव्यके किसी सर्गको एक कलात्मक और संतोषप्रद रचना होना चाहिये तथा एकके बाद एक आनेवाले सर्गोंको होना चाहिये समग्र स्वर-सामंजस्यका निर्माण करनेवाली सुनिश्चित मूर्च्छनाओंका विकास। इसी तरहके सतर्कतापूर्ण कौशलके साथ रची हुई और अत्यंत सुसंस्कृत काव्य-रचना कालिदासके काव्यमें अपनी पूर्णताकी पराकाष्ठातक पहुंची थी।

इस उत्कर्षके मूलमें दो गुण काम कर रहे हैं और वे यहां इतनी बड़ी मात्रामें विद्यमान हैं जिसकी समानता केवल महान्से महान् विश्व-कवियोंकी कृतिमें ही मिल सकती है और उन कवियोंमें भी वे सदा इतनी एकरस सम-स्वरताके साथ संयुक्त नहीं दिखायी देते, न उनमें रूप-विधान और सारतत्त्व-का इतना समुचित संयोग ही दीख पड़ता है। कालिदास, मिल्टन और वर-जिलके साथ सर्वश्रेष्ठ काव्य-कलाकारोंकी पंक्तिमें स्थान ग्रहण करते हैं और उनकी कलामें भावना और संवेदना उक्त अंग्रेज कविकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सुकुमार है, तथा सहज-स्वाभाविक शक्तिका उच्छ्वास भी उक्त रोमन कविकी अपेक्षा अधिक महान् है और यह उसके रूप-विधानको जीवंत और अनुप्राणित करता है। साहित्यमें उनकी शैलीसे अधिक पूर्ण और सुसमंजस शैली और कोई नही है, पूर्णतः समस्वर और उपयुक्त वाक्-शैलीका उनसे अधिक अंतःप्रेरित, सतर्क और सिद्धहस्त शिल्पी और कोई नहीं है, उनकी वाक्-शैलीमें शब्दोंका प्रयोग तो कम-से-कम किया गया है पर इसके साथ ही

वहां एक सुदक्ष सहजता और दिव्य सुषमाकी पूर्णतम अनुभूति प्राप्त होती है, और वहां एक ऐसी सुन्दर अतिशयोक्तिका भी बहिष्कार नहीं किया गया है, जो 'अति' से खाली है, वहां तो सौंदर्यात्मक दृष्टिसे मूल्य रखनेवाली एक परिमार्जित संपदा है जो यथासंभव अधिक-से-अधिक मात्रामें विद्यमान है। भाव-प्रकाशनकी सुसमंजस संक्षिप्तता — उसका एक भी शब्द, एक भी पद एवं स्वर निरर्थक नहीं होता – तथा जो ज्ञानपूर्ण और प्रचुर वैभव प्राचीनतर उच्चकोटिक कवियोंका ध्येय था उसका संपूर्ण बोध, इन दोनों चीजोंके कलात्मक संयोगको वह और किसीकी भी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूपमें चरितार्थ करते हैं। किसी प्रकारकी अति किये बिना प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक पदको समृद्धतम रंग, मोहकता, आकर्षण और मूल्य, महत्ता या उत्कृष्टता अथवा ओजस्विता या मधुरता और सदा ही किसी प्रकार तथा यथोचित प्रकारके सौंदर्यकी पूर्णतम मात्रा प्रदान करनेमें उनके समान दिव्य कौशल और किसीमें नहीं है। उनका पद-संयोजन पद-चयनके समान ही उपयुक्त और प्रसादपूर्ण है। 'ऐंद्रिय' शब्दके उच्चतर अर्थमें वह सब कवियोंमें अत्यंत भव्य रूपमें ऐंद्रिय अर्थात् इंद्रियसुखवादी हैं, क्योंकि उन्हें अपने विषयकी स्पष्ट अंतर्दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त है, सुतरां उनकी ऐंद्रियता न तो लंपटतापूर्ण है और न अभिभूतकारी ही, वरन् यह सदा ही संतोष-प्रद तथा समुचित होती है, क्योंकि यह बुद्धिके पूर्ण बलसे तथा उस गंभीरता और ओजस्वितासे युक्त है जो कभी-कभी तो प्रत्यक्ष होती है और कभी-कभी सुन्दरताके अंदर छिपी हुई पर अलंकृत और चित्रित परिधानके भीतर भी पहचानी जा सकने योग्य होती है और क्योंकि यहां राजसी भोगके अंतस्तलमें एक राजोचित संयम निहित है। कालिदासको छंदपर जो परि-पूर्ण अधिकार प्राप्त है वह भी उतना ही महान् है जितना कि उनका भाषा-शैलीपर प्राप्त परिपूर्ण अधिकार। यहां हमें प्रत्येक प्रकारके छंदमें संस्कृत-भाषाके शब्द-सामंजस्यकी सर्वाधिक पूर्ण उपलब्धियां देखनेको मिलती हैं (शुद्ध गीत्यात्मक स्वर-माधुरी तो केवल आगे चलकर, इस युगके अंतमें, जयदेव-जैसे दो-एक कवियोंमें ही पायी जाती है), वे शब्द-सामंजस्य सुन्दर स्वर-संगतियोंकी सतत सूक्ष्म गहनतापर और उस अर्थपूर्ण सुरतालके शिष्ट प्रयोगपर आधारित हैं जो संगीतके स्वरकी प्रवाहशील एकताको कभी भंग नहीं करता। और कालिदासके काव्यका दूसरा गुण है सारतत्त्वकी अखूट पुष्कलता। विचार और सारतत्त्वके परिधानरूप शब्द और स्वरके पूर्ण सौंदर्यात्मक मूल्यको प्राप्त करनेके लिये सदा सतर्क रहते हुए वह इस बातकी ओर भी समान रूपसे सावधान रहते हैं कि स्वयं विचार और सार-

तत्त्व भी उच्च, ओजोमय या प्रचुर बौद्धिक, वर्णनात्मक या भावमय मूल्यसे संपन्न हों। उनकी परिकल्पना अपनी दृष्टिमें विशाल है यद्यपि इसमें प्राचीनतर कवियोंकी-सी वैश्व विशालता नहीं है, और साथ ही यह अपनी क्रियान्वितिके प्रत्येक पगपर अपने स्तरको कायम रखती है। अपनी साधन-सामग्रीका व्यवहार करनेमें इस कलाकारका हाथ कभी भूल-चूक नही करता, —हां, उनकी एक कृति[1] इस बातका अपवाद है जो रचनाके दोषसे विकृत है तथा उनकी कृतियोंमें सबसे कम महत्त्वपूर्ण है, — और जिस प्रकार उनकी लेखनीका स्पर्श महान् और सूक्ष्म होता है उसी प्रकार उनकी कल्पना भी सर्वदा अपने कार्यके उपयुक्त होती है।

ये परमोच्च काव्योचित गुण जिस कार्यके लिये प्रयुक्त किये गये वह, अपने बाह्य-रूप और प्रणालीमें भिन्न होनेपर भी, मूलतः बहुत कुछ वही था जो प्राचीनतर महाकाव्योंके द्वारा संपन्न किया गया था; वह था — उसके अपने युगके भारतीय मन, जीवन और संस्कृतिकी काव्यमय भाषामें व्याख्या करना तथा इन्हें अर्थपूर्ण रूपकों और अलंकारोंमें चित्रित करना। कालिदासके सात अद्यावधि जीवित काव्योंमेंसे प्रत्येक अपने ढंगसे, अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपने स्तरपर एक अत्युत्कृष्ट कृति है और सातो ही काव्य एक भव्य और सूक्ष्मालंकारयुक्त चित्रमाला और लेखावलि है जिसका एकमात्र वास्तविक विषय भारतीय मानस, जीवन और संस्कृतिकी व्याख्या और चित्रण ही है। उनका मन विपुल वैभवका भडार था, यह एक ही साथ एक ऐसे विद्वान् और पर्यवेक्षकका मन था जो अपने समयके समस्त ज्ञानसे संपन्न था, अपने समयके राजनीति-विज्ञान और विधिशास्त्र, समाज-विषयक धारणा, प्रणाली और उसके अंगोपांग, धर्म, गाथा-विज्ञान, दर्शन और कला-शास्त्रमें निष्णात था, राजदरबारोंके जीवनसे घनिष्ठ रूपमें परिचित तथा जनसाधारणके जीवनसे भी अभिज्ञ था, प्रकृतिके जीवनका, पशु-पक्षी, ऋतु, वृक्ष और पुष्पका, मनकी समस्त विद्या तथा नेत्रकी समस्त विद्याका व्यापक और अत्यंत सूक्ष्म रूपमें पर्यवलोकन करनेवाला था; और साथ ही यह मन सदैव एक महान् कवि और कलाकारका मन था। उनकी कृतिमें उस पांडित्य या 'अति' विद्वत्ताका स्पर्श नहीं है जो कि कुछ अन्य संस्कृत कवियोंकी कलाको विकृत करता है, वह जानते है कि अपनी सब सामग्रीको अपनी कलाकी भावनाके अधीन कैसे रखा जाय और कैसे विद्वान् तथा पर्य-

---

[1] यहां लेखकका संकेत कालिदासके सर्वप्रथम अप्रौढ़ खंड-काव्य 'ऋतु-संहार' की ओर है। — अनु०

वेक्षकको कविके लिये साधन-सामग्रीका संग्रह करनेवालेसे अधिक कुछ न बनने दिया जाय। परंतु प्रमाण-सामग्रीका ऐश्वर्य सदा ही तैयार और उपलभ्य रहता है और उसे घटना, वर्णन तथा आनुषंगिक विचार और बाह्य-रचनाके अंगके रूपमें निरंतर ही स्थान दिया जाता है अथवा वह सामग्री बीच-बीचमें उन रूपकोंकी उज्ज्वल शृंखलामें घुस आती है जो भव्य श्लोकों, श्लोकार्धों और युग्मकोंकी सुदीर्घ मालाके रूपमें हमारे सामनेसे गुजरते हैं। भारत, उसके विशाल वन-पर्वत और मैदान और उनके निवासी, उसके नर-नारीगण और उसके जीवनकी परिस्थितियां, उसके जीव-जंतु, उसके नगर और ग्राम, उसके तपोवन, नदियां, खेत और बाग-बगीचे कालिदासके उपाख्यान, नाटक और प्रेम-काव्यकी पीठिका हैं। उन्होंने इस सबको देख रखा तथा अपने मनको इससे परिपूरित कर रखा है और अपनी वर्णनशक्तिके समस्त ऐश्वर्यके साथ इसे हमारे सामने सजीव रूपसे चित्रित करनेमें वह कभी नहीं चूकते। भारतके नैतिक और पारिवारिक आदर्श, वनमें रहनेवाले या पर्वतोंपर ध्यान और तपमें संलग्न संन्यासीका जीवन और गृहस्थका जीवन, भारतके प्रसिद्ध रीति-रिवाज, सामाजिक आदर्श-मान और आचार-अनुष्ठान, उसके धार्मिक विचार, मत-विश्वास और प्रतीक उनके काव्योंकी शेष परिस्थितियों और वातावरणोंको प्रस्तुत करते हैं। देवताओं और राजाओंके उदात्त कार्य, मानवकी अधिक श्रेष्ठ या सुकुमार भावनाएं, स्त्रियोंका सौंदर्य और लावण्य, प्रेमी-प्रेमिकाओंका काम-परायण प्रेम, ऋतुओंकी परंपरा और प्रकृतिके दृश्य — ये उनके प्रिय विषय हैं।

अनुभवके कलासंबंधी, सुखभोगात्मक और ऐंद्रिय पक्षोंका वर्णन करनेमें वह अपने युगकी सच्ची संतान हैं और प्रधान रूपसे प्रेम-शृंगार, सौंदर्य, तथा जीवनके सुखके कवि हैं। उच्चतर वस्तुओंके लिये अपने प्रगाढ़ बौद्धिक अनुरागमें और ज्ञान, संस्कृति, धार्मिक विचार, नैतिक आदर्श, एवं तपोमय आत्म-प्रभुत्वकी महत्ताकी अत्यधिक सराहनामें भी वह अपने युगका प्रतिनिधित्व करते हैं, और इन चीजोंको भी वह जीवनके सौंदर्य और आकर्षणका अंग बना देते हैं तथा इन्हें इसके पूर्ण और भव्य चित्रणके अत्युत्तम तत्त्वोंके रूपमें देखते हैं। उनकी समस्त कृतियोंके रेशे-रेशेमें यही चीज भरी है। उनका श्रेष्ठ साहित्यिक महाकाव्य, "रघुवंश", हमारी जातिकी उच्चतम धार्मिक और नैतिक संस्कृति तथा आदर्शोंके प्रतिनिधिरूप प्राचीन राजाओंके एक वंशकी कथाका वर्णन करता है और इसके गूढ़ार्थोंको प्रायः चित्रात्मक रूपमें वर्णित भावना और कार्य-कलाप, श्रेष्ठ या सुन्दर विचार और वाणी तथा सजीव घटना, दृश्य और परिपार्श्वकी अद्भुत साज-सज्जासे परिवेष्टित

करके उन्हें हमारे सामने प्रकट करता है। एक और असंपूर्ण महाकाव्य,[1] जो वैसे तो पूरे काव्यका एक बृहत् अंश ही है पर कविकी रचना-पद्धतिकी उत्कृष्टताके कारण, जहांतक कथानक दिया गया है वहांतक, अपने-आपमें पूर्ण है, विषयकी दृष्टिसे देवताओंका एक पौराणिक उपाख्यान, देवासुर-संग्रामका चिरंतन प्रसंग है, जिसका समाधान यहां महादेव और महादेवी (पार्वती) के मिलनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है, पर भाव-प्रकाशनकी दृष्टिसे यह काव्य प्रकृतिका तथा भारतके जन-जीवनका वर्णन है जिसे पावन हिमगिरिपर तथा महान् देवताओंके धाममें दिव्य महत्तातक उठा ले जाया गया है। उनके तीन नाटक[2] प्रेम-भावकी धुरीके चारों ओर चक्कर काटते हैं, पर उनमें भी जीवनके विवरण और चित्रणपर इसी प्रकारका बल दिया गया है। एक काव्य[3] भारतीय वर्षकी रंग-बिरंगी ऋतु-परंपराका रूपोद्घाटन करता है। एक और काव्य[4] मेघ-रूपी दूतको उत्तर भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक ले जाता है, अपनी यात्रामें वह दूत इसकी सुदीर्घ दृश्यमालाको निहारता जाता है और इस काव्यका उपसंहार प्रेमके सजीव, सुकुमारतया ऐंद्रिय और भावप्रधान चित्रणके द्वारा किया गया है। विषय-वस्तुके इन विविध विन्यासोंमें हम उस युगके भारतके मानस, उसकी परंपरा एवं भावना तथा उसके समृद्ध, सुन्दर और व्यवस्थित जीवनका एक अद्भुत ढंगका पूर्ण चित्र पाते हैं, उसकी अत्यंत गहनतम वस्तुओंका नहीं, क्योंकि इन्हें तो और कहीं खोजना होगा, बल्कि इसकी संस्कृतिकी उस युगकी तत्कालीन अत्यंत विशिष्ट, बौद्धिक, प्राणिक और कलात्मक प्रवृत्तिका पूर्ण चित्र पाते हैं।

इस युगका शेष सारा काव्य अपनी शैलीमें मूलतः कालिदासके काव्यके ही समान है; क्योंकि व्यक्तिगत विभेदोंके होते हुए भी इसमें विचार-मानस और स्वभाव तथा सामान्य विषयसामग्री एवं काव्यप्रणाली वैसी ही है, और उसके अधिकांशमें ऊंची प्रतिभा या असाधारण गुण और वैशिष्ट्य है, भले ही उसमें वैसी पूर्णता, सुन्दरता और प्रौढ़ता न हो। भारवि और माघके साहित्यिक महाकाव्य[5] ह्रासकालके आरंभको द्योतित करते हैं। इस काल-का लक्षण यह है कि रूप, पद्धति और शैलीका अलंकारशास्त्रीय और श्रम-

---

[1]कुमारसंभव — अनु०

[2]अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय। [3]ऋतुसंहार

[4]मेघदूत। [5]किरातार्जुनीय और शिशुपालवध।

साध्य आदर्श जो कवित्वकी प्रतिभापर एक भारी बोझ डाल देता है तथा अंतमें इसका दम घोटकर ही रहता है, रूढ़ि और परंपराकी बढ़ती हुई कृत्रिमता तथा रुचिके स्थूल दोष जो इस बातकी साक्षी देते हैं कि भाषा साहित्य-स्रष्टाके हाथोंसे निकलकर पंडित और विद्याभिमानीके अधिकारमें जानेवाली है—ये सब चीजें बलपूर्वक और अधिकाधिक दखल जमाती जाती हैं। माघकी कविता एक स्वाभाविक कृति होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकार-शास्त्रके नियमके द्वारा निर्मित एक कृत्रिम रचना है और वह श्रुतिमधुर अनुप्रास, जटिल विशेषाक्षरबंध[1] और कष्टसाध्य श्लेषके अत्यंत निकृष्ट बालोचित प्रयोगोंको गुणोंके रूपमें प्रदर्शित करते हैं। भारवि ह्रास-कालके प्रभावसे अपेक्षाकृत कम कलंकित हैं पर इससे सर्वथा मुक्त नहीं हैं, और इसके प्रभावके द्वारा वह अपनेको पथभ्रष्ट होने देते हैं और परिणामतः ऐसी बहुत-सी चीजोंमें जा भटकते हैं जो न तो उनकी प्रकृति और प्रतिभाके अनुकूल हैं और न अपने-आपमें सुन्दर या सत्य ही हैं। तथापि भारविमें गंभीर काव्यात्मक चिंतन, तथा वर्णनकी महाकाव्योचित उदात्तताके अत्युत्कृष्ट गुण हैं और माघमें ऐसे नैसर्गिक काव्योचित गुण हैं जिनसे उन्हें साहित्यमें अधिक गण्य-मान्य पद उपलब्ध हो सकता था यदि पांडित्य-प्रदर्शन उनके कवित्वमें व्याघात न पहुंचाता। प्रतिभामें रुचि और शैलीके दोषके इस मिश्रणमें प्राचीन युगके परवर्ती कवि एलिजाबेथ-कालीन कवियोंसे मिलते-जुलते हैं। भेद इतना ही है कि एलिजाबेथ-कालीन कवियोंमें तो असंगति एक स्थूल और अभीतक अपरिपक्व संस्कृतिका परिणाम है और प्राचीन भारतीय कवियोंमें एक अतिपक्व और ह्रासोन्मुख संस्कृतिका। तथापि वे संस्कृत साहित्यके इस युगके स्वरूपको, इसके गुणोंपर साथ ही इसकी उन त्रुटियोंको भी अत्यंत सुस्पष्ट रूपसे प्रकट करते हैं जो कालिदासमें दृष्टिगत नहीं होतीं तथा उनकी प्रतिभाकी छटामें छिप जाती हैं।

---

[1]पद्यके आदिमें या आदि और अंतमें या आदि, मध्य और अंतमें विशेष-विशेष अक्षरोंको रखते हुए कृत्रिम ढंगकी जो रचना की जाती है उसे विशेषाक्षरबंध कहते हैं। ऐसे पद्योंको एक विशेष ढंगसे सजाकर लिखनेपर एक विशेष प्रकारकी आकृति या चित्र बन सकता है। इसीलिये ऐसी काव्य-रचनाको चित्रकाव्य भी कहते हैं। इससे बननेवाली आकृति या चित्रके भेदके अनुसार इसके कई प्रकार होते हैं, जैसे—पद्मबंध, खड्गबंध, छत्रबंध, चमरबंध, मुरजबंध आदि।—अनु०

यह काव्य प्रधान रूपसे उस विचारधारा और जीवन तथा उन वस्तुओं-का एक परिपक्व तथा सुचिंतित काव्यात्मक चित्रण और आलोचन है जिनमें सभ्यताके अत्यंत उन्नत एवं बौद्धिक युगमें अभिजात और संस्कृत वर्ग-की परंपरागत रुचि थी। इसमें सर्वत्र बुद्धिका प्राधान्य है और, जब यह बुद्धि एक ओर स्थित होकर शुद्ध विषयगत चित्रणके लिये अवकाश देती प्रतीत होती है तब, उसपर भी यह अपनी प्रतिमूर्तिकी छाप लगा देती है। प्राचीनतर महाकाव्योंमें विचार, धर्म, आचार-नीति और प्राणिक चेष्टाएं — ये सभी चीजें सबल रूपमें जीवनसे अनुप्राणित हैं; कवित्व-बुद्धि वहां क्रिया-शील है पर वह सदा ही अपने कार्यमें तल्लीन है, अपने-आपको भूलकर अपने विषयके साथ एक हो गयी है, और यही चीज उनकी महान् सर्जन-शक्ति और जीवंत और काव्योचित सद्हृदयता और ओजस्विताका रहस्य है। बादके कवि भी इन्हीं चीजोंमें रुचि रखते हैं पर एक ऐसी तीव्र-चिंतनात्मक अनुभूति एवं समीक्षात्मक बुद्धिके साथ जो अपने विषयोंके संग निवास करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सदा ही उनका निरीक्षण किया करती है। साहित्यिक महाकाव्योंमें जीवनका सच्चा स्पंदन बिलकुल नहीं है, है केवल उसका एक अविकल भव्य वर्णन। कवि ऐसी चित्रित घटनाओं, दृश्यों, ब्योरों, पात्रों और मनोवृत्तियोंकी सुंदर शृंखला हमारे सामनेसे गुजारता है जो समृद्ध रूपमें रंजित, यथार्थ और सजीव होती हैं तथा आंखके लिये विश्वासोत्पादक और आकर्षक भी, पर इस सौंदर्य एवं आकर्षणके होते हुए भी हमें शीघ्र ही अनुभव हो जाता है कि ये केवल प्राणयुक्त चित्र हैं। निःसंदेह, वस्तुओंको स्पष्ट रूपमें देखा गया है, पर कल्पनाकी अधिक बाहरी आंखके द्वारा ही, कविने अपनी बुद्धिके द्वारा उनका पर्यालोचन किया है तथा अपनी ऐंद्रिय कल्पनाके द्वारा उनकी प्रतिमूर्ति भी गढ़ी है; परंतु आत्मामें पैठकर उन्हें गहराईके साथ जीवनमें नहीं उतारा है। केवल कालिदास ही रचना-पद्धतिकी इस त्रुटिसे मुक्त हैं, क्योंकि उनमें एक महान् चिंतनशील, कल्पनाकुशल, तथा ऐंद्रिय संवेदनोंको ग्रहण करनेवाली कवि-आत्मा है जो उसके द्वारा चित्रित वस्तुओंको जीवनमें उतार चुकी है और उनका सृजन करती है न कि केवल भव्य दृश्यों और पात्रोंको कल्पनाके द्वारा गढ़ती है। शेष कवि केवल कभी-कभी ही इस त्रुटिसे ऊपर उठते हैं और तब वे केवल एक भव्य या प्रभावशाली ही नहीं अपितु महान् रचनाका सृजन करते हैं। किंतु उनकी साधारण कृति भी इतने सुचारु रूपसे विरचित है कि वह अपने गुण-वैभवके लिये महत् और अपरिमित प्रशंसाकी अधिकारिणी है, पर परमोच्च प्रशंसाकी नहीं। अंततः, वह

सर्जनात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकारात्मक ही है। इस कवित्व-पद्धतिके स्वरूपसे एक आध्यात्मिक निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि हम यहां उस समयके भारतकी प्रचलित विचारधारा, आचारनीति, सौंदर्यात्मक संस्कृति तथा सक्रिय एवं ऐंद्रिय जीवनकी अत्यंत स्पष्ट झांकी पाते हैं, पर यहां इन वस्तुओंका बाह्य रूप-स्वरूप जितना दीख पड़ता है उतनी इनकी गभीरतर आत्मा नहीं। काफी ऊंचा और आदर्श कोटिका नैतिक और धार्मिक विचार यहां पुष्कल मात्रामें है और वह सर्वथा सत्यतापूर्ण भी है, पर उसकी सत्यता केवल बौद्धिक ही हैं और इसीलिये यहां उस गंभीरतर धार्मिक भाव या जीवंत नैतिक शक्तिकी छाप नहीं है जिसे हम महाभारत और रामायणमें तथा भारतकी अधिकांश कला और साहित्यमें पाते हैं। संन्यासमय जीवनका भी यहां चित्रण पाया जाता है, पर केवल इसके विचारों और बाह्य रूपमें : ऐंद्रिय जीवनका चित्रण भी वैसी ही सतर्क और यथार्थ रीतिसे किया गया है — इसका गहन निरीक्षण और मूल्यांकन किया गया है और आंख तथा बुद्धिके लिये सुचारु रूपसे इसकी प्रतिकृति उतारी गयी है, पर कविकी आत्मामें न तो इसका गहराईके साथ अनुभव किया गया है और न सृजन। बुद्धि इतनी अधिक अनासक्त और सूक्ष्म-निरीक्षक बन गयी है कि वह जीवनकी स्वाभाविक शक्तिके साथ या अंतर्ज्ञानमूलक तदात्मताके साथ वस्तुओंको जीवनका अंग नहीं बना सकती। अतिविकसित बौद्धिकतावादका गुण और साथ ही इसका रोग भी यही है और यह सदा ही ह्रासका अग्रदूत रहा है।

बौद्धिकताप्रधान प्रवृत्ति एक और प्रकारकी रचना, सुभाषित, अर्थात् पद्यबद्ध सूक्तियोंकी बहुलताके रूपमें भी प्रकट होती है। यह श्लोककी स्वतंत्र पूर्णताका एक ऐसा प्रयोग होता है जिससे कि वह अपनी पृथक् स्वयंपूर्णतामें किसी विचारके, जीवनकी किसी संक्षिप्त रूपरेखा या महत्त्वपूर्ण घटना, एवं किसी भावनाके संहत सार और वर्णनको व्यक्त रूप प्रदान करे। वह विचार आदि इस प्रकार प्रकट किये जाते हैं कि उनका मूलभाव बुद्धिको हृदयंगम हो जाय। इस प्रकारकी रचना अत्यत बहुल मात्रामें की गयी है और वह सराहनीय भी है; क्योंकि यह उस युगकी तीक्ष्ण बुद्धि और विशाल, परिपक्व तथा सुसंचित अनुभूतिके अनुकूल थी : परंतु भर्तृहरिकी रचनामें यह प्रतिभाका आकार धारण कर लेती है, क्योंकि वह केवल विचारके द्वारा ही नहीं बल्कि भावावेगके द्वारा, यूं कहिये कि भावकी द्रवीभूत बौद्धिकता तथा एक ऐसी अंतरीय अनुभूतिके द्वारा लिखते हैं जो उनकी वाणीको महत् शक्ति और कभी-कभी तो तीक्ष्णता भी प्रदान

करती है। उनकी सूक्तियोंके तीन शतक हैं, पहलेमें[1] उच्च नैतिक विचार या सांसारिक ज्ञान, या जीवनके विभिन्न पक्षोंपर संक्षिप्त विचारविमर्श व्यक्त किये गये हैं, दूसरेका[2] विषय है शृंगार-भाव, यह पहले शतककी अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली है क्योंकि यह कविकी अपनी प्रकृति और प्रतिभाकी अपेक्षा कहीं अधिक कुतूहल और पारिपार्श्विक वातावरणका फल है और तीसरेमें[3] जगत्से वैराग्यपूर्ण क्लांति और पराङमुखताकी घोषणा की गयी है। भर्तृहरिकी यह त्रिविध रचना उस युगके मानसकी तीन प्रमुख प्रेरणाओंकी सूचक है, जीवनमें इसकी विचारणात्मक रुचि और उच्च, सबल तथा सूक्ष्म चिंतनाकी ओर प्रवृत्ति, ऐंद्रिय सुखभोगमें इसकी निमग्नता, और इसका वैराग्यमय आध्यात्मिक झुकाव—जो पहलीका परिणाम है तथा दूसरीका मुक्ति-मूल्य। इस आध्यात्मिकताके स्वरूपके कारण भी भर्तृहरिकी यह कृति एक गूढ़ार्थकी सूचक है; यह आध्यात्मिकता अब पहलेकी तरह आत्माकी अपने उच्च स्तरकी पूर्णताकी ओर महान् स्वाभाविक उड़ान नहीं है, वरंच बुद्धि और इंद्रियोंका जो अपने-आपसे तथा जीवनसे ऊब चुकी हैं तथा वहां अपना अभीष्ट संतोष प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, आत्माकी निष्क्रियतामें शांति पानेके लिये जीवनसे मुंह फेरना है ताकि क्लांत मन और इंद्रिय उस निष्क्रियतामें अपनी पूर्ण शांति और विश्राम प्राप्त कर सकें।

परंतु नाटक इस युगके कवि-मानसकी सबसे अधिक आकर्षक रचना है, यद्यपि इसी कारण वह महत्तम रचना नहीं है। उसमें इसकी अतिशय बौद्धिकताको नाटकात्मक काव्यकी आवश्यकताओंसे बाध्य होकर जीवनके असली आकार और गतिविधिके साथ अधिक घनिष्ठ और सृजनशील रूपमें एक हो जाना पड़ा। संस्कृत नाटक जिस ढंगसे लिखे गये हैं वह एक सुन्दर शैली है और जो नाटक परंपराक्रमसे हमतक पहुंचे है उनमेंसे अधिकतरमें इसका प्रयोग एक सिद्धहस्त कला और सच्ची सर्जन-क्षमताके साथ किया गया है। तथापि यह भी सत्य है कि यह यूनानी या शेक्सपीयरके नाटकोंकी महानताओंतक नहीं पहुंचता। इसका कारण यह नहीं कि भारतीय नाटकोंमे शोकात्मक स्वरका बहिष्कार किया गया है,—क्योंकि मृत्यु, शोक, दुर्धर्ष विपत्ति या कर्मके हृदयविदारक प्रतिफलके रूपमें नाटकका उपसंहार दिखाये बिना भी महत्तम कोटिकी नाटक-रचना की जा सकती है, और फिर भी यह कोई ऐसा स्वर नहीं है जिसका भारतीय मनमें नितांत अभाव हो,—क्योंकि महाभारतमें यह पाया जाता है और रामायणके अधिक प्राचीन

---

[1]नीतिशतक। [2]शृंगारशतक। [3]वैराग्यशतक।

उल्लासपूर्ण एवं जयशाली उपसंहारमें भी यह आगे चलकर जोड़ दिया गया था; पर शांति और स्थिरताका उपसंहारात्मक स्वर भारतीय स्वभाव और कल्पनाके सत्त्वोन्मुख झुकावके अधिक अनुकूल था। इसके विपरीत, इसका कारण यह है कि इनमें नाटकीय ढंगसे जीवनके महान् प्रश्नों और समस्याओंका कोई साहसपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। ये नाटक अधिकतर रूमानी नाटक हैं जो उस समयके अत्यंत संस्कृत जीवनको प्राचीन गाथा एवं आख्यायिकाके ढांचेमें ढालकर उसके चित्रों और सुस्थिर पदक्षेपोंको प्रदर्शित करते हैं, परंतु इनमेंसे कुछ एक अधिक यथार्थवादी हैं और उस युगके नागरिक गृहस्थके स्वरूप अथवा अन्य दृश्योंका या किसी ऐतिहासिक विषयंका चित्रण करते हैं। राजाओंके शानदार दरबार या प्रकृतिके परिपार्श्वका सौंदर्य इनके अधिक सामान्य दृश्य हैं। परंतु इनका विषय या प्रकार कोई भी क्यों न हो, ये जीवनकी प्रोज्ज्वल प्रतिलिपियां या उसके कल्पनामूलक रूपांतर मात्र हैं, और वस्तुतः महत्तम या अत्यंत हृदयद्रावक नाट्यरचनाके लिये किसी और चीजकी भी जरूरत होती है। किंतु फिर भी इनका रचना-प्रकार एक उच्च या ओजस्वी या सुकुमार काव्यको, और मानव कर्म एवं हेतुकी किसी अत्यंत गंभीर व्याख्याको न सही पर इसके चित्रणको स्थान देता है और इस प्रकार-विशेषकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनता नहीं है। काव्य-सुषमा और सूक्ष्म अनुभूति तथा वातावरणका महान् आकर्षण,—कालिदासके शाकुंतलमें जो समस्त साहित्यके बीच अत्यंत सर्वांगपूर्ण और मनमोहक रूमानी नाटक है, यह आकर्षण अपने सर्वाधिक पूर्ण रूपको प्राप्त कर लेता है,—या भावना और अभिनयका रोचक मोड़, नाट्य-कलाके माने हुए सिद्धांत और सावधानतापूर्वक पालन किये हुए सूत्रके अनुसार, घटनाके उग्र कोलाहलके बिना अथवा स्थिति-विशेषपर या पात्रोंकी बहुलतापर अत्यधिक बल न देते हुए, संयत मात्रामें, कुशलता और शिष्टताके साथ कथानकका विकास, मधुरता और स्थिरताके प्रधान स्वरके द्वारा गतिच्छंदका नियमन, सूक्ष्म मनोविज्ञान, तीव्र लक्षणोंके द्वारा चरित्रका उस प्रकारका सुस्पष्ट अंकन नहीं जिसकी यूरोपकी नाटककलामें साधारणतः अपेक्षा की जाती है, वरन् कथोपकथन और अभिनयके रूपमें हलके स्पर्शोंके द्वारा सूक्ष्म संकेत,—ये इन नाटकोंकी आम विशेषताएं हैं। यह एक ऐसी कला है जिसका निर्माण एक अत्यंत सुसंस्कृत वर्गने किया था जो उन्नत, बौद्धिक और सूक्ष्मदर्शी था और शांत-रसात्मक आकर्षण, माधुर्य एवं सौंदर्यको सर्वाधिक पसंद करता था; और इसी वर्गको यह कला आकर्षित भी करती थी, और इसमें इस प्रकार-विशेषकी त्रुटियां तो हैं, पर साथ ही इसके गुण भी विद्यमान हैं।

इस कलाके सर्वश्रेष्ठ युगमें रचनाकी अटूट श्रीसुषमा और उत्कृष्टता पायी जाती है, भासमें और उनकी परंपराको आगे बढ़ानेवाले लेखकोंमें अधिक स्पष्ट, प्रत्यक्ष पर फिर भी उत्कृष्ट ओज है, भवभूतिके नाटकोंमें विशालता और शक्तिमत्ताका उच्छ्वास है और कालिदासकी पूर्णतामें एक उच्च सौंदर्यकी पराकाष्ठा है।

यह नाटक, यह काव्य, वर्णनात्मक ब्योरोंसे परिपूर्ण गद्यात्मक कहानियां, बाण-रचित हर्षका जीवनचरित या जोनराज-लिखित काश्मीरका इतिहास-जैसे प्रबंध, धार्मिक अथवा काल्पनिक या यथार्थवादी कथाओंके संग्रह, जातक, पद्यात्मक कथाओंके वैभव और अखूट प्राचुर्यसे युक्त कथासरित्सागर, पंचतंत्र और उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हितोपदेश जो प्रखर व्यवहारज्ञान, नीति और राजकौशलकी विशाल राशिके संबंधमें एक चुभती योजना बनानेके लिये पशुपक्षियोंकी किस्से-कहानियोंकी पद्धतिका विकास करते हैं, तथा अन्य कम प्रसिद्ध कृतियोंकी बृहत् राशि—ये सब तो उस साहित्यिक कृतित्वके अबतक बचे हुए अवशेष मात्र हैं, जो, जैसा कि अनेकानेक संकेतोंसे पता चलता है, अवश्य ही अत्यंत विशाल रहा होगा। परंतु ये अवशेष भी इतने पर्याप्त रूपमें प्रचुर और प्रतिनिधि-स्वरूप हैं कि एक उच्च संस्कृति, वैभव-शाली बौद्धिकता, समृद्ध धार्मिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्राणिक कर्मण्यतासे संपन्न एक महान् और व्यवस्थित समाज, एक बहुमुखी विकास तथा जीवनकी यथेष्ट हलचलकी सघन और उज्ज्वल छाप एवं बहुरंगी तस्वीर चित्तपर अंकित कर देते हैं। प्राचीनतर महाकाव्योंके समान ही ये इस जनश्रुतिको पूर्ण रूपसे असत्य सिद्ध कर डालते हैं कि भारत तत्त्वज्ञान और धार्मिक स्वप्नोंमें डूबा हुआ था तथा जीवनके महान् कार्योंको करनेमें असमर्थ था। इस धारणाको जन्म देनेवाला एक अन्य तत्त्व यह है कि यहां दार्शनिक चिंतना और धार्मिक अनुभूतिका एक उत्कट आयास जारी था। पर सच पूछो तो इस युगमें यह आयास प्रायः एक पृथक् गतिधाराका अनुसरण करता है और इस बाह्य कर्मण्यताकी धूमधाम और चहल-पहलके पीछे उस विचारधाराको और उन प्रभावों, स्वभाव एवं प्रवृत्तियोंको क्रमशः विकसित करता है जिन्हें एक और सहस्राब्दितक भारत-वासियोंके जीवनका परिचालन करना था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पांचवां अध्याय

भारतीय साहित्य

भारतीय मनका प्रधान स्वर, इसका वह स्वभाव जो इसकी समस्त संस्कृतिके मूलमें रहा है और दर्शन, धर्म, कला और जीवनके क्षेत्रमें इसके सर्जनात्मक कार्य-कलापके अधिकांशका उद्गम और आधार रहा है, आध्यात्मिक, अंतर्ज्ञानात्मक और आंतरात्मिक ही रहा है — यह मैं बारंबार बलपूर्वक प्रतिपादित कर चुका हूं; परंतु इस मूल प्रवृत्तिने सबल और समृद्ध बौद्धिक, व्यावहारिक और प्राणिक कर्मण्यताका बहिष्कार नहीं किया है वरंच शक्तिशाली रूपमें इसे सहारा ही प्रदान किया है। उच्चश्रेणिक लौकिक साहित्यमें यह क्रिया बहुत अधिक सामने आ जाती है, वहां यह एक प्रमुख विशेषता है तथा मूल भावको कुछ-कुछ पृष्ठभूमिमें धकेल देती है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस समयके लौकिक काव्यमें मूलभाव परिवर्तित या लुप्त हो गया है अथवा उसमें आंतरात्मिक या अंतर्ज्ञानात्मक तत्त्व कोई भी नहीं है। इसके विपरीत, वहां जिस प्रकारकी मानसिकता प्रतिबिंबित हुई है वह पूरीकी पूरी प्रसिद्ध भारतीय ढंगकी है जो धर्म्य-दार्शनिक, धर्म्य-नैतिक, धर्म्य-सामाजिक — प्रत्येक प्रकारके परिवर्तनमें अटूट बनी रहती है, अतीतकी समस्त आध्यात्मिक अनुभूति इस मानसिकताके पीछे विद्यमान है तथा इसे सहारा देती है, भले वह सुस्पष्ट रूपसे सामने आयी हुई न हो; वहां कल्पना-शक्ति भी उसी प्रकारकी है जैसी हम उस समयकी कलामें देख चुके हैं; अर्थपूर्ण रूपक, प्रतीक और गाथाके ढांचे भी वही हैं जो अतीतसे परंपराके द्वारा हमतक आये हैं, हां, वे कुछ ऐसे संशोधनों तथा नयी प्रगतियोंमेंसे अवश्य गुजरे हैं जिन्हें अपना पूर्ण कलेवर पुराणोंमें प्राप्त हुआ है; रूपक आदिके इन ढांचोंमें एक प्रबल आंतरात्मिक संकेत निहित है। भेद इतना ही है कि इन कवियोंके हाथोंमें ये एक मूल आध्यात्मिक रचनाकी अपेक्षा कहीं अधिक एक ऐसी परंपराका रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसे उनकी बुद्धि अच्छी तरह समझ चुकी है तथा

जिसे लेकर वह अपनी क्रिया करती है। और यहां प्रधान वस्तु बुद्धि ही है जो इस ढांचे और नमूनेके अंतर्गत प्रचलित विचारों और वस्तुओंको स्वीकार करती तथा उनका पर्यालोचन करती है और अपनी समीक्षात्मक या पुनः-सर्जक पर्यालोचना एवं स्वीकृतिको कलात्मक चित्रण और अलंकारक रूपककी तीव्र रेखाओं और समृद्ध रंगोंके द्वारा सजीव बना देती है। मूल शक्ति और अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि अब सत्ताके बाह्य, अर्थात् ऐंद्रिय, वस्तुगत एवं प्राणिक पक्षोंमें अत्यंत प्रबलताके साथ कार्य करती है, और इस युगमें इन्हीं पहलुओंको अधिक पूर्णताके साथ हाथमें लेकर प्रकट किया जा रहा है और धार्मिक क्षेत्रमें आध्यात्मिक अनुभवके विस्तारके लिये आधार बनाया जा रहा है।

भारतीय संस्कृतिके इस विकासका आशय शुद्ध साहित्यके क्षेत्रके बाहर इस समयके दार्शनिक ग्रंथोंमें और पुराणों तथा तंत्रोंके धार्मिक काव्यमें अधिक स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ मिलकर शीघ्र ही एक अखंड वस्तु बन गयीं और इस सुसंस्कृत युगकी एक अत्यंत सजीव एवं स्थायी क्रियावली सिद्ध हुईं। जनताके मनपर इनका अत्यंत स्थिर प्रभाव पड़ा। इन्होंने सर्जनशील शक्तिका काम किया और परवर्ती लोकप्रिय साहित्योंमें इन्हींने सर्वाधिक प्रधान भाग लिया। जातीय मनके जन्म-जात स्वभाव, सामर्थ्य और गंभीर आध्यात्मिक बुद्धि एवं भावनाका ही यह एक अद्भुत प्रमाण है कि इस युगका दार्शनिक चिंतन अपने पीछे ऐसा अपरिमित प्रभाव छोड़ गया; क्योंकि यह चिंतन ऊंचे-से-ऊंचे तथा कठोर-से-कठोर बौद्धिक ढंगका था। (हमारी जातिकी) यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन कालमें ही आरम्भ हो चुकी थी और इसने बौद्ध धर्म, जैनधर्म तथा महान् दार्श-निक संप्रदायोंको जन्म दिया था, यह उसकी तत्त्वचिंतक प्रज्ञाका प्रयास थी जिसका उद्देश्य अंतर्ज्ञानात्मक अध्यात्म-अनुभवसे उपलब्ध सत्योंको तर्कबुद्धिके समक्ष निरूपित करना था तथा उन्हें यौक्तिक एवं कठोरतः-न्यायशास्त्रीय तर्क-अनुमानकी सूक्ष्म कसौटीपर कसकर उनसे वे सब फलितार्थ निकालना था जिनकी खोज विचारशक्ति कर सकती है। छठी और तेरहवीं शतियोंके बीचके युगकी प्रचुर दार्शनिक रचनाओंमें यह प्रवृत्ति किंवा प्रयास अपनी सुविस्तृत एवं सावधानतापूर्ण तर्कणा, सूक्ष्म समीक्षा एवं मीमांसा और प्रबल तार्किक रचना एवं क्रमबद्धताकी शक्तिकी चरम सीमापर पहुंच जाता है। दक्षिणके महान् विचारकों, शंकर, रामानुज और मध्व, की कृतियां इस युगके विशेष चिह्न हैं। यह प्रवृत्ति यहीं आकर नहीं समाप्त हो गयी, बल्कि अपने अत्यंत भव्य दिनोंके बाद भी जीवित बची रही और हमारे

इस युगतक भी चलती चली आयी और प्रचलित प्रणालीपर आधारित भाष्यों एवं टीकाओंकी अविच्छिन्न शृंखलाके बीच यह कभी-कभी महान् सर्जनशील विचारधारा तथा प्रायः नूतन एवं सूक्ष्म दार्शनिक भावना उद्भासित करती रही : यहां जातिके मनमें दार्शनिक प्रवृत्तिका ह्रास कभी नहीं हुआ बल्कि इसका तेज बराबर ही बना रहा। इसने दार्शनिक ज्ञान घर-घरमें प्रसारित कर दिया। इसका परिणाम हम यह देखते हैं कि औसत भारतीय मन भी, एक बार प्रबुद्ध होते ही, अति सूक्ष्म एवं गंभीर विचारोंका भी आश्चर्यजनक तीव्रताके साथ प्रत्युत्तर देता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नया या पुराना कोई भी हिंदू संप्रदाय तबतक जन्म नहीं ले सका जबतक कि उसने अपने आधारके रूपमें किसी स्पष्ट दार्शनिक तत्त्व और सिद्धांतका विकास नहीं कर लिया।

गद्यात्मक दार्शनिक कृतियां साहित्यकी श्रेणीमें आनेकी अधिकारिणी नहीं हैं; इन्हींमें आलोचनात्मक पहलू प्रधान है। इनका कोई सुनिर्मित सर्जनात्मक स्वरूप नहीं है, पर कुछ अन्य ऐसी रचनाएं भी हैं जिनमें संपूर्ण विचारको एक अधिक सुविरचित भवनके रूपमें निर्मित करनेका प्रयास किया गया है और इसके लिये साहित्यका जो रूप अपनाया गया है वह साधारणतः दार्शनिक कविताका है। इस रूपको पसंद करनेका अर्थ यह है कि उपनिषदों और गीताकी परंपराका सीधा प्रवाह सुरक्षित रखा गया है। इन कृतियोंको काव्यके रूपमें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता : ये विचारोंके भारसे इतनी अधिक दबी हुई हैं और भाषाकी अंतर्ज्ञानात्मक क्षमतासे भिन्न बौद्धिक क्षमताकी प्रधानताके कारण इतनी अधिक बोझिल हैं कि इनमें वह जीवनोच्छ्वास और प्रेरणाबल हो ही नहीं सकते जो सर्जनकारी कवि-मानसके अपरिहार्य गुण होते हैं। इनमें जो चीज अत्यंत सक्रिय है वह है खंडन-मंडनात्मक बुद्धि न कि साक्षात्कार करने और अर्थ प्रकाशित करनेवाली दृष्टि। आत्मा और परमात्माके दर्शन और परमोच्च विश्व-दर्शन करके उस दर्शनका स्तुतिगान करनेवाली आत्माकी अतिविशाल महानता इसमें नहीं पायी जाती और न ही इसमें वह जाज्वल्यमान ज्योति देखनेमें आती है जो उपनिषदोंकी शक्ति है। आत्माके जीवन और अनुभवसे सीधा उद्भूत होनेवाला प्रत्यक्ष विचार, पूर्ण ओजस्वी और संकेतमय शब्दावलि, और लयतालकी जीवंत सुषमा जो गीताकी काव्यात्मक गरिमाका निर्माण करनेवाली चीजें हैं— इन सबका भी इसमें अभाव है। तथापि इनमेंसे कुछ कविताएं, उत्कृष्ट काव्य न सही सराहनीय साहित्य अवश्य हैं। इनमें सर्वोच्च दार्शनिक प्रतिभा और

विलक्षण साहित्यिक योग्यताका सम्मिश्रण है। निःसंदेह ये मौलिक कृतियां तो नहीं हैं पर ऐसी उदात्त एवं दक्षतापूर्ण रचनाएं अवश्य हैं जो ऊंची-से-ऊंची संभव विचार-धाराको मूर्तिमंत करती हैं, प्राचीन उत्कृष्ट संस्कृत भाषाकी सारी-की-सारी, गुर्वर्थ, संहत एवं परिमित पदावलिका सम्यक्तया प्रयोग करती हैं और उसके लयतालकी समस्वरता एवं भव्य सुषमाको सफलतापूर्वक साधित करती हैं। विवेक-चूड़ामणिमें, जो शंकर-प्रणीत मानी जाती है, तथा उसी प्रकारकी अन्य कविताओंमें हमें ये गुण अपने अत्युत्तम रूपमें दिखायी देते हैं। यहांतक कि विवेकचूड़ामणिमें तो हमें, इसकी अति गूढ़ प्रवृत्तिके होते हुए भी, उपनिषदोंकी वाणी और गीताकी शैलीकी बौद्धिक प्रतिध्वनि सुनायी देती है। ये कविताएं, अधिक प्राचीन भारतीय ग्रंथोंकी गरिमा एवं सुषमासे निम्न कोटिकी भले ही हों, पर अन्य किसी भी देशकी ऐसी कविताओंकी तुलनामें ये कम-से-कम काव्यशैलीकी दृष्टिसे समकक्ष तथा विचारकी उच्चताकी दृष्टिसे उत्कृष्टतर हैं और, अतएव, यह सर्वथा उचित ही है कि ये अपने रचयिताओंके अभिमत उद्देश्यको परिपूर्ण करनेके लिये आजतक भी जीवित हैं। हमें जहां-तहां बिखरे पड़े उन कतिपय दार्शनिक गीत-खंडोंका उल्लेख करना भी कदापि नहीं भूलना चाहिये जो एक साथ ही दार्शनिक विचार तथा काव्यात्मक सौंदर्यका घनीभूत सार हैं। न ही हमें उन स्तोत्रोंके विपुल साहित्यको दृष्टिसे ओझल करना चाहिये जिनमेंसे अनेकों अपनी शक्ति और उच्छ्वासमें और छंद एवं व्यंजनाकी छटामें चरम सीमाको पहुंचे हुए हैं। ये शक्ति और उच्छ्वास आदि हमें बादके प्रादेशिक साहित्यमें इसी प्रकारकी पर बृहत्तर रचनाके लिये तैयार करते हैं।

भारतकी दार्शनिक कृतियां यूरोपके विशालकाय तत्त्वचिंतनसे इस बातमें भिन्न हैं कि जब वे बौद्धिक रूप और प्रणालीको अधिक-से-अधिक अपनाती हैं तब भी उनका वास्तविक सारतत्त्व बौद्धिक नहीं होता, वरंच वह दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सामग्रीपर क्रिया करनेवाली एक सूक्ष्म तथा अत्यंत गंभीर प्रज्ञाका फल होता है। इसका मूल कारण यह है कि भारतने दर्शन, धर्म और योगमें बराबर ही अटूट ऐक्य बनाये रखा है। भारतीय दर्शन उस सत्यका अंतर्दर्शनात्मक तथा बौद्धिक निरूपण है जिसे कि सर्वप्रथम धार्मिक मन तथा उसके अनुभवोंके द्वारा खोजा गया था। यह सत्य-विचारके सम्मुख प्रकाशित करने और तर्कबुद्धिके समक्ष प्रमाणित करनेभरसे कभी संतुष्ट नहीं होता, यद्यपि यह कार्य भी इसमें सराहनीय रूपसे संपन्न किया गया है, बल्कि इसकी दृष्टि तो बराबर आत्माके जीवनमें इस सत्यका साक्षात्कार करनेकी ओर, अर्थात् योगके ध्येयकी ओर लगी रहती

है। इस युगका चिंतन, बौद्धिक पहलूको इतनी अधिक प्रधानता देनेपर भी, भारतीय स्वभावकी इस अटल आवश्यकताका कभी व्यतिक्रम नहीं करता। यह आध्यात्मिक अनुभवको लेकर बुद्धिके यथायथ एवं श्रमपूर्ण निरीक्षण एवं अंतःप्रेक्षणके द्वारा बाहरकी ओर क्रिया करता है और फिर बौद्धिक प्रत्ययोंको लेकर उनसे अध्यात्म-अनुभवकी नयी प्राप्तियोंके लिये पीछेकी ओर तथा अंदरकी ओर क्रिया करता है। निःसंदेह, सत्यको खंड-खंड करने और एकांगी रूप देनेकी प्रवृत्ति भी देखनेमें आती है; उपनिषदोंका महान् सर्वांगीण सत्य, पहलेसे ही, चिंतनके विभिन्न संप्रदायोंमें विभाजित हो चुका है और ये भी अब आगे और कम व्यापक दार्शनिक संप्रदायोंमें विभक्त होते जा रहे हैं; परंतु इन संकुचित शाखा-संप्रदायोंमेंसे हरएकमें सूक्ष्म या गूढ़ अन्वेषणकी अधिकाधिक वृद्धि देखनेमें आती है और, सब मिलाकर, शिखरोंपर विशालताकी कमी होते हुए भी उसके बदलेमें आत्मसात् करने योग्य अध्यात्मज्ञानका कुछ विस्तार-सा पाया जाता है। आत्मा और बुद्धिके बीच होनेवाले आदान-प्रदानका यह जो ताल-छंद था कि आत्मा प्रकाश देती थी और बुद्धि खोज करती, उपलब्धि करती तथा निम्न जीवनको आत्माकी स्फुरणाएं आत्मसात् करनेमें सहायता देती थी, इस (ताल-छंद) ने भारतीय आध्यात्मिकताको ऐसी अद्भुत तीव्रता, सुरक्षितता और दृढ़ता प्रदान करनेमें योग दिया जिसका दृष्टांत अन्य किसी जातिमें नहीं मिलता। निःसंदेह, अधिकांशमें यह इन्हीं दार्शनिकोंका, जो साथ-ही-साथ योगी भी थे, कार्य था जिसने भारतकी आत्माकी उसके अधः-पतनकी घनघोर निशामें भी रक्षा की एवं इसे जीवित रखा।

परंतु यह कार्य किया ही न जा सकता यदि लोगोंकी कल्पना और भाव-तरंगोंको तथा उनकी नैतिक एवं सौंदर्यात्मक बुद्धिको आकर्षित करनेवाले अधिक सुबोध विचारों, रूपों और प्रतीकोंके एक विपुल समुदायकी सहायता इस कार्यमें प्राप्त न होती। इन विचारों, रूपों आदिके लिये यह आवश्यक था कि ये कुछ अंशमें तो उच्चतर अध्यात्म-सत्यकी अभिव्यक्ति हों और कुछ अंशमें सामान्य धार्मिक मनोवृत्ति तथा आध्यात्मिक मनोवृत्तिके बीच, एकसे दूसरीतक पहुंचनेके लिये, सेतुका काम करें। इस आवश्यकताकी पूर्त्ति तंत्रों और पुराणोंने की। पुराण इस युगका अपना विशिष्ट धार्मिक काव्य हैं: क्योंकि, यद्यपि काव्यका यह रूप संभवतः प्राचीन कालमें भी विद्यमान था, तथापि इसका पूर्ण विकास इस युगमें आकर ही हुआ और यह धार्मिक भावनाकी एक विशिष्ट एवं प्रधान साहित्यिक अभिव्यंजना बन पाया और, निःसंदेह, पुराण-शास्त्रोंके संपूर्ण सार-तत्त्वका तो नहीं पर उनके

मुख्य एवं बृहत् अंश तथा वर्तमान रूपका श्रेय इसी युगको देना होगा। आधुनिक युगमें, जबसे कि पश्चिमी युक्तिवादसे रंगे हुए अर्वाचीन विचारोंका प्रवेश हुआ है तथा नये आवेगोंके आधीन होकर बुद्धि फिरसे प्राचीन संस्कृतिके अधिक आरंभिक मूलभूत विचारोंकी ओर मुड़ गयी है, पुराणोंकी बहुत बदनामी और निंदा की गयी है। परंतु इस निंदाके अधिकांशका कारण मध्ययुगीन धार्मिक ग्रंथोंके प्रयोजन, उनकी रचना-पद्धति एवं उनके आशयको सर्वथा गलत रूपमें समझना ही है। भारतकी धर्म-संबंधी कल्पनाकी दिशाको तथा उसकी संस्कृतिके विकासमें इन ग्रंथोंके स्थानको समझ लेनेपर ही हम पुराणोंके आशयको हृदयंगम कर सकते हैं।

वास्तवमें, अपनी सत्ता और अपने अतीतके संबंधमें जो श्रेष्ठतर ज्ञान हमें आज पुनः प्राप्त हो रहा है उससे पता चलता है कि पौराणिक धर्म प्राचीन आध्यात्मिकता, दर्शन और सामाजिक-धार्मिक संस्कृतिके सत्यका ही एक नया रूप और विस्तार है। अपने घोषित उद्देश्यमें वे भारतजातिके सृष्ट्युत्पत्तिवाद, उसकी प्रतीकात्मक गाथा और प्रतिमूर्त्ति, परंपरा, मत-विश्वास और सामाजिक नियमके लोकप्रिय सार-संग्रह हैं और ये सृष्ट्युत्पत्ति-सिद्धांत आदि, जैसा कि 'पुराण' नामसे सूचित होता है, प्राचीन कालसे ही चले आ रहे हैं। यहां इनके सारमें कोई परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन होता है केवल रूपोंमें। वैदिक युगमें सत्यके जो चैत्य प्रतीक या उसकी जो सच्ची प्रतिमूर्तियां थीं वे लुप्त हो जाती हैं या फिर उनका अर्थ परिवर्तित एवं क्षीण करके उन्हें एक गौण योजनाके सुपुर्द कर दिया जाता है: उनका स्थान अन्य प्रतीक या प्रतिमूर्त्तियां ले लेती हैं जिनका लक्ष्य अधिक प्रत्यक्ष रूपमें व्यापक होता है और जो सार्वभौम एवं सर्वग्राही होती हैं तथा स्थूल जगत्से आहरण की हुई परिकल्पनाओंको लेकर नहीं चलतीं, बल्कि अपना संपूर्ण उपादान हमारे अंदरके चैत्य जगत्से ही प्राप्त करती हैं। वैदिक देव-देवियां अपने स्थूल रूपके द्वारा अधार्मिक लोगोंसे अपना चैत्य और आध्यात्मिक अर्थ छुपाये रखती हैं। इसके विपरीत, पौराणिक त्रिमूर्त्ति, और इसकी स्त्री-शक्तियोंके रूप भौतिक मन या कल्पनाके लिये बिलकुल अर्थहीन हैं, वे तो 'सब कुछ' को प्रकट करनेवाले परमेश्वरके एकत्व और बहुत्वकी दार्शनिक और आंतरात्मिक परिकल्पनाएं एवं अभिव्यक्तियां हैं। पौराणिक धर्ममतोंको वैदिक धर्मका अवनत रूप कहकर वर्णित किया गया है, परंतु उन्हें सारतत्त्वमें तो नहीं, क्योंकि वह सदा ज्योंका त्यों रहता है, वरन् उनकी बाह्य गतिविधिमें, संभाव्यतः उसका विस्तार एवं विकास कहा जा सकता है। मूर्त्तिपूजा मंदिरोपासना और प्रचुर क्रिया-अनुष्ठानका

दुरुपयोग चाहे किसी भी अंधविश्वास या बाह्यानुष्ठानवादकी ओर क्यों न ले जाय, फिर भी यह धर्मका पतित रूप ही हो यह आवश्यक नहीं। वैदिक धर्मको मूर्तियोंकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इसके देवताओंके भौतिक चिह्न भौतिक प्रकृतिके रूप थे और यह बाह्य जगत् उनका प्रत्यक्ष निवासधाम था। पौराणिक धर्म हमारे अंतरस्थ भगवान्‌के आंतरात्मिक रूपोंकी पूजा करता था और उसे प्रतीकात्मक रूपोंमें उनकी बाह्य अभिव्यक्ति करनी होती थी तथा उन्हें मंदिरोंमें प्रतिष्ठित करना होता था जो मंदिर कि विश्वके रहस्यार्थोंके वास्तुकलागत संकेत थे। और, जिस प्रकारकी आंतरिकता इसका उद्देश्य थी ठीक उसीके कारण बाह्य प्रतीककी बहुलता आवश्यक हो उठी ताकि वह बहुलता इन अंतरीय वस्तुओंकी जटिलताको भौतिक कल्पना और दृष्टिके निकट साकार रूपमें प्रकट कर सके। यहां (पुराणोंमें) धार्मिक सौंदर्यवृत्तिमें परिवर्तन आ गया है, परंतु धर्मका अर्थ सारतत्त्वमें नहीं वरन् केवल प्रकृति और रीति-नीतिमें ही परिवर्तित हुआ है। वास्तविक अंतर यह है कि प्राचीन धर्मका निर्माण उच्चतम गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवसे संपन्न व्यक्तियोंने किया था जो एक ऐसे जनसमुदायके बीच रहते थे जिसपर अभीतक स्थूल जगत्‌के जीवनका ही अधिकतर प्रभाव था: उपनिषदोंने भौतिक आवरणको दूर फेंककर एक मुक्त विश्वातीत और विश्वगत अंतर्दृष्टि एवं अनुभूतिका सृजन किया और परवर्ती युगने इसे जनसाधारणके प्रति एक विशाल दार्शनिक एवं बौद्धिक अर्थसे युक्त मूर्तियोंमें प्रकट किया जिनके केंद्रीय रूप हैं त्रिमूर्ति, और विष्णु तथा शिवकी शक्तियां: बुद्धि और कल्पनाके इस आकर्षणको पुराणोंने और आगे बढ़ाया तथा इसे चैत्य अनुभव, हृद्‌गत भावों, सौंदर्यानुभूति और इंद्रियोंके लिये एक जीवंत वस्तु बना दिया। योगी और ऋषिके द्वारा उपलब्ध आध्यात्मिक सत्योंको मनुष्यकी संपूर्ण प्रकृतिके लिये सर्वांगीण रूपसे स्पष्ट, आकर्षक और प्रभावशाली बनाने और साथ ही ऐसे बाह्य साधन जुटानेके लिये सतत प्रयत्न करना जिनके द्वारा साधारण मन, संपूर्ण जातिका मन उन सत्योंमें प्रथम प्रवेश पानेके लिये आकृष्ट हो सके — यही भारतीय संस्कृतिके धर्म्य-दार्शनिक विकासका आशय है।

यह ध्यानपूर्वक देखने योग्य है कि पुराणों और तंत्रोंमें उच्चतम आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्य विद्यमान हैं, पर वहां उन्हें न तो उस प्रकार खंडित किया गया है और न एक-दूसरेके विरोधमें प्रकाशित ही किया गया है जिस प्रकार कि विचारकोंके वाद-विवादोंमें किया जाता है, बल्कि भारतीय मनोवृत्ति और भावनाकी उदारताके अत्यंत अनुकूल पड़नेवाले ढंगसे

उन्हें एक साथ मिलाकर, उनमें परस्पर संबंध जोड़कर या उन्हें एकत्र करके समन्वित कर दिया गया है। यह समन्वय कभी-कभी तो स्पष्ट रूपमें पर अधिकतर एक ऐसे रूपमें किया गया है जो किस्से-कहानी, प्रतीक, नीति-कथा, चमत्कार और दृष्टांतके द्वारा इसके कुछ अंशको जनसाधारणकी कल्पना और भाव-भावनातक पहुंचा सके। तंत्रोंमें चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवकी एक बृहत् और जटिल राशिको लिपिबद्ध करके दृश्य प्रतिमाओंके द्वारा संपुष्ट किया गया है तथा योग-साधनाकी पद्धतियोंके रूपमें व्यवस्थित कर दिया गया है। यह तत्त्व भी पुराणोंमें पाया जाता है, पर अधिक शिथिल रूपमें; इसे क्रमबद्ध करनेके लिये वहां अपेक्षाकृत कम श्रम किया गया है। आखिरकार, यह पद्धति वेदोंकी पद्धतिका ही एक विस्तारमात्र है, हां, इसका रूप कुछ और प्रकारका है तथा इसमें स्वभावगत परिवर्तन भी देखनेमें आता है। पुराण भौतिक रूपकों और अनुष्ठानोंकी एक प्रणालीका निर्माण करते हैं जिनमेंसे प्रत्येकका अपना चैत्य अर्थ है। इस प्रकार, गंगा, यमुना और सरस्वती इन तीन नदियोंके संगमकी पवित्रता एक आंतरिक संगम-का प्रतीक है और योगकी मनोभौतिक प्रक्रियामें एक निर्णायक अनुभवकी ओर संकेत करती है तथा इसके अन्य रहस्यार्थ भी हैं, जैसा कि इस प्रकारके प्रतीकवादकी पद्धतिमें प्रायः ही देखनेमें आता है। पुराणोंके तथाकथित कल्पनात्मक भौगोलिक विवरण,—स्वयं पुराणोंमें भी स्पष्ट रूपसे ऐसा ही कहा गया है,—आभ्यंतरिक चैत्य जगत्का समृद्ध काव्यात्मक रूपक एवं प्रतीकात्मक भूगोल हैं। सृष्टयुत्पत्तिका जो सिद्धांत इनमें कभी-कभी स्थूल जगत्के उपयुक्त परिभाषाओंमें वर्णित किया गया है, उसका वेदकी ही भांति यहां भी एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ एवं आधार है। यह सहज रूपमें ही देखा जा सकता है कि कैसे बादके युगकी बढ़ती हुई अज्ञानतामें पौराणिक प्रतीक-विज्ञानके अधिक पारिभाषिक अंग आध्यात्मिक और आंतरात्मिक वस्तुओंके विषयमें अनिवार्यतः ही अत्यधिक अंधविश्वास तथा स्थूल भौतिक धारणाओंके शिकार हो गये। परंतु यह खतरा तो उन सभी प्रयत्नोंके साथ लगा रहता है जो इन वस्तुओंको जनसाधारणके समझने लायक बनानेके लिये किये जाते हैं और इस हानिके कारण हमें इस तथ्यके प्रति अंध नहीं बन जाना चाहिये कि उन्होंने जनताके मानसको शिक्षित करनेमें बड़ा भारी कार्य किया है ताकि वह उस मनोधार्मिक एवं चैत्य आध्यात्मिक आकर्षणका प्रत्युत्तर दे सके जो उच्चतर वस्तुओंके लिये क्षमता प्रदान करता है। वह प्रभाव अभीतक बना हुआ है, भले ही पौराणिक पद्धतिको एक सूक्ष्मतर आकर्षणके द्वारा तथा अधिक प्रत्यक्षतः

सूक्ष्म अर्थोंके प्रति जागरणके द्वारा अतिक्रम करनेकी आवश्यकता हो, और यदि इस प्रकार अतिक्रम करना संभव बन जाय तो स्वयं वह भी अधिकांशमें पुराणोंद्वारा किये गये इस कार्यके कारण ही संभव होगा।

पुराण मूलतः एक सच्चा धार्मिक काव्य हैं, अर्थात् वे धार्मिक सत्यके सौंदर्यात्मक निरूपणकी कला हैं। निःसंदेह, अठारहों पुराणोंका समस्त स्तूप इस प्रकारकी कलामें उच्च पदका अधिकारी नहीं ठहरता : इनमें निरर्थक सामग्री भी बहुत-सी है और निर्जीव और नीरस वस्तु भी कम नहीं है, पर वहां जो काव्य-पद्धति प्रयुक्त की गयी है वह, मोटे तौरपर रचनाकी समृद्धता और ओजस्विताके द्वारा उचित ठहरती है। इनमेंसे प्राचीनतम कृतियां ही श्रेष्ठ हैं — हां, एक अंतिम रचना इसका अपवाद है, वह एक नयी शैलीमें है जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है एवं अद्वितीय है। उदाहरणार्थ, विष्णु-पुराण, एक या दो शुष्क स्थलोंके होते हुए भी, बहुत मूल्यवान् गुणोंसे संपन्न एक अनूठी साहित्यिक रचना है जिसमें प्राचीन महाकाव्योंकी शैलीकी प्रत्यक्ष ओजस्विता और उच्चताको अधिकांशमें सुरक्षित रखा गया है। इसमें एक विविधतापूर्ण गति है, बहुत ही ओजस्वी और कुछ थोड़ी उदात्त महाकाव्योचित रचना है, कहीं-कहीं प्रसादपूर्ण मधुरता और सुन्दरताका गीत्यात्मक तत्त्व भी देखनेमें आता है, ऐसी अनेक कथाएं भी पायी जाती हैं जो काव्य-शिल्पके सर्वोत्तम ओज और निपुणतापूर्ण सरलतासे संपन्न हैं। भागवत पुराण (पौराणिक कालके) अंतमें आता है तथा अधिक प्रचलित शैली एवं प्रणालीसे बहुत कुछ दूर चला जाता है, क्योंकि यह भाषाके एक विद्वत्तापूर्ण और अधिक अलंकृत एवं साहित्यिक रूपसे प्रबलतया प्रभावित है। यह विष्णु-पुराणसे भी अधिक विलक्षण कृति है जो सूक्ष्मता और समृद्ध एवं गभीर विचारधारा और सुषमासे परिपूर्ण है। इसीमें हम उस आंदोलनकी चरम परिणति देखते हैं जिसका भविष्यपर, अर्थात् भावुकतापूर्ण और उल्लासजनक भक्ति-संप्रदायोंके विकासपर अनेक प्रकारसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस विकासके मूलमें जो प्रवृत्ति कार्य कर रही थी वह भारतके धर्मप्रधान मनके प्राचीनतर रूपोंमें भी विद्यमान थी और शनैः-शनैः प्रगति कर रही थी, पर अबतक वह ज्ञान और कर्मकी तपस्याओंकी ओर तथा सत्ताके केवल उच्चतम स्तरोंपर आध्यात्मिक हर्षावेशकी खोजकी ओर (भारतीय मनकी) प्रबल प्रवृत्ति होनेके कारण दबी हुई थी तथा उसके पूर्ण स्वरूपका गठन रुका पड़ा था। उच्च-साहित्यिक युगकी बाह्य जीवन तथा इंद्रिय-तुष्टिकी ओर झुकी हुई बहिर्मुख प्रवृत्तिने एक नयी अंतर्मुख प्रवृत्तिका सूत्रपात किया जिसकी पूर्णतम अभि-

व्यक्ति वैष्णव धर्मके परवर्ती अत्यंत आनंदमय रूपोंके द्वारा हुई। प्राण और इंद्रियोंके अनुभवकी इस प्रकार थाह लेना यदि सांसारिक और बाह्य वस्तुओंतक ही सीमित रहता तो यह केवल स्नायु और प्राण-शक्तिके बहलाव तथा नैतिक पतन या स्वेच्छाचारकी ओर ही ले गया होता; पर भारतीय मन अपनी प्रधान प्रवृत्तिके द्वारा सदा ही अपने समस्त जीवनानुभवको अनु-रूप आध्यात्मिक अवस्था और तत्त्वमें परिणत करनेके लिये बाध्य होता रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसने इन अत्यंत बाह्य वस्तुओंको भी नये आध्यात्मिक अनुभवके आधारके रूपमें परिवर्तित कर डाला है। सत्ताकी भावुकतापूर्ण, ऐंद्रिय और यहांतक कि कामुक चेष्टाएं भी अंतरात्मा-को और अधिक बहिर्मुख कर भी नहीं पायीं कि उन्हें हाथमें लेकर चैत्य रूपमें रूपांतरित कर डाला गया और इस प्रकार परिवर्तित होकर वे हृदय और इंद्रियोंके द्वारा भगवान्‌की गुह्य प्राप्तिके तथा ईश्वरीय प्रेम, आनंद और सौंदर्यजन्य उल्लासके धर्मके अंग बन गयीं। तंत्रमें इन नये अंगोंको लेकर योगके एक सर्वांगपूर्ण चैत्य-आध्यात्मिक एवं मनोभौतिक विज्ञानमें अपना स्थान दे दिया गया है। वैष्णव धर्ममें इसका प्रचलित रूप बालक कृष्णके गोप-जीवनकी गुह्य नीतिकथाकी धुरीपर केंद्रित है। विष्णु-पुराणमें कृष्णकी कथा दिव्य अवतारका वीरतापूर्ण उपाख्यान है: पीछेके पुराणोंमें हम सौंदर्यात्मक एवं शृंगारमय प्रतीकका विकास होते देखते हैं और भागवतमें इसे इसकी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट किया गया है तथा इसका आयोजन इस प्रकार किया गया है कि यह अपने आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा चैत्य अर्थको पूरेका पूरा व्यक्त करे और ज्ञानके स्थानपर आध्यात्मिक प्रेम एवं आनंदको समन्वयका केंद्र बनाकर वेदांतके प्राचीनतर अर्थको नये सिरेसे अपनी ही पद्धतिके अनुरूप ढाल दे। इस विकासकी सर्वांगपूर्ण परिणति चैतन्यके द्वारा प्रचारित दिव्य प्रेमके दर्शन और धर्ममें पायी जाती है।

वैदांतिक दर्शनकी परवर्ती विकासधाराओं और पौराणिक विचारों एवं रूपकोंने तथा भक्ति-संप्रदायोंकी काव्यमय और सौंदर्यलक्षी आध्यात्मिकता-ने अपने जन्मसे ही प्रादेशिक साहित्योंको प्रेरणा प्रदान की। पर संस्कृत भाषाके साहित्यकी शृंखला एकाएक यहीं नहीं टूट जाती। उच्च-साहित्यिक शैलीके काव्यकी रचना विशेषकर दक्षिणमें अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन कालतक जारी रहती है और संस्कृत अब भी दर्शन तथा सब प्रकारकी विद्वत्ताकी भाषा बनी रहती है: समस्त गद्यात्मक रचना, आलो-चक मनकी समस्त कृति अभीतक प्राचीन भाषामें ही लिखी जाती है। परंतु प्रतिभा इसमेंसे शीघ्र ही लुप्त हो जाती है, यह कर्कश, भारी और

कृत्रिम बन जाती है और अब केवल कोई पांडित्यपूर्ण प्रतिभा ही इसे जारी रखनेवाली रह जाती है। प्रत्येक प्रांतमें स्थानीय बोलियां, कहीं पहले और कहीं कुछ पीछे, साहित्यके गौरवके अनुरूप उठ खड़ी होती हैं और काव्य-रचनाका साधन तथा लोक-संस्कृतिका माध्यम बन जाती हैं। संस्कृत यद्यपि लोकप्रिय तत्त्वोंसे शून्य नहीं हो जाती, फिर भी मूल रूपमें तथा सर्वोत्तम अर्थमें यह कुलीन वर्गकी भाषा रह जाती है; यह उदात्त अभीप्साकी आवश्यकताके तथा महान् शैलीके अनुरूप एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यप्रिय संस्कृतिका विकास तथा संरक्षण करती है जो उस समय इस शैलीमें केवल उच्चतर वर्गोंके लिये ही प्राप्य थी, और प्रभावोत्पादन तथा संचारणकी विविध प्रणालिकाओंके द्वारा एवं विशेषकर धर्म, कला और सामाजिक तथा नैतिक नियमके द्वारा इस संस्कृतिको यह (भाषा) जनसमुदायतक पहुंचाती है। बौद्धोंके हाथमें पाली इस संचारणका प्रत्यक्ष साधन बन जाती है। इसके विपरीत प्रदेशिक भाषाओंका काव्य 'सार्वजनीन' शब्दके प्रत्येक अर्थमें, सार्वजनीन साहित्यका सृजन करता है। संस्कृतके लेखक तीन उच्चतम वर्णोंके व्यक्ति थे, अधिकतर ती वे ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे, और आगे चलकर वे कुछ ऐसे विद्वान् थे जो अत्यंत सुसंस्कृत प्रबुद्ध व्यक्तियोंके लिये ही लिखते थे; बौद्ध लेखक भी अधिकांशमें दार्शनिक, भिक्षु, राजा एवं उपदेशक थे जो कभी तो अपने लिये और कभी अधिक लोकप्रिय शैलीमें सर्वसाधारणके लिये लिखते थे; किंतु प्रादेशिक भाषाओंका काव्य सीधे जनताके हृदयसे फूटा और इसके रचयिता ब्राह्मणसे लेकर निम्नतम शूद्र और चांडालतक सभी वर्गोंसे आये। केवल उर्दूमें और कुछ कम मात्रामें, दक्षिणी भाषाओंमें ही, उदाहरणार्थ, तमिलमें,— जिसका महान् युग उच्चश्रेणिक संस्कृतके समकालीन है, इसका परवर्ती साहित्य-निर्माण दक्षिणके स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र दरबारों और राज्योंके अवशेषके समयमें जारी दिखायी देता है,— पांडित्यपूर्ण या उच्च-साहित्यिक प्रकृति और स्वभावका प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है; परंतु यहां भी लोकप्रिय तत्त्व काफी बड़ी मात्रामें पाया जाता है, जैसे शैव संतों और वैष्णव आल्वारोंके भजनोंमें। यहां क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसे समग्र रूपमें आसानीसे नहीं जाना जा सकता और न उसका विहगावलोकन ही किया जा सकता है, परंतु इस परवर्ती साहित्यके स्वरूप और मूल्यके संबंधमें कुछ तो कहना ही होगा जिससे हम यह देख सकें कि भारतीय संस्कृति एक ऐसे युगमें भी जिसे इसके महत्तर युगोंकी तुलनामें गतिरोध और ह्रासका काल माना जा सकता है, कैसी प्राणवंत एवं निरंतर सर्जनशील बनी रही।

जैसे संस्कृत साहित्यका आरंभ वेदों और उपनिषदोंसे होता है, वैसे ही इन परवर्ती साहित्योंका आरंभ संतों और भक्तोंके अंतःप्रेरित काव्यसे होता है : क्योंकि भारतमें सदा आध्यात्मिक आंदोलन ही (सृजनका) मूलस्रोत होता है, अथवा, कम-से-कम, वही नये विचारों और नयी संभावनाओंको रचनाका आवेग प्रदान करता है तथा जातीय जीवनमें परिवर्तनोंका सूत्रपात करता है। आधुनिक युगसे पूर्व इन भाषाओंमेंसे अधिकतरकी सर्जनशील क्रियाशीलतामें प्रायः आद्योपांत इसी प्रकारके काव्यकी प्रधानता रही, क्योंकि इस प्रकारका काव्य ही सदा लोगोंके हृदय और मनके अधिक-से-अधिक निकट होता था; और जहा रचना अधिक ऐहलौकिक भावसे युक्त होती है वहां भी धार्मिक प्रवृत्ति उसमें प्रविष्ट हो जाती है तथा उसे उसका ढांचा, उसके प्रधान स्वर या प्रत्यक्ष प्रेरक भावका एक अंश प्रदान करती है। बाहुल्यमें, कवित्वके उत्कर्षमें, प्रेरकभावकी सहज सुन्दरता और गीत्यात्मक कुशलता दोनोंके संयोगमें यह काव्य अपने निजी क्षेत्रके भीतर किसी भी अन्य साहित्यमें अपना सानी नहीं रखता। इस उच्च कोटिके सौंदर्यसे संपन्न कृतिके निर्माणके लिये सच्चे प्रकारका भक्ति-भाव ही यथेष्ट नहीं है, जैसा कि इस प्रकारकी रचनामें क्रिश्चियन यूरोपकी असफलतासे सिद्ध होता है; इसके लिये आवश्यकता होती है समृद्ध और गभीर आध्यात्मिक संस्कृतिकी। इस समयके साहित्यके एक अन्य अंगके द्वारा पुरानी संस्कृतिके सारके कुछ अंशको प्रचलित भाषाओंमें लाया गया है, इसके लिये महाभारत और रामायणकी कथाको नये काव्यमय रूपोंमें ढाला गया है अथवा प्राचीन पौराणिक आख्यानोंके आधारपर रूमानी कथाएं लिखी गयी हैं। और यहां भी अत्यंत श्रेष्ठ प्रतिभाकी कृतियां हमारे देखनेमें आती हैं, साथ ही बहुत-सी उनसे निम्न पर फिर भी उच्च श्रेणीकी रचनाएं भी मिलती हैं। इस (समयके) साहित्यका एक तीसरा प्रकार लोगोंके धार्मिक विश्वासों और भावोंका, दरबार, शहर, गांव और बस्तीके तथा जमींदार, व्यापारी, कारीगर और किसानके जीवनका सजीव रूपमें चित्रण करता है। प्रादेशिक भाषाओंमें जो रचना की गयी है उसका अधिकांश इन श्रेणियोंमेंसे किसी-न-किसीमें आ जाता है, परंतु कुछ भिन्न प्रकारकी कृतियां भी हैं, जैसे, महाराष्ट्रमें रामदासकी धर्म्य-नैतिक और राजनीतिक कविताएं या तमिल संत तिरुवल्लुवरका सूक्ति-काव्य, जो अपनी योजना, परिकल्पना, और क्रियान्वितिकी शक्तिमत्ताकी दृष्टिसे इस शैलीमें अबतक लिखे गये काव्योंमें सबसे अधिक महान् है। इन भाषाओंमेंसे दो-एकमें पीछेके समयका प्रेम-काव्य भी पाया जाता है जिसमें नितांत सांसारिक प्रेरणाका गीत्यात्मक सौंदर्य काफी

बड़ी मात्रामें विद्यमान है। प्रादेशिक जातियोंकी इस समस्त रचनामें बाह्य रूपके अनेक भेदोंके बीच एक ही संस्कृतिका प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है, परंतु उनमेंसे प्रत्येक अपने विशिष्ट चरित्र और स्वभावकी धाराके अनुसार ही सृजन करती है और यह चीज इन सुन्दर और ओजस्वी साहित्योंमेंसे प्रत्येकपर भिन्न-भिन्न छाप लगा देती है जो एकतामें भी समृद्ध विविधताका स्रोत है।

इस प्रकार स्वभावकी विभिन्नताके दबावके कारण वैष्णवोंका काव्य विभिन्न प्रांतोंमें अत्यंत भिन्न कलात्मक रूप धारण करता है। सर्वप्रथम, पुराणोंके द्वारा सृष्ट चैत्य प्रतीकका प्रयोग देखनेमें आता है, और यह बंगालमें अपना अत्यंत पूर्ण एवं कलात्मक आकार ग्रहण करता है तथा वहां एक दीर्घजीवी परंपरा बन जाता है। भगवान्के लिये आत्माकी स्पृहा-को राधा और कृष्णकी रसमय प्रेम-गाथाओंके अंदर प्रतीकात्मक रूपकमें ढाल दिया जाता है, मनुष्यकी प्रकृतिगत आत्मा भागवत आत्माको प्रेमके द्वारा खोजती है, उसके सौंदर्यसे विमोहित और अधिकृत तथा उसकी मोहिनी मुरलीसे आकर्षित हो जाती है, इस एक अदम्य लालसाके लिये सभी मान-वीय चिंताओं और कर्तव्योंको तज देती है और इसकी अवस्थाओंके आरोह-अवरोहमें प्रथम स्पृहाके द्वारा मिलनके आनंद एवं विरहकी तीव्र वेदनाका, शाश्वत स्पृहा और पुनर्मिलनका किंवा भगवान्के लिये मानव आत्माके प्रेम-की लीलाका अनुभव करती है। वहां एक सुस्थिर रूपरेखा एवं क्रमधारा है, एक सूक्ष्म एवं सरल गानोचित लय है, हृदयस्पर्शी प्रत्यक्षता और प्रायः ही गभीर सुषमासे संपन्न एक परंपरागत भाषाशैली है। यह संपूर्ण गीत्या-त्मक शैली बंगला भाषाका प्रयोग करनेवाले प्रथम दो कवियोंकी प्रतिभासे एकदम ही पूर्ण रूपमें फूट पड़ती है। उन कवियोंमेंसे एक तो हैं विद्यापति, शब्द और पंक्तिके परमोत्कृष्ट कलाकार, और दूसरे, अंतःप्रेरित गायक चंडी-दास जिनके नामसे कुछ एक ऐसे मधुरतम और अत्यंत हृदयवेधक एवं अत्युत्कृष्ट प्रेम-गीत विद्यमान हैं जैसे कि किसी भाषामें संभव हो सकते हैं। यहां इस प्रतीकको मानवीय प्रेमके अत्यंत बाह्य रूपकमें सुस्थिर रूपसे बनाये रखा गया है और वह भी इतने संगत रूपमें कि अब बहुतसे लोग ऐसा मानने लगे हैं कि इस प्रतीकका इसके सिवा और कोई अर्थ ही नहीं है, परंतु चैतन्यके धर्मके भक्त कवियोंके द्वारा भी इन्हीं रूपकोंका प्रयोग किये जानेसे यह बात सर्वथा खंडित हो जाती है। इस प्रतीकके पीछे जो भी आध्यात्मिक अनुभव निहित था वह सारेका सारा दिव्य प्रेमके हर्षातिरेकके उस अंतःप्रेरित प्रभुदूत और अवतारमें मूर्तिमंत हो उठा था और इसका आध्यात्मिक दर्शन उसकी शिक्षामें

स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित था। उसके अनुयायियोंने अपनेसे प्राचीन गायकोंकी काव्य-परंपराको जारी रखा और यद्यपि प्रतिभामें वे उनसे नीची श्रेणीके हैं, फिर भी वे अपने पीछे इस प्रकारके काव्यकी एक बृहत् राशि छोड़ गये हैं जो रूपमें सर्वदा ही सुन्दर है और सारतत्त्वमें प्रायः ही गंभीर और हृदयस्पर्शी। इसका एक अन्य प्रकार राजपूत रानी मीराबाईके सर्वांगपूर्ण गीतोंमें सृष्ट हुआ है। उसमें कृष्णके प्रतीकके रूपकोंको गायिकाकी अंतरात्माने अधिक प्रत्यक्ष रूपमें प्रेमके गीत और दिव्य प्रेमीकी खोजमें परिणत कर दिया है। बंगालके काव्यमें जो व्यंजना पसंद की गयी है वह एक ऐसा प्रतीकात्मक रूपक है जो कविके लिये निर्व्यक्तिक है: पर यहां एक सव्यक्तिक स्वर हृद्भावको निराली तीव्रता प्रदान करता है। इसे दक्षिणकी एक कवयित्रीने अपने-आपको कृष्णकी वधूके रूपमें चित्रित करके एक और भी अधिक प्रत्यक्ष मोड़ दे दिया है। इस प्रकारके वैष्णव धर्म एवं काव्यकी विशिष्ट शक्ति इस बातमें है कि यह समस्त मानवीय भावावेगोंको भगवान्‌की ओर फेर देता है, इनमेंसे प्रेमके आवेगको सबसे अधिक तीव्र एवं तन्मयकारी समझकर उसे अधिक पसंद किया गया है और यद्यपि, जहां कहीं भी भक्तिप्रधान धर्मका प्रबल विकास हुआ है वहां यह भावना पुनः-पुनः उदित होती है तथापि यह कहीं भी उतनी अधिक ओजस्विता और सच्चाईके साथ प्रयुक्त नहीं की गयी है जितनी कि भारतीय कवियोंकी रचनामें।

अन्य प्रकारका वैष्णव काव्य कृष्णके प्रतीकका प्रयोग नहीं करता, वरन् वह एक अधिक प्रत्यक्ष भक्तिकी भाषामें विष्णुके प्रति संबोधित किया गया है या फिर कभी-कभी रामावतारकी धुरीपर घूमता है। तुकारामके गाने इस प्रकारके काव्यमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ एक अत्यंत विरले दृष्टांतोंको छोड़कर बंगालका वैष्णव काव्य बौद्धिकताका पुट देनेवाले विचारके प्रत्येक तत्त्वका परित्याग करता है और केवल भावुकतापूर्ण वर्णन, रागावेगके ऐंद्रिय-चित्रण तथा हृदयानुभवकी तीव्रतापर ही निर्भर करता है: उधर मराठा काव्यमें आरंभसे ही एक सबल बौद्धिक स्वर पाया जाता है। मराठीका पहला कवि एक साथ ही भक्त, योगी और विचारक है; संत रामदासका काव्य, जो एक राष्ट्रके जन्म और जागरणके साथ संबद्ध है, प्रायः पूर्ण रूपमे एक धार्मिक-नैतिक चिंतनकी धारा है जिसे गीतिके शिखरतक उठा ले जाया गया है; और भक्तिके अंतस्तलसे उमड़नेवाले विचारका मर्मस्पर्शी सत्य एवं उत्साह ही तुकारामके गानोंका बल और आकर्षण है। उसने जो स्वर बजाया था उसे भक्त कवियोंकी एक लंबी परंपरा गुंजारित रखती है और मराठी काव्यके क्षेत्रका बृहत्तर भाग उनकी रचनासे

ही परिपूरित है। काव्यका यही प्रकार कबीरकी कवितामें एक अधिक प्रांजल एवं अत्युच्च दिशा ग्रहण कर लेता है। बंगालमें पुनः मुस्लिम कालके अंतमें मां भगवतीके प्रति रामप्रसादके गानोंमें उत्कट भक्तिका धार्मिक विचारकी अनेकानेक गहराइयों और प्रवृत्तियोंके साथ इसी प्रकारका संमिश्रण पाया जाता है, यहां वह एक ऐसी कल्पनाकी सजीव क्रीड़ासे युक्त है जो सब परिचित वस्तुओंको उपयुक्त और अर्थगर्भित रूपकोंमें बदल डालती है और साथ ही यहां अनुभूतिकी तीव्र सहजताका पुट भी विद्यमान है। दक्षिणमें, विशेषकर शैव कवियोंमें, गंभीरतर दार्शनिक उक्ति भक्तिके स्वरमें प्रायः ही घुली-मिली रहती है और, प्राचीन संस्कृत काव्यकी भांति, वह सजीव भाषा-शैली और रूपकावलिकी महती शक्तिसे अनुप्राणित होती है और सुदूर उत्तरमें सूरदासके हिंदी काव्यमें उच्च वैदांतिक आध्यात्मिकता पुनः जीवित हो उठती है और नानक तथा सिक्ख गुरुओंको प्रेरणा प्रदान करती है। प्राचीन सभ्यताके द्वारा निरंतर दो सहस्र वर्षोंतक तैयार की गयी और पूर्ण बनायी गयी आध्यात्मिक संस्कृतिने इन सब जातियोंके मानसको परिप्लावित किया है और महान् नये साहित्योंको जन्म दिया है और इसकी वाणी इनकी समस्त गतिधारामें अनवरत सुनायी देती है।

कुछ एक महान् या प्रसिद्ध रचनाओंको छोड़कर इस युगका वर्णनात्मक कथा-काव्य कम आकर्षक एवं कम मौलिक है। इनमेंसे अधिकतर भाषाओंने महाभारतके संपूर्ण प्रधान कथानक या इसके कुछ एक उपाख्यानोंको और, इनसे भी अधिक व्यापक रूपमें, रामायणकी कथाको प्रचलित भाषामें रूपांतरित करनेकी सांस्कृतिक आवश्यकता अनुभव की है। बंगालमें काशीरामका महाभारत देखनेमें आता है। इसमें पुरातन महाकाव्यकी मूल कहानीका ही वर्णन उच्च साहित्यिक शैलीमें फिरसे किया गया है। इसी प्रकार वहां कृत्तिवासका रामायण भी है जो बंगाल-प्रांतकी प्रतिभाके अधिक निकट है। यद्यपि इनमेंसे कोई भी महाकाव्यकी शैलीतक नहीं पहुंच पाया है, पर फिर भी ये सरल काव्य-कौशल और प्रवाहशील वर्णन-शक्तिके साथ लिखे गये हैं। तथापि, इन बादके कवियोंमेंसे केवल दो ही प्राचीन कथाकी सजीव एवं विशद पुनःरचना कर पाये और एक परमोत्कृष्ट कृतिका सृजन करनेमें सफल हुए। उनमेंसे एक हैं तमिल कवि कम्बन जो अपने विषयको एक श्रेष्ठ मौलिक महाकाव्यका रूप दे देते हैं और, दूसरे, तुलसीदास जिनके सुप्रसिद्ध हिंदी रामायणमें गीतिकाव्यकी तीव्रता और रोमांसकी समृद्धता तथा महाकाव्योचित कल्पनाकी उदात्तताका सम्मिश्रण विलक्षण कौशलके साथ किया गया है। तुलसी-रामायण एक

साथ ही भगवदवतारकी कथा तथा भगवद्भक्तिका एक लंबा गान है। भारतीय साहित्यका इतिहास लिखनेवाले एक अंग्रेज लेखकने तुलसीदासकी कविताको वाल्मीकिके महाकाव्यसे भी अधिक श्रेष्ठ बतलाया है: यह तो एक अतिशयोक्ति ही है, और उसके गुण चाहे जो भी हों, पर श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठतर कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, तथापि तुलसीदास और कंबनके लिये जो ऐसे दावे किये जा सकते हैं यह बात ही, कम-से-कम, इन कवियोंकी कवित्व-शक्तिका प्रमाण है तथा इस बातका भी साक्षी है कि भारतीय मनकी सर्जनक्षम प्रतिभा अपनी संस्कृति एवं ज्ञानका क्षेत्र संकुचित हो जानेके समय भी ह्रासको नहीं प्राप्त हुई। निःसंदेह यह समस्त काव्य गभीरताकी वृद्धिको द्योतित करता है और वह गभीरता प्राचीन उच्चता एवं व्यापकताकी कमीको कुछ हदतक पूरा कर देती है।

जहां इस प्रकारका वर्णनात्मक साहित्य अपने आधारके लिये महाकाव्योंकी ओर मुड़ता है वहां एक अन्य प्रकारका साहित्य अपना प्राथमिक आकार और प्रेरणा कालिदास, भारवि और माघके उच्चश्रेणिक काव्योंसे पाता प्रतीत होता है। इस प्रकारकी कुछ कृतियां उस प्राचीनतर काव्यकी भांति, महाभारतके प्रसंगों अथवा अन्य प्राचीन या पौराणिक आख्यानोंको अपना विषय बनाती हैं, परंतु उनमें प्राचीन उच्चसाहित्यिक एवं महाकाव्योचित शैली दृष्टिगोचर नहीं होती, उनकी प्रेरणा पुराणोंकी प्रेरणासे ही अधिक मिलती-जुलती है और उनमें प्रचलित रोमांसका स्वर तथा इसका एक अधिक शिथिल एवं सहज विकास देखा जाता है। यह शैली पश्चिमी भारतमें अधिक प्रचलित है और गुजराती कवियोंमें सर्वाधिक गण्यमान्य प्रेमानंदकी ख्यातिका कारण इस शैलीमें उनकी उत्कृष्टता ही है। बंगालमें हम आधे रूमानी और आधे यथार्थवादी वर्णनका एक अन्य ही प्रकार देखते हैं। वह अपने युगके धार्मिक मन और जीवन तथा दृश्य-समूहका काव्यमय चित्रण करता है तथा अपनी मूल प्रेरणामें राजपूत-चित्रकलाके लक्ष्यके अधिक बाह्य तत्त्वके साथ प्रबल साम्य रखता है। चैतन्यका जीवन जो सीधे-सादे रूमानी पद्यमें लिखा गया है और अपनी स्पष्टता तथा सरलताके कारण प्रिय लगता है पर काव्य-शैलीमें अपूर्ण है, एक धार्मिक आंदोलनके जन्म और प्रतिष्ठापनका अनुपम समसामयिक चित्रण है। दो अन्य कविताएं जो उच्चकोटिकी रचनाएं बन गयी हैं शिवकी शक्तिरूपा देवी दुर्गा या चंडीकी महिमाका कीर्तन करती हैं, — उनमेंसे एक तो है मुकुन्दरामकी "चंडी", महान् काव्य-छटासे संपन्न एक शुद्ध रूमानी उपन्यास जो प्रचलित पौराणिक कथाके ढांचेमें

लोगोंके जीवनका एक अत्यंत सजीव चित्र प्रस्तुत करता है और दूसरी, भारतचंद्रकी "अन्नदा मंगल", यह अपने पहले भागमें देवताओंकी पौराणिक कहानियोंका नये ढंगसे वर्णन करती है जैसी कि वे एक ग्रामीण बंगालीके द्वारा अपने निज मानवीय जीवनके रूपमें कल्पनामें लायी जा सकती थीं, दूसरे भागमें एक रोमांचक प्रेम-कथा और तीसरेमें जहांगीरके समयकी एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन करती है, ये सब विषम तत्त्व एक ही केंद्रीय उद्देश्यका विकास करते हैं और कल्पनाकी किसी उच्चताके बिना पर वर्णनकी अतुलनीय विशदता और प्राणवंत तथा असंदिग्ध भाषा-शैलीकी ओजस्विताके साथ चित्रित किये गये हैं। यह समस्त काव्य, महाकाव्य और रूमानी उपन्यास, यह नीति-काव्य, रामदासकी कविता और तिरुवल्लुवरका प्रसिद्ध कुरल जिसके मुख्य प्रतिनिधि हैं, और दार्शनिक तथा भक्तिपूर्ण गीत किसी सुशिक्षित वर्गकी रचना नहीं हैं, न ये उस वर्गकी सराहना प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही लिखे गये हैं, बल्कि कुछ एक अपवादोंको छोड़कर एक लोकप्रिय संस्कृतिकी अभिव्यक्ति हैं। तुलसीदासकी रामायण, रामप्रसादके बाउलों अर्थात् भ्रमणशील वैष्णव भक्तोंके गाने, रामदास और तुकारामका काव्य, तिरुवल्लुवर और कवयित्री अव्वैके नीतिवाक्य और दक्षिणी संतों तथा आल्वारोंके अंतःप्रेरित गीत सभी वर्गोंके लोगोंमें प्रसिद्ध थे और उनका विचार या भावावेग लोगोंके जीवनमें गहरे पैठा हुआ था।

भारतीय साहित्यका मैंने इतने विस्तारके साथ वर्णन किया है क्योंकि, निःसंदेह, यह एक जातिकी संस्कृतिका पूरा न सही पर फिर भी अत्यंत वैविध्ययुक्त और विपुल इतिवृत्त है। इस कोटिके तथा ऐसी महत्तासे युक्त सृजनकी कम-से-कम तीन सहस्राब्दियां, निश्चय ही, एक वास्तविक और अत्यंत अद्भुत संस्कृतिकी साक्षी हैं। अंतिम युग निःसंदेह एक क्रमिक ह्रासको दर्शाता है, परंतु हम ह्रासके भी तेजको और विशेषकर धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक सृजनकी अविच्छिन्न जीवनी-शक्तिको भी देख सकते हैं। जिस समय यह अपने अवसानके निकट पहुंचती प्रतीत होती थी उस समय भी यह पहला अवसर मिलते ही पुनरुज्जीवित हो उठी है और फिरसे विकासका एक और चक्र प्रवर्तित कर रही है, सर्वप्रथम यह ठीक उन्हीं तीन चीजोंमें जो सबसे अधिक चिरस्थायी रहीं, अर्थात् आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति, साहित्य और चित्रकलामें पुनरुज्जीवित हो रही है, पर अभीसे यह पुनर्जागरण जीवन और संस्कृतिकी उन सब अनेकों प्रवृत्तियोंतक अपनेको विस्तारित करनेकी सुनिश्चित आशा बंधाता है जिनमें भारत कभी एक महान् और अग्रणी देश था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पहला अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

मानव संस्कृतिके लिये अत्यंत महत्त्व रखनेवाली वस्तुओंमें तथा उन कार्यप्रवृत्तियोंमें जो मनुष्यको एक मानसिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यप्रिय प्राणीके रूपमें उसकी श्रेष्ठतम संभाव्यताओंतक उठा ले जाती हैं, भारतीय सभ्यताकी महानताका वर्णन मैं पिछले अध्यायोंमें कर चुका हूं। इन सभी विषयोंमें आलोचकोंके मिथ्या आक्षेप उस उच्चता, विशालता एवं गंभीरताके आगे तुरंत छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जो तब प्रकट होते हैं जब हम भारतीय संस्कृतिके मूल भाव और उद्देश्यके यथार्थ बोधके प्रकाशमें तथा इसकी वास्तविक सफलतापर सूक्ष्म विवेकशील दृष्टि डालते हुए इसके समग्र स्वरूप तथा इसके सभी अंगोंका अवलोकन करते हैं। इस प्रकार अवलोकन करनेपर केवल इतना ही प्रकट नहीं होता कि भारतीय सभ्यता महान् है वरन् यह भी कि यह उन छः महत्तम सभ्यताओंमें एक है जिनका इतिवृत्त हमें आज भी उपलब्ध है। परंतु ऐसे बहुतसे लोग हैं जो मन और आत्माके विषयोंमें तो भारतकी उपलब्धिकी महानताको स्वीकार करेंगे पर फिर भी यह कहेंगे कि वह जीवनमें असफल रहा है, उसकी संस्कृति जीवनका वैसा संबल, सफल या प्रगतिशील संगठन करनेमें समर्थ नहीं हुई है जिसका दृष्टांत यूरोप हमारे सामने रखता है, और वे यह भी कहेंगे कि कम-से-कम अंतमें भारतके उच्चतम मनीषि जीवनसे संन्यासकी ओर तथा कर्म और संसारका त्याग करके अपनी निजी आध्यात्मिक मुक्तिकी व्यक्तिगत खोज करनेकी ओर झुक गये। अथवा (वे यह कहेंगे कि) अधिक-से-अधिक वह उन्नतिकी एक विशेष सीमातक ही पहुंच पाया और उसके बाद उसकी प्रगति रुक गयी और अवनति होने लगी।

यह आरोप आजके मानदंडोंके अनुसार विशेष बल रखता है क्योंकि आधुनिक मनुष्य, यहांतक कि आधुनिक सुशिक्षित मनुष्य भी सर्वथा अभूतपूर्व मात्रामें एक ऐसा 'पोलितिकान जून' (Politikon zoon) अर्थात् एक

ऐसा राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीव है या बनना चाहता है जो बाह्य जीवनकी दक्षताकी अन्य सब चीजोंसे बढ़कर कद्र करता है और मन तथा आत्माकी चीजोंको ऐकांतिक रूपसे नहीं तो मुख्य रूपसे मानवजातिकी जीवनसंबंधी और यांत्रिक प्रगतिमें सहायक होनेके कारण ही महत्त्व प्रदान करता है : उसमें प्राचीन लोगोंकी वह दृष्टि नहीं है जो ऊपर उच्च-तम ऊंचाइयोंकी ओर देखती थी और मानसिक तथा आध्यात्मिक विषयोंमें उपलब्धि प्राप्त करनेको मानव संस्कृति और प्रगतिके लिये यथासंभव अधिक-से-अधिक महान् दान मानती हुई उसे उसकी अपनी खातिर असंदिग्ध प्रशंसा या गंभीर सम्मानके भावके साथ देखती थी। और यद्यपि यह आधुनिक प्रवृत्ति अतिरंजित और कुत्सित है तथा अपनी अतिरंजनामें अवनतिकारक है, मानवताके आध्यात्मिक विकासकी विरोधिनी है, तथापि इसके पीछे इतना सत्य अवश्य है कि जहां किसी संस्कृतिकी प्रथम उपयोगिता मानवकी आंतरिक सत्ता अर्थात् मन, अंतरात्मा एवं आत्माको उन्नत और विशाल बनानेकी उसकी शक्तिमें निहित है, वहां उसे तबतक पूर्ण रूपसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता जबतक वह उसकी बाह्य सत्ताको भी गढ़कर उच्च और महान् आदर्शोंकी ओर प्रगति करनेके एक स्वरतालका रूप नहीं दे देती। प्रगतिका सच्चा आशय यही है और इसके अंगके रूपमें यह आवश्यक है कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन स्वस्थ हो, एक ऐसी शक्ति और क्षमता हो जो जातिको जीवित रहने, विकसित होने तथा सामूहिक पूर्णताकी ओर सुरक्षित रूपसे बढ़नेके योग्य बनाये, और एक ऐसी सजीव नमनशीलता और अनुकूलता हो जो मन और आत्माको बाहरकी ओर सतत प्रकट होते रहनेके लिये अवकाश दे। यदि कोई संस्कृति इन उद्देश्योंको पूरा नहीं करती तो स्पष्ट ही या तो उसकी मूल धारणाओंमें अथवा, उसकी समग्रतामें, या उसकी क्रियान्वितिमें कहीं कोई दोष है जो पूर्ण और सर्वांगीण रूपमें उपयोगी होनेके उसके दावेको बहुत अधिक खर्व करता है।

भारतीय समाजका आंतर एवं बाह्य जीवन जिन आदर्शोंके द्वारा संचालित होता था वे उच्चात्युच्च कोटिके थे, उसकी सामाजिक व्यवस्थाका आधार अजेय रूपमें सुदृढ़ हो चुका था, उसके अंदर जो प्रबल जीवनी-शक्ति कार्य कर रही थी वह एक असाधारण ऊर्जा, समृद्धि और सुख-सुविधाका सृजन करती थी और उसने जिस जीवनका संघटन किया था वह अपनी ऐश्वर्य-शालितामें, एकतागत विविधतामें, सुन्दरता, उत्पादकता और गतिमयतामें अद्भुत था। भारतीय इतिहास, शिल्प और साहित्यके समस्त अभिलेख इस प्रकारके सांस्कृतिक जीवनकी साक्षी देते हैं और इसके ह्रास और विघ-

टनके समयमें भी इसकी कुछ छाप बची रहती है जो, अस्पष्ट और मद्धिम रूपमें ही क्यों न हो, भारतके अतीतकी महानताकी याद दिलाती है। तो फिर जीवन-शक्तिके एक साधनके रूपमें भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध जो अभियोग लगाया जाता है उसका अर्थ क्या है और वह कहांतक ठीक है? अपने अतिरंजित रूपमें यह ह्रास और विघटनके विशेष रूपों एवं अवनतिके लक्षणोंपर ही आधारित है; उन्हींको (भ्रांतिवश) विगत कालके लक्षणोंके रूपमें पढ़कर महानताके युगपर भी आरोपित कर दिया गया है, और इसका अर्थ यह है कि कोई स्वतंत्र या सबल राजनीतिक संगठन कायम करनेमें भारत सदैव अयोग्य सिद्ध हुआ है, वह निरंतर ही एक विभक्त एवं अपने सुदीर्घ इतिहासके अधिकतर कालमें परतंत्र राष्ट्र रहा है, अतीतमें उसकी आर्थिक व्यवस्थाके चाहे कोई भी गुण — यदि कोई गुण थे भी तो — क्यों न रहे हों, पर वह एक अनमनीय एवं स्थितिशील व्यवस्था ही बनी रही जिसके परिणामस्वरूप वह वर्तमान अवस्थाओंमें दरिद्रता और विफलताका शिकार हो गया है, इसी प्रकार उसका समाज ऊंची-नीची श्रेणियोंकी एक अप्रगतिशील परंपरा बना रहा जिसपर जांतपांतका भूत सवार था और जिसमें अर्द्ध-बर्बर कुप्रथाओंकी भरमार थी। अतएव उसकी वह समाज-व्यवस्था केवल भूतकालके भग्नावशेषोंके स्तूपमें टूटी-फूटी रद्दी चीजोंके बीच फेंक देनेके लायक ही है और उसकी जगह यूरोपीय समाज-व्यवस्थाकी स्वतंत्रता, सबलता और पूर्णताको या कम-से-कम उसकी प्रगतिशील संभाव्य पूर्णताको प्रतिष्ठित करना ही उचित है। सुतरां, इन सब विषयोंमें पहले वास्तविक तथ्यों और उनके अर्थका दृढ़तापूर्वक पुनः प्रतिपादन करना आवश्यक है और उसके बाद ही भारतीय संस्कृतिके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पहलुओंपर कोई मत प्रकाशित करना संभव होगा।

भारतकी राजनीतिक अक्षमताकी कहानी उसकी ऐतिहासिक विकास-धाराको गलत दृष्टिसे देखने और उसके प्राचीन भूतकालका पर्याप्त ज्ञान न होनेके कारण उद्‌भूत हुई है। यह धारणा बहुत समयतक प्रचलित रही है कि वह एक अधिक स्वतंत्र प्रकारकी आदिम आर्य या वैदिक समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्थासे एक ऐसी व्यवस्थामें जा पहुंचा जिसपर सामाजिक रूपमें एकदम ही ब्राह्मणोंके धर्मशासनकी स्वेच्छाचारिताकी छाप थी और राजनीतिक रूपमें पूर्वीय, अर्थात् पश्चिम-एशियाई ढंगके निरंकुश राजतंत्रकी। ऐसी व्यवस्थामें पहुंचनेके बादसे वह सदैव इन्हीं दो चीजोंमें फंसा रहा है। भारतीय इतिहासके इस सरसरे अध्ययनको उसके अधिक

सतर्क एवं प्रबुद्ध विद्वानोंने निर्मूल सिद्ध कर डाला है और असली तथ्य सर्वथा भिन्न प्रकारके हैं। यह सच है कि भारतने उस प्रतिद्वंद्वितापूर्ण और उत्पीड़क व्यवसायवादका या स्वाधीनता और ढोंगपूर्ण जनतंत्रके संसदीय संगठनका विकास कभी नहीं किया जो यूरोपीय सभ्यताके विकास-चक्रके बुर्जुआ या वैश्य-युगकी विशेषताएं हैं। परंतु अब वे दिन बीत रहे हैं जब इन चीजोंको सामाजिक और राजनीतिक प्रगतिकी आदर्श अवस्था एवं अंतिम बात मानकर बिना सोचे-विचारे इनकी प्रशंसा करनेका फैशन था, अब इनकी त्रुटियां दिखलायी पड़ रही हैं और एक पूर्वीय सभ्यताकी महानताको इन पश्चिमी प्रगतियोंके मानदण्डसे नापनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भारतीय विद्वानों ने भारतके अतीतमें जनतंत्रके आधुनिक विचारों एवं नमूनों और यहांतक कि संसदीय प्रणालीको भी पढ़नेका यत्न किया है, परंतु मुझे यह प्रयत्न भ्रांति-पूर्ण प्रतीत होता है। यदि पश्चिमी परिभाषाओंका प्रयोग करना आवश्यक ही हो तो हम कह सकते हैं कि भारतीय शासनप्रणालीमें जनतंत्रका शक्ति-शाली तत्त्व विद्यमान था, यहांतक कि ऐसी सभा-परिषदें भी थीं जो पार्लियामेंट-पद्धतिसे कुछ साम्य प्रदर्शित करती हैं। परंतु वास्तवमें ये विशेष तत्त्व भारतके अपने ही ढंगके थे; ये बिलकुल वैसी चीज नहीं थे जैसी कि आधुनिक पार्लियामेंटें और आधुनिक जनतंत्र हैं। और इन्हें यदि इस प्रकार समझा जाय तो ये भारतवासियोंकी उस राजनीतिक क्षमताका एक कहीं अधिक अद्भुत प्रमाण उपस्थित करते हैं जो उन्होंने इनको एक सजीव रूपमें राष्ट्रके सामुदायिक मन और शरीरकी समष्टिके अनुकूल बनाकर प्रदर्शित की थी, पर इन्हें पाश्चात्य समाज और उसके सांस्कृतिक विकासक्रमकी निजी आवश्यकताओंके एक अतिभिन्न मानदंडके द्वारा परखने-पर तो हमें इनसे इतनी विलक्षण राजनीतिक क्षमताका परिचय नहीं मिलता।

भारतीय शासन-प्रणालीका सूत्रपात राष्ट्रतंत्रके उस विशेष रूपसे हुआ जिसका संबंध सामान्यतया आर्य जातियोंके प्राचीन इतिहाससे माना जाता है; परंतु इसकी कुछ विशेषताएं और भी अधिक व्यापक ढंगकी हैं और वे मानवजातिके सामा-जिक विकासकी और भी अधिक प्राचीन अवस्थासे संबंध रखती हैं। यह कुल या गोष्ठीकी प्रणाली थी जो कुल या जातिके सभी स्वतंत्र मनुष्योंकी समानताके सिद्धांतपर आधारित थी; यह आरंभमें प्रादेशिक आधारपर दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं थी, समय-समयपर स्थान-परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति तब भी लोगोंमें प्रत्यक्ष रूपमें विद्यमान थी या फिर दबाव पड़नेपर वह पुनः-पुनः आ जाती थी और किसी प्रदेशमें जो लोग निवास करते थे उन्हींके नामसे वह प्रसिद्ध हो जाता था, जैसे कुरुदेश या केवल कुरु, मालव देश या केवल मालव।

जब किसी प्रदेशकी निश्चित सीमाओंके भीतर स्थिर रूपसे निवास करनेकी प्रवृत्ति पैदा हो गयी तो उसके बाद भी कुल या गोष्ठीकी प्रणाली कायम रही, पर तब एक स्थिर ग्राम-समाज ही उसकी मूल इकाई या घटक अवयव बन गया। सामुदायिक विचार-विमर्शके लिये, यज्ञ और पूजाके लिये या युद्धके सैन्य-दलके रूपमें जनसाधारण, विशः, एक सभाके रूपमें एकत्र होते थे। उनकी ऐसी सभा ही दीर्घकालतक जनसमुदायकी शक्तिका चिह्न तथा सक्रिय सार्वजनीन जीवनका साधन रही। राजा उस सभाका अध्यक्ष तथा प्रतिनिधि होता था, परंतु जब उसका पद एक वंशपरंपरागत अधिकार बन गया तब भी दीर्घकालतक वह अपने वैधिक निर्वाचन या अनुमोदनके लिये जनताकी स्वीकृतिपर ही निर्भर बना रहा। यज्ञकी धार्मिक संस्थाने समय पाकर पुरोहितों और अंतःप्रेरित गायकोंकी एक श्रेणीका विकास किया, ऐसे लोगोंकी श्रेणीका विकास किया जो कर्मकांडके जाननेवाले अथवा यज्ञके प्रतीकोंके पीछे विद्यमान गुह्य ज्ञानसे संपन्न होते थे और जो महान् ब्राह्मण-समाजके बीजरूप थे। आरंभमें ये वंशानुक्रमसे पुरोहिताई नहीं करते थे, बल्कि अन्यान्य धंधोंको भी अपनाते थे और अपने सामान्य जीवनमें सर्वसाधारण लोगोंके ही समान होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू-शुरूमें समाजका यही स्वतंत्र और सहज-स्वाभाविक संघटन संपूर्ण आर्यावर्तमें व्यापक रूपसे प्रचलित था।

इस आदिम रूपमेंसे बादमें जो रूप विकसित हुआ उसने कुछ हदतक विकासकी उस साधारण पद्धतिका ही अनुसरण किया जो कि अन्य समाजोंमें देखनेमें आती है; पर साथ ही उसने अपनी कुछ अत्यद्भुत विशेषताएं भी प्रकट कीं जिन्होंने हमारी जातिकी विलक्षण मनोवृत्तिके कारण उसकी राष्ट्र-व्यवस्थाके स्थिर अंग एवं प्रमुख विशेषताएं बनकर भारतीय सभ्यताके राष्ट्रनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अंगोंपर अपनी एक अलग ही छाप लगा दी। आनुवंशिकताके सिद्धांतका प्रादुर्भाव एक बहुत शुरूकी अवस्थामें ही हो गया था और समाजपर इसका प्रभाव एवं प्रभुत्व निरंतर बढ़ता ही चला गया जिससे कि अंतमें यह सभी जगह उसके कार्य-कलापके संपूर्ण संगठनका आधार बन गया। वंशानुगत राजतंत्रकी स्थापना हुई, एक शक्तिशाली शासक और क्षात्र वर्ग उत्पन्न हो गया, शेष लोगोंको व्यापारियों, शिल्पियों और कृषकोंकी एक पृथक् श्रेणीके रूपमें विभाजित कर दिया गया और फिर सेवकों तथा श्रमिकोंकी एक दास या निम्न श्रेणीका भी जन्म हो गया—शायद कभी तो विजयके परिणामस्वरूप पर अधिक संभव या सामान्य रूपमें आर्थिक आवश्यकताके कारण। भारतवासियोंके मनमें प्राचीन

कालसे ही जो धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तिकी प्रधानता रही है उसीके फलस्वरूप यहां समाज-व्यवस्थाके शिखरपर ब्राह्मण-संप्रदायका, पुरोहितों, पंडितों, विधानकारों एवं वेदोंकी पवित्र ज्ञान-निधिके रक्षकोंका आविर्भाव हुआ। अवश्य ही, इस प्रकारके विकासका दृष्टांत अन्य देशोंमें भी पाया जाता है, किंतु इसे जैसी स्थायिता, सुनिश्चितता एवं परम महत्ता यहां प्रदान की गयी है वैसी और कहीं भी देखनेमें नहीं आती। अन्य देशोंमें, जहां लोगोंका मनोभाव भारतकी अपेक्षा कम जटिल है, इस प्रकारकी प्रधानताका परिणाम संभवतः यह होता कि पुरोहितोंका राज्य कायम हो जाता : किंतु भारतमें यद्यपि ब्राह्मणोंका प्रभाव निरंतर बढ़ता ही चला गया और अंतमें तो वह सर्वोपरि हो गया फिर भी उन्होंने राजसत्तापर अपना अधिकार कभी नहीं जमाया किंवा वे नहीं जमा सके। राजा और जन-साधारणके अति पवित्र पुरोहितों, विधायकों और अध्यात्म-गुरुओंके रूपमें उनका निश्चय ही बड़ा भारी प्रभाव था, परंतु वास्तविक या सक्रिय राजशक्ति राजा, अभिजात क्षत्रिय-वर्ग और जनसाधारणके हाथोंमें ही बनी रही।

बीचमें कुछ समय ऐसा भी आया जब ऋषिको एक विशिष्ट और असाधारण पद दिया जाता था। ऋषि उस व्यक्तिको कहते थे जो उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञानसे संपन्न होता था और जो चाहे किसी भी वर्णमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्वके बलपर सभी लोगोंपर प्रभुत्व रखता था। राजा भी उसका सम्मान करता तथा उससे परामर्श करता था। कभी-कभी वह राजाका धर्मगुरु भी होता था और सामाजिक विकासकी तत्कालीन तरल अवस्थामें केवल वही नये आधारभूत विचारोंको विकसित करने तथा लोगोंकी सामाजिक-धार्मिक धारणाओं और प्रथाओंमें सीधे और तुरंत परिवर्तन लानेमें महत्त्वपूर्ण भाग लेनेकी सामर्थ्य रखता था। भारतीय मानसका यह एक विशेष लक्षण था कि वह अपने जीवनके सभी, यहांतक कि अत्यंत बाह्य सामाजिक और राज-नीतिक व्यापारोंको भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करने और उनके लिये धर्मानुमोदन प्राप्त करनेका यत्न करता था, सभी वर्गों और कार्योंके लिये एक अनिवार्य आदर्शकी स्थापना करता था जो केवल कुछ एक प्रसंगोंको छोड़कर अधिकारों और शक्तियोंका नहीं बल्कि कर्तव्योंका आदर्श होता था, उनके कर्मके नियम, एक आदर्श रीति और स्वभाव, चारित्र्य और कर्मगत भावनाकी एवं आध्यात्मिक अर्थसे युक्त धर्मकी स्थापना करता था। यह ऋषिका ही कार्य था कि वह राष्ट्रके मानसपर इस छापको दृढ़तया अंकित कर दे, इसे चिरस्थायी और सुरक्षित रखे, आदर्श धर्म

और उसके व्यावहारिक अर्थकी खोज और व्याख्या करे, लोगोंके जीवनको आध्यात्मिक और धार्मिक भावपर प्रतिष्ठित सभ्यताके सुघड़ आदर्शों और अर्थपूर्ण रूपोंमें ढाल दे। पीछेके युगोंमें हम देखते हैं कि ब्राह्मण स्मृतिकारोंके विभिन्न दलोंने अपनी स्मृति-संहिताओंको, यद्यपि वे अपने-आपमें पहलेसे विद्यमान विधि-विधानों और प्रथाओंके ही वर्णनमात्र थीं, प्राचीन ऋषियोंके नामसे ही प्रचलित किया। बादके कालमें भारतके सामाजिक-राजनीतिक संगठनमें चाहे जो भी परिवर्तन हुए हों पर इस मूल वैशिष्ट्यका प्रभाव फिर भी बना रहा, और यहांतक कि उस समय भी बना रहा जब कि अंततोगत्वा सभी चीजें एक स्वतंत्र और सजीव प्रथाका अनुसरण करते हुए निरंतर आगे बढ़नेके बजाय एक रूढ़ि एवं परंपराका रूप धारण करने लगीं।

इस प्राचीन प्रणालीका राजनीतिक विकास भारतके विभिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुआ। अन्य अनेक देशोंकी भांति यहां भी इसके साधारण विकासकी दिशा यह थी कि शासन और प्रशासनकी प्रणाली अधिकाधिक जटिल होती गयी और उसके केंद्र, अधिपति एवं एकीकारक सत्ताके रूपमें राजाके प्रभुत्वपर क्रमशः अधिकाधिक बल दिया जाने लगा और अंतमें इस राजतंत्रात्मक प्रणालीने ही प्रबल होकर सार्वभौम रूप ग्रहण कर लिया। परंतु दीर्घकालतक एक विपरीत प्रवृत्तिने इसका विरोध करके इसके विस्तारको रोके रखा। उस प्रवृत्तिके परिणामस्वरूप पौर या प्रादेशिक या राज्यसंघाधीन गणतंत्रका प्रादुर्भाव हुआ और उसे प्रबल एवं स्थायी जीवनी शक्ति भी प्राप्त हुई। राजा या तो उस गणतंत्रका वंशानुगत या निर्वाचित कार्यसंचालक अध्यक्ष बन गया अथवा वह एक थोड़ेसे नियत कालके लिये शासनका परिचालन करनेवाला एक विचारपति ही रह गया या फिर राज्यकी शासनप्रणालीसे उसका अस्तित्व ही सर्वथा विलुप्त हो गया। अवश्य ही, अनेक स्थानोंमें यह परिवर्तन व्यवस्थापिका सभाओंकी शक्तिके स्वाभाविक विकासके द्वारा ही हुआ होगा, परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अन्य स्थानोंमें वह किसी प्रकारकी क्रांतिके द्वारा ही साधित हुआ और साथ ही राजतंत्रात्मक तथा प्रजातंत्रात्मक शासनके भाग्योंमें उलट-फेर भी होता रहा, अर्थात् दोनोंके काल पलट-पलटकर आते रहे। अन्ततोगत्वा भारतकी कुछ एक जातियोंमें प्रजातांत्रिक प्रणालीका प्रभुत्व दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित हो गया और वह एक सबल एवं स्थिर शासन-व्यवस्था कायम करने तथा अनेकों सदियोंतक चिरस्थायी रहनेके योग्य सिद्ध हुई। उन जातियोंकी शासन-व्यवस्था कहीं-कहीं तो लोकतांत्रिक सभाके द्वारा पर अधिकतर

स्थानोंमें कुलीन-सभाके द्वारा परिचालित होती थी। दुर्भाग्यका विषय है कि इन भारतीय गणराज्योंके संविधानके ब्योरोंके बारेमें हम बहुत ही कम जानते हैं और इनके अंदरूनी इतिहाससे तो बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। परंतु इस बातका प्रमाण स्पष्ट रूपमें पाया जाता है कि इनका राजनीतिक संगठन अपनी उत्कृष्टताके लिये तथा इनका सैनिक संगठन अपनी दुर्धर्ष कार्यदक्षताके लिये संपूर्ण भारतमें सुविख्यात था। बुद्धका एक मनोरंजक वचन है कि जबतक प्रजातांत्रिक संस्थाओंको उनके शुद्ध और बलशाली रूपमें सुरक्षित रखा जायगा तबतक इस प्रकारका एक छोटा-सा राज्य भी मगधके शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजतंत्रके शस्त्रा-स्त्रोंसे भी अजेय रहेगा। राजनीतिक लेखकोंने भी इस मतका प्रचुर रूपमें समर्थन किया है। उनकी राय है कि प्रजातांत्रिक राज्योंके साथ मैत्री करनेसे किसी राजाको अत्यंत ठोस और मूल्यवान् राजनीतिक एवं सैनिक सहायता मिल सकती है और वे सलाह देते हैं कि प्रजातंत्र राष्ट्रोंका दमन शस्त्रास्त्रोंकी शक्तिसे नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस उपायसे सफलता मिलनेकी संभावना अत्यंत संदिग्ध ही रहेगी, वरंच उनका दमन कहीं अधिक माकियावेली (Machiaveli) के साधनोंसे ही करना चाहिये,—उस प्रकारके साधनोंसे जिनका प्रयोग मैसिडोन (Macedon) के फिलिपने यूनानमें वास्तवमें किया था और जिनका लक्ष्य होता है उनकी आंतरिक एकताकी जड़ें खोद डालना तथा उनके संविधानकी कार्यदक्षताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना।

ये गणराज्य बहुत प्राचीन कालमें ही स्थापित हो चुके थे और ईसासे पूर्वकी छठी शताब्दीमें पूरे जोर-शोरसे कार्य कर रहे थे, अतएव ये यूनानके शानदार पर अस्थायी और विक्षुब्ध नगर-गणतंत्रोंके समकालीन थे, पर भारतमें राजनीतिक स्वाधीनताका यह रूप यूनानकी प्रजातांत्रिक स्वाधीनता-के युगके बाद भी दीर्घकालतक जीवित रहा। प्राचीन भारतीय मानसको जो राष्ट्रनीतिक आविष्कारमें कम उर्वर नहीं था, दृढ़ संगठन और सुस्थिर संवैधानिक व्यवस्था स्थापित करनेकी योग्यतामें भूमध्यसागरके तटपर बसने-वाले अशांत और चंचलमति लोगोंके मनसे श्रेष्ठ ही मानना होगा। प्रतीत होता है कि इनमेंसे कुछ गणराज्योंकी तेजस्वी स्वाधीनताका इतिहास प्रजा-तांत्रिक रोमकी अपेक्षा अधिक सुदीर्घ और सुप्रतिष्ठित रहा है। क्योंकि वे चंद्रगुप्त और अशोकके प्रतापशाली साम्राज्यके विरुद्ध भी अपने अस्ति-त्वको अक्षुण्ण बनाये रहे और ईसवी सन्‌की आरंभिक शताब्दियोंतक भी जीवित थे। परंतु उनमेंसे किसीने भी रोमके प्रजातंत्रकी आक्रामक भावनाका

और विजय पाने तथा सुविस्तृत संगठन करनेकी क्षमताका विकास नहीं किया; वे अपने स्वतंत्र आभ्यंतरिक जीवन तथा अपनी स्वाधीनताको सुरक्षित रखनेभरसे संतुष्ट रहे। भारतने विशेषकर सिकंदरके आक्रमणके बाद ही एकीकरणके आंदोलनकी आवश्यकताका अनुभव किया और ये प्रजातंत्र-राज्य ही विभाजनके कारण थे: अपने-आपमें शक्तिशाली होते हुए भी वे इस प्रायद्वीपके संगठनके लिये कुछ भी नहीं कर सके, निःसंदेह संपूर्ण प्रायद्वीप इतना विशाल था कि छोटे-छोटे राज्योंके महासंघकी कोई भी प्रणाली संभव नहीं हो सकती थी—और वस्तुतः प्राचीन युगमें संसारमें ऐसा प्रयास कहीं भी सफल नहीं हुआ, किन्हीं विशेष प्रकारकी संकीर्ण सीमाओंके परे विस्तृत होनेकी चेष्टामें यह सदा ही छिन्न-भिन्न हो गया और एक अधिक केंद्रीभूत शासनके लिये किये गये आंदोलनके विरुद्ध नहीं टिक सका। अन्य देशोंकी भांति भा रतमें भी राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणाली ही उन्नत होती गयी और अंतमें राजनीतिक संगठनके अन्य सभी रूपोंको पदच्युत करके उसने उनका स्थान ले लिया। प्रजातंत्रात्मक राज्यव्यवस्था उसके इतिहाससे लुप्त हो गयी और अब हम केवल सिक्कों तथा जहां-तहां बिखरे पड़े उल्लेखोंके प्रमाणके द्वारा ही इसके विषयमें कुछ बातें जान पाते हैं। साथ ही, यूनानी प्रेक्षकों तथा उनके समकालीन उन राजनीतिक लेखकों और सिद्धांतकारोंके वर्णनोंसे भी हमें इसका कुछ ज्ञान प्राप्त होता है जिन्होंने संपूर्ण भारतमें राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणालीका समर्थन किया था तथा इसे संपुष्ट और विकसित करनेमें सहायता पहुंचायी थी।

परंतु भारतमें यद्यपि राजाको दैवी शक्तिका प्रतिनिधि और धर्मका संरक्षक मानते हुए उसके राजोचित पद एवं उसके व्यक्तित्वको एक विशेष प्रकारकी पवित्रता तथा महत् प्रभुतासे संपन्न समझा जाता था, तथापि मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले भारतीय राजतंत्र किसी प्रकार भी एक व्यक्तिका स्वेच्छाचारी शासन या निरंकुश तानाशाही नहीं था; फारसके प्राचीन राजतंत्र या पश्चिमी और मध्य एशियाके राजतंत्रों अथवा रोमके साम्राजीय शासन या यूरोपकी परवर्ती तानाशाहियोंसे यह कुछ भी साम्य नहीं रखता था: यह पठान या मुगल बादशाहोंकी शासनप्रणालीसे बिलकुल ही भिन्न प्रकारका था। भारतीय राजा प्रशासनिक और न्यायसंबंधी कार्योंमें सर्वोपरि शक्ति रखता था, राज्यकी समस्त सामरिक शक्तियां उसीके हाथमें होती थीं और अपनी मंत्रिपरिषद्‌के साथ अकेला वही शांति और युद्धके लिये उत्तरदायी होता था और समाजके जीवनकी सुव्यवस्था और सुख-सुविधाका सामान्य निरीक्षण और नियंत्रण भी वही करता था। परंतु

उसकी यह शक्ति व्यक्तिगत नहीं होती थी, साथ ही इसे कई-एक संरक्षणों-से परिवेष्टित रखा जाता था ताकि राजा इसका दुरुपयोग न कर सके और न बलपूर्वक इसपर अपना अधिकार ही जमा सके। इसके अतिरिक्त, इसे अन्य सार्वजनिक अधिकारियों और नाना हितोंके प्रतिनिधियोंकी स्वाधीनताओं और शक्तियोंके द्वारा भी सीमामें रखा जाता था। वे अधिकारी और प्रतिनिधि, एक प्रकारसे, प्रभुताके प्रयोगमें तथा शासनव्यवस्थाके विधान और नियंत्रणमें उसके छोटे सहभागी होते थे। सच पूछो तो वह एक सीमाबद्ध या संवैधानिक राजा होता था, पर जिस मशीनरीके द्वारा राज्यके संविधानकी रक्षा की जाती थी तथा राजाकी शक्तिको सीमामें रखा जाता था वह उससे भिन्न प्रकारकी थी जो कि यूरोपके इतिहासमें पायी जाती है। यहांतक कि उसके शासनकी स्थायिता भी मध्ययुगीन यूरोपीय राजाओंके शासनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रजाकी इच्छा और सम्मतिके बराबर बने रहनेपर निर्भर करती थी।

राजासे भी बड़ा राजा था धर्म, अर्थात् धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और प्रथानुगत विधान जो लोगोंके जीवनको मूलतः परिचालित करता था। इस निर्व्यक्तिक धर्म-सत्ताको इसके मूल भावमें तथा इसके बाह्य रूपकी समष्टिमें पवित्र और सनातन माना जाता था। इसका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता था, पर समाजके विकासके कारण इसके प्रत्यक्ष आकारमें सजीव और सहज-स्वाभाविक रूपसे जो परिवर्तन आते थे उन्हें इसमें सदा ही समाविष्ट कर लिया जाता था, देशगत और कुलगत तथा अन्य आचार-धर्म इसकी देहके एक प्रकारके गौण और सहचारी अंग थे जिनमें केवल भीतरी प्रेरणासे ही परिवर्तन किया जा सकता था,—और मूल धर्ममें हस्तक्षेप करनेका किसी भी लौकिक सत्ताको कोई निरंकुश अधिकार नहीं था। स्वयं ब्राह्मण भी धर्मसंबंधी लेखोंको सुरक्षित रखनेवाले तथा धर्मके व्याख्याकार थे, वे न तो धर्मकी रचना करते थे, न उन्हें अपनी इच्छानुसार उसमें कोई परिवर्तन करनेका ही अधिकार था, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि अपने मतको प्रामाणिक रूपसे व्यक्त करके वे धर्मके मूलतत्त्व या ब्योरेको परिवर्तित करनेकी इस या उस प्रवृत्तिका समर्थन या विरोध कर सकते थे और करते भी थे। राजा तो धर्मका केवल रक्षक, परिचालक और सेवक होता था, उसके जिम्मे यह कार्य रहता था कि वह धर्मका पालन करवाये और हर प्रकारके अपराध, भयानक उच्छृंखलता तथा धर्मोल्लंघनको रोके। वह स्वयं सबसे पहले धर्मका अनुसरण करने तथा उस कठोर नियमका पालन करनेके लिये बाध्य होता था

जिसे यह उसके व्यक्तिगत जीवन और कर्मपर तथा उसके राजकीय पद और प्रभुत्वके क्षेत्र, सामर्थ्यों और कर्तव्योंपर लागू करता था।

धर्मके प्रति राजशक्तिकी इस प्रकारकी अधीनता कोई ऐसा मन-गढ़ंत सिद्धांत नहीं थी जो व्यवहारमें क्रियाशील न हो; क्योंकि सामाजिक-धार्मिक विधानका शासन जनताके संपूर्ण जीवनको सक्रिय रूपसे मर्यादित रखता था और इसलिये वह एक जीवित-जागृत सत्य था तथा राजनीतिक क्षेत्रमें अत्यंत व्यापक और क्रियात्मक परिणामोंको उत्पन्न करता था। इसका मतलब सबसे पहले तो यह था कि सीधे ही कानून बनानेकी शक्ति राजाके पास नहीं थी। उसकी शक्ति प्रशासनसंबंधी आदेशोंकी घोषणा करनेतक ही सीमित थी। उन आदेशोंका निर्धारण तो जातिके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संविधानके अनुरूप ही करना होता था, — और घोषणा करनेकी यह शक्ति भी राजाके सिवा कुछ अन्य अधिकारियोंके पास भी रहती थी; वे इसमें उसके सहभागी होते थे, अर्थात् वे भी उसकी तरह प्रशासनसंबंधी आदेशोंको स्वतंत्र रूपसे जारी करते थे तथा उनका प्रचार करने और उनकी कार्यान्वितिकी देख-रेख करनेका अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त, अपने प्रशासनके सामान्य भाव और स्वरूपमें तथा इसके प्रभावपूर्ण परिणाममें यह प्रजागणकी प्रकट या अप्रकट इच्छाकी अवहेलना नहीं कर सकता था।

धार्मिक कार्योंमें सर्वसाधारणको सुनिश्चित स्वाधीनता प्राप्त थी तथा कोई भी लौकिक सत्ता सामान्यतया उसका अतिक्रमण नहीं कर सकती थी; प्रत्येक धार्मिक समाज, प्रत्येक नया या पुरातन धर्म अपनी निजी जीवन-प्रणाली तथा संस्थाओंका निर्माण कर सकता था और उसके धर्माधिकारी या व्यवस्थापक संघ होते थे जो अपने निज क्षेत्रमें पूर्ण स्वतंत्रताका प्रयोग करते थे। राज्यका कोई एक ही धर्म नहीं होता था और न राजा जनता-का धर्माध्यक्ष ही होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषयमें अशोक-ने राजाके अधिकार या प्रभावको विस्तारित करनेकी चेष्टा की थी और अन्य शक्तिशाली राजाओंने भी कभी-कभी छोटे परिमाणमें इस प्रकारकी प्रवृत्तियां प्रदर्शित कीं। परंतु अशोककी तथाकथित धर्मसंबंधी राज-घोषणाओंमें कोई आदेश जारी नहीं किया गया है वरंच एक धर्मकी स्तुतिमात्र की गयी है, और जो राजा किसी धार्मिक विश्वास या किन्हीं धार्मिक प्रथाओंमें परिवर्तन लाना चाहता था उसे सदा ही, सांप्रदायिक स्वाधीनता-के तथा संबद्ध लोगोंकी इच्छाओंका सम्मान करने तथा उनसे पहले ही विचार-विमर्श करनेके अनिवार्य कर्तव्यके भारतीय सिद्धांतके अनुसार,

सर्वमान्य अधिकारी व्यक्तियोंकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी, अथवा उसे यह विषय विचारके लिये मंत्रणा-परिषद्के सामने पेश करना पड़ता था, जैसा कि प्रसिद्ध बौद्ध परिषदों (संगीतियों) में किया गया था, या फिर उसे विभिन्न धर्मोंके व्याख्याकारोंमें शास्त्रार्थकी व्यवस्था करनी होती थी तथा उसके परिणामको स्वीकार करना पड़ता था। राजा व्यक्तिगत रूपमें किसी विशेष संप्रदाय या धर्ममतका पक्ष ले सकता था और, स्पष्टतः ही, उसकी सक्रिय अभिरुचिका अत्यधिक प्रचारात्मक प्रभाव पड़ सकता था, किंतु फिर भी अपने सार्वजनिक पदके कारण उसे कुछ हदतक निष्पक्ष भावसे लोकसम्मत सभी धर्मोंका सम्मान और समर्थन करना पड़ता था; यह एक ऐसा नियम था जिससे यह बात समझमें आ जाती है कि क्यों बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मी सम्राटोंने इन दोनों ही प्रतिद्वंद्वी धर्मोंको प्रश्रय दिया था। किसी-किसी समय, मुख्यतया दक्षिण भारतमें, राजाके द्वारा धार्मिक मामलोंमें छोटे-मोटे या भीषण अत्याचार किये जानेके दृष्टांत भी मिलते हैं। परंतु ये विस्फोट एक प्रकारका धर्मोल्लंघन ही होते थे जो किसी तीव्र धार्मिक कलहके समय क्षणिक उत्तेजनाके कारण किया जाता था और ये सदा ही स्थानीय एवं अल्पकालीन ही होते थे। पर साधारणतः भारतकी राजनीतिक प्रणालीमें धार्मिक अत्याचार और असहिष्णुताके लिये कोई स्थान नहीं था और इस प्रकारकी स्थिर राष्ट्र-नीतिकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार जनताका सामाजिक जीवन भी निरंकुश हस्तक्षेपसे मुक्त था। इस क्षेत्रमें राजाके द्वारा कानून बनाये जानेके दृष्टांत बहुत ही कम मिलते हैं और यहां भी, जब कानून बनाया जाता था, तो, संबद्ध व्यक्तियोंका मत लेना पड़ता था; उदाहरणार्थ, बौद्धोंके दीर्घकालीन प्राधान्यके कारण वर्ण-व्यवस्थाके अस्तव्यस्त हो जानेके बाद बंगालमें सेन राजाओंने इसकी पुनर्व्यवस्था या पुनः संघटन करनेके लिये ऐसा ही किया था। समाजमें परिवर्तन लाया तो जाता था पर कृत्रिम ढंगसे, ऊपरसे नहीं, बल्कि स्वतः ही भीतरसे लाया जाता था और मुख्यतया कुलों या विशेष-विशेष समाजोंको अपने जीवनके नियम, आचार, का स्वाभाविक रीतिसे विकास या परिवर्तन करनेके लिये जो स्वाधीनता दी गयी थी, उसके द्वारा लाया जाता था।

इसी प्रकार, शासन-व्यवस्थाके क्षेत्रमें भी राजाकी शक्ति धर्मके प्रचलित संविधानके द्वारा मर्यादित थी। उसका कर लगानेका अधिकार राजस्वके अत्यंत प्रधान स्रोतोंमें तो एक नियत प्रतिशतसे अधिक कर न लगा सकनेकी

सीमाके द्वारा सीमित था, कुछ अन्य स्रोतोंमें समाजके विविध अंगोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले संघोंके इस विषयमें प्रायः ही अपना मतप्रकाश करनेके अधिकारके द्वारा, और फिर इस साधारण नियमके द्वारा सीमित रहता था कि उसका शासन करनेका अधिकार प्रजाजनकी संतुष्टि और सद्‌भावनापर ही आश्रित है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह सब धर्मके संरक्षक ब्राह्मणोंकी धार्मिक इच्छा या सम्मतिमात्रका परिणाम नहीं था। स्वयं राजा ही, व्यक्तिगत रूपसे, दीवानी और फौजदारी कानूनको चलानेमें प्रधान विचारपति और सर्वोच्च नियंता होता था, परंतु यहां भी उसका पद कार्य-संचालकका ही होता था: कानूनका जो भी स्वरूप निर्धारित हुआ हो उसे अपने न्यायाधीशोंके द्वारा या इन विषयोंके ज्ञाता विधान-निपुण ब्राह्मणोंकी सहायतासे सच्चाईके साथ कार्यान्वित करनेके लिये वह बाध्य होता था। अपनी मंत्रणा-परिषद्‌में उसे केवल वैदेशिक नीति, सैनिक प्रशासन और युद्ध तथा शांति-स्थापनाके एवं शासन-संचालनसंबंधी अनेक कार्योंके बारेमें ही पूर्ण एवं अप्रतिहत प्रभुत्व प्राप्त रहता था। शासन-व्यवस्थाके अंगभूत जो भी कार्य समाजके कल्याण और सुप्रबंध तथा सार्वजनिक सदाचारकी वृद्धि और सुरक्षामें सहायक होते थे उन सबकी, एवं जिन विषयोंका निरीक्षण या नियमन राजसत्ताके द्वारा ही सुचारु रूपसे हो सकता था ऐसे सब विषयोंकी उपयुक्त व्यवस्था करनेके लिये वह स्वतंत्र होता था। कानूनके अनुसार संरक्षण करने एवं दंड देनेका उसे अधिकार होता था और उससे आशा की जाती थी कि वह इस अधिकारका प्रयोग सर्वसाधारणके हितरूपी फलको और सार्वजनिक कल्याणकी वृद्धिको कठोरतापूर्वक दृष्टिमें रखकर ही करेगा।

अतएव, साधारणतः, प्राचीन भारतीय राज्य-प्रणालीमें मनमानी स्वेच्छाचारिता या राजतंत्रीय यह अत्याचार एवं उत्पीड़नका स्थान नहींके बराबर ही हो सकता था या फिर बिलकुल ही नहीं हो सकता था, उस बर्बर क्रूरता एवं निष्ठुरताकी बात तो दूर रही जो कुछ अन्य देशोंके इतिहासमें इतने सामान्य रूपमें पायी जाती हैं। तथापि राजाद्वारा धर्मकी अवहेलना करने या राज्य-शासनसंबंधी आदेश जारी करनेकी अपनी शक्तिका दुरुपयोग करनेके कारण ऐसी घटनाओंका होना संभव था; इस प्रकारकी घटनाएं घटित भी हुईं,—यद्यपि इनका जो सबसे बुरा दृष्टांत इतिहासमें मिलता है वह एक विदेशी राजवंशसे संबंध रखनेवाले अत्याचारी राजाका है। अन्य उदाहरणोंमें ऐसा मालूम होता है कि किसी स्वेच्छाचारी राजाकी सनक, अत्याचार या अन्यायके किसी लंबे विस्फोटका परिणाम

यह हुआ कि प्रजाने शीघ्र ही उसका प्रबल विरोध या उसके विरुद्ध जबर्दस्त विद्रोह किया। विधान-निर्माताओंने अत्याचारकी संभावनाको दृष्टिमें रखकर उसकी रोकथामके लिये एक धारा बना दी थी। राजपदकी पवित्रता और मान-मर्यादा स्वीकार करते हुए भी यह नियम बनाया गया था कि यदि राजा धर्मको सच्चाईके साथ कार्यान्वित करना छोड़ दे तो प्रजा उसका आदेश माननेके लिये बाध्य नहीं होगी। प्रजाके संतोषके अनुसार शासन करनेमें अयोग्यता, और इस अनिवार्य कर्तव्यका उल्लंघन उसे पदच्युत करनेके लिये सिद्धांततः और कार्यतः पर्याप्त कारण होते थे। मनुने तो यहांतक व्यवस्था दी है कि अन्यायी और अत्याचारी राजाको पागल कुत्तेकी तरह मार डालना प्रजाका कर्तव्य है। और एक सर्वोच्च प्रामाणिक स्मृतिकारने चरम कोटिकी अवस्थाओंमें राजविद्रोह एवं राजहत्याके अधिकार किंवा कर्तव्यका इस प्रकारका जो समर्थन किया है वह इस बातको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि राजाओंकी निरंकुशता या ईश्वरप्रदत्त अनियंत्रित अधिकार भारतीय राज्यप्रणालीके उद्देश्यका कोई अंग नहीं था। वस्तुतः इतिहास और साहित्य दोनोंसे यह पता चलता है कि प्रजा अपने इस अधिकारका प्रयोग सचमुचमें किया करती थी। एक और, अधिक शांतिपूर्ण उपाय था — संबंध-विच्छेद करने या राज्य छोड़कर दूसरे राज्यमें चले जानेकी धमकी देना। इस उपायका प्रयोग आम तौरपर अधिक किया जाता था। बहुधा यही उपाय कर्तव्यच्युत शासककी बुद्धिको ठिकाने लानेके लिये पर्याप्त होता था। यह मजेदार बात है कि दक्षिण भारतमें इधर सत्रहवीं शताब्दीमें भी एक अप्रिय राजाको प्रजाने उससे संबंध विच्छेद कर लेनेकी धमकी दी थी और सर्वसाधारणकी सभाने यह घोषित किया था कि उस राजाको दी गयी किसी भी प्रकारकी सहायता विश्वासघातके कार्यकी भांति निंद्य समझी जायगी। एक और अधिक प्रचलित उपाय यह था कि मंत्रियोंकी परिषद् या जनसाधारणकी सभाओंके द्वारा राजाको पदच्युत कर दिया जाता था। इस प्रकार यहां जो राजतंत्र गठित हुआ था वह कार्यतः संयत, कार्यकुशल और हितकर सिद्ध हुआ। जो कार्य उसे सौंपे गये थे उन्हें उसने सुचारु रूपसे संपन्न किया और जनताके हृदयको स्थायी रूपसे वशमें कर लिया। तथापि राजतंत्रीय प्रणाली भारतकी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाका केवल एक अंग ही थी। अवश्य ही, यह अंग जनताके द्वारा अनुमोदित तथा अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, पर जैसा कि हमें प्रजातंत्रोंके अस्तित्वसे पता चलता है, यह उसका कोई अनिवार्य अंग नहीं था। अतएव, यदि हम भारतीय राज्य-प्रासादके सामनेके भागको देखकर

ही रुक जायं तथा इसके पीछे आधारके रूपमें जो कुछ विद्यमान था उसे देखनेसे चूक जायं तो हम भारतीय राष्ट्रतंत्रके वास्तविक सिद्धांत और इसकी कार्यपद्धतिको जरा भी नहीं समझ पायेंगे। इसकी संपूर्ण रचनाके मूल स्वरूपका सूत्र तो हमें उस आधारभूत वस्तुमें ही प्राप्त होगा।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दूसरा अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय शासनतंत्रका सच्चा स्वरूप हमारी समझमें केवल तभी आ सकता है यदि हम इसे एक पृथक् वस्तुके रूपमें, अर्थात् अपनी जातिके चिंतन और जीवनके अन्य अंगोंसे स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले एक यंत्रके रूपमें न देख अपनी सामाजिक सत्ता-रूपी सजीव समष्टिके एक अंगके रूपमें तथा उसके संबंधसे इसपर दृष्टिपात करें।

कोई जाति या कोई महान् मनुष्य-समुदाय, वास्तवमें, एक सुसंगठित सजीव अस्तित्व होता है। इसकी एक सामूहिक अंतरात्मा, मन और शरीर होता है, जिसे सामूहिक नहीं बल्कि सर्वगत या समष्टिगत कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि 'सामूहिक' शब्द इतना यांत्रिक वा निर्जीव है कि अंतरीय सद्वस्तुका ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकता। एक पृथक् मनुष्यके स्थूल जीवनकी भांति समाजका जीवन भी जन्म, वृद्धि, यौवन, प्रौढ़ता और ह्रासके चक्रमेंसे गुजरता है। इनमेंसे अंतिम अवस्था यदि काफी आगे बढ़ जाय और इसकी ह्रासोन्मुखी धारा किसी प्रकार रोकी न जा सके तो समाजका जीवन भी वैसे ही नष्ट हो सकता है जैसे एक मनुष्य बुढ़ापेसे मर जाता है। भारत और चीनको छोड़कर अन्य सभी प्राचीनतर जातियां और राष्ट्र इस प्रकार मिट गये। परंतु सामूहिक सत्तामें भी पुनरुज्जीवित होने, पूर्वावस्था प्राप्त करने और एक नया चक्र आरंभ करनेकी सामर्थ्य होती है। कारण, प्रत्येक जातिमें एक आत्म-भावना या जीवन-भावना काम कर रही है जो उसके शरीरकी अपेक्षा कम नश्वर है। यदि वह भावना अपने-आपमें पर्याप्त बलशाली, विशाल एवं शक्तिदायक हो और जातिके मन तथा स्वभावमें इतना पर्याप्त बल, जीवनशक्ति एवं नमनीयता हो कि वह अपनी सत्ताकी आत्म-भावना या जीवन-भावनाकी शक्तिका अनवरत विस्तार या नवीन प्रयोग करनेके साथ-साथ उसे स्थायित्व भी दे सके तो वह अपने अंतिम विनाशसे पहले ऐसे अनेक जीवन-चक्रोंमेंसे गुजर सकती है।

और फिर, स्वयं यह भावना समष्टि-सत्ताकी आत्माकी अभिव्यक्तिका मूल-तत्त्व मात्र है तथा प्रत्येक समष्टिगत आत्मा भी उस महत्तर सनातन आत्म-सत्ताका प्रकाश एवं वाहन है जो अपने-आपको कालके अंदर प्रकट करती है, इस पृथ्वीपर मानो मानवके चरम विकासके उतार-चढ़ावमेंसे गुजरती हुई मानवताके अंदर अपनी ही निजी परिपूर्णता खोज रही है। अतएव जो जाति सजगताके साथ जीना सीख जाती है, प्रधानतः अपने स्थूल एवं बाह्य जीवनमें ही नहीं, यहांतक कि केवल इसीमें और उस जीवन-भावना या आत्म-भावनाकी शक्तिमें भी नहीं जो उसके विकासके परिवर्तनोंको नियंत्रित करती है और उसके मनोभाव तथा स्वभावकी पूंजी है, बल्कि पीछेकी ओर स्थित अंतरात्मा और आत्मामें भी सजगताके साथ जीना सीख जाती है, वह जाति संभवतः कभी भी नष्ट नहीं हो सकती, विलुप्त होकर या दूसरी जातियोंमें विलीन होकर या घुल-मिलकर समाप्त नहीं हो सकती या अपना स्थान किसी नयी जाति एवं समाजके लिये खाली करनेके लिये बाध्य नहीं हो सकती, बल्कि वह अनेक आदिम लघुतर समाजोंको स्वयं अपने जीवनके अंदर मिलाकर और अपनी स्वाभाविक उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरूढ़ होकर बिना मरे, अनेक नये जन्मोंमेंसे गुजर सकती है। और, यदि किसी समय ऐसा दीख भी पड़े कि वह सर्वथा समाप्त एवं नष्ट होनेवाली है, तो भी वह आत्माकी शक्तिसे पुनः अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर एक दूसरा तथा शायद अधिक गौरवशाली चक्र शुरू कर सकती है। भारतका इतिहास एक ऐसी ही जातिके जीवनका इतिहास रहा है।

भारतीय जातिके जीवन, संस्कृति और सामाजिक आदर्शोंको नियंत्रित करनेवाला प्रधान विचार यह रहा है कि मनुष्यको अपनी सच्ची आत्माकी खोज करनी चाहिये और इस आत्मोपलब्धिके लिये तथा अज्ञानमय प्राकृतिक स्थितिसे आध्यात्मिक अवस्थाकी ओर आरोहणके लिये उसे अपने जीवनको एक ढांचे और साधनके रूपमें प्रयुक्त करना चाहिये। निःसंदेह इसके लिये पहले निम्न भौतिक प्राणिक और मानसिक प्रकृतिका विकास पूरा हो जाना आवश्यक है। इस प्रबल विचारको भारतने राजनीतिक और सामाजिक रचनाके दबाव और उसकी स्थूल आवश्यकताओं एवं बाह्य अवस्थाओंके वशीभूत होनेपर भी कभी सर्वथा भुला नहीं दिया। परंतु सामाजिक जीवनको मनुष्यके सच्चे 'स्व'की अभिव्यक्ति और उसकी अंतःस्थ आत्माकी उच्चतम प्रतिमूर्ति बनानेमें जो कठिनाई आती है वह उससे अत्यधिक बड़ी है जो धर्म, चिंतन, कला, साहित्य आदि मानसिक वस्तुओंके द्वारा आत्माको अभिव्यक्त करनेमें आती है। जहां इन विषयोंमें भारत अलौकिक

शिखरों और विशालताओंपर पहुंचा वहां बाह्य जीवनमें कुछ एक अत्यंत आंशिक उपलब्धियों और अति अपूर्ण प्रयोगोंके परे नहीं जा सका; वे उपलब्धियां और प्रयोग हैं—अध्यात्म-भाव पैदा करनेवाला एक सामान्य प्रतीक-समूह, महत्तर अभीप्साका अंतःप्रवाह, सामाजिक जीवनकी एक विशेष प्रकारकी व्यवस्था, आध्यात्मिक भावनाकी सहायक संस्थाओंका निर्माण। राजनीति, समाज और अर्थशास्त्र तो भारतीय प्रणालीमें स्वीकृत चतुर्विध पुरुषार्थ, अर्थात् मानवके लक्ष्य और कार्यव्यापार, के दो प्रारंभिक एवं स्थूलतर अंगों, अर्थ और काम (सुखभोगकी कामना), के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। इनसे अधिक ऊंचा विधान है धर्म और इसे जीवनके इस बाह्य क्षेत्रमें केवल आंशिक रूपमें ही स्थान दिया गया है और राजनीतिमें तो इसे अति न्यूनतम मात्रामें ही लाया गया है, क्योंकि राजनीतिक कार्यको नीतिशास्त्रके अनुसार संचालित करनेका यत्न साधारणतः पाखंडसे अधिक कुछ नहीं होता। आजतक अप्रौढ़-प्राय मानवजातिके अतीत इतिहासमें इस बातकी तो शायद कल्पना या चेष्टा भी नहीं की गयी कि सामाजिक बहिर्जीवन तथा मोक्ष, अर्थात् मुक्त आध्यात्मिक अस्तित्वमें समन्वय या सच्चा मेल साधा जा सकता है, इसके कहीं सफल होनेकी बात तो दूर रही। सुतरां, हम देखते हैं कि भारतकी प्राचीन राज्य-प्रणाली केवल इतनी ही दूर अग्रसर हो पायी थी कि उसके जीवनकी सामाजिक, आर्थिक और यहांतक कि राजनीतिक—यद्यपि इस क्षेत्रमें यह प्रयत्न अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा अधिक शीघ्र भंग हो गया—विधि-व्यवस्था, प्रणाली और प्रवृत्ति धर्मके अनुसार नियंत्रित होती थी और इन सबके मूलमें आध्यात्मिक अर्थकी एक क्षीण आभा विद्यमान रहती थी और आध्यात्मिक जीवनको पूर्ण रूपसे चरितार्थ करनेका परम लक्ष्य व्यक्तिके निजी पुरुषार्थपर छोड़ दिया गया था। निःसंदेह इतना-सा प्रयत्न उसने धैर्य और अध्यवसायके साथ किया और इसने उसकी व्यवस्थाको एक विशिष्ट रूप प्रदान किया। संभवतः यह काम भावी भारतका होगा कि वह अपने प्राचीन भगवत्प्रदत्त कार्यको पूरा करनेवाले अर्थात् जीवन और आत्माके बीच समन्वय साधित करनेवाले एक अधिक पूर्ण लक्ष्य, एक अधिक व्यापक अनुभव, एक अधिक सुनिश्चित ज्ञानको ग्रहण कर और उनके द्वारा स्वयं महान्-विशाल बनकर गभीरतर आध्यात्मिक सत्यकी, हमारी सत्ताकी अभीतक अनुपलब्ध आध्यात्मिक शक्यताओंकी अनुभूतिके आधारपर मनुष्य-समाजकी परमार्थ सत्ता और व्यवहारको प्रतिष्ठित करे और अपनी प्रजाके जीवनमें इस प्रकार नयी जान फूंक दे कि यह मानवजातिमें विद्यमान महत्तर आत्माकी लीला, 'विराट्' अर्थात् विश्व-

पुरुषकी सचेतन समष्टिगत आत्मा और शरीर बन जाय।

एक और बात ध्यानमें रखना आवश्यक है, जो भारतके प्राचीन शासनतंत्र तथा यूरोपीय जातियोंके शासन-तंत्रमें भेद उत्पन्न करती है और जिसके कारण पश्चिमके मानदंड इस क्षेत्रमें भी उतने ही अव्यवहार्य ठहरते हैं जितने मन तथा आंतरिक संस्कृतिके विषयोंमें। मानवसमाजको अपनी संभावनाओंकी पराकाष्टातक पहुंचनेसे पहले अपनी प्रगतिमें विकासकी तीन अवस्थाओंमेंसे गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था वह है जिसमें समष्टिसत्ताके रूप और व्यवहार वही होते हैं जो उसके जीवनकी शक्तियों और मूल वृत्तियों-की स्वाभाविक क्रीड़ाके होते हैं। उसकी संपूर्ण प्रगति, उसकी सभी रचनाएं, प्रथाएं, संस्थाएं तब एक प्रकारका स्वाभाविक सुगठित विकास होती हैं और इन्हें अपना प्रेरक तथा निर्मायक बल प्रायः उसके अंतःस्थ जीवनके अवचेतन तत्त्वसे ही प्राप्त होता है। ये बिना चाहे ही समाजके मनोव्यापार, स्वभाव तथा प्राणिक एवं शारीरिक आवश्यकताको प्रकट करती हैं और अडिग बनी रहती हैं, अथवा कुछ तो भीतरी आवेगके और कुछ समष्टिगत मन एवं स्वभावपर क्रिया करनेवाली परिस्थितिके दबावके कारण बदलती हैं। इस अवस्थामें जाति अभीतक बुद्धिके तरीकेसे ज्ञानपूर्वक आत्मसचेतन नहीं होती, अभीतक चिंतनशील सामूहिक सत्ता नहीं होती। यह अपने सम्पूर्ण सामुदायिक जीवनको तर्कशील इच्छा-शक्तिके द्वारा चलाने-का यत्न नहीं करती, बल्कि अपने प्राणिक सहज-बोधों या इनके प्रथम मानसिक प्रतिरूपोंके अनुसार जीवन यापन करती है। अधिकांश प्राचीन तथा मध्ययुगीन जातियोंकी भांति भारतीय समाज और राज्यतंत्रके भी प्रारंभिक ढांचे ऐसे ही कालमें विकसित हुए। परंतु बढ़ती हुई सामाजिक आत्मचेतनताके परवर्ती युगमें भी इन्हें त्याग नहीं दिया गया बल्कि इस तरह और भी अधिक सुगठित, विकसित एवं व्यवस्थित किया गया, जिससे ये सदा राजनीतिज्ञों, विधायकों और सामाजिक एवं राजनीतिक विचारकोंकी रचना न रहकर एक ऐसी दृढ़-स्थिर प्राणवंत व्यवस्था बनें जो भारतीय जातिके मन, सहज-प्रेरणाओं और प्राणिक अंतर्बोधोंके लिये स्वाभाविक हो।

समाजकी दूसरी अवस्था वह है जिसमें समष्टि-मन बौद्धिक रूपमें अधि-काधिक आत्मसचेतन होता जाता है, पहले तो समाजके अधिक संस्कृत मनुष्योंमें, फिर अधिक व्यापक रूपमें, पहले स्थूल रूपमें, तदनंतर अधि-काधिक सूक्ष्म रूपमें और उसके जीवनके अंग-प्रत्यंगमें। वह अपने निजी जीवन, सामाजिक विचारों, आवश्यकताओं और संस्थाओंको विकसित बुद्धिके प्रकाशमें और अंतमें आलोचनात्मिका एवं रचनात्मिका बुद्धिकी शक्तिके द्वारा देखना और

उनके साथ यथोचित व्यवहार करना सीख जाता है। यह अवस्था महान् संभावनाओंसे परिपूर्ण होती है पर इसके अपने विशिष्ट भयानक संकट भी इसके साथ लगे होते हैं। इसके प्राथमिक लाभ वे हैं जो स्पष्ट एवं बोधयुक्त और अंततः यथार्थ एवं वैज्ञानिक ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ बराबर ही प्राप्त होते हैं। इसकी चरम अवस्था है यथार्थ एवं सुसज्जित कौशल जो समीक्षक और रचनात्मक वैज्ञानिक बुद्धिका पूर्णतम मात्रामें प्रयोग करनेपर उसके परिणाम और प्रतिफलस्वरूप अधिगत होता है। सामाजिक विकासकी इस अवस्थाका एक और महत्तर फल होता है उच्च एवं उज्ज्वल आदर्शोंका आविर्भाव। ये आदर्श मनुष्यको उसकी प्राणमय सत्ताकी सीमाओं तथा उसकी प्रथम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताओं एवं कामनाओंके ऊपर उठा ले जाने और इनके रूढ़ सांचोंसे बाहर निकालनेकी आशा बंधाते हैं। ये उसे सामाजिक जीवनपर साहसिक परीक्षण करनेके लिये प्रेरित एवं अनुप्राणित करते हैं और वह परीक्षण एक अधिकाधिक आदर्श समाजके चरितार्थ होनेकी संभावनाका क्षेत्र खोल देता है। वैज्ञानिक मनको एक ऐसे सूक्ष्म, सिद्धहस्त और सुसज्जित कौशलके साथ जीवनपर प्रयुक्त करना जो इसका सामान्य सर्वोच्च परिणाम है, ज्ञानपूर्वक प्रस्तावित सामाजिक एवं राजनीतिक महान् आदर्शोंका यह अनुसरण और वह प्रगति जो इस पुरुषार्थमें विजित भूमिकी सूचक है—ये सब, जिन किन्हीं त्रुटियों और कमियोंके होते हुए भी, यूरोपके राजनीतिक एवं सामाजिक प्रयत्नके अपने विशिष्ट लाभ रहे हैं।

दूसरी ओर, जब बुद्धि अपनेको जीवनकी एकछत्र शासिका समझकर उसके उपादानोंपर क्रिया करनेका दावा करती है तो वह स्वभावतः ही समाजके इस सच्चे स्वरूपको अपनी दृष्टिसे कोसों दूर रखती है कि यह एक सजीव विकसनशील सत्ता है। वह इसके साथ ऐसे व्यवहार करती है मानो यह एक मशीन हो जो इच्छानुसार चलायी जा सकती हो और बुद्धिके मनमाने आदेशोंके अनुसार कितने सारे निष्प्राण काठ या लोहेकी तरह गढ़ी या ढाली जा सकती हो। विकृतिजनक, संघर्षशील, रचनाशील, कार्यदक्ष, यांत्रीकारक बुद्धि एक जातिकी जीवनी-शक्तिके सरल तत्वोंको खो बैठती है, वह इसे इसके जीवनके गुप्त मूलोंसे विच्छिन्न कर देती है। इसका परिणाम होता है शासनतंत्र और सभा-संस्थापर, विधि-व्यवस्था और राज्यप्रबंधपर अति निर्भरता और एक जीती-जागती जातिके बजाय यांत्रिक राज्यको विकसित करनेकी घातक प्रवृत्ति। सामाजिक जीवनका यंत्र ही स्वयं जीवनका स्थान लेनेकी चेष्टा करता है और

एक प्रबल पर यांत्रिक एवं कृत्रिम संगठनका जन्म होता है; परंतु, इस बाह्य लाभके मूल्य-स्वरूप हम एक स्वतंत्र एवं जीवंत जातिके शरीरके अंदर सुगठित रूपमें आत्मविकास करनेवाली समष्टि-आत्माके जीवनका सत्य गंवा देते हैं। वैज्ञानिक बुद्धि अपनी यांत्रिक पद्धतिके बोझके नीचे प्राणिक एवं आध्यात्मिक अंतर्ज्ञानके कार्यको कुचल डालती है। यह उसकी एक भूल है। यही यूरोपकी दुर्बलता है और इसने उसकी अभीप्साको धोखा दिया है और उसे उसके उच्चतर आदर्शोंको सच्चे रूपमें उपलब्ध करनेसे रोका है।

अतएव मानव-व्यष्टिकी तरह ही समाजरूपी समष्टिको अपने विकासकी एक तीसरी अवस्थामें पहुंचना होता है और वहां पहुंचनेपर ही मनुष्यके चिंतनद्वारा प्रारंभमें ही अधिकृत एवं पोषित आदर्श अपना सच्चा उद्‌गम एवं स्वरूप तथा अपनी चरितार्थताके सच्चे साधन एवं अवस्थाएं उपलब्ध कर सकते हैं, अथवा तभी पूर्ण समाजका आदर्श स्वप्नसे अधिक कुछ हो सकता है। आज तो वह एक चमकीले मेघपर भासमान स्वप्न-दृश्यकी भांति है, जिसके पीछे मनुष्य लगातार चक्कर काटता रहता है और जो लगातार उसकी आशाको दुराशामें परिणत करता रहता है तथा उसकी पकड़से बचता रहता है। यह स्वप्न तभी पूरा होगा जब समाजके अंदर मनुष्य अधिक गहरा जीवन बिताने लगेगा और अपने सामूहिक जीवनका नियंत्रण तो न मुख्यतः अपने प्राण-पुरुषसे उद्‌भूत आवश्यकताओं, सहज-प्रेरणाओं एवं स्फुरणाओंके अनुसार करेगा और न गौणतः तर्कशील मनकी रचनाओंके द्वारा, बल्कि प्रथमतः, प्रधानतः और सदा-सर्वदा अपनी उपलब्ध महत्तर अंतरात्मा और आत्माकी एकता, सहानुभूति, सहज स्वतंत्रता और सुनम्य एवं सजीव व्यवस्थाकी शक्तिके द्वारा करेगा। उस आत्मामें ही व्यक्ति और समाजकी स्वतंत्रता, पूर्णता एवं एकताका अपना-अपना विधान निहित है। यह एक ऐसा नियम है जिसे अपना प्रयत्न आरंभ करनेके लिये भी अभीतक कहीं भी उपयुक्त अवस्थाएं प्राप्त नहीं हुई हैं। क्योंकि यह चरितार्थ तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक जीवनके विधानको उपलब्ध करने और उसका अनुसरण करनेका मानवीय प्रयत्न केवल कुछ एक व्यक्तियोंके ही असाधारण लक्ष्यके रूपमें सीमित न रहे अथवा अधिक व्यापक अभीप्साका विषय बननेपर कहीं यह एक प्रचलित धर्मका बाना पहनकर पतित ही न हो जाय, बल्कि, जब मनुष्य इसे अपनी सत्ताकी अटल मांग मानकर तथा इसकी सच्ची और सही उपलब्धिको जातिके विकासके अगले कदमके लिये आवश्यक समझता हुआ इसका अनुसरण करे।

छोटे-छोटे प्राचीन भारतीय समाज अन्य समाजोंकी भांति प्रबल और

सहजस्फूर्त जीवन-शक्तिकी प्रथम अवस्थामेंसे गुजरकर ही विकसित हुए, उन्होंने इसके आदर्श और इसकी कार्यप्रणालीको स्वतंत्र और स्वाभाविक रूपसे ही उपलब्ध किया और जीवन तथा सामाजिक और राजनीतिक संस्थाके रूपको समष्टि-सत्ताके प्राणिक सहज-ज्ञान और स्वभावके द्वारा ही गठित किया। जैसे-जैसे वे एक-दूसरेके साथ घुलमिलकर एक बढ़ती हुई सांस्कृतिक और राजनीतिक एकतामें आबद्ध होते गये और उत्तरोत्तर विशाल राजनीतिक संघ बनाते गये, वैसे-वैसे उन्होंने एक समान भावना, समान आधार एवं सर्वसामान्य रचनाका विकास किया जो गौण रूप-रेखाओंमें विविधता-के लिये अत्यधिक स्वाधीनता प्रदान करती थी। वहां कठोर एकरूपताकी कोई आवश्यकता नहीं थी; समान भावना और जीवन-प्रेरणा ही इस नमन-शीलतापर सर्वसामान्य एकताका नियम लागू करनेके लिये पर्याप्त थीं। और जब महान् राज्यों और साम्राज्योंका विकास हुआ तब भी अधिक छोटे राज्यों, प्रजातंत्रों और गणों-रूपी विशिष्ट संस्थाओंको नष्ट नहीं कर दिया गया या अलग नहीं फेंक दिया गया बल्कि उन्हें सामाजिक-राजनीतिक रचना-के नये सांचेमें यथासंभव अधिक-से-अधिक समाविष्ट कर लिया गया। जो कुछ जातिके स्वाभाविक विकासमें जीवित नहीं रह सका या जिसकी अब और जरूरत नहीं थी वह अपने-आप झड़कर व्यवहारके क्षेत्रसे अलग हो गया: जो कुछ अपने-आपको नयी परिस्थिति और नये वातावरणके अनुसार बदल-कर टिका रह सका उसे जीवित रहने दिया गया: जो कुछ भारतवासियों-की सत्ताके आंतरात्मिक और प्राणिक विधानके तथा उसके स्वभावके साथ घनिष्ठ संगति रखता था उसने सर्वत्र प्रचलित होकर समाज तथा शासन-प्रणालीके स्थायी स्वरूपमें स्थान ग्रहण कर लिया।

विकसित होती हुई बौद्धिक संस्कृतिके युगने जीवनके इस सहज-स्वा-भाविक सिद्धांतका सम्मान किया। समाज, अर्थनीति और राजनीतिपर, अर्थात् धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रपर विचार करनेवाले भारतीय मनीषियोंका कार्य यह नहीं था कि वे भाव-प्रधान बुद्धिके द्वारा समाज और राज्यके आदर्शों एवं प्रणालियोंका निर्माण करें, बल्कि समष्टिगत मन और प्राणने सामाजिक जीवनकी जो संस्थाएं और प्रणालियां पहलेसे विकसित कर रखी हैं उन्हें व्यावहारिक बुद्धिके द्वारा समझें तथा नियमबद्ध करें और उनके मूलतत्त्वोंको नष्ट किये बिना विकसित करें, स्थिर और सुसंगत बनायें। जिस किसी भी नये तत्त्व या विचारकी आवश्यकता होती थी उसे एक क्रांतिपूर्ण एवं विध्वंसकारी सिद्धांतके रूपमें नहीं बल्कि एक ऊपरी रचना या संशोधनात्मक तत्त्वके रूपमें बढ़ाया या प्रचलित किया जाता था। इसी

ढंगसे सामाजिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाओंसे एक पूर्ण-विकसित राजतंत्रात्मक प्रणालीकी ओर अग्रसर होनेकी व्यवस्था की गयी थी; यह कार्य राजा या सम्राट्के सर्वोच्च नियंत्रणके अधीन, उस समयकी प्रचलित संस्थाओंको एकत्रित करके किया गया। उनके ऊपर राजतंत्रात्मक या साम्राज्यीय प्रणालीकी स्थापना कर देनेसे उनमेंसे बहुतोंका स्वरूप एवं स्थिति तो बदल गयी पर, यथासंभव, उनका अस्तित्व लुप्त नहीं हुआ। परिणामस्वरूप, भारतमें हम बौद्धिकतया आदर्शवादी राजनीतिक प्रगति या क्रांतिपूर्ण परीक्षणका वह तत्त्व नहीं देखते जो प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपका इतना सुस्पष्ट लक्षण रहा है। अतीतकी रचनाओंको भारतीय मन और जीवनका स्वाभाविक प्रकाश, उसके 'धर्म' अर्थात् यथार्थ सत्ताके विधानकी सच्ची अभिव्यक्ति मानते हुए उनका गहरा सम्मान करना भारतीय मनोवृत्तिका प्रबलतम अंग था और उच्च बौद्धिक संस्कृतिकी महान् सहस्राब्दीमें यह रक्षणात्मक प्रवृत्ति भंग नहीं हुई वरंच और भी अधिक दृढ़ रूपमें सुस्थिर एवं प्रतिष्ठित हो गयी। प्रगतिका एकमात्र संभव या ग्राह्य साधन यही समझा जाता था कि प्रथाओं और संस्थाओंका क्रमशः विकास होने दिया जाय जो सुप्रतिष्ठित व्यवस्थाके सिद्धांतकी, समाज-व्यवस्था और राजनीतिके पूर्व-दृष्टांतकी एवं प्रचलित ढांचे और रचनाकी रक्षा करे। इसके विपरीत, भारतीय शासनप्रणालीने जनताके जीवनकी स्वाभाविक व्यवस्थाके स्थानपर हानिकारक यांत्रिक व्यवस्थाकी स्थापना कभी नहीं की जो यूरोपीय सभ्यताकी व्याधि रही है और जिसका चरम परिणाम आज हमें नौकरशाही एवं व्यावसायिक राज्यपद्धतिके कृत्रिम दैत्याकार संगठनके रूपमें दिखायी पड़ रहा है। आदर्शोंकी परिकल्पना करनेवाली बुद्धिके लाभ यदि उसमें नहीं थे तो सभी चीजोंको यांत्रिक रूप देनेवाली तर्कबुद्धिकी हानियां भी नहीं थीं।

भारतीय मन जब तर्कबुद्धिके विकासमें अत्यधिक व्यस्त था तब भी वह अपने स्वभावमें सदैव गहरे रूपसे अंतःस्फुरणात्मक बना रहा, और इसलिये उसका राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन सदैव प्राणकी स्फुरणाओं और आत्माकी स्फुरणाओंको संयुक्त करनेके लिये एक प्रकारका प्रयत्न ही रहा जिसमें बुद्धिके प्रकाशने एक मध्यवर्ती, व्यवस्थापक और नियामक तत्त्वका काम किया। उसनें जीवनके प्रचलित और सुदृढ़ यथार्थ तथ्योंकी मजबूत नींवपर अपनेको प्रतिष्ठित करने और अपने आदर्शवादके लिये बुद्धिपर नहीं वरन् आत्माकी ज्ञानदीप्तियों, अंतःप्रेरणाओं और उच्चतर अनुभवोंपर निर्भर करनेका यत्न किया है, और उसने बुद्धिका प्रयोग एक समीक्षक शक्तिके रूपमें ही किया है जो उसके चिंतनके क्रमोंकी परीक्षा करती और उन्हें

निश्चित करती है तथा प्राण और आत्माकी, जो सदा ही सच्चे और प्रबल निर्माता होते हैं, सहायता करती है पर उनका स्थान नहीं ले लेती। भारतका आध्यात्मिक मन जीवनको आत्माकी एक अभिव्यक्ति मानता था : उसके लिये समाज सृष्टिकर्ता ब्रह्माका शरीर था, जाति समष्टि-ब्रह्मका प्राण-शरीर थी, वह समष्टिगत नारायण थी, जैसे कि व्यक्ति था व्यष्टि-ब्रह्म, पृथक् जीव, व्यक्तिगत नारायण; राजा भगवान्‌का जीवंत प्रतिनिधि होता था तथा समाजकी अन्य श्रेणियां समष्टिगत आत्माकी स्वाभाविक शक्तियां, प्रकृतयः, कहलाती थीं। अतएव, यही नहीं कि सम्मत रूढ़ियों, संस्थाओं तथा प्रथाओंका और सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनका संविधान और उसके सब अंगोंकी सत्ताको अलंघ्य माना जाता था बल्कि इनका स्वरूप भी एक प्रकारकी विशेष पवित्रतासे युक्त समझा जाता था।

प्राचीन भारतीय विचारके अनुसार, मानवजीवन तथा जगत्‌की यथायथ व्यवस्था तभी सुरक्षित रहती है जब कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वधर्मका, अर्थात् अपनी प्रकृति तथा अपनी जातिकी प्रकृतिके सच्चे विधान और आदर्शका सच्चाईके साथ अनुसरण करता है तथा समाज अर्थात् सुघटित समष्टिगत जीवन भी अपने स्वधर्मका उसी प्रकार पालन करता है। कुल, वंश, वर्ण, वर्ग, सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक या अन्यविध समुदाय, राष्ट्र, जाति —ये सब ही सुघटित सामूहिक सत्ताएं हैं जो अपने-अपने धर्मका विकास करती हैं और उसका अनुसरण करना उनकी सुरक्षा, उनके स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व और समुचित कार्यकी शर्त है। पद और कर्तव्यका तथा दूसरोंके साथ विशिष्ट संबंधका भी अपना धर्म होता है, इसी प्रकार एक धर्म वह भी होता है जो अवस्था, परिस्थिति एवं युगके द्वारा मनुष्यपर लादा जाता है, उसे युगधर्म, अर्थात् सार्वभौम ईश्वरवादी या नैतिक धर्म कहते हैं। ये सब धर्म स्वभावज धर्मपर, अर्थात् स्वभावानुसारी कर्मपर, क्रिया करते हुए विधानके बहिरंगकी सृष्टि करते हैं। प्राचीन सिद्धांतके अनुसार यह माना जाता है कि मनुष्यकी, व्यक्ति और समाजकी, सर्वथा यथार्थ और निर्दोष अवस्थामें,—उस अवस्थामें जिसे पौराणिक स्वर्णयुग या सत्ययुगके द्वारा सूचित किया गया है,—किसी भी प्रकारके राजनीतिक शासन या 'राज्य' (State) की अथवा समाजकी किसी कृत्रिम रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तब सभी लोग अपनी आलोकित आत्मा और ईश्वराधिष्ठित सत्ताके सत्यके अनुसार और अतएव सहज-स्वाभाविक रूपसे अपने आभ्यंतरिक दैवी धर्मके अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक जीवन यापन करते हैं। इसलिये अपनी सत्ताके यथायथ और स्वतंत्र विधानके अनुसार जीवन यापन

करनेवाला आत्म-व्यवस्थित व्यक्ति एवं आत्म-व्यवस्थित समाज ही आदर्श है। परंतु मानवजातिकी वर्तमान अवस्थामें, सच्चे वैयक्तिक और सच्चे सामाजिक धर्मके विकारों और व्यतिक्रमोंके वशीभूत उसकी अज्ञ और विपथगामी प्रकृतिकी अवस्थामें, समाजके स्वाभाविक जीवनके ऊपर एक राज्यकी, प्रभुत्वपूर्ण सत्ताकी, एक राजा या शासक-संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक है। परंतु उस राज्य आदिका कार्य यह नहीं कि वह समाजके जीवनमें, जिसे अधिकांशमें उसके स्वाभाविक नियम और रीति-रिवाज एवं सहज विकासके अनुसार कार्य करने देना होगा, अनुचित रूपसे हस्तक्षेप करे, बल्कि यह है कि इसकी यथार्थ प्रक्रियाका निरीक्षण करे और उसमें सहायता पहुंचाये तथा यह देखे कि धर्मका पालन किया जाय और वह शक्तिशाली भी बना रहे। निषेधात्मक रूपमें, राज्य आदिका कार्य यह है कि वह धर्म-विरुद्ध आचरणोंके लिये दंड दे और उनका दमन करे, और जहांतक हो सके, उनका प्रतिकार भी करे। धर्मके विकृत होनेकी और भी आगेकी अवस्थाका लक्षण यह है कि उसमें एक विधान-निर्माताके आविर्भावकी तथा संपूर्ण जीवनको, वैधिक रूपसे, बाह्य या लिखित विधि-विधान और नियम-के द्वारा शासित करनेकी आवश्यकता पड़ती है; परंतु, राज्य-प्रबंधकी छोटी-मोटी बाहरी बातोंको छोड़कर, इस विधानका निर्धारण करनेका कार्य राज-नीतिक अधिकारीका नहीं, सामाजिक धर्मके स्रष्टा ऋषिका या ग्रंथोंकी रक्षा एवं व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणका होता था। राजनीतिक अधिकारीका काम तो विधानके अनुसार राज्य-प्रबंध करना होता था। स्वयं विधान भी, वह लिखित हो या अलिखित, कोई ऐसी वस्तु नहीं होता था जिसका राज-नीतिक एवं विधायक सत्ताको नये सिरेसे सृजन या निर्माण करना पड़ता हो, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु होता था जो पहलेसे ही अस्तित्व रखती थी, और वह जैसा भी होता था या पहलेसे विद्यमान विधान और सिद्धांतमेंसे वह सामाजिक जीवन और चेतनाके अंदर जिस रूपमें स्वभावतः ही विकसित होता था उस रूपमें उसकी व्याख्या एवं निरूपणमात्र करना होता था। इस बढ़ती हुई कृत्रिमता और रूढ़ि-परंपरामेंसे उत्पन्न होती है समाजकी अंतिम और निकृष्टतम अवस्था, अर्थात् अराजकता तथा संघर्षकी और धर्मके विनाशकी अवस्था, — कलियुग, — जिसके बाद आती है प्रलय और संघर्ष-की लोहित-धूसर संध्या और फिर होता है मनुष्यमें आत्माका नवोदय और नव-प्रकाश।

अतएव राजनीतिक अधिकारी, राजा और परिषद्का तथा राष्ट्रतंत्रके अन्य शासक सदस्योंका मुख्य कार्य समाजके जीवनके यथार्थ विधानकी रक्षा

करनेके लिये सेवा और सहायता करना था : राजा धर्मका संरक्षक और परिचालक होता था। स्वयं समाजके कर्तव्यका एक अंग यह भी था कि वह मनुष्यकी प्राणिक, आर्थिक तथा अन्य आवश्यकताओंको और सुख तथा भोगके लिये उसकी चार्वाकपंथीय मांगको समुचित रूपसे पूरा करे, परंतु करे उनकी पूर्तिके यथायथ नियम और मान-प्रमाणके अनुसार तथा नैतिक, सामाजिक और ईश्वरवादी धर्मके अधीन और नीचे रहकर। समाज और राष्ट्र-रूपी समष्टिके सभी सदस्यों और वर्गोंका अपना-अपना धर्म था जो उनकी प्रकृति, उनके पद तथा संपूर्ण समष्टिके साथ उनके संबंधके अनुसार उनके लिये निर्धारित था और उसके स्वतंत्र तथा यथोचित प्रयोगमें उनका रक्षण और प्रतिपालन करना होता था, अपनी सीमाओंके भीतर अपने स्वाभाविक और स्वयं-निर्धारित कर्तव्य-संपादनके लिये उन्हें स्वतंत्रता देते हुए भी अपने यथोचित कर्तव्य और अपनी वास्तविक सीमाओंका किसी प्रकारका उल्लंघन एवं अतिक्रमण करने या उनसे विचलित होनेसे उन्हें रोकना आवश्यक होता था। सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारीका किंवा अपनी परिषद्के समेत सम्राट्-का कार्य यही था और जनसभाएं इस कार्यमें उसकी सहायता करती थीं। राज्याधिकारीका काम यह नहीं था कि वह किसी वर्ण, धार्मिक संप्रदाय, शिल्पि-संघ, ग्राम एवं नगर-विभागके स्वतंत्र कर्तव्य-संपादनमें अथवा किसी प्रदेश या प्रांतके सुघटित रीति-रिवाजके स्वतंत्रतापूर्वक क्रियान्वित होनेमें हस्तक्षेप करे या अनधिकार दखल दे अथवा उनके अधिकारोंको रद्द कर दे, क्योंकि ये सामाजिक धर्मके न्यायोचित प्रयोगके लिये आवश्यक होनेके कारण उनके स्वाभाविक अधिकार थे। उसे बस यही करनेके लिये कहा जाता था कि वह सबमें सामंजस्य स्थापित करे, एक व्यापक और सर्वोच्च नियंत्रणका प्रयोग करे, समाजके जीवनको बाहरी आक्रमण या भीतरी फूटसे बचाये, अपराध और अव्यवस्थाका दमन करे, आर्थिक और औद्योगिक उत्थानमें सहायता पहुंचाये, उसे समुन्नत करे और उसकी अधिक व्यापक दिशाओंमें उसे व्यवस्थित करे, सुविधाएं प्रदान करनेकी ओर ध्यान दे, और जो शक्तियां दूसरोंके क्षेत्रसे परेकी हैं उनका इन कार्योंके लिये प्रयोग करे।

इस प्रकार वस्तुतः भारतीय शासनप्रणाली एक अत्यंत जटिल सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्णयकी प्रणाली थी। समाजकी प्रत्येक वर्ग-रूपी इकाईका अपना स्वाभाविक अस्तित्व होता था और वह अपने निज जीवन और कार्यकी व्यवस्था करती थी, अपने क्षेत्र और अपनी सीमाओंके स्वाभाविक विभाजनके कारण वह शेष इकाइयोंसे पृथक् होती

थी, किंतु अच्छी तरह जाने-समझे हुए संबंधोंके द्वारा संपूर्ण समष्टिके साथ संबद्ध रहती थी, सामुदायिक सत्ताके अधिकारों और कर्तव्योंमें प्रत्येक इकाई अन्योंकी सहभागिनी होती थी, वह अपने निजी नियमों और विधानोंको कार्यान्वित करती थी तथा अपनी निजी सीमाओंके भीतर शासनप्रबंधका कार्य करती थी, पारस्परिक या सर्वसामान्य हितके विषयोंके विवेचन तथा नियमनके कार्यमें अन्योंके साथ हाथ बंटाती थी और राज्य वा साम्राज्य-की महासभाओंमें किसी-न-किसी रूपमें तथा अपने महत्त्वकी मात्राके अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त करती थी। राज्य, राजा या सर्वोच्च राज-नीतिक अधिकारी संगति-स्थापन और सामान्य नियंत्रण एवं कार्यदक्षताका माध्यम होता था और वह एक सर्वोच्च अधिकारका प्रयोग करता था जो निरपेक्ष और निरंकुश नहीं होता था; क्योंकि अपने सभी अधिकारों और शक्तियोंमें वह विधान और प्रजाकी इच्छाके द्वारा सीमाबद्ध रहता था और राज्यके भीतरके अपने सभी कार्योंमें सामाजिक और राष्ट्रीय संस्थाके अन्य सदस्योंका सहयोगी मात्र होता था।

भारतीय शासनप्रणालीका सिद्धांत, मूलसूत्र एवं वास्तविक संविधान यही था. वह सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्धारणका एक जटिल मिश्रण थी जिसके ऊपर एक सर्वोच्च संगति-स्थापक सत्ता, एक शासक व्यक्ति एवं संस्था होती थी जो कार्यक्षम शक्तियों, पद और प्रतिष्ठासे सुसंपन्न होते हुए भी अपने विशिष्ट अधिकारों और कर्तव्योंकी सीमासे बंधी रहती थी, शेष सबको नियंत्रित करती और साथ ही उनके द्वारा नियंत्रित रहती थी, सभी विभागोंमें उन्हें अपने ऐसे सक्रिय सहयोगियोंके रूपमें स्थान देती थी जो सामुदायिक सत्ताके नियमन और प्रशासनमें उसका हाथ बंटाते थे, और राजा, जनता तथा उसके अंगभूत सभी समाज, सब-के-सब समान रूपसे, धर्मकी रक्षा करनेके लिये बाध्य होते थे तथा उसके जूएसे नियंत्रित रहते थे। इसके अतिरिक्त, सामुदायिक जीवनके आर्थिक और राजनीतिक पक्ष धर्मका ही केवल एक भाग होते थे और सो भी एक ऐसा भाग जो शेष सबसे, अर्थात् समाजके धार्मिक, नैतिक एवं उच्चतर सांस्कृतिक लक्ष्यसे किसी भी प्रकार पृथक् नहीं बल्कि उनके साथ अविच्छेद्य रूपमें जुड़ा हुआ होता था। नैतिक विधान राजनीतिक और धार्मिक विधानपर अपना रंग चढ़ाता था और राजा तथा उसके मंत्रियों और परिषद् तथा व्यवस्थापिका सभाओंके, व्यक्तिके और समाजके अंगभूत वर्गोंके प्रत्येक कार्यपर लागू होता था; मतदानमें तथा मंत्री, अधिकारी और परिषद्की योग्यताओंमें नैतिक और सांस्कृतिक विचारणाएं महत्त्व रखती थीं; आर्य

जातिके राजकार्यमें जो लोग भी पदाधिकारी होते थे उन सबसे उच्च चरित्र और प्रशिक्षाकी आशा की जाती थी। धार्मिक भाव, और धर्मका स्मरण करानेवाले व्यक्ति ही राजा और प्रजाके संपूर्ण जीवनका अधिष्ठातृत्व करते थे और वही इसकी पृष्ठभूमिमें भी काम करते थे। यद्यपि समाजकी जीवन-प्रणालीके अंगोंका आवश्यक विशेष ज्ञान आयत्त किया जाता था तथापि समाजके जीवनको अपने-आपमें लक्ष्य नहीं माना जाता था, वरन् इससे कहीं अधिक उसे उसके सभी भागोंमें तथा समूचे रूपमें मानव मन और अंतरात्माकी शिक्षाके लिये तथा प्राकृत जीवनमेंसे आध्यात्मिक जीवनकी ओर इसके विकसित होनेके लिये एक महान् आधार और अभ्यास-क्षेत्र समझा जाता था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तीसरा अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

जहांतक हम उपलभ्य अभिलेखोंसे अनुमान लगा सकते हैं, भारतीय सभ्यताका सामाजिक-राजनीतिक विकास चार ऐतिहासिक अवस्थाओंमेंसे गुजरा; पहली थी आर्योंके सरल समाजकी अवस्था, उसके बाद आया संक्रमणका लंबा काल जिसमें जातीय जीवन राजनीतिक संगठन और संश्लेषणके क्षेत्रमें अनेकविध परीक्षणात्मक रचनाओंमेंसे गुजरता हुआ आगे बढ़ रहा था, तीसरी अवस्थामें राजतंत्रात्मक राज्यने सुनिश्चित रूप ग्रहण किया और जातिके सामुदायिक जीवनके सभी जटिल तत्त्वोंको प्रादेशिक एवं साम्राज्यीय एकताओंके रूपमें सुसमन्वित कर दिया, और अंतमें आया ह्रासका युग जिसमें आंतरिक गत्यवरोध उत्पन्न होनेसे सर्वत्र निश्चेष्टता छा गयी और पश्चिमी एशिया तथा यूरोपसे आयी हुई नयी संस्कृतियां एवं प्रणालियां हमारे देशपर लादी गयीं। पहली तीन अवस्थाओंका विशिष्ट स्वरूप है — सभी रचनाओंमें एक विलक्षण दृढ़ता और स्थिरता तथा जातिके जीवनका स्वस्थ, प्राणवंत और शक्तिशाली विकास जो उसकी जीवन-व्यवस्थाकी इस मूलभूत रक्षणात्मक स्थिरताके कारण धीर और मंथर गतिसे संपादित होता था पर फिर भी अपने संघटनमें अत्यधिक सुनिश्चित था और अपनी रचनामें जीवंत और पूर्ण भी। और ह्रासके समय भी यह दृढ़ता विध्वंसकी प्रक्रियाके विरुद्ध डटकर उसका प्रबल प्रतिरोध करती है। विजातीय बोझसे दबकर रचना ऊपरसे टूट-फूट जाती है पर अपने आधारको दीर्घ कालतक सुरक्षित रखती है, जहां कहीं वह आक्रमणके विरुद्ध अपने-आपको कायम रख सकती है, वहां वह अपनी विशिष्ट प्रणालीको भी अधिकांशमें बचाये रखती है और यहांतक कि मिटते समय भी अपने रूप और मूल-भावके पुनरुज्जीवनके लिये प्रयत्न करनेमें सक्षम होती है। और आज भी यद्यपि वह संपूर्ण राजनीतिक प्रणाली लुप्त हो गयी है और उसके अंतिम बचे-खुचे तत्त्वोंको भी नेस्तनाबूद कर दिया गया है, तथापि

जिस विशिष्ट सामाजिक मन एवं स्वभावने उसकी रचना की थी वह समाजकी वर्तमान गतिहीनता, दुर्बलता, विकृति और विघटनके समय भी बचा हुआ है और, एक बार यदि वह पुनः अपनी इच्छाके अनुसार और अपने ढंगसे कार्य करनेकी स्वतंत्रता प्राप्त कर ले तो वह अब भी, तात्कालिक प्रवृत्तियों और प्रतीतियोंके रहते भी, विकासकी पश्चिमी धाराका अनुसरण न कर अपनी मूल भावनामेंसे नयी रचनाका सृजन करनेकी ओर अग्रसर हो सकता है और वह मूल भावना, संभवतः, उस मांगकी पुकारपर जो आज जातिके उन्नतचेता व्यक्तियोंमें अस्पष्ट रूपसे उठनी शुरू हो रही है, सामुदायिक जीवनकी तीसरी अवस्थाके प्रारंभ और मानवसमाजके आध्यात्मिक आधारकी ओर ले जा सकती है। कुछ भी हो, भारतके सांस्कृतिक मनकी रचनाओंकी चिरस्थायिता एवं उनकी छत्रछायामें पनपे जीवनकी महानता, निश्चय ही उसकी अक्षमताका नहीं बल्कि अद्‌भुत राजनीतिक सहज-बुद्धि और क्षमताका चिह्न है।

भारतीय शासनप्रणालीके समस्त निर्माण, विस्तार और पुनर्निमाणमें रचनाका आधारभूत एकमात्र स्थायी सिद्धांत था—सजीव रूपसे आत्म-निर्धारण करनेवाले सामुदायिक जीवनका सिद्धांत; पर वह सामुदायिक जीवन केवल समष्टि-रूपमें तथा मतदानकी मशीनरीके द्वारा और राष्ट्रके किसी भागके राजनीतिक मनका ही प्रतिनिधित्व करनेवाली एक बाहरी प्रतिनिधि-संस्थाके द्वारा आत्म-निर्धारण नहीं करता था,—आधुनिक राष्ट्र-तंत्र केवल इतनी ही व्यवस्था कर सका है,—बल्कि उसके जीवनकी रग-रगमें तथा उसकी सत्ताके प्रत्येक पृथक्-पृथक् अंगमें आत्म-निर्धारण करता था। एक स्वतंत्र समन्वयात्मक सामुदायिक व्यवस्था ही इसकी विशेषता थी, और स्वाधीनताकी जो अवस्था इस शासनतंत्रका लक्ष्य थी वह उतनी वैयक्तिक नहीं जितनी कि सामाजिक थी। आरंभमें समस्या काफी सरल थी क्योंकि केवल दो प्रकारकी सामाजिक इकाइयों, ग्राम और कुल, वंश या छोटी प्रादेशिक जातिको ही विचारमें लाना होता था। इनमेंसे पहलीका स्वतंत्र सुघटित जीवन स्व-शासक ग्राम-समाजकी प्रणालीपर प्रतिष्ठित किया गया और यह कार्य ऐसी पर्याप्तता और दृढ़ताके साथ किया गया था कि यह प्रणाली कालजनित समस्त क्षय-अपचयका तथा अन्य प्रणालियोंके आक्रमणका प्रतिरोध करती हुई लगभग हमारे समयतक स्थायी बनी रही और केवल हालमें ही ब्रिटिश नौकरशाही व्यवस्थाकी निष्ठुर और निर्जीव मशीनरीके द्वारा कुचलकर मटियामेट कर दी गयी। संपूर्ण जाति अपने ग्रामोंमें अधिकतर कृषिके आधारपर जीवन यापन करती हुई समष्टि रूपसे एक ही धार्मिक

सामाजिक, सैनिक एवं राजनीतिक संघका रूप लिये हुई थी जो अपनी व्यवस्थापिका सभा, समिति, में राजाके नेतृत्वमें अपने ऊपर शासन करता था, पर तबतक न तो कर्तव्योंका कोई स्पष्ट विभाजन हुआ था और न श्रेणीवार श्रमका।

यह प्रणाली कृषकों और पशुपालकोंके सरलतम ढंगके जीवनको छोड़कर अन्य सब प्रकारके जीवनके लिये और एक अत्यंत सीमित क्षेत्रमें रहनेवाली छोटीसी जातिके सिवा शेष सब जातियोंके लिये अनुपयुक्त थी। इसी कारण एक अधिक जटिल सामुदायिक प्रणालीका विकास करने तथा मूल भारतीय सिद्धांतका संशोधित एवं अधिक जटिल रूपमें प्रयोग करनेका प्रश्न अनिवार्य हो उठा। कृषि और गोपालनका जीवन जो आरंभमें आर्य जातिके सभी सदस्यों, कृष्टयः, के लिये सर्वसामान्य था, सदा ही एक व्यापक आधार रहा, पर उस आधारके ऊपर इसने व्यापार-व्यवसाय और अनेकविध उद्योग-धंधोंकी एक अधिकाधिक समृद्धिशील रचनाका तथा विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट सैनिक, राजनीतिक, धार्मिक और विद्यासंबंधी कार्यों तथा कर्तव्योंकी एक लघुतर रचनाका विकास किया। ग्राम-समाज बराबर ही सामाजिक संगठनकी स्थिर इकाई, उसका मजबूत रेशा या अटूट अणु-परमाणु बना रहा, परंतु बीसियों और सैकड़ों गांवोंका एक समुदाय-जीवन विकसित हो गया, ऐसे प्रत्येक समुदायका अपना-अपना अध्यक्ष होता था तथा प्रत्येकको अपनी शासन-व्यवस्थाकी आवश्यकता पड़ती थी, और जैसे कि कुल विजयके द्वारा या दूसरोंके साथ संयुक्त होकर एक बड़ी जातिके रूपमें विकसित हुआ, ये समुदाय एक राज्य या महासंघाधीन गणतंत्रात्मक राष्ट्रके अंग बन गये। और फिर ये भी बृहत्तर राज्योंके तथा अंतमें एक या अधिक महान् साम्राज्योंके मंडल बन गये। सामाजिक और राजनीतिक रचनाके कार्यमें भारतीय प्रतिभाकी परीक्षा अपने सामुदायिक आत्म-निर्धारित स्वतंत्रता और व्यवस्थाके सिद्धांतका परिस्थितियोंकी इस विकसनशील प्रगति एवं नयी व्यवस्थाके अनुकूल सफलतापूर्वक प्रयोग करनेमें निहित थी।

इस आवश्यकताको पूरा करनेके लिये भारतीय मनने चार वर्णोंकी स्थिर सामाजिक-धार्मिक प्रणाली विकसित की। बाहरसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उस प्रसिद्ध सामाजिक प्रणालीका जो किसी-न-किसी समय अनेकों मानवीय जन-समुदायोंमें स्वाभाविक रूपसे विकसित हुई थी, केवल एक कठोरतर रूप ही है; वे चार वर्ण हैं—पुरोहितवर्ग, सैनिक एवं राजनीतिक अभिजातवर्ग, शिल्पियों और स्वतंत्र कृषकों एवं व्यापारियोंकी श्रेणी और दासों या श्रमिकोंका सर्वहारा वर्ग। परंतु इन दोनों प्रणालियोंमें समानता

केवल बाहरी बातोंमें ही है, और भारतमें चतुर्वर्ण-व्यवस्थाकी मूल भावना कुछ और ही थी। उत्तरकालीन वैदिक युगमें और महाकाव्योंके समयमें चातुर्वर्ण्य, एक साथ ही और अविच्छेद्य रूपमें, समाजका एक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढांचा था और उस ढांचेके अंतर्गत प्रत्येक वर्णका अपना स्वाभाविक भाग होता था और मुख्य-मुख्य कार्योंमेंसे किसीमें भी उनमेंसे केवल किसी एकका ही भाग या अधिकार नहीं होता था। यह विशेषता प्रचीन प्रणालीके समझनेके लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, परंतु यह उन मिथ्या धारणाओंके कारण ढक गयी है जो पीछेकी घटनाओं-को तथा अधिकतर ह्रासके कालसे ही संबंध रखनेवाली अवस्थाओंको गलत रूपमें समझने या बढ़ा-चढ़ा देनेसे उत्पन्न हो गयी हैं। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय शिक्षाका या उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान एवं सुयोगोंका अधिकार एकमात्र ब्राह्मणोंको ही था। आरंभमें हम आध्यात्मिक नेतृत्वके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें एक प्रकारकी प्रतिद्वंद्विता पाते हैं और विद्यासंपन्न पुरोहित-वर्गके दावोंके विरुद्ध क्षत्रियोंने चिरकालतक अपना सिक्का जमाये रखा। तथापि स्मृतिकारों, शिक्षकों, पुरोहितों तथा ऐसे व्यक्तियोंके रूपमें जो अपना सारा समय और सारी शक्ति दर्शन, विद्याध्ययन और शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा सकते थे, ब्राह्मण अंतमें विजयी हुए और उन्होंने स्थिर तथा महान् प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। ज्ञानसंपन्न पुरोहितवर्गके लोग धर्मके अधिकारी, धर्मग्रंथोंके और परंपराके संरक्षक, विधान और शास्त्रके व्याख्याकार, ज्ञान-की सभी शाखाओंके माने हुए शिक्षक तथा अन्य श्रेणियोंके साधारण धार्मिक उपदेष्टा या गुरु बन गये और सबके सब तो नहीं पर फिर भी अधिकतर दार्शनिक, विचारक, साहित्यिक और विद्वान् उन्हींके वर्गसे आये। वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन मुख्यतः उन्हींके हाथमें चला गया, यद्यपि तीन उच्चतर वर्णोंके लिये इसका द्वार सदा ही खुला रहा; पर शूद्रोंको सिद्धांततः इसकी मनाही थी। फिर भी, सच पूछो तो, धार्मिक आंदोलनोंकी शृंखला-ने पीछेके युगमें भी प्राचीन स्वतंत्रताका मूल तत्त्व सुरक्षित रखा, उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान और सुअवसर सबके लिये सुलभ बना दिया और, जैसे आरंभमें हम देखते हैं कि वैदिक और वैदांतिक ऋषि सभी वर्गोंसे उत्पन्न हुए, वैसे ही हम यह भी पाते हैं कि अंततक योगी, संत, आध्यात्मिक मनीषी, संशोधक और पुनरुद्धारक, धार्मिक कवि और गायक, परंपरागत अधिकार और विद्वत्तासे भिन्न जीवंत आध्यात्मिकता और ज्ञानके मूल-स्रोत समाजके सभी स्तरोंसे, निम्नतम शूद्रों और घृणित एवं दलित चंडालोंतकसे प्राप्त होते रहे।

चारों वर्ण एक स्थिर सामाजिक स्तर-परंपराके रूपमें परिणत हो गये, किंतु, चंडालोंके स्तरको एक ओर छोड़कर, प्रत्येक वर्णके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक जीवन एवं प्रयोजन जुड़ा हुआ था, प्रत्येककी एक विशेष सामाजिक पद-मर्यादा एवं शिक्षा होती थी, सामाजिक और नैतिक सम्मान-का एक सिद्धांत होता था तथा सामुदायिक संगठनमें एक स्थान, कर्तव्य और अधिकार भी। और फिर इस व्यवस्थाने श्रमका नियत विभाजन करने तथा सुप्रतिष्ठित आर्थिक स्थिति प्राप्त करनेमें एक स्वाभाविक साधन-के रूपमें कार्य किया। पहले-पहल वंशागत वर्णव्यवस्थाका सिद्धांत ही प्रचलित था, — यद्यपि यहां भी व्यवहारकी अपेक्षा सिद्धांत ही अधिक कठोर था, — किंतु धन-संचय करने और अपने वर्णमें प्रभाव या पद प्राप्त कर समाज, शासन-व्यवस्था और राजनीतिमें एक विशिष्ट व्यक्ति बननेके अधिकार या अवसरसे किसीको भी वंचित नहीं किया जाता था। कारण, अंततः, वह स्तर-परंपरा सामाजिक ही थी राजनीतिक नहीं : नागरिकके सर्वसामान्य राजनीतिक अधिकारोंमें चारों वर्णोंका भाग होता था और व्य-वस्थापिका सभाओं तथा प्रशासनिक संगठनोंमें उनका अपना स्थान तथा अपना प्रभाव होता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कम-से-कम वैधानिक और सैद्धांतिक रूपमें प्राचीन भारतमें, अन्य प्राचीन जातियोंकी भावनाके विपरीत, स्त्रियोंको नागरिक अधिकारोंसे वंचित नहीं रखा गया था, यद्यपि क्रियात्मक रूपमें, पुरुषके प्रति उनकी सामाजिक अधीनता तथा उनके घरेलू काम-धंधेके कारण कुछ एक स्त्रियोंको छोड़कर शेष सभीके लिये यह समानता निरर्थक ही रह गयी थी; फिर भी उपलब्ध अभिलेखोंमें इस बातके उदाहरण पाये जाते है कि स्त्रियोंने केवल रानियों, प्रशामिकाओं और यहांतक कि रणनायिकाओंके रूपमें ही ख्याति नहीं प्राप्त की, — ऐसी घटनाएं तो भारतीय इतिहासमें काफी अधिक पायी जाती हैं, — बल्कि उन्होंने नागरिक संगठनोंमें निर्वाचित प्रतिनिधियोंके रूपमें भी प्रसिद्धि प्राप्त की।

संपूर्ण भारतीय प्रणालीकी स्थापना इस आधारपर की गयी थी कि सार्वजनीन जीवनमें सभी वर्ण घनिष्ठ रूपसे भाग लें, प्रत्येक वर्ण अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हो, ब्राह्मण धर्म और विद्यामें, क्षत्रिय युद्ध, राज्य-कौशल और अंतर्राजकीय राष्ट्र-नीतिक कार्रवाईमें, वैश्य धनोपार्जन तथा उत्पादनात्मक आर्थिक कार्य-व्यापारमें, परंतु नागरिक जीवनमें अपना भाग प्राप्त करने तथा राजनीति, प्रशासन और न्यायमें एक प्रभावपूर्ण स्थान पाने तथा अपना मत प्रकाश करनेसे किसीको भी यहांतक कि शूद्रको भी वंचित न रखा जाय।

परिणामस्वरूप, प्राचीन भारतीय शासनतंत्रने किसी भी युगमें वर्ग-शासनके उन एकांगी रूपोंको जो अन्य देशोंके राजनीतिक इतिहासकी इतने दीर्घ कालतक एक प्रबल विशेषता रहे हैं, विकसित नहीं किया या कम-से-कम उन्हें दीर्घकालतक कायम नहीं रखा। कोई पुरोहितोंका राज्य जैसा कि तिब्बतमें है, या कोई भूमिपतियों और सैनिकोंके अभिजात-वर्गका शासन जैसा कि फ्रांस और इंगलैंडमें तथा यूरोपके अन्य देशोंमें सदियोंतक प्रचलित रहा, या कोई व्यापारियोंका अल्पजनराज्य जैसा कि कार्थेज और वेनिसमें रहा—शासनके ये सभी रूप भारतीय भावनाके लिये विजातीय थे। महाभारतमें जो परंपराएं सुरक्षित हैं उनमें ऐसा संकेत दिखलायी देता है कि व्यापक युद्ध और संघर्ष एवं अस्थिर विस्तारके समय, जब कि कुल और कबीले राष्ट्रों और राज्योंके रूपमें विकसित हो रहे थे तथा नेतृत्व एवं सर्वोपरि प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये अभी भी एक-दूसरेके साथ संघर्ष कर रहे थे, महान् क्षत्रिय कुलोंने एक विशेष प्रकारका राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था और ऐसा प्रभुत्व मध्यकालीन राजपूतानामें कुल-राष्ट्र (clan nation) की अवस्थाकी ओर लौटनेके समय पुनः एक स्थूलतर रूपमें प्रकट हुआ : परंतु प्राचीन भारतमें यह अवस्था अस्थायी होती थी और क्षत्रिय वर्णका प्रभुत्व अन्य वर्णोंके लोगोंके राजनीतिक एवं नागरिक प्रभाव-का उच्छेद नहीं कर देता था, न वह समाजकी विभिन्न इकाइयोंके स्वतंत्र जीवनमें हस्तक्षेप करता या उसपर उत्पीड़क नियंत्रणका प्रयोग ही करता था। बीचके युगोंके जनतंत्रात्मक गणराज्य बहुत संभवतः ऐसे शासनतंत्र थे जिन्होंने इस प्राचीन सिद्धांतकी पूर्ण रूपमें रक्षा करनेका यत्न किया कि व्यवस्थापिका सभाओंमें संपूर्ण जनता समष्टि रूपसे सक्रिय भाग ले, वे गणराज्य यूनानी ढंगके जनतंत्र नहीं थे; अल्पजनशासित गण-राज्य कुल-शासन थे अथवा उनका शासन समाजके प्रतिष्ठित वर्गोंसे गठित अधिक सीमित अनुषदों (Senates) के द्वारा होता था और यह प्रणाली आगे चलकर ऐसी परिषदों या व्यवस्थापिका सभाओंके रूपमें विकसित हो गयी जिनमें परवर्ती राजकीय परिषदों और पौर संस्थाओंकी भांति चारों वर्णोंको प्रतिनिधित्व प्राप्त था। कुछ भी हो, अंततः जिस शासन-व्यवस्थाका विकास हुआ वह एक ऐसी मिश्रित राज्यप्रणाली थी जिसमें किसी भी वर्णका अनुचित प्रभुत्व नहीं था। अतएव भारतमें हम न तो समाजके कुलीन और साधारण जनोंके बीच, अभिजात-तंत्र और प्रजातंत्रसंबंधी विचारोंके बीच वह संघर्ष पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप निरंकुश राजतंत्रात्मक शासन-की स्थापना हुई और जो यूनान और रोमके क्षोभमय इतिहासकी

एक विशेषता है, और न हम वहां वर्ग-संघर्षसे एकके बाद एक विकसित होती हुई शासनप्रणालियोंका वह चक्र ही देखते हैं जो हमें बादके यूरोपमें दृष्टिगोचर होता है, — वहां हम पहले तो अभिजात-वर्गको शासन करते देखते हैं, उसके बाद धनिक एवं व्यावसायिक वर्ग आक्रमण या विप्लवके द्वारा उसे पदच्युत करके सत्ताको अपने हाथमें ले लेते हैं, फिर आता है मध्यवर्गका शासन जो समाजको उद्योगप्रधान बना देता है तथा सर्वसाधारण या जनताके नामपर उसका शासन और शोषण करता है और, अंतमें, हम देखते हैं दरिद्र श्रमजीवि-वर्गके शासनकी ओर वर्तमान प्रवृत्ति। इसके विपरीत, भारतीय मन एवं स्वभाव जो पश्चिमी जातियोंके मन एवं स्वभावकी अपेक्षा कम एकांगी रूपमें बौद्धिक एवं प्राणिक है तथा अधिक अंतर्ज्ञानात्मक रूपमें समन्वयकारी और नमनशील है, निश्चय ही समाज और राजनीतिकी किसी आदर्श व्यवस्थापर न पहुंचकर भी कम-से-कम सभी स्वाभाविक शक्तियों और वर्णोंके एक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं स्थिर समन्वयपर अवश्य पहुंचा — वह समन्वय कोई ऐसा संतुलन नहीं था जो अस्थिर एवं संकटजनक हो, न वह कोई समझौता या समतोलता ही था। साथ ही, भारतीय मन एवं स्वभाव एक ऐसे सुघटित एव सजीव सामंजस्यपर भी पहुंचा जो समाज-रूपी देहके सभी अंगोंके स्वतंत्र कार्य-व्यापारका आदर करता था। अतएव उसने सभी मानवीय प्रणालियोंको आक्रांत करनेवाले ह्राससे न सही पर कम-से-कम हर प्रकारके आभ्यंतरिक उपद्रव या अव्यवस्थासे समाजकी रक्षा की।

राजनीतिक भवनका शिखर तीन शासक संस्थाओंद्वारा अधिकृत था, मंत्रि-परिषद् समेत राजा, राजधानीकी व्यवस्थापिका सभा और राज्यकी महासंसद्। परिषद्के सदस्य और मंत्री सभी वर्णोंसे लिये जाते थे। परिषद्में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रतिनिधि नियत संख्यामें सम्मिलित किये जाते थे। निःसंदेह, संख्याकी दृष्टिसे उसमें वैश्योंका भारी बहुमत होता था, किंतु यह एक न्यायोचित अनुपात होता था क्योंकि यह संपूर्ण जनसमाजमें उनकी संख्याकी अधिकताके अनुरूप ही होता था: कारण, आर्योंके प्राचीन समाजमें वैश्य वर्णके अंदर केवल सौदागर और छोटे व्यापारी ही नहीं बल्कि कारीगर, शिल्पी तथा कृषक भी आ जाते थे और अतएव वैश्य वर्ण जन-साधारण, विशः, का बहुत बड़ा भाग होता था, और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र, दो उच्चतर वर्णोंके पद एवं प्रभावकी चाहे जितनी महानताके होते हुए भी, समाजमें बादमें चलकर ही विकसित हुए और संख्यामें वे अपेक्षाकृत बहुत ही कम थे। सांस्कृतिक ह्रासके युगमें

बौद्ध क्रांतिके द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था तथा ब्राह्मणोंके द्वारा समाजके पुनः-संघटनके बाद ही कृषकों, शिल्पियों और छोटे व्यापारियोंका बृहत् समुदाय भारतके अधिक बड़े भागमें शूद्रोंकी अवस्थामें जा गिरा, समाजके शिखरपर रह गया छोटा-सा ब्राह्मण-समुदाय और बीचमें जहां-तहां अल्प संख्यामें क्षत्रिय और वैश्य छितरे दिखायी देने लगे। इस प्रकार संपूर्ण समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाली परिषद् सर्वोच्च कार्यसंचालक और प्रशासनिक संस्था थी और सामाजिक हितोंके संपूर्ण क्षेत्रमें, शासन, अर्थव्यवस्था और नीतिके सभी अधिक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें राजाकी समस्त कार्रवाई और समस्त आज्ञप्तियोंके लिये परिषद्की सहमति एवं सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। राजा, परिषद् और मंत्रिगण ही राज्य-प्रबंध करनेवाली बोर्डोंकी प्रणालीकी सहायतासे राज्य-कार्यके सभी विविध विभागोंकी देख-रेख और नियंत्रण करते थे : निःसंदेह, समयके साथ-साथ राजाकी शक्ति बढ़ती चली गयी और बहुधा ही वह अपनी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेके लिये प्रलोभित होता था; किंतु फिर भी जबतक यह प्रणाली तेजस्वी बनी रही तबतक वह निरापद रूपमें मंत्रियों और परिषद्की सम्मति एवं इच्छाकी उपेक्षा या अवज्ञा नहीं कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् सम्राट् अशोक जैसा शक्तिशाली और दृढ़-संकल्प राजा भी अपनी परिषद्के साथ संघर्ष होनेपर अंततः पराजित हो गया था और कार्यतः उसे अपनी सत्ता छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा था। परिषद्के सचिव दुराग्रही या अयोग्य राजाको पदच्युत करके उसके स्थानपर उसके कुलके अन्य व्यक्तिको राजा बनाने या उसका स्थान किसी नये राजवंशको देनेके लिये कदम उठा सकते थे और प्रायः ऐसा करते भी थे और उन दिनों कितने ही ऐतिहासिक परिवर्तन इसी ढंगसे संपन्न हुए, उदाहरणार्थ, मौर्यवंशियोंके स्थानपर सुंग-वंशियोंको राजगद्दीपर प्रतिष्ठित करनेकी क्रांति हुई और फिर कण्व-वंशके सम्राटोंके शासनका सूत्रपात हुआ। संविधानीय सिद्धांत और साधारण व्यवहारके रूपमें राजाका समस्त कार्य वास्तवमें मंत्रियोंकी सहायतासे किया गया सपरिषद् राजाका कार्य होता था और उसका समस्त व्यक्तिगत कार्य केवल तभी वैध होता था जब यह उनकी सहमतिके अधीन रहते हुए किया जाता था तथा यह वहींतक वैध होता था जहांतक यह धर्मके द्वारा उसे सौंपे गये कर्तव्योंका सच्चा और यथोचित संपादन होता था। और क्योंकि परिषद् मानों एक प्रकारका सारभूत शक्ति-संगठनका कार्य-केंद्र थी जो चार वर्णों, अर्थात् समाज-रूपी देहके मुख्य अंगोंको एक प्रबंध-योग्य सीमामें अपने अंदर समाविष्ट करता था

और उन्हें केंद्रबद्ध करके अपने संविधानमें प्रतिनिधित्व प्रदान करता था, अतएव राजा भी इस शक्तिका केवल एक सक्रिय अध्यक्ष ही हो सकता था; वह, एक स्वेच्छाचारी शासनकी भांति, स्वयं ही 'राज्य-सत्ता' नहीं हो सकता था, न वह स्वयं देशका स्वामी एवं आज्ञाकारी प्रजाओंके राष्ट्रका एक दायित्वहीन व्यक्तिगत शासक ही हो सकता था। प्रजाको धर्मकी ही आज्ञाका पालन करना होता था और परिषद्समेत राजाकी घोषणाओंका पालन तो केवल इसी रूपमें करना होता था कि वे धर्मकी सेवा और रक्षा करनेके प्रशासनिक साधन हैं।

किंतु, यदि परिषद्-जैसी एक छोटी-सी संस्था ही जो राजा और उसके मंत्रियोंके सीधे तथा सतत प्रभावके अधीन रहती थी, एकमात्र शासक संस्था होती तो वह अधोगतिको प्राप्त होकर तानाशाही शासनके यत्रके रूपमें परिणत हो सकती थी। परंतु राज्यमें दो अन्य शक्तिशाली संस्थाएं भी थीं। वे समाज-रूपी संस्थानका अधिक बड़े पैमानेपर प्रतिनिधित्व करती थीं और राजाके सीधे प्रभावसे निर्मुक्त रहकर तथा राज्य-प्रबंध और प्रशासनिक विधान-निर्माणकी व्यापक और अटल शक्तियोंका प्रयोग करती हुई समाज-के मन, प्राण और इच्छाको अधिक निकट एवं अंतरंग रूपमें प्रकट करती थीं और सदा-सर्वदा राज-शक्तिके नियंत्रकके रूपमें कार्य करनेकी सामर्थ्य रखती थीं, क्योंकि अपने असंतोषकी अवस्थामें वे एक अप्रिय या अत्याचारी राजासे छुटकारा पा सकती थीं अथवा जबतक वह जनताकी इच्छाके आगे शीश न झुकाता तबतक उसके लिये शासन चलाना असंभव कर सकती थीं। ये संस्थाएं थीं — महान् राजधानीय सभा और साधारण सभा (General Assembly) जो अपनी पृथक् शक्तियोंके प्रयोगके लिये तो पृथक् रूपमें अधिवेशन करती थीं और सारी प्रजासे संबंध रखनेवाले विषयोंके लिये सम्मिलित रूपमें।[1] पौर या राजधानीय नगर-सभाके अधिवेशन सदा ही राज्य या साम्राज्यके मुख्य नगरमें हुआ करते थे — और ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यीय प्रणालीमें प्रांतोंके प्रधान नगरोंमें भी इसी प्रकारकी छोटी-छोटी सभाएं थीं, ये उन व्यवस्थापिका सभाओंके अवशेष थीं जो, इनके स्वतंत्र राज्योंकी राजधानियां होनेपर, इनपर शासन करती थीं—

---

[1]इन सभाओंसे संबंध रखनेवाले तथ्य इस विषयकी श्री जायसवालकी विशद कृतिसे लिये गये हैं जिसमें सब बातोंको अति सावधानतापूर्वक प्रमाणों-से पुष्ट किया गया है। मैंने उन्हीं तथ्योंको चुना है जो मेरे कामके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

और यह (पौर सभा) नगर-निकायोंके तथा समाजके सभी वर्णों या कम-से-कम तीन निम्न वर्णोंकी विविध जातिगत संस्थाओंके प्रतिनिधियोंसे गठित होती थी। स्वयं निकाय और जातिगत संस्थाएं भी देश और नगर दोनोंमें समाजके सुघटित स्व-शासक अंग होती थीं और नागरिकोंकी सर्वोच्च सभा संपूर्ण संस्थानकी, जैसा कि वह राजधानीकी सीमाओंके भीतर अस्तित्व रखता था, समष्टि-सत्ताकी कृत्रिम नहीं वरन् सजीव प्रतिनिधि-संस्था होती थी। वह सीधे ही अथवा पांच, दस या अधिक सदस्योंवाली अधीनस्थ लघुतर सभाओं और प्रशासनिक पर्षदों या समितियोंके द्वारा कार्य करती हुई नगरके संपूर्ण जीवनपर शासन करती थी, और, कुछ ऐसे नियमों एवं आज्ञप्तियोंके द्वारा जिनका निकायोंको पालन करना पड़ता था तथा सीधी शासन-व्यवस्थाके द्वारा नगर-समाजके व्यावसायिक, औद्योगिक, आर्थिक एवं पौर कार्यों-का नियंत्रण तथा निरीक्षण करती थी। परंतु इसके साथ ही वह एक ऐसी शक्ति थी जिसका राज्यके अधिक व्यापक कार्योंमें परामर्श लेना आवश्यक होता था और जो ऐसे कार्योंमें, कभी तो पृथक् रूपमें और कभी साधारण सभाके सहयोगसे, कार्रवाई कर सकती थी, और राजधानीमें निरंतर विद्यमान रहने तथा कार्य करनेके कारण वह एक ऐसी शक्ति बन गयी थी जिसे राजा और उसके मंत्रियों तथा उनकी परिषद्को भी सदैव मान्यता देनी पड़ती थी। राजाके मंत्रियों या राज्यपालोंके साथ संघर्ष होनेकी दशामें प्रांतोंमें अवस्थित दूरवर्ती पौर संसदें भी, अपने पद या विशेषाधिकारोंके विषयोंमें रुष्ट होनेपर या राजाके प्रबंधकर्ताओंसे असंतुष्ट होनेपर अपने असंतोषको महसूस करा सकती तथा अपराधी अफसरको पद-च्युत करनेके लिये बाध्य कर सकती थीं।

इसी प्रकार साधारण सभा (General Assembly) राजधानीके सिवाय संपूर्ण देशके मन एवं उसकी इच्छाका सुघटित रूपमें प्रतिनिधित्व करती थी; क्योंकि वह नगर-प्रदेशों और ग्रामोंके प्रतिनिधियों, निर्वाचित अध्यक्षों या प्रधान व्यक्तियोंसे गठित होती थी। प्रतीत होता है कि इसकी रचनामें एक प्रकारका धनिक-तंत्रीय तत्त्व प्रविष्ट हो गया था, क्योंकि इसमें, मुख्य-तया, प्रतिनिधित्व प्राप्त करनेवाले समाजोंके सुसमृद्ध व्यक्तियोंसे ही इसकी पूर्ति की जाती थी, और अतएव यह सर्वसाधारणकी सभाके ढंगकी ही एक सभा थी पर इसका रूप पूर्णतया जनतांत्रिक नहीं था,—यद्यपि बिल-कुल हालकी आधुनिक संसदोंको छोड़कर अन्य सभी संसदोंके विपरीत यह क्षत्रियों और वैश्योंके समान ही शूद्रोंको भी समाविष्ट करती थी,—पर फिर भी यह जनताके जीवन और मनको पर्याप्त सच्चे रूपमें प्रकट

करती थी। तथापि यह परमोच्च संसद नहीं थी: क्योंकि राजा और परिषद् या पौर-सभाके समान ही इसे भी साधारणतः विधान बनानेके मूल अधिकार प्राप्त नहीं थे, बल्कि केवल आज्ञप्ति जारी करने और व्यवस्थित करनेका ही अधिकार था। इसका काम यह था कि राष्ट्रके जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंके बीच सुसंगति स्थापित करनेमें यह जनताकी इच्छाके एक प्रत्यक्ष यंत्रके रूपमें कार्य करे, इनकी यथोचित व्यवस्थाकी देखरेख करे और राष्ट्रके उद्योग-वाणिज्य, कृषि-कार्य तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनकी सामान्य व्यवस्था और उन्नतिको साधित करनेकी ओर ध्यान दे, इस कार्यके लिये नियम और आज्ञप्तियां पास करे और राजा तथा उसकी परिषद्से विशेषाधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त करे, राजाके कार्योंके लिये जनता-की सहमति प्रदान करे या रोक लेवे और, यदि आवश्यकता हो तो, सक्रिय रूपमें उसका विरोध करके कुशासनका प्रतिकार करे या फिर प्रजाके प्रति-निधियोंको जो भी उपाय सुलभ हों उनके द्वारा इसका अंत ही कर डाले। पौर और साधारण सभाओंके संयुक्त अधिवेशनसे उत्तराधिकारके मामलोंमें परामर्श लिया जाता था, वह राजाको गद्दीसे उतार सकता था, राजाकी मृत्यु होनेपर उत्तराधिकारमें परिवर्तन कर सकता था, शासक वंशसे बाहर-के किसी व्यक्तिको गद्दीपर बिठा सकता था, राजनीतिक रंगत रखनेवाले मामलोंमें, राजद्रोहके या न्यायकी हत्या करनेके मामलोंमें कभी-कभी सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें कार्य कर सकता था। राज्य-नीतिके किसी भी विषयपर राजाके प्रस्ताव इन सभाओंके प्रति विज्ञापित किये जाते थे और किसी विशेषकर, युद्ध, यज्ञ, एवं सिंचाईकी विशाल योजनाओं आदिसे सबंद्ध सभी विषयोंमें तथा देशके लिये अत्यंत महत्त्व रखनेवाले सभी प्रश्नोंमें इनकी स्वीकृति लेना आवश्यक होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों संस्थाओंके अधिवेशन नित्यप्रति हुआ करते थे, क्योंकि इनकी ओरसे कोई-न-कोई विषय प्रतिदिन ही राजाके पास पहुंचते थे: इनके कार्य राजाके द्वारा पंजीबद्ध किये जाते थे और अतएव स्वतः ही वे कानूनका-सा प्रभाव रखते थे। निश्चय ही, इनके अधिकारों और कार्योंका पूर्णतया पर्यालोचन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राजाके अधिकारमें हिस्सा बंटाती थीं और राजाकी शक्तियां इनमें अंतर्निहित थीं और यहांतक कि जो शक्तियां साधारणतः उनके क्षेत्रके भीतर नहीं होती थीं उन्हें भी ये असा-धारण अवसरोंपर प्रयोगमें ला सकती थीं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि समाजके धर्मको परिवर्तित करनेके अपने प्रयत्नमें अशोकने केवल अपनी राजाज्ञा जारी करके ही नहीं बल्कि व्यवस्थापिका सभाके साथ विचार-विमर्श करके

आगे कदम बढ़ाया था। अतएव इन दो संस्थाओं (की विशेषता) का यह प्राचीन वर्णन बिलकुल ठीक प्रतीत होता है कि ये राजकार्यकी परिचालिका होती थीं और जरूरत पड़नेपर राजाके शासनका विरोध करनेवाले उपकरणोंके रूपमें कार्य करती थीं।

यह स्पष्ट रूपसे पता नहीं चलता कि ये महान् संस्थाएं कब लुप्त हो गयीं, मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले या विदेशियोंकी विजयके परिणाम-स्वरूप। यदि ऊपरसे एकाएक यह प्रणाली किसी प्रकार भंग हो गयी हो जिससे राज-शासन तथा सामाजिक-राजनीतिक संगठनके अन्य अंगोंमें खाई पैदा हो गयी हो और, परिणामतः, राजा अपने पार्थक्यके कारण अधिक स्वेच्छाचारी बन गया हो तथा अधिक व्यापक राष्ट्रीय कार्योंका नियंत्रण उसने एकमात्र अपने हाथमें ले लिया हो और सामाजिक-राजनीतिक संगठनके अन्य अंगोंमेंसे प्रत्येक अपना आंतरिक कार्य-व्यापार तो स्वयं चलाता हो—ग्राम-समाजोंकी अवस्था अंततक ऐसी ही रही—पर राज्यके उच्चतर विषयोंके साथ किसी प्रकारका जीवंत सबंध न रखता हो तो इस प्रकारकी अवस्था जटिल सामुदायिक स्वतंत्रताके संगठनमें जहां जीवनके परस्पर-सामंजस्यकी अनिवार्य आवश्यकता थी, स्पष्टतः ही दुर्बलताका एक महान् कारण हुई होगी। कुछ भी हो, मध्य एशियासे जो आक्रमण हुआ वह अपने साथ एक ऐसे व्यक्तिगत एवं निरंकुश शासनकी परंपरा लेकर आया जो इन प्रतिबंधोंसे अपरिचित था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह ऐसी संस्थाओंका, अथवा इनके अवशेषों या अद्यावधि जीवित रूपोंका, जहां कहीं भी वे अभीतक विद्यमान हों, तुरंत उन्मूलन कर दे, और संपूर्ण उत्तर भारतमें यही हुआ। दक्षिणमें भारतीय राजनीतिक प्रणाली फिर भी अनेक सदियों-तक कायम रही, पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो जनसभाएं वहां प्रचलित रहीं उनकी रचना वैसी नहीं थी जैसी इन प्राचीन राजनीतिक संस्थाओंकी थी, बल्कि वास्तवमें वे कुछ अन्य सामाजिक संगठन और सभाएं थीं जिनका ये एक सुसमन्वित रूप थीं तथा जिनके नियंत्रणका एक सर्वोच्च साधन थीं। इन हीन कोटिके सभासंगठनोंमें ऐसी संस्थाएं समाविष्ट थीं जिनका मूल स्वरूप राजनीतिक था, ये थीं किसी समयकी सर्वोच्च शासक सस्थाए कुल और गण। नये विधानके अंतर्गत ये बनी तो रहीं पर अपने सर्वोच्च अधिकार खो बैठीं और अपने अंगभूत समाजोंके कार्य-व्यापारका गौण एवं मर्यादित अधिकारके साथ प्रबंधभर कर सकती थीं। कुल अपना राज-नीतिक स्वरूप खो चुकनेके बाद भी एक सामाजिक-धार्मिक संस्थाके रूपमें, विशेषकर क्षत्रियोंमें, दृढ़ रूपसे कायम रहा, और उसने अपने सामाजिक एवं

धार्मिक विधान, कुलधर्मकी परंपराको तथा कहीं-कहीं अपनी जातीय सभा, कुल-संघको भी सुरक्षित रखा। दक्षिण भारतमें हम देखते हैं कि सर्वथा अर्वाचीन समयमें भी जनसभाएं प्राचीन साधारण सभाकी स्थानपूर्ति करती रहीं, एक ही समय ऐसी एकसे अधिक जनसभाएं भी विद्यमान रहीं और वे अलग-अलग या मिलकर कार्य करती रहीं। ये उक्त प्रकारकी साधारण सभा (General Assembly) के ही प्रकारांतर प्रतीत होती हैं। राजपूतानेमें भी कुलने अपना राजनीतिक वैशिष्ट्य एवं कर्तृत्व फिरसे प्राप्त किया पर इसका रूप कुछ और था और इसमें न तो प्राचीन संस्थाएं थीं और न सूक्ष्मतर सांस्कृतिक प्रकृति, यद्यपि इन कुलोंने साहस, शूर-वीरता, उदारता और सम्मान-रूपी क्षत्रिय धर्मको उच्च मात्रामें सुरक्षित रखा।

भारतीय समाज-तंत्रमें एक इससे भी प्रबल स्थायी तत्त्व विद्यमान था। वह चार वर्णोंके ढांचेमें ही विकसित हुआ—यहांतक कि अंतमें उसने इसका स्थान ही ले लिया—और असाधारण जीवन-शक्ति, स्थायिता और प्रबल महत्ता प्राप्त कर ली। वह था ऐतिहासिक जातिप्रथाका तत्त्व जो आज ह्रासकी ओर भले ही बढ़ रहा हो, पर अबतक भी दृढ़ रूपमें विद्यमान है। मूल रूपमें यह प्रथा चार वर्णोंके उपविभागोंसे उद्भूत हुई जो प्रत्येक वर्णमें विविध शक्तियोंके दबावके वश विकसित हुए। ब्राह्मण वर्णका उपविभाजन मुख्यतः धार्मिक, सामाजिक-धार्मिक और कर्म-कांडीय कारणोंसे हुआ, परंतु कुछ विभाजन प्रादेशिक और स्थानीय भी थे : क्षत्रिय, अधिकांशमें, एक ही ऐक्ययुक्त वर्ण रहे, यद्यपि कुलोंके रूपमें विभा-जित अवश्य थे। दूसरी ओर, आर्थिक कार्योंके उपविभाजनकी आवश्यकताके वश वैश्य और शूद्रवर्ण आनुवंशिकताके सिद्धांतके आधारपर अगणित जातियोंमें विभक्त हो गये। आनुवंशिकताके सिद्धांतके अधिकाधिक कठोर प्रयोगके बिना भी, कार्य-व्यापारका यह स्थिर उपविभाजन, अन्य देशोंकी भांति, निगम-प्रणालीके द्वारा काफी सुचारु रूपसे साधित हो सकता था, और शहरोंमें हम एक सबल एवं कार्यदक्ष निगम-प्रणालीका अस्तित्व पाते ही हैं। परंतु आगे चलकर निगम-प्रणालीका प्रचलन समाप्त हो गया और जातिकी अधिक सामान्य प्रथा ही सर्वत्र आर्थिक कार्यका एकमात्र आधार बन गयी। शहर और गांवमें जाति एक पृथक् सामाजिक इकाई थी जो एक साथ ही धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक होती थी और अपने धार्मिक, सामाजिक एवं अन्यान्य प्रश्नोंका निपटारा करती थी, समस्त बाह्य हस्त-क्षेपसे पूर्णतः मुक्त रहते हुए अपने जातिविषयक कार्योंका संचालन करती तथा अपने सदस्योंपर न्यायसंगत अधिकारका प्रयोग करती थी : केवल

धर्मविषयक मूलभूत प्रश्नोंपर प्रामाणिक व्याख्या या निर्णय प्राप्त करनेके लिये शास्त्रके संरक्षकोंके रूपमें ब्राह्मणोंसे सम्मति ली जाती थी। कुलकी भांति प्रत्येक जातिका भी अपना जातीय विधान तथा जीवन एवं आचरणका नियम, **जातिधर्म**, होता था और साथ ही अपना **जातिसंघ** भी। क्योंकि भारतीय शासनप्रणाली अपनी सभी संस्थाओंमें वैयक्तिक नहीं बल्कि सामाजिक आधारपर प्रतिष्ठित थी, जाति भी राज्यके राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्य-व्यापरमें महत्त्व रखती थी। इसी प्रकार निगम भी समाजकी ऐसी व्यापारिक एवं औद्योगिक इकाइयां थे जो अपना कार्य आप चलाती थीं, वे अपने कार्योंपर विचार करने तथा उनका प्रबंध करनेके लिये सभाएं करते थे और इसके साथ ही उनकी संयुक्त सभाएं भी होती थीं जो, प्रतीत होता है कि किसी समय, शासन करनेवाली पौर संस्थाएं रही होंगी। ये निगम-सरकारें, यदि इन्हें ऐसा नाम दिया जा सकता हो,—क्योंकि ये नगरपालिकाओंसे अधिक कुछ थीं,—आगे चलकर एक अधिक व्यापक पौर संस्थामें विलीन हो गयीं जो निगमों तथा सभी वर्णोंके जातिसंघों, दोनोंकी सुघटित एकताका प्रतिनिधित्व करती थीं। जातियां अपने निज रूपमें राज्यकी साधारण सभामें सीधा प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त करती थीं, पर स्थानीय कार्य-व्यापारके प्रशासनमें उनका अपना स्थान अवश्य होता था।

ग्राम-समाज और नगर-समाज अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें, संपूर्ण प्रणालीका एक स्थिर आधार थे; पर, यह ध्यानमें रखना होगा कि ये केवल निर्वाचन एवं प्रशासनसंबंधी या अन्य उपयोगी सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोजनोंके लिये प्रादेशिक इकाइयां या सुविधापूर्ण साधन नही थे, बल्कि ये सदा ही सच्चे एकतात्मक समाज होते थे जिनका अपना ही सुघटित जीवन होता था जो राज्यकी मशीनरीके केवल एक गौण अंगके रूपमें नहीं वरन् अपने पूरे अधिकारके साथ कार्य करता था। ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहकर वर्णित किया गया है, और इस वर्णनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है : क्योंकि प्रत्येक गांव अपनी सीमाओंके भीतर स्वायत्त और आत्म-निर्भर था, अपनी ही निर्वाचित पंचायतों और निर्वाचित या वंशानुगत अफसरोंके द्वारा शासित होता था, अपनी आवश्यकताएं आप पूरी करता था, अपनी शिक्षा, पुलिस और अदालतोंकी, अपनी सभी आर्थिक आवश्यकताओं और कार्य-प्रवृत्तियोंकी स्वयं व्यवस्था करता था, एक स्वतंत्र और स्व-शासक इकाईके रूपमें अपने जीवनका आप ही प्रबंध करता था। गांव एक दूसरेके साथके अपने कार्योंको भी नाना प्रकारके समवायोंके द्वारा परिचालित करते थे और इसके साथ ही ग्रामोंके समूह भी बनाये जाते थे

जो निर्वाचित या वंशक्रमागत अध्यक्षोंके अधीन होते थे और अतएव, कम घनिष्ठ रूपमें संगठित ही सही, एक स्वाभाविक संघका गठन करते थे। परंतु यह तथ्य इससे कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है कि भारतमें नगर-प्रदेश भी स्वायत्त और स्वशासक संस्थान होते थे जो, निर्वाचन-प्रणालीसे युक्त तथा मतका प्रयोग करनेवाली अपनी ही सभा-समितियोंके द्वारा शासित होते थे, अपने ही निज अधिकारसे अपने कार्य-कलापका प्रबंध करते थे और ग्रामोंके ही समान राज्यकी साधारण सभामें अपने प्रतिनिधि भेजते थे। इन पौर सरकारोंके शासनप्रबंधमें वे सभी कार्य आ जाते थे जो नागरिकोंके भौतिक या अन्य प्रकारके हितमें सहायक होते हैं, जैसे, पुलिस, न्यायसंबंधी मामले, सार्वजनिक कार्य और पवित्र एवं सार्वजनिक स्थानोंकी देख-भाल, रजिस्टरी, पौर करोंका संग्रह और व्यापार तथा उद्योग-वाणिज्य-से संबंध रखनेवाले सभी विषय। यदि ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहा जा सकता है तो बिलकुल उसी प्रकार नगर-प्रदेशके संविधानको एक अधिक बड़ा नगर-गणराज्य कहकर वर्णित किया जा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि नैगम और पौर सभाओंको,—निगम-सरकारों और पौर संस्थाओंको,—अपने सिक्के ढालनेका विशेषाधिकार प्राप्त था, जो कि वैसे राज्यों तथा गणतंत्रोंके अध्यक्षभूत राजाओंके द्वारा ही प्रयोगमें लाया जाता था।

कुछ अन्य प्रकारके समाजोंको भी ध्यानमें रखना होगा जिनकी सत्ता राजनीतिक तो बिलकुल नहीं थी, पर फिर भी जिनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने ढंगसे एक स्व-शासक संगठन था; क्योंकि वे भारतीय जीवनकी अपनी सभी अभिव्यक्तियोंमें अपने-आपको सत्ताके एक घनिष्ठतः सामाजिक रूपमें प्रकट करनेकी प्रबल प्रवृत्तिको निर्दशित करते हैं। उनका एक उदाहरण है संयुक्त परिवार, जो भारतमें सर्वत्र प्रचलित है और केवल अब जाकर ही, आधुनिक अवस्थाओंका दबाव पड़नेके कारण, छिन्न-भिन्न हो रहा है। इसके दो मूल सिद्धांत थे—प्रथमतः, पितृवंशीय संबंधियों और उनके परि-वारोंका अपनी संपत्तिपर सामुदायिक अधिकार और, जहांतक बन पड़े, परिवारके प्रधान व्यक्तिके प्रबंधके अधीन एक अविभक्त सामाजिक जीवन यापन करना और, दूसरे अपने पिताके भागमें प्रत्येक लड़केका समान भागका दावा, जो भाग कि अलग होने तथा जायदादका बंटवारा करनेकी हालतमें उसका प्राप्य होगा। व्यक्तिके अटल पृथक् अधिकारसे युक्त यह सामाजिक एकता इस बातका उदाहरण है कि भारतीय मन और जीवनमें समन्वया-त्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी, उसने मौलिक प्रवृत्तियोंको जाना-पहचाना था

और यद्यपि वे अपने व्यावहारिक रूपमें एक-दूसरीकी विरोधिनी मालूम होती थीं फिर भी उनमें सामंजस्य बैठानेकी चेष्टा की थी। यह वही समन्वयकारी प्रवृत्ति है जिसने भारतकी सामाजिक-राजनीतिक प्रणालीके सभी अंगोंमें धर्मतंत्रीय, राजतंत्रीय और अभिजाततंत्रीय, धनिकतंत्रीय और प्रजातंत्रीय प्रवृत्तियोंको नाना प्रकारसे एक-दूसरीके साथ घुला-मिलाकर एक समग्र प्रणालीमें परिणत करनेका यत्न किया, और वह प्रणाली उनमेंसे किसीके भी विशेष लक्षणोंसे युक्त नहीं थी, न वह उनका एक-दूसरीके साथ कोई ऐसा अनुकूलन या मिश्रण ही थी जो नियंत्रणों एवं संतुलनोंकी पद्धतिके द्वारा या बुद्धि-विरचित समन्वयके द्वारा साधित किया गया हो, बल्कि वह भारतके जटिल सामाजिक मन और प्रकृतिकी सहजात प्रवृत्तियों एवं चारित्र्य-का स्वाभाविक बाह्य रूप थी।

दूसरे छोर पर, जो भारतीय प्राणिक मनका संन्यासमार्गीय एवं शुद्ध आध्यात्मिक छोर है, हम धार्मिक संघको देखते हैं और, फिर, यह भी सामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है। आदि वैदिक समाजमें किसी प्रकारके 'चर्च' या धार्मिक संघ या पुरोहित-संप्रदायके लिये कोई स्थान नहीं था, क्योंकि उसकी प्रणालीमें संपूर्ण जन-समुदाय एक ही अखंड सामाजिक-धार्मिक समष्टि थी जिसमें 'धार्मिक' और 'लौकिक' में, सामान्य मनुष्य और पुरो-हितमें, कोई भेद नहीं था, और बादकी प्रगतियोंके होनेपर भी हिंदू धर्म, समग्रतया या कम-से-कम आधारके रूपमें, इस मूल सिद्धांतपर दृढ़ रहा है। दूसरी ओर, एक संन्यासमार्गीय प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी जिसने समय पाकर धार्मिक जीवन और सांसारिक जीवनके भेदको जन्म दिया तथा पृथक् धार्मिक समाजकी रचनामें सहायता की। बौद्धों और जैनोंके मत-संप्रदायों तथा साधनाभ्यासोंके प्रादुर्भावसे उस प्रवृत्तिको बल प्राप्त हुआ। बौद्धोंका भिक्षु-संघ संगठित धार्मिक समाजके पूर्ण रूपका सर्वप्रथम विकास था। यहां हम देखते हैं कि बुद्धने केवल भारतीय समाज और शासनतंत्रके प्रसिद्ध मूलसूत्रोंका संन्यास-जीवनपर प्रयोग मात्र किया। उन्होंने जिस संघका निर्माण किया वह एक धर्म-संघके रूपमें अभिप्रेत था, और प्रत्येक मठ एक ऐसे धार्मिक संस्थानके रूपमें अभिमत था जो एक संयुक्त सामाजिक संस्थाका जीवन यापन करता था, वह संस्था धर्मके बौद्ध-सम्मत स्वरूपकी एक अभि-व्यक्तिके रूपमें अस्तित्व रखती थी तथा अपने जीवनके सभी नियमों, विशेष लक्षणों तथा रूप-रचनामें धर्मके परिपालनपर ही आधारित थी। जैसा कि हमें तुरंत पता चल सकता है, संपूर्ण हिंदू समाजका मूलतत्त्व एवं सिद्धांत ठीक यही था, परंतु यहां इसे वह उच्चतर तीव्रता प्रदान कर दी गयी थी

जो आध्यात्मिक जीवन तथा शुद्ध धार्मिक संस्थाके लिये संभव हो सकती थी। यह संघ अपने कार्योंकी व्यवस्था भी भारतकी सामाजिक और राजनीतिक अखंड समष्टियोंकी भांति करता था। संघकी सभा धर्म और इसके प्रयोगके विवादास्पद प्रश्नोंपर बहस करती थी और गणराज्योंके सभा-भवनोंकी भांति मतसंग्रहके द्वारा अपनी कार्रवाई चलाती थी, किंतु फिर भी वह एक सीमाकारी नियंत्रणके अधीन रहती थी जिसका उद्देश्य एक कोरी और निपट जनतांत्रिक प्रणालीकी संभव बुराइयोंसे बचना होता था। इस प्रकार जब यह मठ-प्रणाली एक बार दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो गयी तो कट्टरपंथी धर्मने इसे बौद्ध धर्मसे लेकर अपना लिया, पर इसका विस्तृत संगठन उसने नहीं अपनाया। ये धार्मिक समाज जहां कहीं भी प्राचीनतर ब्राह्मण-प्रणालीके विरुद्ध विजय लाभ कर सके, जैसे, शंकराचार्य-प्रवर्तित संप्रदायमें, वहां ये समाजके साधारण जन-समुदायके एक प्रकारके धार्मिक नायक बनते चले गये, किंतु इन्होंने राजनीतिक पदपर स्वत्व रखनेका दावा बिलकुल नहीं किया और 'चर्च' तथा राज्यका संघर्ष भारतके राजनीतिक इतिहासमें कभी देखनेमें नहीं आया।

अतएव यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतके संपूर्ण जीवनने महान् राज्यो एवं साम्राज्योंके समयमें भी अपने प्रथम सिद्धांत एवं मूलभूत कार्यप्रणालीको सुरक्षित रखा और इसकी समाज-व्यवस्था, मूलतः, स्व-निर्धारित तथा स्व-शासक सामाजिक संस्थाओंकी एक जटिल प्रणाली ही रही। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी इस प्रणालीके स्थानमें एक संगठित राज्यसत्ताका विकास करना जो आवश्यक हो उठा, इसका कारण कुछ तो यह था कि व्यावहारिक बुद्धिने उससे अधिक कठोर तथा वैज्ञानिक रूपमें फलप्रद सामंजस्यकी मांग की जितना कि, छोटे क्षेत्रोंको छोड़कर, जीवनके शिथिलतर स्वाभाविक सामंजस्यके लिये संभव था, और इससे अधिक अनिवार्य कारण यह था कि एक ऐसे सुव्यवस्थित सैनिक आक्रमण, प्रतिरक्षा तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्रवाईकी जरूरत पैदा हो गयी जो एक ही केंद्रीय सत्ताके हाथोंमें केंद्रित हो। इनमेंसे पहली मांगको पूरा करनेके लिये स्वतंत्र गणतांत्रिक राज्यका विस्तार भी पर्याप्त हो सकता था, क्योंकि उसमें इसके लिये उपयुक्त क्षमता और आवश्यक संस्थाएं विद्यमान थीं, परंतु अपनी अधिक संकुचित और सहज-प्राप्य केंद्रीयतासे युक्त राजतंत्रात्मक राज्यकी पद्धतिने एक अधिक आसान तथा प्रबंध-योग्य उपाय-योजना एवं एक अधिक सुगम तथा प्रत्यक्षतः कार्यक्षम मशीनरी प्रस्तुत कर दी। और (देशकी प्रतिरक्षा आदिके) बाह्य कार्यमें तो लगभग शुरूसे ही भारतके, जो तब

देशकी अपेक्षा कहीं अधिक एक महाद्वीप था, राजनीतिक एकीकरणकी अतीव विकट युगव्यापी समस्या भी सम्मिलित थी; सुतरां, इस बाह्य कार्यके लिये गणतांत्रिक प्रणाली अपने पर्याप्त सैनिक संगठनके होते हुए भी अनुपयुक्त सिद्ध हुई, क्योंकि वह आक्रमणकी अपेक्षा प्रतिरक्षात्मक शक्तिके लिये ही अधिक उपयुक्त थी। अतएव अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी राजतंत्रात्मक राज्यका प्रबल रूप ही अंतमें विजयी हुआ तथा अन्य सबको निगल गया। तथापि अपनी मूलभूत संस्थाओं और आदर्शोंके प्रति भारतीय मनकी निष्ठा-ने सामुदायिक स्वशासनके, जो जनताकी आभ्यंतरिक प्रकृतिके लिये स्वा-भाविक था, आधारको सुरक्षित रखा, राजतंत्रात्मक राज्यको तानाशाहीके रूपमें विकसित नहीं होने दिया, न उसे अपने समुचित कर्तव्योंका अति-क्रमण ही करने दिया, साथ ही समाजके जीवनको यांत्रिक रूप देनेकी उस-की प्रक्रियाका सफलतापूर्वक विरोध भी किया। हां, ह्रासके सुदीर्घ कालमें ही हम देखते हैं कि राजतंत्रीय शासन, और जनताके आत्म-निर्धारक सामा-जिक जीवनके बीचकी स्वतंत्र संस्थाएं विलीन होने लगीं या फिर अपनी प्राचीन शक्ति और तेजको अधिकांशमें खोने लगीं और वैयक्तिक शासनकी, क्लर्कों तथा अफसरोंकी नौकरशाहीकी तथा एक अति प्रबल केंद्रीभूत सत्ताकी बुराइयां किसी गोचर मात्रामें प्रकट होनी शुरू हो गयी। जबतक भारतीय शासन-पद्धतिकी प्राचीन परंपराएं कायम रहीं और जिस अनुपातमें वे सजीव और प्रभावशाली बनी रहीं तबतक और उस अनुपातमें ये बुराइयां केवल कहीं-कहीं एवं कभी-कभी ही पैदा होती रहीं या फिर कोई भीषण आकार नहीं ग्रहण कर सकीं। विदेशियोंके आक्रमण तथा उनकी विजय और प्राचीन भारतीय संस्कृतिके क्रमिक ह्रास एवं अंतिम पतन — इन दोनों-ने मिलकर ही पुरानी रचनाके प्रधान-प्रधान भागोंको विध्वस्त कर डाला तथा लोगोंके सामाजिक-राजनीतिक जीवनको अवनत और छिन्न-भिन्न कर डाला, यहांतक कि पुनरुज्जीवन या नव-निर्माणके पर्याप्त साधन भी नहीं बच रहे।

इसके विकासकी अत्युच्च अवस्थामें तथा भारतीय सभ्यताके महान् दिनोंमें हम एक अत्युत्तम राजनीतिक प्रणाली देखते हैं जो सर्वोच्च मात्रामें कार्यक्षम थी और सामाजिक स्व-शासन तथा स्थिरता एवं व्यवस्थाका संयोग अत्यंत पूर्ण रूपमें साधित किये हुई थी। राज्य अपने प्रशासनिक, न्याय-संबंधी, आर्थिक और रक्षणात्मक कार्यको जनताके तथा इन्हीं विभागोंसे संबंधित इसकी अंगभूत संस्थाओंके अधिकारों एवं स्वतंत्र कार्य-कलापोंको विनष्ट किये बिना या इनमें हस्तक्षेप किये बिना परिचालित करता था।

राजधानी और शेष सारे देशके राजकीय न्यायालय एक ऐसी सर्वोच्च न्याय-सत्ता थे जो राज्यभरमें न्याय-प्रबंधमें सामंजस्य स्थापित करती थी, परंतु वे न्यायालय ग्राम तथा नगरके संस्थानोंके द्वारा अपनी अदालतोंको सौंपे गये न्यायाधिकारोंमें अनुचित हस्तक्षेप नहीं करते थे, और, यहांतक कि, राजकीय प्रणाली मध्यस्थताके एक विशाल साधनके रूपमें कार्य करनेवाले निगम, जाति और कुलके न्यायालयोंको भी अपने साथ संबंधित रखती थी और केवल अधिक भयानक अपराधोंपर ही एकमात्र अपना नियंत्रण रखनेका आग्रह करती थी। ग्राम और नगरके संस्थानोंकी प्रशासनिक एवं आर्थिक शक्तियोंके प्रति भी इसी प्रकारका सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। शहर और देहातमें राजाके राज्यपालों और पदाधिकारियोंके साथ-ही-साथ, जनता और उसकी व्यवस्थापिका सभाओंके द्वारा नियुक्त पौर शासक और पदाधिकारी तथा सामाजिक मुखिया और पदधारी भी रहा करते थे। राष्ट्रकी धार्मिक स्वाधीनता या उसके सुप्रतिष्ठित आर्थिक एवं सामाजिक जीवनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था; वह अपनेको सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षातक तथा समस्त राष्ट्रीय कार्यकलापके समृद्ध एवं शक्तिशाली संचालनके लिये अपेक्षित निरीक्षण एवं साहाय्य तथा सुसंगति एवं सुविधाओंके प्रबंधतक ही सीमित रखता था। भारतके सामाजिक मनके द्वारा पहलेसे ही सृष्ट स्थापत्य, कला-शिल्प, संस्कृति. ज्ञान और साहित्यके लिये भव्य और उदार प्रेरणाके स्रोतके रूपमें अपने सुयोगोंको भी वह बराबर ही समझता था और उन्हें समुज्ज्वल रूपमें चरितार्थ भी करता था। राजाके व्यक्तित्वके रूपमें वह एक महान् एवं सुस्थिर सभ्यता तथा स्वतंत्र एवं जीवंत जातिका प्रतिष्ठित और शक्तिशाली नायक था तथा राजाके प्रशासनकी पद्धतिके रूपमें वह इस सभ्यता एवं जातिका एक सर्वोच्च यंत्र था जो न तो कोई मनमानी तानाशाही या नौकरशाही था और न जीवनका दमन करनेवाली या उसका स्थान ले लेनेवाली मशीन।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय समाजतंत्र एवं राष्ट्रतंत्रके तथ्योंका यथार्थ ज्ञान एवं इनके स्वरूप और सिद्धांतका यथायथ बोध पश्चिमी आलोचकोंके इस तर्कका तुरंत निराकरण कर देता है कि भारतीय मन यद्यपि दर्शन, धर्म, कला और साहित्यमें विलक्षण था तथापि जीवनका संगठन करनेमें अयोग्य था, व्यावहारिक बुद्धिके कार्योंमें हीन कोटिका था और, विशेषकर, राजनीतिक परीक्षणमें असफल था तथा इसका इतिवृत्त सबल राजनीतिक निर्माण, चिंतन एवं कर्मसे शून्य है। इसके विपरीत, भारतीय सभ्यताने एक उच्च कोटि-की राजनीतिक प्रणालीका विकास किया था जो ठोस रूपमें तथा स्थायी दृढ़ताके साथ निर्मित की गयी थी; साथ ही, पौर संघटनके अपने प्रयत्नोंमें मनुष्यका मन जिन राजतंत्र, जनतंत्र तथा अन्य शासनतंत्रोंके सिद्धांतों और प्रवृत्तियोंकी ओर झुका है उन सबको भारतीय सभ्यताने अद्भुत कौशलसे एक-दूसरेके साथ संयुक्त किया और फिर भी वह यांत्रीकारक प्रवृत्तिकी उस अतिसे मुक्त रही जो कि आधुनिक यूरोपीय राज्यका दोष है। पश्चिमके विकाससंबंधी दृष्टिकोण तथा प्रगतिविषयक विचारको लेकर इसपर जो आक्षेप किये जा सकते हैं उनपर मैं आगे चलकर विचार करूंगा।

परंतु राजनीतिका एक और भी पहलू है जिसके बारेमें यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक मानसने अपने इतिहासमें असफलताके सिवा और कुछ भी अंकित नहीं किया। इसने जिस राष्ट्र-व्यवस्था-का विकास किया वह प्राचीन अवस्थाओंमें स्थिरता तथा प्रभावशाली प्रशासनके लिये और सामाजिक सुश्रृंखला एवं सर्वविध स्वाधीनता तथा जनहितको अधिगत करनेके लिये भले ही सराहनीय रही हो, पर यद्यपि इस देशकी अनेकों जातियोंमेंसे प्रत्येक पृथक्-पृथक् स्व-शासित, सुशासित और समृद्ध थी और, व्यापक रूपमें, सारा देश भी अपनी अत्युन्नत सभ्यता एवं संस्कृतिके स्थिरतापूर्वक कार्य करते रहनेके बारेमें आश्वस्त था,

तथापि वह राष्ट्र-व्यवस्था भारतके राष्ट्रीय और राजनीतिक एकीकरणको साधित करनेमें असफल रही और अंतमें विदेशी आक्रमणसे, इसकी संस्थाओंके विघटन तथा इसकी युगव्यापी दासतासे इसकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ रही। इसमें संदेह नहीं कि किसी समाजकी राजनीतिक प्रणालीकी परीक्षा, प्रथमतः और प्रधानतः, इस बातके द्वारा करनी होगी कि वह जनताके लिये सुस्थिरता, समृद्धि, आंतरिक स्वाधीनता एवं व्यवस्थाको कहांतक सुनिश्चित करती है, पर साथ ही इसके द्वारा भी कि कहांतक वह अन्य राज्योंके विरुद्ध सुरक्षाकी दीवार खड़ी करती है तथा बाह्य प्रतिद्वंद्वियों और शत्रुओंके विरुद्ध उसमें कितनी एकता है एवं प्रतिरक्षा और आक्रमण करनेकी कितनी शक्ति है। संभवतः यह मानवजातिके लिये पूर्ण रूपसे प्रशंसाकी बात नहीं है कि राजनीतिक प्रणाली ऐसी ही होनी चाहिये, और जो राष्ट्र या जाति इस प्रकारकी राजनीतिक शक्तिमें हीन है, जैसे कि प्राचीन यूनानी और मध्ययुगीन इटालियन थे, वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे अपने विजेताओंकी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ हो सकती है और सच्ची मानव-प्रगतिमें उसका योगदान सफल सैनिक राज्यों, आक्रमणशील समाजों तथा लुटेरे साम्राज्योंकी अपेक्षा अधिक महान् हो सकता है। परंतु मनुष्यका जीवन अभी भी प्रधान रूपसे प्राणिक है और अतएव यह विस्तार, अधिकार और आक्रमणकी तथा दूसरेको निगलने एवं उसे जीतकर उसपर आधिपत्य जमानेके लिये पारस्परिक संघर्षकी प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होता है जो कि जीवनका प्रथम नियम है, और जो सामूहिक मन एवं चेतना लगातार ही आक्रमण और प्रतिरक्षामें अक्षमताका प्रमाण देती है तथा अपनी सुरक्षाके लिये आवश्यक केंद्रीभूत एवं कार्यक्षम एकताको संघटित नहीं करती वह स्पष्टतः ही एक ऐसा मन एवं चेतना है जो राजनीतिक क्षेत्रमें प्रथम श्रेणीसे बहुत ही नीचे रह जाती है। राष्ट्रीय और राजनीतिक रूपमें भारत कभी भी एक नहीं रहा है। करीब एक हजार सालतक भारत बर्बर आक्रमणोंसे क्षत-विक्षत होता रहा तथा लगभग और एक हजार वर्षतक एकके बाद एक विदेशी प्रभुओंका दास रहा। इसलिये, स्पष्टतः ही, भारतजातिके विरुद्ध यह निर्णय देना होगा कि यह राजनीतिक दृष्टिसे अक्षम थी।

यहां, फिर, पहली आवश्यकता इस बातकी है कि हम अतिरंजनाओंको त्यागकर अपने मनमें यथार्थ तथ्यों एवं उनके अर्थके संबंधमें स्पष्ट धारणा बनायें और जो समस्या स्पष्टतः ही भारतके सारे लंबे इतिहासमें अपना ठीक हल नहीं पा सकी, उसकी अंतर्निहित प्रवृत्तियों और सिद्धांतोंको हृदयंगम करें। और सर्वप्रथम, यदि किसी जाति और सभ्यताकी महानताका मूल्य

उसकी सैनिक आक्रमणकारिता, उसकी विदेश-विजयके मापदंड, अन्य राष्ट्रोंके साथ युद्धमें उसकी सफलता तथा उसकी संगठित धन-लिप्सा और डकैतीकी प्रवृत्तियोंकी विजय, राज्य-विस्तार और शोषणके लिये उसके अदम्य आवेगके द्वारा आंका जाना हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत्‌की महान् जातियोंकी सूचीमें भारत शायद सबसे नीचे स्थान पायेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत अपनी सीमाओंके परे आक्रमणके द्वारा सैनिक और राजनीतिक विस्तार करनेके लिये कभी प्रेरित नहीं हुआ; भारतीय सफलताके इतिहासमें विश्व-प्रभुत्वका कोई भी महान् काव्य, सुदूरव्यापी आक्रमण या विस्तारशील औपनिवेशिक साम्राज्यकी कोई भी महान् कथा कभी नहीं लिखी गयी। जिस विस्तार, आक्रमण और विजयके लिये उसने एकमात्र महत् प्रयास किया वह था अपनी संस्कृतिका विस्तार तथा बौद्ध विचारके द्वारा और अपनी आध्यात्मिकता, कला तथा विचार-शक्तियोंके प्रवेशके द्वारा पूर्वीय जगत्‌पर आक्रमण एवं विजय। और यह युद्धका नहीं बल्कि शांतिका आक्रमण था, क्योंकि बलप्रयोग एवं भौतिक विजयके द्वारा, जो आधुनिक साम्राज्यवादकी मिथ्या बड़ाई या छल है, आध्यात्मिक सभ्यताका प्रसार करना उसके मन और स्वभावकी प्राचीन गठनके तथा उसके धर्मके आधारभूत विचारके विपरीत होता। निःसंदेह, उपनिवेश बसानेवाले अभियानोंकी एक शृंखला भारतीय रक्त और भारतीय संस्कृतिको इजियन सागर (Archipelago) के द्वीपोंतक ले गयी, परंतु पूर्वीय और पश्चिमी दोनों तटोंसे जिन जहाजोंने प्रस्थान किया वे कोई ऐसे आक्रांताओंके जहाजी बेड़े नहीं थे जिनका उद्देश्य उन सीमांतवर्ती देशोंको भारतीय साम्राज्यमें मिला लेना हो बल्कि वे उन निर्वासितों या साहसिक कार्य करनेवालोंके थे जो उस युगकी संस्कृतिहीन जातियोंके लिये भारतीय धर्म, स्थापत्य, कला, काव्य, विचार, जीवन तथा आचारनीतिको अपने संग ले गये। साम्राज्यके, यहांतक कि जगत्-साम्राज्यके विचारका भी भारतीय मनमें सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नहीं थी, पर उसका जगत् था भारतीय जगत् तथा उसका उद्देश्य था इसकी जातियोंकी साम्राजीय एकताकी स्थापना।

यह विचार, इस आवश्यकताका बोध, इसकी पूर्तिके लिये सतत आवेग भारतीय इतिहासकी संपूर्ण परंपरामें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है। ये विचार आदि प्राचीनतर वैदिक युगसे आरंभ हुए और रामायण तथा महाभारतकी परंपराओंद्वारा एवं मौर्य तथा गुप्तवंशीय चक्रवर्ती सम्राटोंके प्रयत्नसे सूचित वीरतापूर्ण कालमेंसे होते हुए मुगल एकीकरण तथा पेशवाओंकी अंतिम महत्त्वाकांक्षातक बराबर बने रहे जबतक कि यह उद्देश्य अंतिम रूपसे

असफल ही नहीं हो गया, तथा सभी संघर्षरत शक्तियां विदेशी जूएके नीचे एक ही स्तरपर नहीं पहुंच गयीं, अर्थात् एक स्वतंत्र जातिके स्वतंत्र ऐक्यके स्थानपर एकसमान परतंत्रताकी शिकार नहीं हो गयीं। तब प्रश्न यह है कि क्या एकीकरणकी प्रक्रियाकी मंदता, कठिनाई और अस्थिर गतिविधियोंका तथा सुदीर्घ प्रयत्नकी विफलताका कारण यह था कि भारतवासियोंकी सभ्यता या राजनीतिक चेतना एवं योग्यतामें किसी प्रकारकी मौलिक दुर्बलता थी अथवा इस सबके मूलमें कोई और ही शक्तियां काम कर रही थीं। भारतवासियोंकी एक होनेकी अयोग्यता तथा उनमें एकराष्ट्रीय देशभक्तिके अभावके संबंधमें -- कहा जाता है कि देशभक्ति तो उनमें केवल अब ही, पश्चिमी संस्कृतिके प्रभावसे पैदा हो रही है -- और धर्म तथा जातिके द्वारा उनपर थोपे गये भेदोंके बारेमें बहुत कुछ कहा और लिखा गया है। इन प्रतिकूल आलोचनाओंके बलको यदि इनकी पूर्ण मात्रामें स्वीकार कर लिया जाय, -- इनमेंसे सभी न तो पूर्णतः सत्य हैं न ठीक रूपमें वर्णित की गयी हैं और न सभी इस विषयपर अपरिहार्य रूपमे लागू ही हो सकती हैं,-- तो भी ये केवल बाह्य लक्षण हैं और इनसे अधिक गहरे कारणोंकी खोज करना अभी बाकी ही है।

इनके प्रतिवादके लिये साधारणतः जो उत्तर दिया जाता है वह यह है कि भारत वस्तुतः एक महाद्वीप है जो लगभग यूरोप जितना ही बड़ा है और जिसमें बहुत अधिक जातियां निवास करती हैं और अतएव समस्याकी कठिनाइयां भी उतनी ही बड़ी, या, कम-से-कम, संख्यामें लगभग उतनी ही अधिक रही हैं। और तब यूरोपकी एकताका विचार जो अभीतक आदर्शके स्तरपर विद्यमान एक निष्प्रभाव कल्पना ही रह गया है और जिसे क्रियात्मक रूपमें सिद्ध करना आजतक असंभव ही रहा है, वह यदि पश्चिमी सभ्यताकी अक्षमताका या यूरोपीय जातियोंकी राजनीतिक अयोग्यताका प्रमाण नहीं है तो भारतीय जातियोंके इतिहासमें एकता या कम-से-कम एकीकरण-के जिस अत्यधिक स्पष्ट आदर्शका, उसकी सिद्धिके लिये अनवरत प्रयत्न करने तथा पुनः-पुनः उसकी सफलताके निकट पहुंचनेका प्रमाण पाया जाता है उसपर मूल्योंकी भिन्न प्रणालीका प्रयोग करना न्यायसंगत नहीं है। इस तर्कमें कुछ बल अवश्य है, पर इसका स्वरूप पूर्णतः संगत नहीं है, क्योंकि भारत और यूरोपमें जो सादृश्य दिखलाया गया है वह बिलकुल ही पूर्ण नहीं है और दोनोंकी अवस्थाएं बिलकुल एक ढंगकी नहीं थीं। यूरोपकी जातियां ऐसी जातियां हैं जो अपने सामुदायिक व्यक्तित्वमें एक-दूसरीसे अत्यंत तीव्र रूपमें भिन्न हैं और ईसाई धर्ममें उनकी आध्यात्मिक एकता

या यहांतक कि एक सर्वसामान्य यूरोपीय सभ्यतामें उनकी सांस्कृतिक एकता जो कभी भी उतनी वास्तविक और पूर्ण नहीं थी जितनी भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता थी, उनके जीवनका वास्तविक केंद्र भी नहीं थी, उनके अस्तित्वका आधार या दृढ़ भित्ति नहीं थी, उनकी आश्रयभूमि नहीं थी, थी केवल उनकी सामान्य भाव-भंगिमा या पारिपार्श्विक वातावरण। उनके अस्तित्वका आधार राजनीतिक और आर्थिक जीवनमें निहित था जो प्रत्येक देशमें तीव्र रूपसे पृथक्-पृथक् था, और पाश्चात्य मनमें राजनीतिक चेतनाका जो प्राबल्य था ठीक उसीने यूरोपको विभक्त एवं सदा लड़ते रहनेवाले राष्ट्रोंका एक समूह बनाये रखा। आज संपूर्ण यूरोपमें राजनीतिक आंदोलनोंका पारस्परिक संपर्क बढ़ता जा रहा है और आर्थिक दृष्टिसे वह अब पूर्णरूपेण परस्पर-निर्भर बन गया है। इन दोनों बातोंने ही आखिर वहां किसी प्रकारकी एकताको तो नहीं पर एक उदीयमान एवं अभीतक निष्प्रभाव राष्ट्रसंघ (League of Nations) को जन्म दिया है[1] जो युगव्यापी पृथक्तावादसे उत्पन्न मनोवृत्तिको यूरोपीय जातियोंके सर्वसामान्य स्वार्थोंपर लागू करनेकी व्यर्थमें ही चेष्टा कर रहा है। परंतु भारतमें अत्यंत प्राचीन कालमें ही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थी और हिमालय तथा दो (अरब और बंग) समुद्रोंके बीच अवस्थित इस समस्त महान् जन-पारावारके जीवनका वास्तविक उपादान ही बन गयी थी। प्राचीन भारतकी जातियां कभी भी ऐसी विभिन्न जातियां नहीं थीं जो एक पृथक् राजनीतिक एवं आर्थिक जीवनके द्वारा एक-दूसरीसे तीव्रतया विभक्त हों, वरंच इससे कहीं अधिक वे एक महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्रकी उपजातियां थीं — ऐसे राष्ट्रकी जो स्वतः ही, भौतिक रूपमें, समुद्रों और पर्वतोंके द्वारा अन्य देशोंसे दृढ़तया पृथक् था और भिन्न होनेकी अपनी तीव्र भावना तथा अपने विलक्षण सार्वजनीन धर्म और संस्कृतिके द्वारा अन्य जातियोंसे भी दृढ़तया पृथक् था। अतएव, इसका क्षेत्रफल चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो और क्रियात्मक कठिनाइयां चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हों तो भी राजनीतिक एकताका निर्माण उससे अधिक सुगमताके साथ संपन्न हो जाना चाहिये था जितनी सुगमतासे कि यूरोपकी एकता संभवतः साधित हो सकती

---

[1] स्मरण रहे कि यह लेखमाला प्रथम महायुद्धके पश्चात्, १५ दिसंबर सन् १९१८ से १५ जनवरी १९२१ के बीच, लिखी गयी थी जब राष्ट्रसंघ (League of Nations) का हालमें ही जन्म हुआ था। —अनुवादक

थी। इस विषयकी असफलताका कारण अधिक गहराईमें जाकर ढूंढ़ना होगा और हम देखेंगे कि इस समस्याको जिस रूपमें दृष्टिके सामने रखा गया या रखा जाना चाहिये था और ऐक्य-प्राप्तिके प्रयत्नको वस्तुतः जो मोड़ दिया गया उन दोनोंमें असंगति ही असफलताका कारण थी, और एकताके प्रयत्नको जो मोड़ दिया गया वह तो जातिकी विशिष्ट मनोवृत्तिका ही विरोधी था।

भारतीय मनका संपूर्ण आधार है इसका आध्यात्मिक एवं अंतर्मुख झुकाव, आत्म-तत्त्व और अंतःसत्ताकी वस्तुओंको प्रथम और प्रधान रूपमें खोजने तथा अन्य सभी वस्तुओंको इस रूपमें देखनेकी इसकी प्रवृत्ति कि वे गौण एवं पराश्रित हैं, उच्चतर ज्ञानके प्रकाशमें ही व्यवहृत और निर्धारित करनेके योग्य हैं और गभीरतर आध्यात्मिक लक्ष्यकी एक अभिव्यक्ति है, उसका आरंभिक साधन या क्षेत्र या सहायक उपकरण अथवा कम-से-कम एक सहचारी तत्त्व हैं,—अतएव इसे जो कुछ निर्मित करना हो उसे पहले आंतरिक स्तरपर और बादमें ही उसके अन्य पहलुओंमें निर्मित करनेकी प्रवृत्ति। यह मनोवृत्ति और इसके परिणामस्वरूप अंदरसे बाहरकी ओर निर्माण करनेकी इस प्रवृत्तिको स्वीकार करते हुए, यह अनिवार्य ही था कि भारत सबसे पहले जिस ऐक्यको अपने लिये निर्मित करे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ऐक्य ही हो। सर्वप्रथम, वह कोई ऐसा राजनीतिक एकीकरण नहीं हो सकता था जो एक विजयी राज्यके द्वारा या सैनिक एवं संघटनकारी जातिकी प्रतिभाके द्वारा एक केंद्रीभूत, आरोपित या निर्मित बाह्य शासनकी सहायतासे साधित किया गया हो जैसा कि रोम या प्राचीन फारसमें किया गया था। मेरे विचारमें यह उचित रूपमें नहीं कहा जा सकता कि यह भारतीय मनकी एक भूल थी अथवा यह उसकी अव्यावहारिक प्रवृत्तिका एक प्रमाण था और एक अखंड राजनीतिक संगठनका निर्माण पहले करना चाहिये था और बादमें भारतके राष्ट्रीय साम्राज्यके विशाल संगठनमें आध्यात्मिक एकता सुरक्षित रूपमें विकसित हो सकती थी। आरंभमें जो समस्या उपस्थित थी वह यह थी कि एक विशाल भूभाग विद्यमान था जिसपर शताधिक राज्य, कुल, समाज, कबीले और जातियां निवास करती थीं, और जो इस बातमें एक दूसरा यूनान ही था, बल्कि यूनान भी एक बहुत बड़े पैमानेपर, लगभग आधुनिक यूरोप जितना ही विशाल। जिस प्रकार यूनानमें एकत्वकी मूल भावना उत्पन्न करनेके लिये सांस्कृतिक, यूनानी (Hellenic) एकता आवश्यक थी, उसी प्रकार यहां भी तथा उससे कहीं अधिक अनिवार्य रूपमें इन सब जातियोंकी

एक सचेतन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता पहली और अपरिहार्य शर्त थी जिसके बिना कोई भी स्थायी एकता संभव नहीं हो सकती थी। इस विषयमें भारतीय मनकी और भारतके महान् ऋषियों तथा उसकी संस्कृतिके संस्थापकोंकी सहजप्रवृत्ति सर्वथा युक्तियुक्त थी। और चाहे हम यह मान भी लें कि प्राचीन भारतकी जातियोंमें सैनिक और राजनीतिक साधनोंके द्वारा रोमन जगत्की एकता जैसी बाह्य साम्राजीय एकता स्थापित की जा सकती थी तो भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि रोमन एकता स्थायी नहीं रही, यहांतक कि रोमन विजय और संगठनके द्वारा स्थापित प्राचीन इटलीकी एकता भी स्थायी नहीं रही, और यह संभव नहीं था कि पहलेसे आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आधार स्थापित किये बिना भारतके विशाल क्षेत्रोंमें इस प्रकारका प्रयत्न स्थायी रूपमें सफल होता। भले ही यह दृढ़तापूर्वक कहा जाय कि आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकतापर अत्यंत अनन्य या अतिरंजित रूपमें बल दिया गया है और राजनीतिक एवं बाह्य एकतापर बहुत ही कम आग्रह किया गया है तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस तरह प्रधानता देनेका परिणाम केवल अनिष्टकारी ही हुआ है और इसका लाभ कुछ भी नहीं हुआ है। इस मौलिक विशिष्टता तथा इस अमिट आध्यात्मिक छापके कारण, समस्त विभिन्नताओंके बीच इस आधारभूत एकत्वके विद्यमान रहनेके कारण ही, भारत यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे अभी एक अखंड संघटित राष्ट्र नहीं है तो भी वह अभीतक जीवित है और अभीतक भारत ही है।

आखिरकार, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ही एकमात्र स्थायी एकता है और एक स्थायी भौतिक शरीर तथा बाह्य संगठनकी अपेक्षा कहीं अधिक एक सुस्थिर मन और आत्माके द्वारा ही किसी जातिकी अंतरात्मा जीवित रहती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे समझने या स्वीकार करनेके लिये पाश्चात्य मन अनिच्छुक हो सकता है और फिर भी इसके प्रमाण युगोंकी सम्पूर्ण कहानीके अंदर सर्वत्र लिखे पड़े हैं। भारतके समकालीन प्राचीन राष्ट्र और बहुतसे उसकी अपेक्षा अर्वाचीन राष्ट्र भी मर चुके हैं और केवल उनके स्मारक चिह्न ही उनके पीछे बच रहे हैं। यूनान और मिस्र केवल नक्शेपर और नामभरके लिये ही अस्तित्व रखते हैं, क्योंकि आज हम एथेन्स या काहिरामें जो चीज देखते हैं वह हेलस (Hellas) की अंतरात्मा, या मेम्फीज (Memphis)[1] का निर्माण करनेवाली गभीरतर राष्ट्रीय

---

[1] मिस्रकी प्राचीन राजधानी।

आत्मा नहीं है। रोमने भूमध्यसागरके आसपास रहनेवाली जातियोंपर राजनीतिक एवं निरी बाह्य सांस्कृतिक एकता थोपी थी, परंतु उनमें जीवंत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता वह उत्पन्न नहीं कर सका, और इसलिये पूर्व पश्चिमसे अलग हो गया, अफ्रीकाने मध्यवर्ती संक्षिप्त रोमन कालकी कोई भी छाप बची नहीं रहने दी, और यहांतक कि पश्चिमी राष्ट्र जो अभीतक लैटिन राष्ट्र कहलाते हैं बर्बर आक्रांताओंका कोई जीवंत प्रतिरोध नहीं कर सके और उन्हें आधुनिक इटली, स्पेन और फ्रांस बननेके लिये विदेशी जीवनशक्तिसे संचारित होकर पुनः जन्म लेना पड़ा। परंतु भारत अभीतक जीवित है और युगोंके भारतके साथ अपने आंतरिक मन, अंतरात्मा और आत्माके अविच्छिन्न संबंधको सुरक्षित रखे हुए है। उसके वैदिक ऋषियोंने उसके लिये जो शरीर बनाया था उसमेंसे उसकी प्राचीन आत्माको निकाल बाहर करने या कुचल डालनेमें आक्रमण और विदेशी शासन, यूनानी, पार्थियन और हूण, इस्लामकी दुर्दांत शक्ति, स्टीम रोलर (Steam-roller) के जैसा ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश राज्यप्रणालीका भारी-भरकम बोझ, पश्चिमका गुरुतर दबाव — ये सब असमर्थ हुए हैं। प्रत्येक पगपर, प्रत्येक संकट, आक्रमण और स्वेच्छाचारी शासनके समय, वह सक्रिय या निष्क्रिय प्रतिरोधके द्वारा मुकाबला करने और जीवित बचे रहनेमें समर्थ हुआ है। यह कार्य वह अपने महान् दिनोंमें अपनी आध्यात्मिक एकसूत्रताके तथा आत्मसात्करण और प्रतिक्रियाकी शक्तिके द्वारा करनेमें समर्थ हुआ, जो कुछ भी आत्मसात् होने योग्य नहीं था उस सबको उसने बहिष्कृत कर डाला, जो कुछ बहिष्कृत नहीं किया जा सकता था उस सबको आत्मसात् कर लिया, और ह्रासका आरंभ होनेके बाद भी वह उसी शक्तिके द्वारा जीवित रह सका जो कम तो हो गयी थी पर नष्ट नहीं की जा सकी थी, उसने पीछे हटकर कुछ समयतक दक्षिणमें अपनी प्राचीन राजनीतिक प्रणालीको सुरक्षित रखा, इस्लामका दबाव पड़नेपर अपनी प्राचीन आत्मा और अपनी भावनाकी रक्षा करनेके लिये राजपूतों, सिक्खों और मराठोंको झट उत्पन्न कर दिया, जहां वह सक्रिय रूपमें प्रतिरोध नहीं कर सका वहां निष्क्रिय रूपमें डटा रहा, जो भी साम्राज्य उसकी पहेलीका समाधान नहीं कर सका या उसके साथ समझौता नहीं कर सका उसे विध्वस्त हो जानेका दंड दे दिया, और बराबर अपने पुनरुज्जीवनके दिनकी प्रतीक्षा करता रहा। और आज भी हम अपनी आंखोंके सामने इसी प्रकारके दृश्यको घटित होते देख रहे हैं। और तब भला जो सभ्यता ऐसा चमत्कार कर सकी उसकी सर्वातिशयी जीवन-शक्तिके बारेमें हम क्या कहेंगे तथा उन लोगोंकी

बुद्धिमत्ताके बारेमें क्या कहेंगे जिन्होंने उसकी आधारशिला बाह्य वस्तुओंपर नहीं बल्कि आत्मा और आंतरिक मनपर स्थापित की और आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकताको भारतकी सत्ताका केवल भंगुर कुसुम नहीं वरन् इसकी सत्ताका मूल और तना बनाया, ऊपरकी नश्वर रचना नहीं वरन् सनातन भित्ति बनाया ?

परंतु आध्यात्मिक एकता एक विशाल एवं नमनशील वस्तु है और वह राजनीतिक एवं बाह्य एकताकी भांति केंद्रीकरण तथा एकरूपतापर आग्रह नहीं करती; वरंच वह राष्ट्रके संस्थानमें सर्वत्र व्याप्त हुई रहती है और जीवनकी अत्यधिक विविधता और स्वतंत्रताके लिये सहज ही अवकाश देती है। यहां हम प्राचीन भारतमें एकता स्थापित करनेकी समस्याकी कठिनाईके रहस्यका यत्किंचित् उल्लेख करेंगे। यह एक ऐसे केंद्रीभूत एकरूप साम्राजीय राज्यके साधारण साधनके द्वारा साधित नहीं की जा सकती थी जो स्वच्छंद विभिन्नता, स्थानीय स्वायत्त शासनों तथा सुप्रतिष्ठित सामुदायिक स्वाधीनताओंका समर्थन करनेवाली सभी वस्तुओंको कुचल डाले, और इस दिशामें जब-जब भी प्रयत्न किया गया तब-तब वह प्रतीयमान सफलताकी चाहे कितनी भी लंबी अवधिके बाद विफल ही हो गया, और हम यहांतक कह सकते हैं कि भारतकी भवितव्यताके रक्षकोंने बुद्धिमत्तापूर्वक ही उसे विफल होनेके लिये विवश किया ताकि इसकी आभ्यंतरिक आत्मा नष्ट न हो जाय और इसकी अंतरात्मा अस्थायी सुरक्षाके इंजनके बदलेमें अपने जीवनके गभीर स्रोतोंको न बेच डाले। भारतके प्राचीन मनको अपनी आवश्यकताका सहजज्ञान था; साम्राज्यके विषयमें उसका विचार यह था कि यह एक ऐसा एकीकारक शासन होना चाहिये जो प्रत्येक वर्तमान प्रादेशिक एवं सामाजिक स्वाधीनताका सम्मान करे तथा किसी भी जीवित स्वायत्त-शासनको अनावश्यक रूपसे कुचल न डाले और जो भारतका यांत्रिक एकत्व नहीं वरन् इसके जीवनका समन्वय साधित करे। आगे चलकर वे अवस्थाएं लुप्त हो गयीं जिनमें ऐसा समाधान सुरक्षित रूपसे विकसित होकर अपना सच्चा साधन, आकार और आधार प्राप्त कर सकता था, और इसके स्थानपर एक ही प्रशासनिक साम्राज्य स्थापित करनेका यत्न किया गया। वह प्रयास तात्कालिक और बाह्य आवश्यकताके दबावसे परिचालित हुआ तथा अपनी महानता और तेजस्विताके होते हुए भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त कर सका। वह सफल हो भी नहीं सकता था क्योंकि उसने एक ऐसी दिशाका अनुसरण किया जो, अंततः, भारतीय भावनाके वास्तविक झुकावके साथ संगत नहीं थी। हम

देख ही चुके हैं कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक प्रणालीका मूलभूत सिद्धांत था सामुदायिक स्वायत्त-शासनों, अर्थात् ग्रामके, नगर और राजधानीके, जाति, निगम, कुल, धार्मिक समाज एवं प्रादेशिक इकाईके स्वायत्त शासनोंका समन्वय। राष्ट्र या राज्य या संघबद्ध गणराज्य इन स्वायत्त-शासनोंको एक सूत्रमें आबद्ध करके स्वतंत्र तथा जीवंत सुघटित प्रणालीमें समन्वित करनेका एक साधन था। सर्वप्रधान समस्या यह थी कि फिर इन राज्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें एकता लाते हुए पर इनके स्वायत्त-शासनका सम्मान करते हुए इन्हें एक विशालतर स्वतंत्र एवं जीवंत संस्थानके रूपमें कैसे समन्वित किया जाय। एक ऐसे शासनतंत्रको खोज निकालना आवश्यक था जो अपने सदस्योंमें शांति और एकताको बनाये रखे, बाह्य आक्रमणके विरुद्ध सुरक्षाकी सुनिश्चित व्यवस्था करे और, अपनी एकता तथा विविधतामें, अपनी सभी अंगभूत सामुदायिक एवं प्रादेशिक इकाइयोंके अप्रतिहत और सक्रिय जीवनमें, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अंतरात्मा और देहके, तथा बृहत् और पूर्ण परिमाणमें धर्मके क्रियान्वयनके उन्मुक्त विलास एवं विकासको एक सर्वांगीण रूप प्रदान करे।

भारतका प्राचीनतर मन प्रस्तुत समस्याका यही अर्थ समझता था। परवर्ती युगके प्रशासनिक साम्राज्यने इसे केवल आंशिक रूपमें ही स्वीकार किया, परंतु उसकी प्रवृत्ति, जैसी कि केंद्रीकारक प्रवृत्ति सदा ही हुआ करती है, यह थी कि अधीनस्थ स्वायत्त-शासनोंकी शक्तिको यदि सक्रिय रूपमें नष्ट न भी किया जाय तो भी, अत्यंत धीमे-धीमे और अवचेतनसे रूपमें, उसे क्षीण और जर्जर तो कर ही दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि जब कभी केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई, प्रादेशिक स्वायत्त-शासनके सुदृढ़ सिद्धांतने जो भारतके जीवनके लिये अत्यावश्यक था, सुस्थापित कृत्रिम एकताको हानि पहुंचाकर फिरसे अपना अधिकार जमा लिया, पर, उसने, जैसा कि उसे करना चाहिये था, इस बातके लिये यत्न नहीं किया कि संपूर्ण जीवन सुसमंजस रूपमें सबल हो जाय तथा अधिक स्वतंत्रतापूर्वक पर फिर भी संयुक्त होकर कार्य करता रहे। चक्रवर्ती राज्यकी प्रवृत्ति भी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाओंकी शक्तिको जर्जरित करनेकी ओर ही थी, और इसका परिणाम यह हुआ कि सामुदायिक इकाइयां संयुक्त बलके अंग होनेके बदले पृथग्भूत और विभाजक तत्त्व बन गयीं। ग्राम-समाजने अपनी शक्तिको कुछ-कुछ सुरक्षित रखा, परंतु सर्वोच्च शासन-सत्ताके साथ उसका कोई जीवंत संबंध नहीं रहा और, विशालतर राष्ट्रीय भावनाको खोकर वह किसी भी स्वदेशी या विदेशी शासनको जो उसके अपने आत्म-निर्भर संकीर्ण

जीवनका सम्मान करता हो, स्वीकार करनेको उद्यत रहता था। धार्मिक समाज भी इसी भावनाके रंगमें रंग गये। जातियां किसी वास्तविक आवश्यकताके बिना किंवा देशकी आध्यात्मिक या आर्थिक आवश्यकताके साथ कोई सच्चा संबंध रखे बिना योंही बढ़ती चली गयीं और केवल अलंघ्य एवं रूढ़ विभाजन बन गयीं; अब वे, जैसी कि वे मूल रूपमें थीं, समग्र जीवन-समन्वयके सुसंमजस कार्य-निर्वाहके साधन न रहकर एक पृथक् करने-वाली शक्ति बन गयीं। यह बात सत्य नहीं है कि प्राचीन भारतमें जाति-भेद लोगोंके संयुक्त जीवनमें बाधक थे या वे पीछेके समयमें भी राजनीतिक कलह और फूट पैदा करनेवाली एक सक्रिय शक्ति थे,—निःसंदेह, अंतमें जाकर, चरम अवनतिके समय, और विशेषकर मराठा राज्य-संघके परवर्ती इतिहासके समय वे ऐसे ही हो गये; परंतु वे सामाजिक विभाजन और गतिहीन उपविभागवादकी एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति अवश्य बन गये जो सक्रिय रूपसे संयुक्त स्वतंत्र जीवनके पुनर्निर्माणमें बाधा डालती थी।

जाति-प्रथाके साथ जो-जो भी बुराइयां जुड़ी हुई थीं वे सबकी सब मुस्लिम आक्रमणोंसे पहले किसी प्रबल रूपमें प्रकट नहीं हुई थीं, परंतु अपने आरंभिक रूपमें वे अवश्य पहलेसे ही विद्यमान रही होंगी और पठान तथा मुगल साम्राज्योंद्वारा उत्पन्न अवस्थाओंमें वे तेजीसे बढ़ गयीं। ये बादकी साम्राज्य-प्रणालियां चाहे कितनी ही भव्य और शक्तिशाली क्यों न हों, अपने तानाशाही स्वरूपके कारण केंद्रीकरणकी बुराइयोंकी अपनेसे पहलेकी राज्यप्रणालियोंकी अपेक्षा भी अधिक शिकार रहीं और भारतके प्रादेशिक जीवनकी कृत्रिम एकात्मक शासन (Unitarian regime) के विरुद्ध अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी उसी प्रवृत्तिके कारण निरंतर छिन्न-भिन्न होती रहीं, जब कि जनताके जीवनके साथ कोई सच्चा, जीवंत और स्वतंत्र संबंध न होनेके कारण ये उस सार्वजनीन देशभक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं जो इन्हें विदेशी आक्रांताके विरुद्ध सफल रूपमें सुरक्षित रखती। और इन सबके अंतमें आया है एक यांत्रिक पश्चिमी शासन जिसने अबतक विद्यमान सभी सामुदायिक या प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंको कुचल डाला है और उनके स्थानपर मशीनकी निर्जीव एकता स्थापित कर दी है। परंतु फिर इसके विरुद्ध एक प्रतिक्रियाके रूपमें हम उन्हीं प्राचीन प्रवृत्तियोंको पुनरु-ज्जीवित होते देख रहे है, वे हैं—भारतीय जातियोंके प्रादेशिक जीवनके पुनर्निमाणकी प्रवृत्ति, जाति और भाषाके सच्चे उपविभाजनोंपर आधारित प्रांतीय स्वायत्त-शासनकी मांग, विलुप्त ग्राम-समाजको राष्ट्र-शरीरके स्वाभा-

विक जीवनके लिये आवश्यक एक सजीव इकाई मानते हुए इसके आदर्शकी ओर भारतीय मनका प्रत्यावर्तन, और भारतीय जीवनके लिये उपयुक्त सामुदायिक आधारके विषयमें एक अधिक ठीक विचार जो अभीतक पुनः प्रादुर्भूत तो नहीं हुआ पर अधिक उन्नत मनवाले लोगोंको अस्पष्ट रूपमें अपनी झलक दिखाना आरंभ कर रहा है, तथा एक आध्यात्मिक आधार-पर भारतीय समाज और राजनीतिका पुनर्नवीकरण और पुनर्निर्माण।

अतएव, भारतकी एकता साधित करनेमें जो असफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप पहले तो इसपर आक्रमण होते रहे और अंतमें इसे विदेशी शासनके अधीन होना पड़ा, उसका कारण यह था कि यह कार्य अत्यंत विस्तृत और साथ ही निराले ढंगका था, क्योंकि केंद्रीभूत साम्राज्यकी सुगम प्रणाली भारतमें सच्चे अर्थमें सफल नहीं हो सकी, जब कि फिर भी यही एकमात्र संभव उपाय प्रतीत होती थी और इसका पुनः-पुनः प्रयोग किया गया तथा उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई जिससे उस समय एवं दीर्घ कालतक ऐसा जान पड़ा कि यह एक समुचित उपाय है, पर अंतमें सदा असफलता ही हाथ लगी। इस बातकी ओर मैं संकेत कर ही चुका हूं कि भारतका प्राचीन मन इस समस्याके वास्तविक स्वरूपको अधिक अच्छी तरह समझता था। वैदिक ऋषियों और उनके उत्तराधिकारियोंने अपना प्रधान कार्य यही बनाया था कि भारतीय जीवनका आध्यात्मिक आधार स्थापित किया जाय और इस प्रायद्वीपकी अनेकानेक जातियोंको आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकताके सूत्रमें पिरोया जाय। परंतु राज-नीतिक एकीकरणकी आवश्यकताकी ओरसे उन्होंने आंखें नहीं मूंद रखी थीं। उन्होंने आर्य जातियोंके कुल-जीवनकी विभिन्न आकारवाले राज्यसंघों तथा राज्यमंडलोंके, वैराज्य और साम्राज्यके अधीन संगठित होनेकी अटल प्रवृत्ति-का निरीक्षण किया और देखा कि इस धाराका इसके पूर्ण परिणामतक अनुसरण करना ही ठीक मार्ग है और अतएव उन्होंने चक्रवर्ती राजाके, अर्थात् एक ऐसे एकीकारक साम्राजीय शासनके आदर्शका विकास किया जो एक समुद्रसे दूसरे समुद्रतकके भारतके अनेक राज्यों और जातियोंके स्वायत्त-शासनको ध्वस्त किये बिना उन्हें एक कर दे। इस आदर्शको उन्होंने, भारतीय जीवनकी अन्य प्रत्येक वस्तुकी भांति, आध्यात्मिक एवं धार्मिक स्वीकृतिके द्वारा समर्थित किया, इसके बाह्य प्रतीकके रूपमें अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंका आदर्श स्थापित किया और यह निश्चित कर दिया कि शक्तिशाली राजाका धर्म किंवा उसका राजोचित और धार्मिक कर्तव्य यह है कि वह इस आदर्शकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करे। धर्म उसे इस बातकी

अनुमति नहीं देता था कि वह अपने शासनके अधीन होनेवाली जातियोंकी स्वतंत्रताका अपहरण करे अथवा उनके राजवंशोंको सिंहासनसे च्युत या विनष्ट कर दे या उनके शासकोंके स्थानपर अपने पदाधिकारियों एवं शासकोंको आसीन कर दे। उसका कर्तव्य एक ऐसी सर्वोपरि सत्ताकी स्थापना करना था जो इतनी काफी सैनिक शक्तिसे युक्त हो कि आंतरिक शांतिकी रक्षा कर सके और आवश्यकता पड़नेपर देशकी संपूर्ण सैन्य-शक्तियोंको समवेत कर सके। और इस प्राथमिक कर्तव्यमें पीछेसे यह आदर्श भी जोड़ दिया गया कि एक शक्तिशाली ऐक्यसाधक सत्ताके अधीन भारतीय धर्मका पूर्णतया पालन कराया जाय तथा उसकी रक्षा की जाय और भारतकी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक संस्कृति अपना कार्य यथावत् करती रहे।

इस आदर्शका पूर्ण विकास हमारे उत्कृष्ट महाकाव्योंमें दृष्टिगोचर होता है। महाभारत ऐसे साम्राज्य अर्थात् धर्मराज्यकी स्थापनाके काल्पनिक या, संभवतः, ऐतिहासिक प्रयत्नका लेखा है। वहां इस आदर्शको ऐसे अलंघ्य एवं सर्वमान्य रूपमें चित्रित किया गया है कि उद्दंड शिशुपालको भी इस आधारपर कि युधिष्ठिर एक धर्म-निर्दिष्ट कार्य कर रहे हैं, उनके राजसूय यज्ञमें निज प्रेरणासे भाग लेते और अधीनता स्वीकार करते दिखाया गया है। और रामायणमें हमें ऐसे धर्मराज्य, सुप्रतिष्ठित विश्वसाम्राज्यका एक आदर्शात्मक चित्र मिलता है। यहां भी जिस राज्यप्रणालीको आदर्शके रूपमें प्रस्थापित किया गया है वह कोई तानाशाही निरंकुश शासन नहीं बल्कि एक ऐसा सार्वभौमिक राजतंत्र है जिसे नगरों और प्रांतोंकी तथा सभी वर्गोंकी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाका समर्थन प्राप्त है, अर्थात् वह राजतंत्रात्मक राज्यका ही एक विस्तार है जो भारतीय राज्यप्रणालीके सामुदायिक स्वायत्त-शासनोंको समन्वित करता है और धर्मके नियम एवं संविधानकी रक्षा करता है। विजयके जिस आदर्शकी यहां स्थापना की गयी है वह कोई ऐसा विनाशकारी एवं लूट-पाट करनेवाला आक्रमण नहीं है जो विजित जातियोंकी मौलिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओंको विनष्ट कर दे तथा उनकी आमदनीके साधनोंका शोषण कर डाले, बल्कि यह तो एक प्रकारकी यज्ञीय प्रगति है जिसमें सैनिक शक्तिकी परीक्षा की जाती थी और उस परीक्षाका परिणाम आसानीसे स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि पराजयके कारण न तो अपमान भोगना पड़ता था और न दासता एवं कष्ट, बल्कि केवल, पराजितको सर्वोपरि सत्ताके साथ संयुक्त होना पड़ता था जिससे उसकी शक्तिमें वृद्धि ही होती थी और उस सर्वोपरि सत्ताका उद्देश्य केवल राष्ट्र और धर्मकी प्रत्यक्ष एकता

स्थापित करना ही होता था। प्राचीन ऋषियोंका आदर्श स्पष्ट ही है, तथा भारतभूमिकी विभक्त और परस्पर लड़ती हुई जातियोंको एकतामें बांधनेकी राजनीतिक उपयोगिता और आवश्यकता उन्होंने स्पष्ट रूपसे अनुभव कर ली थी, पर उन्होंने यह भी देख लिया था कि इसकी प्राप्ति प्रादेशिक जातियोंके स्वतंत्र जीवनकी या सामुदायिक स्वाधीनताकी बलि देकर नहीं करनी चाहिये और अतएव केंद्रीभूत राजतंत्र या कठोरतः-एकात्मक साम्राजीय राज्यके द्वारा नहीं करनी चाहिये। वे जनताके मनपर जिस कल्पनाको दृढ़तया अंकित करना चाहते थे उसे (मिलते-जुलते, निकटतम) पाश्चात्य शब्दोंमें प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि वह एक सम्राट्के छत्रके अधीन एक सर्वोपरि प्रभुत्व या एक राज्यसंघकी कल्पना थी।

इस बातका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि यह आदर्श कभी सफलतापूर्वक चरितार्थ किया गया था, यद्यपि महाकाव्यकी परंपरा युधिष्ठिरके धर्मराज्यसे पहलेके ऐसे कई साम्राज्योंकी चर्चा करती है। बुद्धके समय और बादमें जब चंद्रगुप्त और चाणक्य प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्यका निर्माण कर रहे थे, भारतवर्षमें अभी स्वतंत्र राज्य तथा गणराज्य छाये हुए थे और सिकंदरके महान् आक्रमणका सामना करनेके लिये कोई भी एकीभूत साम्राज्य विद्यमान नहीं था। यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई सर्वोपरि सत्ता पहलेसे विद्यमान थी, तो वह दृढ रूपसे स्थायी रहने-वाले किसी साधन या प्रणालीको ढूढ़ निकालनेमें असफल ही रही थी। तथापि यदि इसके लिये समय मिलता तो संभवतः यह विकसित हो सकती, पर इस बीच देशकी स्थितिमें एक गुरुतर परिवर्तन आ गया जिसका अवि-लंब समाधान ढूढ़ना अत्यंत अनिवार्य हो उठा। भारतीय प्रायद्वीपकी ऐति-हासिक दुर्बलता आधुनिक कालतक सर्वदा यही रही है कि उत्तर-पश्चिमी दर्रोंके द्वारा इसपर आक्रमण करना संभव रहा है। जबतक प्राचीन भारत उत्तरकी ओर सिंधु नदीके परे दूर-दूरतक फैला हुआ था और गांधार तथा वाह्लीक देशोंके शक्तिशाली राज्य विदेशी आक्रमणके विरुद्ध एक मजबूत किलेबंदीका काम करते थे तबतक इस दुर्बलताका नाम-निशान नहीं था। परंतु वे राज्य अब फारसके संगठित साम्राज्यके आगे ध्वस्त हो चुके थे और तबसे लेकर सिंधु-पारके देश भारतका भाग न रहनेके कारण उसके रक्षक भी नहीं रहे और इसके बजाय एकके बाद एक आनेवाले सभी आक्रांताओंके लिये सुरक्षित सैनिक-केंद्र बन गये। सिकंदरके आक्रमणने भारतके राज-नीतिक मनीषियोंको संकटकी विशालता पूर्ण रूपसे अनुभव करा दी और हम देखते हैं कि उस समयसे यहांके कवि, लेखक और राजनीतिक विचारक

बराबर ही चक्रवर्ती राज्यके आदर्शको उद्घोषित करने लगे अथवा इसे चरितार्थ करनेके उपाय सोचने लगे। इसके क्रियात्मक परिणामके रूपमें तुरंत ही एक साम्राज्यका उदय हुआ जिसे चाणक्यने अपनी राजनीतिज्ञताके द्वारा अद्भुत शीघ्रताके साथ स्थापित किया और जिसे, दुर्बलता तथा आरंभिक विघटनके कालोंके आनेपर भी, क्रमशः मौर्य, शुंग, कण्व, आंध्र और गुप्त राजवंशोंने आठ-नौ सदियोंतक निरंतर कायम रखा या पुनः-पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस साम्राज्यका इतिहास, इसका आश्चर्यजनक संगठन, प्रशासन और सार्वजनिक निर्माण-कार्य, इसकी समृद्धता और प्रतापशाली संस्कृति तथा इसकी छत्रछायामें भारत-प्रायद्वीपके जीवनकी शक्तिशालिता, तेजस्विता एवं भव्य उर्वरता इधर-उधर बिखरे पड़े अपर्याप्त अभिलेखोंमें ही प्रकट होती है, किंतु यह उन महान्से महान् साम्राज्योंकी श्रेणीमें आता है जिनकी रचना और रक्षा संसारकी महान् जातियोंकी प्रतिभाने की है। इस दृष्टिकोणसे ऐसा कोई कारण नहीं कि भारत साम्राज्य-निर्माणके क्षेत्रमें अपनी प्राचीन सफलतापर गर्व न अनुभव करे अथवा उस उतावले निर्णयके आगे शीश नवावें जो उसकी पुरातन सभ्यतामें सशक्त व्यावहारिक प्रतिभा या उच्च राजनीतिक गुणके अस्तित्वसे इंकार करता है।

तथापि एक अपरिहार्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिये की गयी इस साम्राज्यकी प्रथम रचनामें जिस अनिवार्य उतावली, जोर-जबर्दस्ती एवं कृत्रिमतासे काम लिया गया उसके कारण इसे बहुत क्षति पहुंची, क्योंकि उसने इसे प्राचीन ठोस भारतीय शैलीके अनुसार भारतके गभीरतम आदर्शके सत्यके एक सुचिंतित, स्वाभाविक एवं सुस्थिर विकासके रूपमें नहीं पनपने दिया। केंद्रित साम्राजीय राजतंत्रको स्थापित करनेका प्रयत्न अपने साथ प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंके स्वतंत्र समन्वयको न लाकर उनके विध्वंसका कारण बना। यद्यपि भारतीय सिद्धांतके अनुसार उनकी संस्थाओं और प्रथाओंका सम्मान किया गया और प्रारंभमें उनकी राजनैतिक संस्थाओंको भी, कम-से-कम अनेक प्रदेशोंमें, पूर्णतः नष्ट नहीं किया गया, वरन् केवल साम्राजीय प्रणालीके अंदर सम्मिलित ही किया गया, तथापि साम्राज्यके केंद्रीकरणकी छायाके तले ये वास्तविक रूपमें फल-फूल नहीं सकीं। प्राचीन भारतीय जगत्के स्वतंत्र जन-समुदाय लुप्त होने लगे, उनके टूटे-फूटे उपादानोंने बादमें जाकर वर्तमान भारतीय जातियोंकी सृष्टि करनेमें सहायता की। और मेरे विचारमें मोटे तौरपर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यद्यपि महान् जन-सभाएं दीर्घकालतक शक्तिशाली बनी रहीं, फिर भी अंतमें उनका कार्य अधिक यान्त्रिक बनता चला गया और उनकी

जीवनीशक्ति क्षति और अवनतिको प्राप्त होने लगी। पौर गणराज्य भी अधिकाधिक, संगठित राज्य या साम्राज्यकी नगर-पालिकाएंमात्र बनते चले गये। साम्राज्यके केंद्रीकरणसे उत्पन्न मानसिक अभ्यासोंन और अतीतकी अधिक गौरवपूर्ण स्वतंत्र लोक-संस्थाओंकी दुर्बलता या उनके विलोपने एक प्रकारकी आध्यात्मिक खाई पैदा कर दी। उस खाईके एक ओर तो थे शासित जन जो किसी भी ऐसी सरकारसे संतुष्ट थे जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करे तथा उनके धर्म, जीवन और रीति-रिवाजोंमें अत्यधिक हस्तक्षेप न करे और उसके दूसरी ओर था साम्राजीय प्रशासन जो कल्याणकारी और भव्य तो अवश्य था, पर अब पहलेकी तरह, एक स्वतंत्र एवं जीवित-जागृत जातिका वह जीवंत शीर्ष-संगठन नहीं रहा था जिसकी परिकल्पना भारतके प्राचीनतर एवं वास्तविक राजनीतिक मनने की थी। ये परिणाम सुस्पष्ट और सुनिश्चित रूपमें तो तभी सामने आये जब कि ह्रास आरंभ हुआ, पर बीज-रूपमें ये वहां पहलेसे ही विद्यमान थे और एकीकरणकी यांत्रिक पद्धतिका अवलंबन करनेसे ये लगभग अनिवार्य ही हो उठे थे। इससे जो लाभ प्राप्त हुए वे थे एक अधिक प्रबल एवं सुसंघटित सैनिक कार्रवाई तथा एक अधिक व्यवस्थाबद्ध एवं एकरूप प्रशासन, पर भारतवासियोंके मन और स्वभावको सच्चे रूपमें अभिव्यक्त करनेवाले स्वतंत्र एवं सुघटित वैविध्ययुक्त जीवनको इससे जो क्षति पहुंची उसे ये लाभ अंततः पूरा नहीं कर सके।

एक और, इनसे भी बुरा परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रका मानस धर्मके उच्च आदर्शसे कुछ अंशमें पतित हो गया। प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये एक राज्यका दूसरे राज्यके साथ जो संघर्ष हुआ उसमें माकियावेली-के-से (Machiavellian) राजकौशलके अभ्यासने भूतकालके श्रेष्ठतर नैतिक आदर्शोंका स्थान ले लिया, आक्रमणात्मक महत्त्वाकांक्षाको किसी पर्याप्त आध्यात्मिक या नैतिक नियंत्रणके बिना खुला छोड़ दिया गया और राजनीति एवं शासनकी नैतिकताके विषयमें राष्ट्रका मानस स्थूल बन गया जिसका प्रमाण मौर्य कालके निष्ठुर दंडविधानमें और अशोकके रक्तपातपूर्ण उड़ीसा-विजयमें पहले ही मिल चुका था। परंतु एक धार्मिक भावना और उच्च बुद्धिके कारण इस साम्राज्यका ह्रास रुका रहा और इसके बाद हजार सालसे भी अधिक लंबे समयतक वह (ह्रास) अपनी पराकाष्ठाको नहीं पहुंच सका। हां, अधःपतनके निकृष्टतम कालमें ही हम उसे पूरे जोरोंपर देखते हैं जब कि अनियंत्रित पारस्परिक आक्रमण, राजाओं और सरदारोंके उद्दाम अहंकार तथा शक्तिशाली ऐक्यकी प्राप्तिके लिये किसी राजनीतिक

सिद्धांत एवं सामर्थ्यके पूर्ण अभावने, सार्वजनीन देशभक्तिके अभावने और शासकोंके परिवर्तनके प्रति जनसाधारणकी परंपरागत उपेक्षावृत्तिने इस सारे विशाल प्रायद्वीपको समुद्र-पारसे आनेवाले मुट्ठीभर सौदागरोंके हाथमें सौंप दिया। परंतु इन बुरे-से-बुरे परिणामोंके आनेमें चाहे कितनी ही देर क्यों न लगी हो और साम्राज्यकी राजनीतिक महानता तथा भव्य बौद्धिक एवं कलात्मक संस्कृतिके कारण एवं पुनः-पुनः होनेवाले आध्यात्मिक जागरणोंके कारण आरंभमें इनका कितना ही प्रतिकार एवं अवरोध क्यों न किया गया हो फिर भी पीछेके गुप्तवंशीय राजाओंके समयतक भारत अपनी जातियोंके राजनीतिक जीवनमें अपनी सच्ची मानसिकता एवं अंतरतम भावनाके स्वाभाविक एवं पूर्ण विकासकी संभावनाको खो चुका था।

इस बीच इस साम्राज्यने उस उद्देश्यको जिसके लिये इसका निर्माण हुआ था, पूर्ण रूपसे तो नहीं पर काफी अच्छी तरहसे पूरा किया, अर्थात् इसने भारतभूमि और भारतीय सभ्यताको बर्बरोंकी हलचलकी उस बड़ी भारी बाढ़से बचाया जिसने सभी प्राचीन सुस्थिर संस्कृतियोंको आतंकित कर दिया था और जो अंतमें इतनी बलवत्तर सिद्ध हुई कि समुन्नत यूनानी-रोमन सभ्यता एवं विशाल और शक्तिशाली रोमन साम्राज्य उसके आगे नहीं टिक सका। वह हलचल टयूटनों, स्लावों, हूणों और शकों (Seythians) को बड़ी भारी संख्यामें पश्चिम, पूर्व तथा दक्षिणकी ओर फेंकती हुई अनेक सदियोंतक भारतके द्वारोंपर प्रबल प्रहार करती रही, कई बार एकाएक आक्रमण भी हुए, पर जब यह हलचल शांत हुई तो भारतीय सभ्यताका विशाल प्रासाद ज्यों-का-त्यों खड़ा था और वह तबतक भी दृढ़, महान् तथा सुरक्षित बना रहा। जब कभी यह साम्राज्य दुर्बल हुआ, तभी आक्रमण हुए और ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी देश कुछ समयके लिये (आक्रमणोंसे) सुरक्षित रहा तभी ऐसी (दुर्बलताकी) अवस्था भी उत्पन्न हो गयी। जिस आवश्यकताने साम्राज्यको जन्म दिया था उसकी पूर्ति न होनेपर साम्राज्य कमजोर पड़ जाता था, क्योंकि तब प्रादेशिक भावना पृथक्त्ववादी आंदोलनोंके रूपमें फिरसे जाग उठती थी और वे आंदोलन साम्राज्यके ऐक्यको छिन्न-भिन्न कर देने अथवा संपूर्ण उत्तरमें इसके बृहत् विस्तारको नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे। कोई नया संकट एक नये राजवंशके अधीन इसकी शक्तिको पुनरुज्जीवित कर देता था, परंतु यह घटना अपने-आपको बारंबार दुहराती रही, जब कि अंतमें संकटके बहुत समयके लिये दूर हो जानेपर, उसका सामना करनेके लिये निर्मित साम्राज्य नष्ट हो गया, यहांतक कि फिर जीवित ही न हो सका। यह अपने पीछे पूर्व, दक्षिण और

केंद्रमें कुछ एक महान् साम्राज्य छोड़ गया और साथ ही उत्तर-पश्चिममें बहुत अधिक अव्यवस्थित जातियोंका एक समूह छोड़ गया। यह उत्तर-पश्चिमी प्रदेश एक छिद्र-स्थल था जहांसे मुसलमान बलपूर्वक घुस आये और थोड़े ही समयमें उन्होंने उत्तरमें फिरसे प्राचीन, पर एक अन्य, अर्थात् मध्य-एशियाई ढंगके साम्राज्यका निर्माण कर लिया।

इन अधिक प्राचीन विदेशी आक्रमणों तथा इनके परिणामोंको इनके वास्तविक आकार-प्रकारमें देखना होगा, जो प्राच्य विद्वानोंके अतिरंजित सिद्धांतोंके द्वारा प्रायः विकृत कर दिया जाता है। सिकंदरका आक्रमण यूनानी जातिका पूर्वकी ओर बढ़नेका आवेग था। उसके लिये पश्चिमी और मध्य एशियामें तो कुछ कार्य करनेको था पर भारतमें उसका अपना कोई भविष्य नहीं था। चन्द्रगुप्तके द्वारा तुरंत उखाड़ फेंके जानेके बाद उसका नाम-निशानतक नहीं रहा। बादके मौर्यवंशी राजओंकी दुर्बलताके समय यूनानी मध्य-एशियाई लोगों (Graeco-Bactrians) ने जो आक्रमण किया और जिसे पुनः उठते हुए भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने निष्फल कर दिया, वह एक यूनानी भावापन्न जातिका आक्रमण था जो पहलेसे ही भारतीय संस्कृतिके द्वारा गहरे रूपमें प्रभावित हो चुकी थी। पीछेके पार्थियन, हूण और शक जातियोंके आक्रमण अधिक भयानक प्रकारके थे और कुछ समयतक तो वे भारतकी अखंडताके लिये संकटपूर्ण ही प्रतीत हुए। तथापि अंतमें उन्होंने केवल पंजाबको ही प्रबल रूपसे प्रभावित किया यद्यपि उन्होंने पश्चिमी तटकी ओर बहुत दूर दक्षिणतक भी अपनी लहरें फेंकी और दक्षिणकी ओर वहुत नीचेतक कुछ समयके लिये विदेशी जातिके राजवंश प्रतिष्ठित हो गये होंगे। इन भागोंके जातीय स्वभावपर कहांतक प्रभाव पड़ा इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पूर्वीय विद्वानों एवं जाति-तत्त्ववेत्ताओंने कल्पना की है कि पंजाब शक-जातिमें ही परिणत हो गया था, राजपूत उसी शक-वंशके हैं और बहुत दूर दक्षिणतक भी भारतीय रक्तमें इस आक्रमणके कारण परिवर्तन आया था। इन कल्पनाओंके आधारमें प्रमाण बहुत ही कम हैं अथवा हैं ही नहीं तथा अन्य सिद्धांतोंके द्वारा भी ये खंडित हो जाती हैं, और यह अत्यंत संदेहपूर्ण है कि बर्बर आक्रांता इतनी बड़ी संख्यामें आ सके हों जिससे कि इतना बड़ा परिणाम उत्पन्न हो जाय। और फिर यह बात इस तथ्यके द्वारा भी असंभवनीय सिद्ध हो जाती है कि एक या दो या तीन पीढ़ियोंमें आक्रांता पूर्ण रूपसे भारतीय बन गये, उन्होंने भारतीय धर्म, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज एवं संस्कृतिको पूर्ण रूपसे ग्रहण कर लिया और भारतीय जन-

समुदायमें घुल-मिल गये। रोमन साम्राज्यके देशोंकी भांति इस देशमें ऐसी कोई भी घटना नहीं हुई कि बर्बर जातियोंने एक उत्कृष्टतर सभ्यतापर अपने नियम, अपनी राजनीतिक प्रणाली, अपने बर्बर रीति-रिवाज एवं विदेशी शासन थोप दिये हों। इन आक्रमणोंका यह एक सर्व-सामान्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है और इसका कारण इन तीनमेंसे कोई एक या तीनों रहे होंगे। संभव है कि आक्रामक लोग जातियां न होकर फौजें हों: उनका आधिपत्य कोई ऐसा स्थायी बाह्य शासन नहीं था जिसे अपने विदेशी रूपमें दृढ़ होनेका अवसर मिले, क्योंकि प्रत्येक आक्रमणके बाद भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने पुनः जीवित होकर विजित प्रांतोंको फिरसे स्वायत्त कर लिया: और अंतमें, भारतीय संस्कृतिका प्रबलतया प्राणवंत एवं सात्म्यकारी स्वरूप इतना शक्तिशाली था कि आक्रमणकारियोंमें आत्मसात्करणके प्रति किसी मानसिक प्रतिरोधके रहनेके लिये अनुमति या अवकाश नहीं दे सकता था। कुछ भी हो, यदि ये आक्रमण अपने रूप-स्वरूपमें बहुत ही बड़े थे तो यह मानना होगा कि भारतीय सभ्यताने अपने-आपको उस अपेक्षाकृत नयी यूनानी-रोमन सभ्यतासे अत्यधिक सबल, जीवंत और ठोस प्रमाणित किया जो टयूटनों और अरबोंके आगे अभिभूत हो गयी अथवा उनके अधीन होकर एवं एक ऐसे हीन रूपमें ही जीवित रही जो अत्यधिक बर्बर और जीर्ण-शीर्ण हो गया था तथा पहचाना भी नहीं जा सकता था। और यह भी घोषित करना होगा कि आखिर भारतीय साम्राज्य अपनी दृढ़ता और महानताके समस्त गर्वसे युक्त रोमन साम्राज्यकी अपेक्षा अधिक क्षमताशाली सिद्ध हुआ है, क्योंकि पश्चिममें क्षत-विक्षत होनेपर भी वह इस प्रायद्वीपके बहुत बड़े भागको सुरक्षित बनाये रखनेमें सफल हुआ।

वास्तवमें आगे चलकर जो पतन हुआ, मुसलमानोंकी जो विजय हुई जो पहले तो अरबोंके हाथों असफल हो चुकी थी पर बहुत लंबी अवधिके बाद जिसकी फिरसे चेष्टा की गयी और जो सफल भी हुई, और उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह सब भारतीय जातियोंकी क्षमतापर किये गये संदेहोंको उचित ठहराता है। पर यहां सबसे पहले हम उन कतिपय मिथ्या धारणाओंको दूर कर दें जो वास्तविक प्रश्नको आच्छादित कर देती हैं। यह विजय उस समय संपन्न हुई जब प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृतिकी जीवनी-शक्ति कर्म और सृजनके दो सहस्र वर्षोंके बाद कुछ समयके लिये क्षीण हो चुकी थी या फिर अपनी क्षीणताके बहुत निकट पहुंच गयी थी और उसे संस्कृतसे जन-भाषाओंकी ओर तथा नयी बनती हुई प्रादेशिक जातियोंकी ओर संक्रमण करके अपने अंदर नवयौवनका

संचार करनेके लिये सांस लेनेका अवकाश चाहिये था। उत्तरमें यह विजय काफी शीघ्रताके साथ प्राप्त हो गयी, यद्यपि वहां भी यह सर्वथा पूर्ण तो कई शताब्दियोंतक नहीं हो सकी, परंतु दक्षिणने, जैसे पूर्वकालमें प्राचीनतर देशीय साम्राज्यके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रखा था उसी प्रकार अब भी उसे दीर्घ कालतक सुरक्षित रखा और विजयनगरके राज्यके अस्त तथा मराठोंके उदयके बीच कोई बहुत लंबा अंतराल नहीं था। राजपूतोंने अकबर और उसके उत्तराधिकारियोंके समयतक अपनी स्वतंत्रताको कायम रखा और अंतमें मुगलोंने कुछ अंशमें, अपने सेनापतियों और मंत्रियोंके रूपमें कार्य कर रहे राजपूत राजाओंकी सहायतासे ही पूर्व और दक्षिणपर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया। और फिर इसके स्थापित हो सकनेका एक कारण यह भी था कि — यह एक ऐसा तथ्य है जिसे प्रायः ही भुला दिया जाता है — मुस्लिम शासनने अपना विदेशीपन बहुत शीघ्र ही छोड़ दिया। देशके मुसलमान, अपने बृहत्तर अंशमें, जातिकी दृष्टिसे भारतीय थे और हैं पठान, तुर्क और मुगल रक्तका मिश्रण बहुत ही थोड़ी मात्रामें हुआ, और यहांतक कि विदेशी राजा तथा सरदार भी लगभग तुरंत ही मन, प्राण और रुचि-प्रवृत्तिमें पूर्णरूपेण भारतीय बन गये। यदि, कुछ-एक यूरोपीय देशोंकी भांति, भारतीय जाति विदेशी शासनके तले अनेक सदियोंतक वस्तुतः निष्क्रिय, संतुष्ट और निःशक्त रहती तो निःसंदेह यह एक महान् आभ्यंतरिक दुर्बलताका प्रमाण होता; पर सच पूछो तो ब्रिटिश राज्य ही वह पहला विदेशी शासन है जिसका भारतपर वस्तुतः निरंतर अधिकार रहा है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन सभ्यता मध्य एशियाई धर्म एवं संस्कृतिका, जिसके साथ यह घुल-मिल नहीं सकी, भारी दबाव पड़नेपर तिमिराच्छन्न होकर ह्रासको प्राप्त हो गयी, पर उसके दबावके बावजूद भी यह जीवित बची रही, अनेक दिशाओंमें उसपर अपना दबाव डाला और ह्रासकी अवस्थामें भी हमारे अपने युगतक जीवित तथा पुनरुत्थानमें समर्थ रही और इस प्रकार एक ऐसी सबलता एवं स्वस्थताका प्रमाण दिया जो मानव संस्कृतियोंके इतिहासमें विरले ही देखनेमें आती है। और राजनीतिक क्षेत्रमें महान् शासकों, राजनीतिज्ञों, सैनिकों और प्रशासकोंको प्रादुर्भूत करना इसने कभी नहीं बंद किया। अवनतिके समय इसकी राजनीतिक प्रतिभा अपनी अंतर्दृष्टि और क्रियाशीलतामें इतनी पर्याप्त नहीं थी, इतनी काफी संगत और तीव्र नहीं थी कि पठानों, मुगलों और यूरोपियनोंका सामना कर सके। परंतु यह जीवित बची रहने तथा पुनरुज्जीवनके प्रत्येक अवसरकी प्रतीक्षा करनेकी सामर्थ्य रखती थी, इसने राणा सांगाके नेतृत्वमें साम्राज्यकी प्राप्तिके लिये

यत्न किया, विजयनगरके महान् साम्राज्यका निर्माण किया, राजपूतानाकी पहाड़ियोंमें सदियोंतक इस्लामके विरुद्ध डटा रहा, और अपने बुरे-से-बुरे दिनोंमें भी योग्यतम मुगल बादशाहोंकी समस्त शक्तिके विरुद्ध शिवाजीका राज्य स्थापित किया और कायम रखा, मरहठा-राज्यसंघ और सिक्खोंके खालसा संप्रदायका संघटन किया, महान् मुगल साम्राज्यके भवनकी जड़ खोद डाली और एक बार फिर साम्राज्य-निर्माणके लिये अंतिम प्रयत्न किया। अवर्णनीय अंधकार, फूट और अव्यवस्थाके बीच जब यह अंतिम और लगभग सर्वनाशी पतनके किनारे खड़ी थी तब भी यह रणजीतसिंह, नाना फड़नवीस और माधोजी सिंधियाको जन्म देकर इंगलैंडकी भवितव्यताकी अवश्यंभावी प्रगतिका विरोध कर सकी। परंतु ये तथ्य इस संभवनीय आरोपकी गुरुताको कम नहीं करते कि भारतीय सभ्यता केंद्रीय समस्याको देखने और सुलझानेमें तथा नियतिके एक ही अटल प्रश्नका उत्तर देनेमें असमर्थ रही, परंतु ह्रास-कालकी घटनाओंके रूपमें विचारे जानेपर ये एक काफी विलक्षण इतिहासका निर्माण करते हैं जिसकी उपमा ऐसी ही परिस्थितियोंमें, सुलभ नहीं, और तब निश्चय ही ये संपूर्ण प्रश्नको इस स्थूल स्थापनासे भिन्न एक और ही रंग-रूप दे देते हैं कि भारतवर्ष सदा ही परतंत्र और राजनीतिक दृष्टिसे अशक्त रहा है।

मुस्लिम विजयने जो समस्या पैदा कर दी वह वास्तवमें विदेशी शासनके प्रति अधीनता और पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करनेकी योग्यताकी नहीं बल्कि दो सभ्यताओंके पारस्परिक संघर्षकी थी। उनमेंसे एक थी प्राचीन और स्वदेशीय, दूसरी मध्ययुगीन तथा बाहरसे लायी हुई। जिस बातने समस्याके समाधानको दुःसाध्य बना दिया वह यह थी कि उनमेंसे प्रत्येक एक शक्तिशाली धर्मके प्रति आसक्त थी। उनमेंसे एकका धर्म युद्धप्रिय और आक्रमणकारी था, दूसरीका आध्यात्मिक दृष्टिसे तो अवश्य ही सहिष्णु और नमनीय था पर अपने साधनाभ्यासमें अपने सिद्धांतके प्रति दृढ़निष्ठ था और सामाजिक विधि-विधानोंकी दीवारके पीछे अपनी प्रतिरक्षा करनेके लिये कटिबद्ध रहता था। इसके दो समाधान समझमें आने योग्य थे, या तो एक ऐसे महत्तर आध्यात्मिक सिद्धांत एवं रचनाका उदय होता जो दोनों धर्मोंका समन्वय कर सकती अथवा एक ऐसी राजनीतिमूलक देशभक्तिका उदय होता जो धार्मिक संघर्षको अतिक्रम करके दोनों जातियोंको एक कर सकती। इनमेंसे पहला समाधान उस युगमें संभव ही नहीं था। अकबरने मुस्लिम पक्षकी ओरसे इसके लिये यत्न किया, परंतु उसका धर्म एक आध्यात्मिक रचना होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक एक बौद्धिक एवं राजनीतिक रचना था और उसे दोनों

जातियोंके प्रबलतया धार्मिक मनसे स्वीकृति प्राप्त करनेका कभी कोई अवसर नहीं मिला। नानकने हिंदू पक्षकी ओरसे इसके लिये प्रयत्न किया, परंतु उनका धर्म अपने सिद्धांतमें सार्वभौम होनपर भी व्यवहारमें एक संप्रदाय बन गया। अकबरने एक सर्वसामान्य राजनीतिमूलक देशभक्तिको उत्पन्न करनेका भी प्रयास किया, परंतु इस प्रयासका भी विफल होना पहलेसे ही नियत था। मध्य एशियाई सिद्धांतके आधारपर निर्मित एक निरंकुश साम्राज्य परम शक्तिशाली संयुक्त भारतके निर्माणार्थ समान रूपसे सेवा करनेके लिये दोनों जातियोंकी प्रशासकीय योग्यताका महान् व्यक्तियों, राजाओं और सरदारोंके रूपमें आवाहन करके अपनी मनोवांछित राष्ट्रीय भावनाको नहीं उत्पन्न कर सका ; उसके लिये जनताकी जीवंत स्वीकृतिकी आवश्यकता थी और वह उद्बोधक राजनीतिक आदर्शों तथा संस्थाओंके अभावके कारण सक्रिय रूप नहीं ग्रहण कर सकी। मुगल साम्राज्य एक महान् और ऐश्वर्य-शाली रचना था और इसके निर्माण तथा रक्षणके लिये राजनीतिक प्रतिभा एवं दक्षता बहुत अधिक मात्रामें प्रयुक्त की गयी थी। यह किसी भी मध्य-युगीन या समकालीन यूरोपीय राज्य या साम्राज्यके समान ही भव्य, शक्ति-शाली और कल्याणकारी था और, यह भी कहा जा सकता है कि, औरंग-जेबकी कट्टरतापूर्ण हठधर्मीके होते हुए भी यह धार्मिक दृष्टिसे उसकी अपेक्षा अनंततः अधिक उदार और सहिष्णु था। इसके शासनमें भारत सामरिक और राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धिमें तथा अपनी कला और संस्कृति-की तेजस्वितामें अत्युन्नत था। परंतु यह भी अपनेसे पहलेके साम्राज्योंकी भांति, यहांतक कि उनसे भी अधिक अनिष्टकारी रूपमें, तथा उस तरीकेसे असफल हो गया, अर्थात् इसका पतन भी बाह्य आक्रमण नहीं बल्कि आंत-रिक विघटनके कारण हुआ। कोई सैनिक एवं प्रशासनिक केंद्रीभूत साम्राज्य भारतकी जीवंत राजनीतिक एकता नहीं संपादित कर सकता था। और यद्यपि प्रादेशिक जातियोंमें नया जीवन उदयोन्मुख प्रतीत होता था, तथापि इस बीच यूरोपीय जातियोंके घुस आने और पेशवाओंकी असफलता तथा उसके बादकी अराजकता और अधोगतिकी निराशापूर्ण अव्यवस्थासे उत्पन्न सुयोगको उनके हस्तगत कर लेनेके कारण नवजीवनके उस अवसरमें एकाएक व्याघात पड़ गया।

विघटनके इस कालमें भी दो अद्भुत रचनाएं प्रकट हुईं जो पुरानी अवस्थाओंमें नये जीवनका आधार स्थापित करनेके लिये भारतके राज-नीतिक मानसका अंतिम प्रयत्न थीं, किंतु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं सिद्ध हुई जो समस्याको सुलझा सकती। मरहठोंका पुनरुज्जीवन जिसे रामदास-

की महाराष्ट्र-धर्म-विषयक परिकल्पनासे प्रेरणा मिली और जिसे शिवाजीने आकार प्रदान किया, इस बातके लिये प्रयत्न था कि प्राचीन रीति-नीति और भावनाका जो अंश आज भी समझ या स्मृतिमें आ सकता है उसका पुनरुद्धार किया जाय। परंतु यह प्रयत्न आध्यात्मिक प्रेरणाके तथा इसके सूत्रपातमें सहायता करनेवाली लोकतांत्रिक शक्तियोंके होते हुए भी विफल हो गया जैसे कि अतीतका पुनरुद्धार करनेवाले सभी प्रयत्न विफल होंगे ही। पेशवा अपनी समस्त प्रतिभाके होते हुए भी संस्थापककी अंतर्दृष्टिसे शून्य थे और वे केवल सैनिक एवं राजनीतिक महासंघ ही स्थापित कर सके। और एक साम्राज्यकी स्थापना करनेका उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सका क्योंकि वह एक ऐसी प्रादेशिक राष्ट्र-भक्तिसे प्रेरित हुआ था जो अपनी सीमाओंसे परे अपनेको विस्तारित करने तथा एकीभूत भारतके जीवंत आदर्शके प्रति जागृत होनेमें असफल रही। दूसरी ओर, सिक्खोंका खालसा संप्रदाय एक ऐसी रचना था जो आश्चर्यजनक रूपसे मौलिक तथा अनूठी थी और उसकी दृष्टि भूतपर नहीं भविष्यपर लगी हुई थी। अपने धर्मतांत्रिक नेतृत्व तथा अपनी जनतंत्रीय भावना और रचनामें, अपने गभीर आध्यात्मिक आरंभमें तथा इस्लाम और वेदांतके गहनतम तत्त्वोंको संयुक्त करनेके प्रथम प्रयासमें स्वतंत्र और अद्वितीय होता हुआ भी वह मानवसमाजकी तीसरी या आध्यात्मिक अवस्थामें प्रवेश करनेके लिये एक असामयिक प्रवृत्ति था, परंतु वह आत्मा और बाह्य जीवनके बीच समृद्ध सर्जनक्षम विचारधारा और संस्कृतिका एक संचारक माध्यम नहीं उत्पन्न कर सका। और इस प्रकार बाधाओं और त्रुटियोंसे ग्रस्त होनेके कारण वह संकीर्ण स्थानीय सीमाओंमें आरंभ हुआ और उन्हींमें समाप्त हो गया, उसने तीव्रता तो अधिगत की पर विस्तारकी क्षमता नहीं। उस समय वे अवस्थाएं विद्यमान ही नहीं थीं जिनमें वह प्रयत्न सफल हो सकता।

इसके बाद आयी रात्रि और समस्त राजनीतिक प्रेरणा और सृजनका अस्थायी अंत। अंतिम पीढ़ीने दासतापूर्ण निष्ठाके साथ पश्चिमके आदर्शों और आचारोंकी नकल करने एवं प्रतिकृति उतारनेका जो निर्जीव प्रयत्न किया वह भारतवासियोंकी राजनीतिक मनीषा एवं प्रतिभाका कोई सच्चा चिह्न नहीं है। परंतु अस्तव्यस्तताके समस्त कुहासेके बीच अभी भी एक नयी संध्याके, सायंकाल नहीं वरन् प्रातःकालकी युग-संध्याके फिरसे उदित होनेकी संभावना है। युग-युगका भारत मरा नहीं है, न उसने अपनी अंतिम सर्जनक्षम वाणी ही उच्चारित की है; वह जीवित है और उसे अपने लिये तथा (देश-देशके) मानव-समुदायोंके लिये अभी भी कुछ करना है।

और जिसे अब जागरित होनेकी चेष्टा करनी होगी वह अंग्रेजियतमें रंगी कोई भी ऐसी पूर्वीय जाति नहीं जो पश्चिमकी आज्ञाकारिणी शिष्या हो तथा उसकी सफलता और विफलताके चक्रको दुहराना ही जिसके भाग्यमें बदा हो, अपितु वह प्राचीन एवं स्मरणातीत (भारत) शक्ति है जो अपनी गहनतम आत्माको फिरसे प्राप्त करेगी, ज्योति और शक्तिके परम उद्‌गमकी ओर अपना मस्तक पहलेसे भी ऊंचा उठाकर अपने धर्मके संपूर्ण मर्म तथा विशालतर रूपको खोजनेकी ओर अभिमुख होगी।

परिशिष्ट

भारतीय संस्कृति और बाह्य प्रभाव

भारतीय सभ्यता और इसके पुनरुत्थानपर विचार करते हुए मैंने सुझाव दिया था कि सभी क्षेत्रोंमें एक शक्तिशाली नव-निर्माण करना ही हमारी महान् आवश्यकता है, हमारे पुनरुत्थानका अर्थ तथा हमारी सभ्यताकी रक्षा-का एकमात्र उपाय है। भारतको आज आधुनिक जीवन और चिंतनकी विशाल बाढ़का सामना करना पड़ रहा है, उसपर एक अन्य प्रबल सभ्यताका आक्रमण हो रहा है, जो उसमे प्रायः ठीक उलटी है या, कम-से-कम, उसकी भावनासे अत्यंत भिन्न भावनाके द्वारा प्रेरित है। ऐसी दशामें वह तभी जीवित रह सकता है यदि वह इस अपरिपक्व, नये, आक्रमणशील तथा शक्तिशाली जगत्का सामना अपनी आत्माकी उन नयी दिव्यतर रचनाओंके द्वारा करे जो उसके अपने आध्यात्मिक आदर्शोंके सांचेमें ढली हुई हों। उसे इसका सामना इसकी महत्तर समस्याओंको अपने ही ढंगसे, अपनी सत्तामेंसे उद्भूत होनेवाले समाधानोंके द्वारा तथा अपने गभीरतम और विशालतम ज्ञानसे हल करके ही करना होगा — इस हलकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे ऐसी उपेक्षाको वांछनीय ही क्यों न समझा जा सकता हो। इस सिलसिलेमें मैंने कहा था कि पश्चिमके ज्ञान, इसकी धारणाओं और क्षमताओंमेंसे जो कुछ भी आत्मसात् करने योग्य है, उसकी मूल भावनाके साथ संगत है, उसके आदर्शोंके साथ मेल खा सकता है, जीवनके नये निरू-पणके लिये मूल्यवान् है उस सबको उसे इससे ग्रहण करके आत्मसात् कर लेना चाहिये। बाहरसे पड़नवाले प्रभाव और अंदरसे करने योग्य नवसृजनका यह प्रश्न अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है; इसपर विस्तारसे चर्चा करनेकी आवश्यकता है। विशेषकर, यह आवश्यक है कि हम इस विषयमें एक अधिक सुनिश्चित विचार बना लें कि ग्रहण करनेसे हमारा क्या मतलब है और आत्मसात् करनेका वास्तविक परिणाम क्या होगा; क्योंकि यह दूरतक प्रभाव डालनेवाली अत्यावश्यक समस्या है, जिसके संबंधमें हमें अपने विचारोंको स्पष्ट कर लेना होगा और दृढ़तापूर्वक तथा दूरदर्शिताके साथ अपनी समाधानकी पद्धति निश्चित करनी होगी।

परंतु ऐसी मान्यता रखना संभव है कि यद्यपि नवसृजन — पुराने रूपोंके प्रति अचल आसक्ति नहीं — हमारे जीवन और उद्धारका एकमात्र उपाय है, तथापि किसी पश्चिमी वस्तुको ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं,

हमे जिन चीजोकी जरूरत है वे सब हमे अपने अदर ही मिल सकती है; कोई भी मूल्यवान् वस्तु अपने अदर छिद्र उत्पन्न किये बिना ग्रहण नही की जा सकती और फिर वह छिद्र तो पाश्चात्य बाढ़की बाकी सभी चीजोको अदर बहा ले आयगा। और, अगर मैंने समझनेमे भूल नही की है तो, बगलाकी एक साहित्यिक पत्रिकामे' मेरे इन लेखोपर जो टिप्पणी प्रकाशित हुई है उसका तात्पर्य भी यही है। यह पत्रिका इस आदर्शकी प्रस्थापना करती है कि नवसृजन पूर्णरूपेण राष्ट्रीय प्रणालीके आधारपर तथा राष्ट्रीय भावनाके अनुसार अदरसे ही उद्भूत होना चाहिये। उक्त टिप्पणीके लेखक इस स्थापनाको जो एक सार्वभौम मूल सिद्धात है अपना आधार बनाते है कि समस्त मानवजाति एक है, पर विभिन्न जातिया उसी सर्वसामान्य मानवजातिके विभिन्न आतरात्मिक रूप है। जब हम उस एकताको प्राप्त कर लेते है तो विविधताका सिद्धात खडित नही हो जाता वरन् कही अधिक समर्थित ही हो जाता है, अपने-आपको अर्थात् अपने विशिष्ट स्वभाव एव सामर्थ्यको मिटाकर नही बल्कि उसका अनुसरण करके तथा उसकी स्वतत्रता और क्रियाकी उच्चतम सभावनाओतक उसे उठाकरके ही हम जीवत एकतातक पहुच सकते है। यह एक ऐसा सत्य है जिसपर स्वय मैंने भी, मानवजातिके किसी प्रकारके राजनीतिक एकीकरणके सबधमे आधुनिक विचार तथा प्रयत्नकी चर्चा करते हुए यह कहकर बारबार बल दिया है कि यह सामाजिक विकासके मनोवैज्ञानिक आशयका एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अग है और फिर एक विशेष जातिके जीवन एव संस्कृतिके, इसके सभी अगो और अभिव्यक्तियोके इस प्रश्नकी चर्चा करते हुए भी मैंने इस सत्यपर पुन पुन जोर दिया है। मै बलपूर्वक कह चुका हू कि एकरूपता वास्तविक नही वरन निर्जीव एकता है एकरूपता जीवनका विनाश कर डालती है जब कि वास्तविक एकता, यदि उसकी नीव सुचारु रूपमे रखी जाय तो विविधताकी प्रचुर शक्तिके द्वारा बलशालिनी और फलप्रद बन जाती है। परतु उक्त लेखक यह भी कहते है कि पश्चिमी सभ्यताकी श्रेष्ठ बातोको ग्रहण करनेका विचार एक मिथ्या धारणा है जिसका कोई सजीव अर्थ नही है, बुरेको त्यागकर अच्छेको ग्रहण कर लेनेकी बात सुननेमे बहुत अच्छी लगती है परतु यह बुरा और अच्छा इस प्रकार अलग-अलग नही किये जा सकते ये एक ही सत्ताका एक ऐसा मिश्रित विकास है कि इन्हे एक-दूसरेसे जुदा नही किया जा सकता ये बच्चेके मकानरूपी खिलौनेके अलग-अलग

'श्री सी आर दासद्वारा सपादित 'नारायण'।

टुकड़े नहीं हैं जो पास-पास रखे हुए हैं और आसानीसे अलग किये जा सकते हैं. — और भला खंड-खंड करके एक तत्त्वको ले लेने तथा शेषको छोड़ देनेका मतलब क्या है? यदि हम कोई पश्चिमी आदर्श ग्रहण करते हैं, तो उसे हम एक ऐसे जीवंत बाह्याचारसे ही लेते हैं जो हमें प्रभावित करता है; हम उस बाह्याचारकी नकल करते हैं. उसकी भावना एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके वशमें हो जाते हैं, और अच्छा और बुरा उस सजीव विकासमें परस्पर गुंथे हुए एक ही साथ हमपर टूट पड़ते हैं और अपना संयुक्त अधिकार स्थापित कर लेते हैं। सच पूछो तो दीर्घकालसे हम पश्चिमका ऐसा ही अनुकरण करते आ रहे हैं. उस जैसे या कुछ-कुछ उस जैसे बननेका यत्न करते रहे हैं और यह सौभाग्यकी बात है कि हम इसमें सफल नहीं हुए, क्योंकि इसमें सफल होनेका अर्थ होता एक कृत्रिम या दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी रचना करना; परंतु जैसा कि टेनीसन (Tennyson) ने अपने लुक्रेटियम (Lucretius) के मुंहसे कहलाया है, दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी कोई भी प्रकृति नहीं होती और कृत्रिम संस्कृति कोई स्वस्थ संस्कृति नहीं होती. न ही वह सत्यको जीवनमें चरितार्थ करनेवाली होती है। अपने स्वरूपको पूर्ण रूपसे पुन: प्राप्त कर लेना ही हमारे उद्धारका एकमात्र उपाय है।

मुझे लगता है कि इस विषयमें समर्थन और संशोधन दोनोंके रूपमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु पहले हम अपने शब्दोंके अर्थ स्पष्ट कर लें। इस बातसे मैं पूरी तरहसे सहमत हूं कि पिछली सदीमें यूरोपीय सभ्यताका अनुकरण करने और अपने-आपको एक प्रकारके काले-भूरे अंगरेज बनाने. अपनी प्राचीन संस्कृतिको कूड़ेदानमें फेंककर पश्चिमकी पोशाक या वर्दी पहननेका जो प्रयत्न किया गया और जो कुछ दिशाओंमें अब भी जारी है. वह एक भ्रांत तथा अनुचित प्रयत्न था। तथापि. हम प्राय: यहांतक कह सकते हैं कि कुछ मात्रामें. यहांतक कि एक बड़ी मात्रामें भी अनुकरण करना उस परिस्थितिकी एक जीवशास्त्रीय आवश्यकता थी, और नहीं तो कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तो थी ही। केवल तभी नहीं जब कि एक हीनतर संस्कृति किसी महत्तर संस्कृतिके संपर्कमें आती है, बल्कि तब भी जब कि एक अपेक्षाकृत निष्क्रियता. निद्रा और संकुचनकी अवस्थामें गिरी हुई संस्कृतिको किसी जागृत, सक्रिय तथा भयानक रूपमें सर्जनशील सभ्यताका सामना करना पड़ता है. और इससे भी बढ़कर जब उसे ऐसी सभ्यताका एक सीधा आघात लगता है. जब वह विलक्षण और सफल शक्तियों तथा क्रियाओंको अपने ऊपर टूट पड़ते हुए अनुभव करती है,

तथा नयी धारणाओं और रचनाओंकी एक बड़ी भारी शृंखला और विकास-परंपराको देखती है—तब वह जीवनकी सहजप्रवृत्तिके वश ही इन विचारों और रूपरचनाओंको ग्रहण करने, इन्हें अपने साथ मिलाकर अपनेको समृद्ध बनाने, यहांतक कि इनकी नकल करने और प्रतिकृति उतारने, और किसी-न-किसी प्रकार इन नयी शक्तियों और नये अवसरोंको व्यापक रूपसे विचारमें लाकर इनसे लाभ उठानेके लिये प्रेरित होती है। यह एक ऐसी घटना है जो इतिहासमें, कम या अधिक मात्रामें, अंशतः या पूर्णतः, बारंबार घटित हुई है। परंतु यदि केवल यंत्रवत् अनुकरण किया जाय, यदि अधीनता और दासताकी वृत्ति पैदा हो जाय, तो निष्क्रिय या अपेक्षाकृत दुर्बल संस्कृति नष्ट हो जाती है, उसे आक्रमणकारी ग्राह निगल जाता है। और इससे कम पतनकी अवस्थामें भी, जितना वह इन अवांछनीय वस्तुओंकी ओर झुकती है उतना वह क्षीण हो जाती है, नये विचारों और रूपोंको अपने साथ संयुक्त करनेके प्रयत्नमें असफल होती है; बल्कि उसके साथ-साथ अपने मूल भावकी शक्तिको भी खो बैठती है। अपने केंद्रको फिरसे प्राप्त करना, अपने निजी आधारको ढूंढ़ निकालना तथा जो कुछ उसे करना हो उसे अपनी क्षमता और प्रतिभाके द्वारा करना ही, निःसंदेह, उद्धारका एकमात्र उपाय है। परंतु तब भी कुछ मात्रामें ग्रहण करना, बाह्याचारोंको भी अपनाना,—यदि बाह्याचारोंके किसी भी प्रकारके ग्रहणको अनुकरण ही कहा जाय तो कुछ अनुकरण भी करना,—अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, साहित्यमें हमने और कई चीजोंको अपनानेके साथ-साथ उपन्यास, कथा-कहानी तथा आलोचनात्मक निबंधके रूपको अपना लिया है। इसी प्रकार, सायंसमें हमने खोजों और आविष्कारोंको ही नहीं बल्कि अनुमानमूलक अनुसंधानकी क्रिया-प्रतिक्रियाको भी, राजनीतिमें प्रेस और प्लेटफार्मको, आंदोलनके रूपों और अभ्यासों तथा सार्वजनिक संघ-संगठनको अपना ही लिया है। मेरे ख्यालमें कोई भी व्यक्ति गंभीरताके साथ ऐसा नहीं सोचता कि हमारे जीवनमें ये जो आधुनिक चीजें जुड़ गयी हैं इन्हें विदेशी वस्तुएं होनेके कारण त्याग देना या बहिष्कृत कर देना चाहिये,—यद्यपि ये सबकी सब, किसी प्रकार भी, विशुद्ध वरदान नहीं हैं। परंतु प्रश्न यह है कि इन चीजोंका उपयोग हम क्या करते हैं और आया हम इन्हें अपने मूल-भावके साधनोंके रूपमें तथा, किसी विशेष परिवर्तनके द्वारा, उसके सांचोंके रूपमें परिणत कर सकते हैं या नहीं। यदि हम ऐसा करते हैं तब तो समझो कि हमने इन्हें ग्रहण करके हजम कर लिया है; नहीं तो समझना चाहिये कि हमने लाचार होकर इनकी नकल भर की है।

परंतु बाह्याचारोंको ग्रहण करना ही इस विषयका मर्म नहीं है। जब मैं ग्रहण और हजम करनेकी बात कहता हूं तो मेरे मनमें वे विशेष प्रकारके प्रभाव, विचार तथा शक्ति-सामर्थ्य घूम रहे होते हैं जिन्हें यूरोप एक प्रबल जीवंत शक्तिके साथ सामने लाया है और जो हमारी अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक सत्ताको जागृत तथा समृद्ध कर सकते हैं यदि हम एक जयशाली शक्ति और मौलिकताके साथ उनसे व्यवहार करनेमें सफल हो जायं, यदि हम उन्हें अपने अस्तित्वकी विशिष्ट प्रणालीके अंतर्गत करके उसकी निर्माणकारी क्रियाके द्वारा उन्हें रूपांतरित कर सकें। सच पूछो तो हमारे पूर्वज बाहरसे प्राप्त होनेवाले जिस भी ज्ञान या कलात्मक सुझाव-को ग्रहण करने योग्य या भारतीय ढंगसे व्यवहरणीय समझते थे उसे लेकर वे उसपर ऐसी ही क्रिया किया करते थे, वे अपनी मौलिकताको कभी नहीं गंवाते थे, न अपने अनुपम वैशिष्ट्यको ही नष्ट करते थे, क्योंकि वे सदा ही अंदरसे शक्तिशाली रूपमें सृजन करते थे। परंतु अच्छेको ग्रहण करने तथा बुरेको त्याग देनेके सूत्रका मैं, निश्चय ही, एक अधकचरी वस्तुके रूपमें परिहार करूंगा। यह उन सहस्र सूत्रोंमेंसे एक है जो उथले मनको आकृष्ट कर लेते हैं पर अपनी परिकल्पनामें दुर्बल होते हैं। स्पष्टतः ही, यदि हम किसी वस्तुको "ग्रहण करें" तो उसका अच्छा और बुरा दोनों अंश अस्तव्यस्त रूपमें एक साथ घुस आयेंगे। उदाहरणार्थ, यदि हम भीषण, दैत्याकार और विवशकरी वस्तु, उस विकराल आसुरिक रचना, अर्थात् यूरोपीय व्यवसायवादको अपनायें,—दुर्भाग्यवश, परिस्थितियां हमें ऐसा करनेके लिये विवश कर रही हैं,—तो चाहे हम उसका रूप अपनायें या उसका सिद्धांत, हम अधिक अनुकूल अवस्थाओंमें उसके द्वारा अपना वैभव तथा आर्थिक संबल तो बढ़ा सकते हैं, पर निश्चय ही हम उसके सामाजिक भेद, वैषम्य, नैतिक महामारियां और क्रूर समस्याएं भी मोल ले लेंगे, और तब, मेरी समझमें नहीं आता कि, हम जीवनमें आर्थिक लक्ष्यके दास बनने तथा अपनी संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वको गंवानेसे किस तरह बचेंगे।

परंतु, इसके अतिरिक्त, इस प्रसंगमें अच्छा और बुरा इन शब्दोंका कोई निश्चित अर्थ नहीं है, ये हमारी कोई सहायता नहीं करते। यदि मुझे इनका प्रयोग एक ऐसे क्षेत्रमें करना पड़े जहां इनका केवल सापेक्ष अर्थ ही हो सकता है, उदाहरणार्थ, आचारशास्त्रके नहीं वरन् जीवनोंके पारस्परिक आदान-प्रदानके विषयमें, तो पहले मुझे इनको यह सामान्य अर्थ देना पड़ेगा कि जो भी चीज मुझे अधिक घनिष्ठ और श्रेष्ठ रूपमें तथा आत्म-प्रकाशक सृजनकी अधिक महान् एवं यथार्थ संभावनाके साथ अपने-आपको ढूंढ़नेमें

सहायता पहुंचाती है वह अच्छी है; जो चीज मुझे मेरी अपनी दिशासे भ्रष्ट कर देती है, जो चीज मेरी शक्ति एवं समृद्धिको तथा मेरी आत्मसत्ताकी विशालता एवं उच्चताको क्षीण और क्षुद्र कर देती है वह मेरे लिये बुरी है। यदि इनके भेदको इस रूपमें समझ लिया जाय तो मेरे विचारमें किसी भी गंभीरप्रकृति एवं विवेचनशील मनुष्यके सामने जो वस्तुओंकी तहमें जानेकी चेष्टा करता है, यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वास्तविक प्रश्न इस या उस छोटे-मोटे बाह्य आचारको ग्रहण करनेका नहीं है जिसका मूल्य केवल संकेतात्मक ही होता है, उदाहरणार्थ, विधवाओंका पुनर्विवाह, बल्कि प्रश्न है उन महान् प्रभावशाली विचारोंके साथ बरतनेका जैसे कि, जीवनके बाह्य क्षेत्रमें, सामाजिक और राजनीतिक स्वाधीनता, समानता और जनतंत्रके विचार हैं। यदि मैं इनमेंसे किसी विचारको ग्रहण करता हूं तो इसलिये नहीं कि ये आधुनिक या यूरोपीय हैं, जो अपने-आपमें कोई विशेषता जतलाने-वाली बात नहीं है, वरन् इसलिये कि ये मानवीय हैं, क्योंकि ये आत्माके सम्मुख फलप्रद दृष्टिकोणोंको रखते हैं और मानवजीवनके भावी विकासके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार हैं। जनतंत्रके प्रभावशाली विचारको ग्रहण करनेसे मेरा मतलब यह है कि स्वयं यह विचार प्राचीन यूरोपीय शासनतंत्र और समाजकी भांति प्राचीन भारतीय शासनतंत्र और समाजमें भी उसके एक अंगके रूपमें विद्यमान था, भले इसे पूर्ण रूपमे क्रियान्वित न किया गया हो — मेरे विचारमें अपने जीवन-यापनकी भावी प्रणालीके अंदर इसे किसी रूपमें समाविष्ट करना हमारे विकासके लिये आवश्यक है। आत्मसात् करनेसे मेरा मतलब यह है कि हमें इसको स्थूल रीतिसे इसके यूरोपीय रूपोंमें नहीं ग्रहण करना चाहिये बल्कि जो चीज इसके अनु-रूप है, इसके भावको आलोकित करती है तथा जीवन और सत्तासंबंधी हमारी परिकल्पनामें उसके उच्चतम आशयका समर्थन करती है उसकी ओर हमें लौटना होगा, और उसी प्रकाशमें इसकी सीमा, मात्रा तथा रूप-रचनाको अन्य विचारोंके साथ इसके संबंध तथा इसके प्रयोगको निर्धारित करना होगा। प्रत्येक (ग्राह्य) वस्तुपर मैं इसी सिद्धांतका प्रयोग करूंगा, प्रत्येकपर उसके अपने प्रकार तथा उसके विशेष धर्मके अनुसार, उसके महत्त्व तथा उसकी आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं व्यावहारिक उपयोगिताकी यथार्थ मात्राके अनुसार।

मैं इसे व्यक्तिगत सत्ताका एक स्वतःसिद्ध नियम समझता हूं जो प्रत्येक सामूहिक सत्तापर भी लागू हो सकता है कि बाहरसे हमारे अंदर आनेवाली सभी चीजोंको बहिष्कृत कर देना न तो वांछनीय है और न संभव। इसी

प्रकार इस नियमको भी मैं इतना ही स्वयंसिद्ध मानता हूं कि एक सजीव सत्ताको जो बाह्य वृद्धिके द्वारा नहीं बल्कि स्व-विकास तथा आत्मसात्करणके द्वारा वर्धित होती है, अपने अंदर ग्रहण की हुई चीजोंको अपने जीव-विज्ञानीय या मनोवैज्ञानिक देहके नियम, आकार, तथा विशिष्ट कार्यके अनुकूल बनानेके लिये पुनः गठित करना चाहिये, जो चीज इसके लिये हानिकर या विषैली हो उसे त्याग करके, — और भला आत्मसात् न हो सकने योग्य वस्तुके सिवा वह और है ही क्या? — केवल उसी चीजको ग्रहण करना होगा जिसे आत्म-अभिव्यक्तिके उपयोगी उपादानमें परिणत किया जा सके। संस्कृतके एक उपयुक्त पदका जो बंगला भाषामें भी प्रयुक्त होता है, प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि यह आत्मसात्करण है, चीजको जज्ब करके अपनी बना लेना है, उसे अपने अंदर स्थिर होकर अपनी सत्ताके विशिष्ट आकारमें परिणत होने देना है। किसी चीजका पूर्णतया बहिष्कार कर देना तो असंभव है और इसका कारण ठीक यही है कि हम एकतामें विभिन्नताका एक रूप-विशेष हैं जो अन्य समस्त सत्तासे वस्तुतः पृथक् नहीं है, बल्कि हमारे चारों ओरकी सभी वस्तुओंसे संबंध रखता है, क्योंकि जीवनमें यह संबंध आदान-प्रदानकी एक प्रक्रियाके द्वारा अत्यंत व्यापक रूपमें अपने-आपको प्रकट करता है। यदि पूर्ण रूपसे बहिष्कार करना संभव हो भी तो भी वह वांछनीय नहीं है और इसका कारण यह है कि चारों ओरकी चीजोंके साथ आदान-प्रदान स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व एवं विकासके लिये आवश्यक है; जो सजीव सत्ता ऐसे समस्त आदान-प्रदानको त्याग देगी वह जड़ता एवं अवसादके कारण शीघ्र ही क्षीण होकर नष्ट हो जायगी।

मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रूपसे मैं विशुद्ध पृथक्ताकी अवस्थामें अपने अंदरसे होनेवाले अविमिश्र आत्म-विकासके द्वारा ही नहीं विकसित होता; मैं कोई ऐसी पृथक् स्वयंस्थित सत्ता नहीं हूं जो अपनी ही दुनियामें जहां उसके सिवा और कोई नहीं है और जहां उसकी आंतरिक शक्तियों और गभीर विचारणाओंके सिवा और कोई चीज क्रिया नहीं करती, एक पुरानी अभिव्यक्तिसे नयीकी ओर बढ़ रही हो। प्रत्येक व्यक्तिभावापन्न सत्तामें द्विविध क्रिया हो रही है, अंदरसे होनेवाला आत्म-विकास जो उसकी सत्ताकी सबसे बड़ी अंतरीय शक्ति है और जिसके द्वारा वह वह है, और बाहरसे आनेवाले आघातोंको ग्रहण करना जिनको कि उसे अपनी व्यष्टि-सत्ताके अनुकूल बनाकर आत्म-विकास और आत्म-क्षमताके साधनोंमें परिणत करना होता है। ये दोनों क्रियाएं एक-दूसरीका बहिष्कार करनेवाली नहीं हैं, न दूसरी पहलीके लिये हानिकारक ही है; हां, यदि आंतरिक बुद्धिशक्ति

इतनी दुर्बल हो कि अपने पारिपार्श्विक जगत्के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार हीं न कर सके तो दूसरी बात है; इसके विपरीत, आघातोंको ग्रहण करनेसे एक स्वस्थ और सबल सत्तामें आत्म-विकासकी शक्ति उद्दीप्त हो उठती है और साथ ही यह एक महत्तर तथा स्पष्टतः अधिक सहज-स्वाभाविक आत्म-निर्धारणमें भी सहायक होता है। जैसे-जैसे हम विकास-क्रममें ऊपर उठते हैं, हमें पता चलता है कि अंदरसे मौलिक विकास साधित करनेकी, सचेतन रूपसे आत्म-निर्धारण करनेकी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है, यहांतक कि जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं उनमें यह आश्चर्यजनक, कभी-कभी तो प्रायः दिव्य परिमाणमें बढ़ जाती है। पर साथ ही हम यह भी देखते हैं कि बाह्य जगत्के आघातों और सुझावोंको अधिकृत करनेकी संबद्ध शक्ति भी उसी अनुपातमें बढ़ जाती है; जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं वे जगत् तथा इसके समस्त द्रव्योंको अत्यंत व्यापक रूपमें आत्माके लिये प्रयुक्त भी कर सकते हैं, — और, यह भी कहना होगा कि, वे ही अपनी सत्ताके द्वारा अत्यंत सफलतापूर्वक संसारकी सहायता कर सकते तथा इसे समृद्ध बना सकते हैं। जो मनुष्य अपनी अंतरात्माको सर्वाधिक उपलब्ध करता तथा उसीके द्वारा सर्वाधिक जीवन यापन करता है वही विश्वात्माका सर्वाधिक आलिंगन कर सकता तथा उसके साथ एक हो सकता है; स्वराट्, अर्थात् स्वतंत्र, आत्म-स्वामी और आत्म-शासक ही सर्वाधिक, सम्राट् बन सकता है, अर्थात् जिस जगत्में वह रहता है उसका स्वामी और निर्माता बन सकता है और साथ ही आत्मामें सबके साथ सर्वाधिक एकमय हो सकता है। यही वह सत्य है जिसकी शिक्षा यह विकसित होती हुई सत्ता हमें देती है और यह प्राचीन भारतीय अध्यात्म-ज्ञानके महत्तम रहस्योंमेंसे एक है।

अतएव अपनी आत्मामें निवास करना तथा अपनी सत्ताके धर्म, स्वधर्म, के अनुसार अपनी सत्ताके केंद्रसे अपनी आत्म-अभिव्यक्तिका निर्धारण करना ही सबसे पहली आवश्यकता है। ऐसा न कर सकनेका अर्थ है जीवनका विघटन; पर्याप्त रूपमें ऐसा न करनेका मतलब है शिथिलता, दुर्बलता, अ-कुशलता, चारों ओरकी शक्तियोंके द्वारा उत्पीड़ित और पराभूत किये जानेका भय; बुद्धिमत्ता और अंतर्ज्ञानके साथ, अपने आंतरिक करणोपकरणों तथा आंतरिक शक्तियोंका सबल रूपमें प्रयोग करते हुए ऐसा न कर सकनेका अर्थ है अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और अंतमें जीवन-शक्तिका ह्रास और विनाश। परंतु अपने चारों ओरका जीवन हमारे सामने जो साधन-सामग्री प्रस्तुत करता है उसे काममें न ला सकना, सहजस्फुरित चुनाव और प्रबल

प्रभुत्वपूर्ण सात्म्यकरणके साथ उसे अधिकारमें न लाना भी एक भारी त्रुटि है तथा हमारे अस्तित्वके लिये एक संकट है। एक स्वस्थ व्यष्टि-सत्ताके लिये कोई बाह्य समाघात या अंदर प्रवेश करनेवाली कोई शक्ति, विचार एवं प्रभाव एक ऐसे उत्तेजककी तरह कार्य कर सकता है जो अंतःसत्ताको असामंजस्य, असंगति या विपत्तिकी भावनाके प्रति सचेत कर दे, और तब एक संघर्ष उठ खड़ा होता है, उस बाह्य प्रभाव आदिका बहिष्कार करनेका आवेग और प्रक्रिया शुरू हो जाती है; परंतु, इस संघर्ष, बहिष्कारकी इस प्रक्रियाके परिणामस्वरूप भी कुछ परिवर्तन एवं विकास साधित होता है, जीवनकी सामर्थ्य और साधन-सामग्रीमें कुछ वृद्धि होती है; इस आक्रमणके द्वारा सत्ताकी शक्तियोंको प्रेरणा और सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार, वह प्रभाव एक उद्दीपकके रूपमें भी कार्य कर सकता है और तुलना और सुझावके द्वारा तथा बंद द्वारोंको खटखटाकर एवं सुप्त शक्तियोंको जगाकर आत्म-चेतनताकी एक नयी क्रियाको और नवीन शक्यताके बोधको भी उद्बुद्ध कर सकता है। वह एक संभाव्य सामग्रीके रूपमें भी प्रवेश कर सकता है जिसे तब फिरसे आंतरिक शक्तिके एक आकारमें ढालना होता है, आंतरिक सत्ताके साथ समस्वर करके इसकी अपनी विशिष्ट आत्म-चेतनाके प्रकाशमें पुनः निरूपित करना होता है। परिस्थितिके महान् परिवर्तनके समय या बहुत-से आक्रामक प्रभावोंके साथ घनिष्ठ संपर्कके समय ये सब प्रक्रियाएं एक साथ कार्य करती हैं और संभवतः कुछ समयके लिये अत्यधिक कठिनाई और परेशानी होती है, संदेह और संकटसे भरी हुई कितनी ही क्रियाएं होती हैं, पर साथ ही एक महान् आत्मविकास-साधक रूपांतर या महत् और शक्तिशाली नवजन्मका अवसर भी प्राप्त होता है।

सामूहिक आत्मा वैयक्तिक आत्मासे इसी बातमें भिन्न होती है कि वह अनेक वैयक्तिक आत्माओंका समूह होने तथा अपने अंदर अनेक सामूहिक परिवर्तनोंके योग्य होनेके कारण अधिक आत्मावलंबी होती है। उसमें भीतर-ही-भीतर निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है जो, शेष मानवजातिके साथ आदान-प्रदानके सीमित रहनेपर भी, जीवनी-शक्ति और अभिवृद्धिकी, तथा कार्यक्षेत्रको विकसित करनेकी शक्तिकी रक्षा करनेके लिये दीर्घकालतक पर्याप्त हो सकता है। यूनानी सभ्यताने,—मिस्र और फिनीशिया तथा अन्य पूर्वीय देशोंके प्रभावोंकी छत्रछायामें विकसित होनेके बाद,—अ-यूनानी "बर्बर" संस्कृतियोंसे अपने-आपको तीव्र रूपमें पृथक् कर लिया और कई शताब्दियोंतक वह प्रचुर परिवर्तनों तथा आंतरिक आदान-प्रदानकी सहायतासे अपने ही अंदर जीवित रहनेमें समर्थ हुई। प्राचीन भारतमें भी

हम एक संस्कृतिका ऐसा ही दृष्टांत पाते है, वह चारों ओरकी सभी संस्कृतियोंसे गहरा विभेद रखती हुई अपने ही अंदरसे सबल रूपमें जीवन यापन करती थी। आंतरिक आदान-प्रदान और परिवर्तनोंकी और भी अधिक प्रचुरताके कारण इसकी जीवनी-शक्ति बनी रह सकी। चीनकी सभ्यता इस बातका एक तीसरा उदाहरण प्रस्तुत करती है। परंतु भारतीय संस्कृति-ने कभी भी बाह्य प्रभावोंका पूर्ण बहिष्कार नहीं किया; बल्कि बाह्य तत्त्वोंको चुनावपूर्वक आत्मसात् करने, उन्हें अधीन रखने तथा रूपांतरित करनेकी अति महान् शक्ति उसकी प्रक्रियाओंकी एक विशेषता थी; उसने प्रत्येक बड़े या दुर्धर्ष आक्रमणसे अपनी रक्षा की, परंतु जिस भी चीजने उसे आकर्षित या प्रभावित किया उसे उसने अधिकृत करके अपनेमें मिला लिया और मिलानेकी इस क्रियामें उसने उसे एक ऐसे विशिष्ट परिवर्तनमेंसे गुजरनेके लिये बाध्य किया जिसने नये तत्त्वको उसकी अपनी संस्कृतिकी भावना-के साथ समस्वर बना दिया। किंतु आजकल कोई वैसी प्रबल पृथक्कारी उदासीनता, जो कि प्राचीन सभ्यताओंकी विशेषता थी, संभव नहीं रही; मनुष्यजातिकी अंगभूत सभी जातियां एक-दूसरीके अतीव निकट आ गयी हैं, वे एक प्रकारकी अपरिहार्य जीवन-एकतामें बलात् संयुक्त की जा रही हैं। हमारे सामने आज एक अधिक कठिन समस्या उपस्थित है कि इस महत्तर परस्पर-क्रियाके पूर्ण दबावके अधीन हम कैसे जीवन यापन करें तथा इसके समाधानोंपर अपनी सत्ताका नियम कैसे लागू करें।

यह तो पहलेसे ही निश्चित है कि यूरोपके आक्रमणके पूर्व हम जो कुछ थे ठीक वही बने रहने या भविष्यमें आधुनिक परिस्थिति एवं आवश्यकताके दावोंकी उपेक्षा करनेका कोई भी प्रयत्न स्पष्टतः ही असफल होगा। बीचके उस युगकी, जिसमें हम पश्चिमी दृष्टिकोणसे अभिभूत थे, कुछ एक विशेषताओं-पर हम चाहे कितना ही अधिक दुःख-शोक क्यों न मनायें, अथवा उस दृष्टिकोणसे पीछे हटकर जगत्को देखनेके अपने विशिष्ट तरीकेकी ओर चाहे कितना ही क्यों न अग्रसर हों, फिर भी उसने हमारे अंदर जो अनिवार्य परिवर्तन पैदा किया है उसके एक विशेष तत्त्वसे हम छुटकारा नहीं पा सकते, ठीक वैसे ही जैसे कि कोई मनुष्य अपने जीवनमें कुछ साल पहले वह जो कुछ था उस ओर लौटकर अपनी अतीत मनोवृत्तिको पूर्ण तथा अक्षुण्ण रूपमें नहीं प्राप्त कर सकता। काल और उसके प्रभाव उसके ऊपरसे केवल गुजर ही नहीं गये हैं, अपितु अपने प्रवाहमें उसे आगे बहा ले गये है। हम अपनी सत्ताके एक अतीत रूपकी ओर पीछे नहीं हट सकते, परंतु हम, निःसंदेह, आगे बढ़कर अपने-आपको फिरसे एक व्यापक रूपमें प्राप्त कर सकते हैं और अपनी इस प्रगतिमें हम बीचके

अनुभवका अधिक अच्छा, अधिक जीवंत, अधिक वास्तविक तथा अधिक आत्म-प्रभुत्वपूर्ण प्रयोग करेंगे। अपने अतीतके महान् भाव और आदर्शोंकी मूल भावनामें हम आज भी फिरसे विचार कर सकते हैं, परंतु हमारे विचारने और बोलनेका रूप तथा अतीत भाव और आदर्शोंका हमारा निरूपण नये विचार और अनुभवके अस्तित्वके ही कारण बदल चुका है; उन्हें हम आज पुराने ही नहीं बल्कि नये प्रकाशोंमें भी देखते हैं, हम उन्हें नये दृष्टिबिंदुओंकी बढ़ी हुई शक्तिके द्वारा संपुष्ट करते हैं, यहांतक कि जिन पुराने शब्दोंका हम व्यवहार करते हैं वे भी हमारे लिये एक परिवर्तित, अधिक विस्तृत एवं अधिक समृद्ध अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। और फिर, किसी संकुचित प्रथानुगत अर्थमें हम "केवल अपने-आप" ही नहीं बने रह सकते, क्योंकि हमें अनिवार्यतः ही अपने चारों ओरके आधुनिक जगत्‌का विचार करना तथा इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होगा, नहीं तो हम जीवित ही नहीं रह सकते। परंतु वस्तुओंको इस प्रकार विचारमें लाना एवं समस्त बढ़ा हुआ ज्ञान हमारी आभ्यंतरिक सत्तामें परिवर्तन लाता है। मेरा मन, अपने ऊपर निर्भर रहनेवाले सत्ताके सभी भागोंके साथ, जिस चीजपर अपनी दृष्टि डालता तथा क्रिया करता है उसके द्वारा परिवर्तित हो जाता है, जब यह उससे विचारकी नयी सामग्री ग्रहण करता है तब परिवर्तित होता है, जब यह अपनी प्रेरणाके द्वारा नयी कार्य-प्रवृत्तियोंकी ओर जागरित होता है तब परिवर्तित होता है, यहांतक कि जब यह उसका निषेध और बहिष्कार करता है तब भी यह परिवर्तित होता है; क्योंकि एक पुराना विचार या सत्य भी जिसे मैं एक विरोधी विचारके मुकाबलेमें बलपूर्वक स्थापित करता हूं, स्थापना और बहिष्कारके उस प्रयत्नमें मेरे लिये एक नया विचार बन जाता है, नये पहलुओं और परिणामोंका जामा धारण कर लेता है। इसी प्रकार मेरा जीवन भी, जीवन-संबंधी जिन प्रभावोंका इसे मुकाबला और सामना करना पड़ता है उनके द्वारा परिवर्तित होता है। अंतमें एक बात यह भी है कि हम आधुनिक जगत्‌के महान् प्रभावशाली विचारों और समस्याओंके साथ संबंध रखनेसे बच नहीं सकते। आधुनिक जगत् अबतक भी मुख्य रूपसे यूरोपमय है, अर्थात् यह एक ऐसा जगत् है जिसपर यूरोपीय मनोवृत्ति और पश्चिमी सभ्यताका आधिपत्य है। हम इस अनुचित प्रधानतामें सुधार करने, एशियाई और, अपने लिये, भारतीय मनोवृत्तिका प्रभुत्व पुनः स्थापित करने तथा एशियाई एवं भारतीय सभ्यताके महान् मूल्योंका रक्षण और विकास करनेका दावा करते हैं। परंतु एशियाई या भारतीय मानस अपने प्रभुत्वको सफलतापूर्वक

तभी स्थापित कर सकता है जब कि वह उन समस्याओंका सामना करके इनका एक ऐसा हल निकाले जो उसके अपने आदर्शों तथा मूलभावका समर्थन करे।

जिस सिद्धांतकी मैंने प्रस्थापना की है वह हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता तथा वस्तुस्थिति एवं जीवनकी आवश्यकता दोनोंका परिणाम है। वह सिद्धांत है—अपनी मूल भावना, प्रकृति तथा अपने आदर्शोंके प्रति निष्ठा, नये युग और नयी परिस्थितिमें अपने स्वभावानुगत रूपोंका सृजन, पर साथ ही बाह्य प्रभावोंके साथ सबल और प्रभुत्वपूर्ण रूपमें व्यवहार, जिसका रूप पूर्ण बहिष्कार ही हो यह आवश्यक नहीं और आज वस्तुस्थितिको देखते हुए, वह व्यवहार इस प्रकारका हो भी नहीं सकता; अतएव एक सफल आत्मसात्करणके तत्त्वका होना आवश्यक है। अब रह गया इस सिद्धांतके प्रयोगका,—प्रयोगकी मात्रा, उसके प्रकार और मार्गदर्शक अनुभवोंका—अत्यंत कठिन प्रश्न। इसपर विचार करनेके लिये हमें संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रपर दृष्टिपात करना होगा और भारतीय मूलभाव और भारतीय आदर्श क्या है इसके ज्ञानको सदा दृढ़तापूर्वक पकड़े रखकर यह देखना होगा कि इनमेंसे प्रत्येक क्षेत्रमें वे वर्तमान स्थिति और संभावनाओंपर किस प्रकार क्रिया करके नयी जयशाली रचनाकी ओर ले जा सकते हैं। इस प्रकारका विचार करनेमें अत्यंत हठधर्मी बननेसे काम नहीं चलेगा। प्रत्येक योग्य भारतीय विचारकको चाहिये कि वह इसपर विचार करे अथवा, अधिक अच्छा यह होगा कि जैसे बंगालके कलाकार इसे अपने क्षेत्रमें क्रियान्वित कर रहे हैं, वैसे ही वह भी इसे अपने ज्ञान और बलके अनुसार कार्यान्वित करे, तथा इसपर कुछ प्रकाश डालने या इसे चरितार्थ करनेमें योगदान दे। उसके बाद भारतीय पुनरुत्थानकी भावना, विश्वव्यापी कालपुरुषकी वह शक्ति ही, जिसने नये और अधिक महान् भारतके निर्माणके लिये हमारे बीच विचरण करना आरंभ कर दिया है, बाकी चीजोंकी सुध आप ही ले लेगी।

अकारादि अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

नाम पुस्तक

---

*अनुक्रमणिका विषय सूची

नाम भौगोलिक

नाम व्यक्ति